दुष्यन्त कुमार

रचनावली 4

संपादक
विजय बहादुर सिंह

दुष्यन्त कुमार रचनावली

चार खंडों में समग्र रचना-संसार

चौथा खंड

संस्मरण-व्यक्तिचित्र, साक्षात्कार, निबंध एवं विविध
गद्य-प्रकार, रूपक, आलोचना-रिव्यू

दुष्यन्त कुमार रचनावली

(चौथा खंड)

संस्मरण-व्यक्तिचित्र, साक्षात्कार, निबंध

एवं विविध गद्य-प्रकार, रूपक, आलोचना-रिव्यू

संपादक

विजय बहादुर सिंह

किताबघर प्रकाशन

नयी दिल्ली

दुष्यन्त कुमार रचनावली : चौथा खंड

ISBN—81-7016-733-7 (चार खंड)
81-7016-737-X (चौथा खंड)

प्रकाशक
किताबघर प्रकाशन
4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

आवरण
हरचन्दन सिंह भट्टी

मुद्रक
बी०के० ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

DUSHYANT KUMAR RACHANAVALI : 4 (Hindi)
Ed. by Vijay Bahadur Singh

पूर्व कथन

गीत, मुक्तक, रुबाई, ग़ज़ल और मुक्तछंद शैली की नई कविता लिखते हुए भी बहुमुखी प्रतिभा वाले दुष्यन्त एक ऐसे बहुदर्शी गद्य-लेखक के रूप में हिंदी पाठक के समक्ष आते हैं जिन्होंने गद्य की लगभग तमाम विधाओं में लिखा और हिंदी गद्य-लेखन को कुछ उल्लेखनीय रचनाएँ दीं।

निःसंदेह ये सब रचनावली में पहली-पहली बार पुस्तकाकार आ रही हैं जिससे कवि दुष्यन्त की गद्य-प्रतिभा के अनेक उदाहरण उनके पाठकों को चमत्कृत करेंगे। रूपक, साक्षात्कार, व्यक्तिचित्र, संस्मरण, निबंध, आलोचना एवं साहित्यिक टिप्पणियों के अलावा दुष्यन्त ने कुछेक साहित्यिक लतीफ़ों और मौज-मस्ती के किस्सों को भी लिखा, जिससे उनकी तबीयत की रंगीनी और बेसाख़्ता अंदाज़ का पता लगता है।

आकाशवाणी दिल्ली से भोपाल तक अपनी सेवाएँ देते हुए उन्होंने बहुतेरे रेडियो रूपकों की रचना की जिनमें से 'अबूझमाड़' आदि ऐसे रूपक रहे जिन्हें इस आधार पर काफ़ी सराहना मिली कि वे अपने श्रोताओं को एक नए अनुभव-संसार में ले जाते हैं। अछूते, नए-नए अनुभवों को अभिव्यक्ति देना दुष्यन्त के लेखक का स्वभाव था। पुराने और जाने-पहचाने की पुनरावृत्ति से कहीं अधिक रुचि वे उस ताज़े और नए में लेते थे जो उनमें भरपूर ऊर्जा का संचार कर दिया करता था। इन रूपकों में एक अंश उस उपयोगी लेखन का भी मिलेगा जिसे हम ललित गद्य की श्रेणी में भले न रख सकें, पर उपयोगी गद्य वह है, इसे तो मानेंगे ही।

आकाशवाणी की अपनी नौकरी के दौरान उन्हें कुछ साक्षात्कार भी लेने ही पड़ते थे। इन साक्षात्कारों की शैली बेहद सहज, अनौपचारिक और सामाजिक-राष्ट्रीय दृष्टि से मूल्यवत्ता लिए होती थी, जिनसे लेखक दुष्यन्त की अपने ज़माने की समझ, जागरूकता, जीवन संबंधी खुली किंतु मर्यादित सोच और सभ्यता के विकास की विभिन्न गतियों और रूपों का अंदाज़ होता है। इनमें से कुछेक साक्षात्कार ऐसे भी हैं जो कई जाने-माने लेखकों से हमारा निकट का परिचय कराते हैं।

बातचीत की अनौपचारिक शैली, स्वाभाविक सटीक सादा गद्य और जीवन के ज़रूरी मुद्दों का विमर्श इन साक्षात्कारों की विशेषता कही जा सकती है।

गद्यकार दुष्यन्त ने कुछ अत्यंत मार्मिक और गंभीर व्यक्तिचित्र रेखांकन भी हिंदी

गद्य को दिए हैं। व्यक्तियों की अद्वितीय विलक्षणताएँ, उनके स्वभाव की छिपी हुई खूबसूरती और लोकविदित गुणवत्ता को निहारकर उन्होंने अपनी जीवन शैली में जिस तरह परोसा है, उस आधार पर यह कहना ज़रूरी हो जाता है कि इस सर्जक में जीवन को देखने की एक दिलचस्प और जीवंत निगाह है जो किसी भी रूप में न तो कहीं से औपचारिक और संकोचग्रस्त है और न ही पूर्वाग्रहजनित। यह लेखक चारों ओर से खुला हुआ है, एक सीमाहीन विस्तृत आकाश की तरह। मानव स्वभाव की अनेकानेक भंगिमाओं, गतियों की सूक्ष्मतम परछाइयों पर इसकी बारीक़ निगाह यह सूचित करती है कि लेखक का जीवन बोध अप्रतिहत एवं दृष्टि अबाध थी।

इन गद्य कृतियों में एक शिल्पहीन शिल्प की ऐसी सरसता और पठनीयता है कि हमारी दिलचस्पियाँ जाग उठती हैं और हम इनकी दुनिया में बगैर किसी कोशिश के रमने लग जाते हैं।

गद्य-लेखक दुष्यन्त ने कुछेक राजनीतिक लेखन अपने छद्म नाम—डी०के०टी०—से किया है। इसमें वे मध्य प्रदेश शासन, उसके मंत्रियों, सरकारी विभागों, संस्कृति एवं भाषा नीतियों के संदर्भ में कुछ बेहद बेलौस धारदार टिप्पणियाँ करते हैं। दुष्यन्त जैसे लेखक बताते हैं कि अभिव्यक्ति के ख़तरों से खेलने की अदाएँ कितनी हो सकती हैं।

उन्होंने अपनी पहली समीक्षा 'नई कहानी' 1954 में लिखी जो हैदराबाद से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'कल्पना' के जनवरी, 1955 के अंक में प्रकाशित हुई। आज यह 'नई कहानी' समीक्षा का ऐतिहासिक दस्तावेज़ बन चुकी है। कवि-आलोचकों की एक बिरादरी हमेशा से रही आई है।

दुष्यन्त अपनी अनेक समीक्षाओं के आधार पर इसे प्रमाणित करते हैं। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में रिव्यू लिखना, उस माध्यम से अपनी गंभीर आलोचकीय प्रतिक्रियाएँ रेखांकित कर अपने आलोचनात्मक विवेक का परिचय देना वे इनके माध्यम से करते ही रहे हैं। पर यह भी सही है कि वे किसी स्वतंत्र और पूर्णकालिक समीक्षक का दायित्व शायद ही कभी निभा पाए हों। यही कारण है कि उनकी कुछ बेहद महत्त्वपूर्ण समीक्षाएँ भी हिंदी समीक्षा के पाठकों की निगाह से ओझल होकर रह गईं। याद करने में हर्ज़ नहीं है कि जब बीसवीं सदी के सातवें दशक में प्रसिद्ध कथा-समीक्षक देवीशंकर अवस्थी उन दिनों की गई श्रेष्ठ और सर्वोत्तम समीक्षाओं का प्रतिनिधि संकलन 'विवेक के रंग' नाम से भारतीय ज्ञानपीठ के लिए संपादित कर रहे थे, दुष्यन्त की मौजूदगी उसमें अनिवार्य मानी गई और वे संपादक द्वारा एक प्रतिष्ठित समीक्षक के रूप में बाकायदा चुने गए।

आज यह सोचकर हैरत होती और दंग रह जाना पड़ता है कि दुष्यन्त में कितनी ज़बर्दस्त रचनात्मक ऊर्जा थी। क्योंकर वे एक अजस्र स्रोत की तरह निरंतर तरह-तरह से झरते रहते थे। घर-गृहस्थी, ऑफ़िस, बाज़ार, नाते-रिश्ते, लोक-व्यवहार की तरह-तरह

की पुकारें और ज़रूरतों की आपाधापी के बीच वे किस तरह अपने लेखक का एकांत पाते थे और कैसे वे एक आम आदमी की तरह-तरह की लड़ाइयाँ लड़ते हुए एक गतिशील लेखक की तरह एक विधा से दूसरी विधा, एक शैली से दूसरी शैली, एक गंभीर किंतु क्षोभकारी अनुभव से दूसरे प्रसन्न, हलके-फुलके, दिलचस्प जीवन के अनुभव तक आया-जाया करते थे। क्या वे सचमुच एक ऐसे घुड़सवार थे जो हमेशा घोड़े की पीठ पर ही रहा करता है ? उस पर खाना-पीना, और फिर एड़ लगाकर युद्ध-क्षेत्र की ओर कूच कर जाना। दुष्यन्त सचमुच क्या यही थे ? सोचना ही पड़ता है, सचमुच दुष्यन्त क्या यही नहीं थे ?

रचनावली के पाठक जब उनके गंभीर कहे जाने वाले रूपों से गुज़रते हुए उनके हास्य-व्यंग्य, चुटकुलों, बाल-कथाओं और लतीफ़ों की ओर आएँगे तो इस बात पर ज़रूर यक़ीन करेंगे कि जितने भरे-पूरे वे ख़ुद थे, उनका लेखन भी उतना ही भरा-पूरा, दिलचस्प और ज़िंदादिल है। उसमें जीवन की गंभीरता है तो प्रसन्न विलास भी। पीड़ा और क्षोभ है तो बेफ़िक्री और फक्कड़ाना अंदाज़ भी। रईसी सोच, ठाट-बाट है तो तंगी और अभाव की परछाइयाँ भी।

—विजय बहादुर सिंह

क्रम

व्यक्तिचित्र-संस्मरण

साक्षात्कार

निबंध, विविध सामयिक टिप्पणियाँ एवं अन्य गद्य-प्रकार

रूपक

आलोचना-रिव्यू

व्यक्तिचित्र-संस्मरण

श्रीकृष्ण दास : एक व्यक्तित्व

आप कभी इलाहाबाद आए हैं ? और आए हैं तो क्या कभी दास बाबू से मिले हैं ? क्या हुआ यदि आप साहित्यिक नहीं, आदमी तो हैं। बस, यह बहुत है। अब गाँठ बाँध लीजिएगा कि कभी यहाँ आएँ तो इनसे ज़रूर मिलिएगा। समझ लीजिए कि अगर आप ऐसा नहीं करते तो एक बहुत बड़े अवसर को खोते हैं।

आप परेशान होंगे कि आख़िर ये सज्जन हैं कौन ? यूँ पूरा नाम तो श्रीकृष्ण दास है पर इलाहाबाद में 'दास बाबू', 'दास भाई' या 'दादा' के नाम से पुकारे जाते हैं। कोई बहुत बड़े आदमी नहीं, साधारण-से पत्रकार हैं। 'अमृत' पत्रिका के साहित्य विभाग के संपादक। लेकिन इस साधारण-से आदमी में कितना असाधारणत्व है, यह आपको तब मालूम हो जब आप इनसे मिलें।

जब पहली बार मेरे क़दम इलाहाबाद में पड़े तो दोस्त लोगों ने यही पूछा, "दास से मिले ?" आख़िर जब ऊब गया तो मालूम किया कि जनाब, क्या विशेषता है इन दास साहब की, जो आप लोग इस तरह हाथ धोकर पीछे पड़े हुए हैं ? जवाब में दोस्तों ने मुस्करा भर दिया और मेरी उत्कंठा वहीं दबकर रह गई। सोचा कि संपादक हैं, कविता छपानी होगी तो डाक से सीधे भेज दूँगा। कौन ज़रूरी है मिलना !

एक बार एक मित्र के साथ मुझे भी अपनी कविता लेकर वहाँ जाने का संयोग मिला। दास बाबू को देखा तो सकते में आ गया। लगा कि शक्ल और स्वभाव दोनों जाने-पहचाने हैं। इतनी आत्मीयता लेखकों के साथ बरतते हुए मैंने तो बहुत ही कम संपादक देखे हैं। लेकिन बाद में ज्ञात हुआ कि यह आत्मीयता केवल लेखकों के लिए ही नहीं, सभी के साथ बरती जाती है। पर यह तकल्लुफ़ नहीं, स्वभाव है।

चाय का ऑर्डर देते समय उन्होंने हमसे एक बार भी पूछने का कष्ट नहीं उठाया कि हम लोग पिएँगे या नहीं। बस, चुपचाप हमारे सामने प्याले खिसका दिए गए और हमने किसी चलित यंत्र के समान अपने प्याले उठा लिए।

जब कविताएँ दिखाई गईं तो अनेक सुझाव उन्होंने दिए और कविताओं की जी भरकर प्रशंसा की। बातचीत के उसी दौरान में पहली बार मुझे यह भी मालूम हुआ कि इस इतने गंभीर व्यक्तित्व के पीछे कितना हास्य भरा है। बड़ा मौलिक मज़ाक करते हैं दास साहब।

दास बाबू के स्वभाव का विश्लेषण डॉ० एज़ाज़ हुसैन ख़ूब करते हैं। एक बार मैं, मार्कण्डेय, वामिक़ जौनपुरी तथा डॉक्टर साहब चारों बैठे चाय पी रहे थे। डॉक्टर साहब बोले, "कहिए, कुछ लिख रहे हैं आप लोग या ख़ामोश ही हैं ?" और जब हमने उत्तर दिया कि साहब इधर तो बहुत लिखा है तो कहने लगे, "यह सब दास की सोहबत का असर है। उनसे भी कहो कि दास भाई, हाथी चाहिए; उत्तर मिलेगा; 'अभी आता है।' यही हाल आपका है।" वास्तव में दास बाबू की यही स्थिति है। निराश होना वे नहीं जानते। परिस्थितियों से लड़ने और संघर्ष करने में वे रस लेते हैं। किसी बात के लिए उनके मुँह से जल्दी 'नहीं' नहीं निकलता।

बातें आपको सुननी हों, साहित्य की, संगीत की, कला की तो दास बाबू के पास चले जाइए। न ख़ुद ऊबेंगे, न आपको ऊबने देंगे। चाय और सिगरेट आपको मिलेगी ऊपर से। अपनी कमज़ोरी मैं बताऊँ कि जब कभी सिविल लाइंस घूमने जाता हूँ और जेब में पैसे नहीं होते तो सीधा पत्रिका-ऑफ़िस का रुख़ करता हूँ। सच कहिए तो मैंने ही क्या, और भी न जाने कितनों ने पत्रिका-ऑफ़िस को एक छोटा-मोटा रेस्टोरेंट बना रखा है। ऐसे हैं हमारे दास दा।

'आदमी में कोई न कोई कमज़ोरी होना बहुत आवश्यक है।' यह हमारी भाभी श्रीमती सरोजिनी दास का वाक्य है। स्पष्टतः यह वाक्य दास बाबू की कमज़ोरियों की विवरण-पत्रिका है। आज किसी ने ख़बर की कि निराला जी अत्यंत चिंतित और व्यग्र अवस्था में सड़कों पर टहलते फिर रहे हैं। तो संभव है, उनसे भी अधिक व्यग्र और चिंतित दास बाबू हो उठेंगे। क्यों भला ? कोई पूछे तो ? हिरन-सी आँखों में आँसू छलछला आएँ। कोई अच्छी कहानी या कविता सुनें तो कंठ भर आए।

वे अनेक बार जेल गए, डंडे सहे, लांछना और प्रतारणा सही, आग में जले और आज कुंदन हैं। किसी कसौटी पर कस लीजिए, खरे उतरेंगे। मिनिस्टर और एम०एल०ए० बनने का अवसर आया तो कम्युनिस्ट बन बैठे।

एक दिन डॉक्टर महादेव साहा से बैठा बातें कर रहा था तो कहने लगे, "दास साहब प्रैक्टिकल (व्यावहारिक) कम हैं, इसीलिए ज़िंदगी में धोखे खाते रहे हैं, खाते रहेंगे।" सच पूछिए तो डॉ० साहा उनसे भी कम प्रैक्टिकल हैं। मगर बात उनकी सोलहो आने सही है। किसी पर भी एकदम विश्वास कर लेना उनके सहज स्वभाव का एक अंग है।

पिछले वर्ष मैंने उन्हें कुछ प्रश्न 'टाइप' कराकर दिए, कहा कि मुझसे एक पत्रिका ने एक 'इंटरव्यू' माँगा है। आप कृपया इन प्रश्नों का उत्तर दे दीजिएगा। प्रश्न ऐसे थे कि उनका पूछना और उत्तर पाना दोनों ही लिखित रूप में होना नितांत आवश्यक था। शायद मार्च का महीना था। अप्रैल तक मुझे कोई उत्तर नहीं मिला। आख़िर एक दिन

मैं उनके घर ही पहुँच गया और इतना बिगड़ा कि लड़ने तक को तैयार हो गया। कहा कि आप आख़िर इस मामले में इतनी ढील क्यों दिखा रहे हैं ? उस समय उन्होंने जल्दी उत्तर देने का वादा करके मुझे टाल दिया, लेकिन उत्तर नहीं दिए और मेरा इंटरव्यू अधूरे का अधूरा ही रहा। बाद में मालूम हुआ कि आपने उत्तर लिखने में इसलिए ढील दिखाई थी कि मेरे परीक्षा के दिन निकट थे और परीक्षा के दिनों की यह साहित्य-सेवा मेरी डिवीज़न पर या परीक्षा-फल पर असर डाल सकती थी। मैंने सोचा कि कितना हित मेरा कोई सोच सकता है, यह तो मुझे स्वयं ज्ञात न था। और मैं आत्मग्लानि से भर गया।

दास जी की पुस्तकों की सूची मैं नहीं देने जा रहा हूँ और न उनकी साहित्यिक विशेषताओं का ही उल्लेख कर रहा हूँ। ऐसा करने से संभव है, वे नाराज़ भी हो जाएँ। वे जब बिगड़ते हैं तो कहा करते हैं, "आख़िर आप क्यों मुझे साहित्य का ही चश्मा लगाकर देखते हैं ? क्या मैं आदमी नहीं ? क्या साहित्य के बिना और किसी रूप में मेरा अस्तित्व ही नहीं ?" और मैं सोचता हूँ कि यह बात कितने पते की है ? जो आदमी नहीं होगा, वह साहित्यकार क्या ख़ाक होगा !

गुस्सा वे कभी-कभी होते हैं। वह भी ऐसे अवसरों पर, जब हम कोई बड़ी गुस्ताख़ी कर बैठते हैं। एक बार कॉफ़ी हाउस में बैठे हुए थे। कॉफ़ी पी गई। बिल आया तो मैंने अपनी जेब में हाथ डाला, उधर धर्मवीर भारती ने भी। मैंने चाहा कि बिल मैं 'पे' करूँ, भारती जी ने अपनी ओर खींचना चाहा। आख़िर बिल मैंने ही 'पे' किया और दो दिन तक दास बाबू की नाराज़गी का कारण बना रहा। वे जब क्रोध में होते हैं तो मुँह फुला लेते हैं। यदि उस वक़्त उनका फ़ोटो लिया जाए तो वे बहुत अच्छे लगेंगे।

जहाँ कहीं हम घुटने टेक देते हैं, वहाँ वे हमें सहारा देते हैं। जहाँ कहीं हम भटक जाते हैं, वे हमारा पथ-प्रदर्शन करते है। लेकिन खुद उनकी ज़िंदगी में कितना उलझाव है, इसका अनुमान बहुत कम लोग ही कर सकते हैं। उनकी मासिक आय पाँच सौ रुपए से कम तो नहीं है, पर महीनों के आख़िर में आप उनके पास मुश्किल से कुछ रुपए पाएँगे, वह भी कभी-कभी। एक-तिहाई उनकी तनख़्वाह सिगरेट, चाय-पानी में चली जाती है, यह निश्चित है। लेकिन इस सबके बावजूद भी उनके क्रम में कोई अंतर नहीं आता।

आपके-हमारे यहाँ सत्यनारायण की कथा होती है, हवन होता है या कुछ और होता है। विशेषतया जब कभी कोई बीमार हो। दास बाबू के यहाँ कोई बीमार हो तो निराला जी की कविताओं का पाठ, प्रसाद की 'कामायनी' या भक्त[1] जी की 'नूरजहाँ'

1. 'नूरजहाँ' खंडकाव्य के रचयिता गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

का पारायण होगा। तुलसी और निराला के अनन्य भक्तों में से हैं दास बाबू और निराला जी भी इतना मानते हैं इन्हें कि कुछ न पूछिए। जहाँ निराला जी को बुलाना हो, दास बाबू की कोशिश करानी परमावश्यक है। वैसे तो बिना दास की सम्मति के इलाहाबाद में कोई भी साहित्यिक संस्था या पत्रिका नहीं चलती।

दास बाबू जब बीमार पड़े तो बेतार के तार द्वारा यह ख़बर इलाहाबाद-भर में फैल गई और साहित्यकारों से लेकर पाठकों तक सभी लोग दास बाबू के घर पहुँचने लगे। और दास बाबू थे कि हर नए आने वाले से हँस-हँसकर बातें करते, उसे बैठाते और भरसक अपने को ठीक दिखाने की कोशिशें करते। पर मुझे उनकी असलियत मालूम थी कि वे कमज़ोर हैं। आख़िर तय किया गया कि पेपर्स में न्यूज़ दे दी जाए कि अब दास बाबू ठीक हो गए हैं ताकि मिलने वालों से तो छुटकारा मिले। पर यह इरादा भी बदल दिया गया।

इसके बाद तो अनेक बार मुझे उनके साथ कवि-सम्मेलन और साहित्यिक समारोहों में इधर-उधर जाने का अवसर मिला। अनेक बार रात-रात-भर जागकर उनके साथ सफ़र किया और उनके स्वभाव की छोटी-छोटी विशेषताओं को भी पहचान सका।

एक बार बनारस गए। रात की गाड़ी का सफ़र और कड़ाके की सर्दी। साथ में मैं, मार्कण्डेय, कमलेश्वर और श्याम मोहन श्रीवास्तव थे। अपना ओवरकोट उन्होंने गरमी की शिकायत करते हुए उतार दिया और श्याम मोहन को देते हुए कहा, "भई, मुझसे यह भार नहीं सँभलता, तुम सँभालो !" बात वस्तुतः यह थी कि श्याम मोहन ने केवल एक कमीज़ और स्वेटर ही पहन रखा था, हाँ, ऊनी चादर साथ में अवश्य थी।

दास बाबू की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि वह अपने परिचितों, मित्रों और स्वजनों के स्वभाव को सदैव ध्यान में रखते हैं। उन्हें यहाँ तक मालूम रहता है कि वे कौन-सी सिगरेट पीते हैं और पान सादा खाते हैं अथवा मीठा। चीनी चाय में ज़्यादा लेते हैं या कम। अद्भुत स्मरण-शक्ति है। उस दिन रावी जी पत्रिका-ऑफ़िस में उनसे मिलने गए और अपनी कोई बात बताने लगे। दास बाबू ने बड़े गंभीर भाव से सिर हिलाकर कहा, "यह मुझे मालूम है।" रावी जी बेचारे सोचने लगे और पूछ ही बैठे, "आपको कैसे मालूम ?" "आप लोग साहित्य के निर्माता हैं न !" दास बाबू ने कहा, "आपके विषय में यदि इतनी भी ख़बर साहित्य का पाठक न रखे तो उसकी ग़लती है।" रावी जी ने उठना चाहा तो दास बाबू ने मेरी ओर अर्थ-भरी दृष्टि से देखा। उनका मतलब मैं समझ गया। मैंने कहा, "बैठिए रावी जी, दास साहब के ऑफ़िस की परंपरा की रक्षा के लिए कम से कम एक प्याला चाय तो पीते जाइए।" चाय आ गई और हमने प्रेम से पी। पाँच मिनट बाद जब वे चलने लगे तो दास बाबू ने कहा, "इस बार मेरी ओर से रावी जी !" और फिर चाय का दूसरा दौर चला।

इतना कमज़ोर और भावुक हृदय है उनका किंतु दुर्बलता का यह पहलू सात्त्विक है। दृढ़ता भी उनमें अपार है। प्रगतिशील लेखक संघ की कॉन्फ्रेंस में प्रकाशचंद गुप्त, नेमिचंद्र जैन, सरदार जाफ़री, रा०वि० शर्मा, यशपाल, भगवतशरण उपाध्याय, प्रो० धीरेंद्र वर्मा आदि विद्वान् सम्मिलित हुए। दोपहर में एक प्राइवेट साहित्य-गोष्ठी हुई, जिसमें अनेक लोगों ने साहित्यिक समस्या पर भाषण दिए। पर दास बाबू का स्वर उनमें सबसे अलग और ऊँचा था। लेखकों की नई पीढ़ी के लिए वे इतने चिंतित हैं, यह वास्तव में ठीक प्रकार से उसी दिन ज्ञात हुआ। उन्होंने स्पष्ट कहा, "साहित्य में गद्दियाँ स्थापित कर महंताई करने से राष्ट्रभाषा की उन्नति नहीं हो सकेगी। हमें चाहिए कि अपनी गद्दियों से खिसकते हुए नए लेखको को प्रोत्साहन दें। हमें तुम्हारे सहयोग की अपेक्षा है। अब तुम हमारी जगह आओ।"

भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार है, आवाज़ में ऐसी मर्दानगी कि एक बार पत्थर को भी पानी बना दे।

सर्वे साहब

साहू सीताराम के यहाँ एक छोटा-मोटा जलसा था। क़स्बे के लगभग सभी नामी-गिरामी व्यक्ति आए हुए थे। उनमें कवि और लेखक भी थे, संगीतज्ञ और मूर्तिकार भी। स्थानीय कॉलेज के प्रोफ़ेसर भी थे और एक-दो अफ़सर भी। और शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि अधिकता वहाँ कलाकारों या कला के प्रशंसकों की ही थी। सर्वे साहब से मेरा पहला परिचय वहीं हुआ।

बहुत इसरत के बाद उन्होंने कविता पढ़ने की स्वीकृति दी। बोले, "इस वक़्त अपनी कविता पढ़ने के 'मूड' में नहीं हूँ। अगर आप साहबान इजाज़त दें तो साहिर की एक मनोहर नज़्म आपको सुना दूँ ?" साहिर का नाम सुनकर मुझे तसल्ली हुई कि इतनी देर बाद कम से कम एक ढंग की नज़्म सुनने को मिल पाएगी।

सर्वे साहब ने नज़्म सुनानी शुरू की तो दो पद सुनाकर बोले, "हो सकता है मैं बीच में कहीं भूल जाऊँ, इसके लिए आप साहबान मुझे माफ़ फ़रमाइएगा।" नज़्म फिर शुरू हुई—

ये बढ़ते हुए हाथ सीनों की जानिब

इस पंक्ति की मैं कोई अर्थ-संगति न बिठाल पाया था। अतः विनम्र स्वरों में मैंने अपनी आपत्ति प्रकट की कि शायद यह पंक्ति दूसरी तरह से है। सर्वे साहब बोले, "गुस्ताख़ी मुआफ़ हो, मगर आप ही ग़लती पर हैं। नहीं जनाब ! आप मुतमइन रहें कि जो मैं अर्ज़ कर रहा हूँ वह क़तई सही है।" मैं फिर चुप हो गया। उन्होंने टूटे सूत्र जोड़े—"हाँ तो मैं कह रहा था—

ये बढ़ते हुए हाथ सीनों की जानिब
लपकते हुए पाँव जीनों की जानिब"

दूसरी पंक्ति पूरी भी नहीं हुई थी कि कुछ लोग बेतहाशा हँस दिए। सीताराम जी ने दोहराया—"लपकते हुए पाँव सीने की जानिब। वाह सर्वे साहब क्या ख़ूब कहा है ! वाह !" और सर्वे साहब मुस्कराकर बोले, "जी जनाब, फ़न की यही तो चोट है। ज़रा-सी तरमीम की कि आप लोग हँसते-हँसते लोटन कबूतर हो गए, और ज़रा-सी तरमीम कर दूँ तो आप रोते-रोते पागल हो जाएँगे।"

नज़्म जैसे-तैसे ख़त्म हुई। वातावरण की गंभीरता जाने कहाँ गुम हो गई थी ? लेकिन औपचारिकता के नाते या सम्मान के (क्योंकि मैं इलाहाबाद से उस कस्बे में नया-नया आया था) भारद्वाज जी ने (जो वहाँ की प्रायः सभी सभाओं के पेटेंट प्रेसीडेंट हैं) मेरा नाम भी पुकारा। मेरे उठने और कुछ कहने से पूर्व सीताराम जी उठ खड़े हुए और मेरा परिचय देने लगे—

"दुष्यन्त कुमार जी के नाम से हिंदी का बच्चा-वच्चा परिचित है। गद्य-पद्य हर दिशा में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। रेडियो पर मैंने अकसर आपकी रचनाएँ सुनी हैं। आपकी भाषा सरल और सजीव होती है। शैली के तो कहने ही क्या ! अपनी कविताओं में आपने उपमा अलंकार का विशेषकर प्रयोग किया है। अब मैं दुष्यन्त जी से प्रार्थना करूँगा कि अपनी वाणी और काव्य का रसास्वादन हमें कराएँ।"

सोचा था, सिरदर्द का बहाना कर छुट्टी पा लूँगा, पर निष्कृति का कोई उपाय न देख दो गीत सुनाने पड़े। जब सब लोग जाने लगे तो सीताराम जी ने अपने दो-एक गिने-चुने मित्रों को रोक लिया और सर्वे जी स्वयं रुक गए। मंच से उतरा ही था कि सर्वे साहब समीप आकर बोले, "चीज़ें आपकी भी बहुत उम्दा थीं।" मैंने विनत होकर आभार प्रकट किया।

और मेरे हामी भरते ही उन्होंने बड़े अंदाज़ से कहा, "नाचीज़ का नाम सर्वे है। चित्रकला, मूर्तिकला, नाट्यकला और चर्मकला में मेरे प्राण बसते हैं। मगर साहित्य और उसमें भी कविता के बिना मेरी ज़िंदगी बेमानी है।" हिंदी शब्दों का प्रयोग देखकर मैं कुछ पूछने वाला था कि स्वयं बोले, "कविता हिंदी-उर्दू दोनों में लिखता हूँ। कहानी और उपन्यास हिंदी मे ओर ड्रामे सिर्फ़ अंग्रेज़ी में।"

"मुझे आपसे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई।" मेंने कहा।

इस प्रसन्नता शब्द ने सर्वे साहब पर जैसे जादू का-सा असर किया। बाँहें मेरे आगे फेला दीं। गट्टे के रोएँ दिखाकर बोले, "देखिए, अभी तक रोम-रोम सिहर रहा है। मैं साहित्यकारों से मिलकर सदैव प्रफुल्लित हो उठता हूँ।"

मैंने कहा, "आप हिंदी बहुत अच्छी बोल लेते हैं।"

"हिंदी ? में एक साल तक कोडाई कैनाल में मि० एंड मिसेज़ मेरिया मॉण्टेसरी के साथ रहा हूँ। कभी आप अंग्रेज़ी सुनिए मुझसे। दरअसल अंग्रेज़ी ज़बान और अंग्रेज़ी कपड़ों में ही मैं ज़्यादा कमफर्टेबल फील करता हूँ।"

उनसे मेरी यह पहली भेंट थी।

दूसरी भेंट तब हुई जब मुझे कस्बे के एकमात्र मॉण्टेसरी स्कूल में अपनी बच्ची के दाखिले के लिए जाना पड़ा। वे अपनी कुर्सी पर बैठे कोई अखबारनुमा पुस्तक पढ़ रहे थे और सामने फाइलों में सिर गड़ाए एक मोटे-से गोल-मटोल सज्जन कुछ हिसाब

जोड़ने की-सी चेष्टा कर रहे थे। मैं ज्यों ही उनके पास पहुँचा कि वे तड़पकर अपनी कुर्सी से उठ खड़े हुए और लगभग चीख़ते हुए-से बोले, "शे'र बन गया पांडे जी !"

और पांडे जी निर्विकार मुद्रा में उसी तरह बैठे हुए बोले, "जी।"

इस 'जी' में न आश्चर्य था, न कौतूहल; न हर्ष था, न उत्सुकता। बस, वह राम शब्द, जो अभ्यस्त अधरों से यूँ ही निकल जाता है। मैं अपनी जगह ठिठक गया।

सर्वे साहब बोले, "शे'र अर्ज़ है :

ग़मे हस्ती का असद किससे कहें ऐ सर्वे
शम्आ हर हाल में जलती है सहर होने तक।"

पांडे जी ने अपना पैन खोलकर रजिस्टर में कुछ लिखा और बोले, "हाल की जगह रंग ज़्यादा मौजूँ रहेगा।" फिर मेरी ओर नज़रें उठाकर बोले, "आइए, तशरीफ़ रखिए।"

मैं कुर्सी पर बैठ गया और सर्वे साहब मेरे आने की बेहद ख़ुशी ज़ाहिर करते हुए यक-ब-यक खड़े हो गए और पांडे जी से बोले, "तुमने मुझे बताया नहीं कि आप हैं ?" और फिर ख़ुद भी बैठते हुए बोले, "कहिए, कैसे तकलीफ़ की ?"

मैंने संक्षेप में अपने आने का उद्देश्य उनसे कहा। सर्वे साहब ने बड़े प्यार से गुड्डी को पुचकारा। उसे तस्वीरों वाली दूरबीन और एक बच्चों की एलबम देखने के लिए दी और मुझे साढ़े चार रुपए कमीशन। बोले, "लेखकों के साथ मैं स्पेशल रियायत करता हूँ। फिर आप तो घर के आदमी हैं।"

इसके बाद मेरे बहुत इनकार करने पर भी उन्होंने चाय मँगाई और जब तक चाय आई तब तक वे बराबर मुझे स्कूल तथा उर्दू कविता के विषय में नई बातों की जानकारी कराते रहे। शिष्टाचारवश मैंने निवेदन किया, "आपकी उस दिन की कविता बहुत अच्छी रही और आपके पढ़ने का ढंग तो उससे भी अच्छा था।"

सर्वे साहब ने मेरी बात लगभग पूरी ख़त्म होने से पहले ही दबोच ली, बोले, "इस बात को साहिर भी मानता है।"

मैंने चौंककर पूछा, "क्या आप साहिर से परिचित हैं ?"

"परिचित !" सर्वे साहब ने ऐसे कहा जैसे मैंने उनके किसी ख़ास गुण पर उँगली उठा दी हो। "परिचय तो साहब, मामूली चीज़ है...और साहिर तो दोस्ताना भी नहीं बल्कि लँगोटिया यारी कहता है। बात ये है कि बंबई के एक ही मुहल्ले में एक ही दिन हम लोग पैदा हुए। एक साथ पले-बढ़े, खेले-कूदे और इत्तिफ़ाक़ की बात कि नज़्म लिखना भी एक ही दिन शुरू किया।"

"अच्छा !" मैंने विस्मयाभिभूत होकर कहा, "मैं तो साहिर को लुधियाने का रहने वाला समझता था, क्योंकि वह लुधियानवी लिखता है न !"

"ऐं !" सर्वे जी ने सकपकाकर कहा और तुरंत पांडे जी को आवाज़ दी, "पांडे जी, दुष्यन्त जी साहिर को लुधियाने का रहने वाला बता रहे हैं। मैंने आपसे बताया कि वह मेरे साथ बंबई में पैदा हुआ, खेला-कूदा तो आपको बड़ा ताज्जुब हुआ। सुना आपने"'।"

पांडे जी निकट आ गए, बोले, "जी !" इस 'जी' में 'अभ्यास' नहीं, विस्मय था। फिर बोले, "जी ! साहिर ने तो लुधियाने की सूरत भी नहीं देखी होगी। हमारे सर्वे साहब का तो वहुत गहरा दोस्त है। अभी कल-परसों ही तो उसकी चिट्ठी आई थी।"

"अरे"'कहाँ है वह चिट्ठी पांडे जी ? उसे सँभालकर रखिएगा।" फिर मेरी ओर मुख़ातिब होकर बोले, "और साहिर ? लुधियाने का कोई और साहिर होगा।"

"हो सकता है।" मुझे कहना पड़ा। ये मेरी उनसे दूसरी भेंट थी।

तीसरी और आख़िरी भेंट उनसे उसी कस्बे के एक कवि-सम्मेलन में हुई जहाँ लोग सभापतित्व के लिए मुझे खींच ले गए थे। जब पंडाल में पहुँचा तो फूलमाला और करतल ध्वनि इत्यादि की औपचारिकता पूरी करने के बाद मेरे हाथ में स्थानीय और दो-एक बाहर से आए हुए कवियों की लिस्ट दे दी गई जिनकी संख्या पैंतीस-चालीस से कम न थी। मुझे लगा कि कवि-सम्मेलन पूरी रात ले लेगा। अतः संयोजक प्रोफ़ेसर कृष्णा के कानों में मैंने अपनी कठिनाई कह दी। अपनी काली शेरवानी के बटनों पर हाथ फेरते हुए वे बोले, "इसका प्रबंध कर दिया जाएगा।"

पंडाल उत्साही श्रोताओं से खचाखच भरा था। संयोजक प्रोफ़ेसर कृष्णा ने खड़े होकर अपना भाषण प्रारंभ किया। कुछ देर तक उनके भाषण में उलझने की चेष्टा करने के वाद मैं कवियों की नामावली देखने लगा। तभी सूट और टाई से सुसज्जित सर्वे साहव मंच पर आए और अभिवादन के पश्चात् लगभग मेरे ही ऊपर झुककर कवियों की लिस्ट देखने लगा। तीसरे या चौथे ही नंबर पर उनका नाम था। मुझसे वोले, "देखिए, मेरा नाम ज़रा बाद में पुकारिएगा।" फिर जैसे अपने आपको ही संबोधित करते हुए बोले, "संयोजकों को इतनी भी तमीज़ नहीं कि किस कवि को कहाँ रखना चाहिए ?" फिर मेरे कान के और निकट मुँह लाकर बोले, "हमेशा कायदा ये होता है कि आठ-दस कवियों के बाद एक जमाऊ कवि रखना चाहिए। क्या ख़याल है ?"

मुझे सहमत होना पड़ा। तभी मैंने उत्सुकतावश पूछा, "सर्वे साहब, आप हिंदी में भी कविताएँ लिखते हैं ?"

"जी हाँ," सर्वे साहब ने कहा, "लेकिन वहुत कम। बस यों समझ लीजिए कि मुँह का ज़ायका बदलने के लिए।" और ख़ुद ही हो-हो कर इतनी ज़ोर से हँसे कि बरबस भाषण देते-देते प्रो० कृष्णा को पीछे मुड़कर उन्हें शांत करना पड़ा।

मेरा ध्यान फिर प्रो० कृष्णा के भाषण में उलझ गया। वे कह रहे थे, "मैं अपने

कवियों की आदतों से परिचित हूँ। इसलिए उन्हें बता देना चाहता हूँ कि वे एक से ज़्यादा कविता सुनाने की चेष्टा न करें।" इस बात को सर्वे जी जज़्ब न कर सके। अतः बीच ही में बोल पड़े, "क्या मैं संयोजक साहब से यह पूछ सकता हूँ कि ये कवि-सम्मेलन उन्होंने अपने लिए किया है या जनता के लिए ? और यदि जनता के लिए तो जनता यदि चाहेगी तो हम पचास कविताएँ पढ़ेंगे और ज़रूर पढ़ेंगे।"

सर्वे साहब की इस बात पर तहलका मच गया। आख़िर प्रो० कृष्णा बोले, "मैंने तो बाहर से आए हुए कवियों को ध्यान में रखकर ये बात कही थी कि हमें उनकी अधिक से अधिक कविताएँ सुनने को मिल सकें। किसी पर चोट करने के ख़याल से नहीं। हालाँकि ये भी सचाई है कि हमारे कुछ कवि बंधु जनता की इच्छा को देखे बिना ही अपनी कविताओं का पिटारा खोले चले जाते हैं।"

मंच पर बैठे कवियों में प्रो० कृष्णा की इस बात की ज़बरदस्त प्रतिक्रिया हुई। सबने इसे अपना अपमान माना और खुसर-फुसर करते हुए प्रतिनिधित्व के लिए सर्वे साहब का मुँह ताकने लगे। जनता की आवाज़ को सर्वे साहब कैसे पी सकते थे ? अतः बोले, "ये कवियों का अपमान है। हम इसे बरदाश्त नहीं कर सकते। कृष्णा जी अपने शब्द वापस लें।"

कृष्णा जी इस बार बौखला गए। फिर भी भरसक संयत होने का प्रयत्न करते हुए बोले, "कवि-सम्मेलन में भाग लेने के लिए लगभग चालीस नाम सभापति जी के पास आए हैं। सर्वे साहब के भानजे श्री मतवाला जी तथा प्रेमी जी भी आज विशेष कवि के रूप में बाहर से पधारे हैं, पर आश्चर्य है कि वे स्थिति को समझने की चेष्टा नहीं कर रहे। आप ही बताइए कि जो स्थानीय कवि हैं उनकी रचनाएँ तो हम रोज़-रोज़ ही सुन सकते हैं, पर जो बाहर से आए हैं उनकी रचनाएँ सुनने का सुयोग क्या रोज़ाना प्राप्त हो सकता है ?" इतना कहकर उन्होंने समर्थन के लिए जनता की ओर देखा। और जनमत अपने पक्ष में पाकर वे बोले, "फिर भी जिन कवियों को मेरे कथन में अपमान का अनुभव हुआ हो, वे निस्संकोच जा सकते हैं। उनके बिना हमारा कवि-सम्मेलन सूना नहीं हो जाएगा।"

इस बात पर कवियों और जनता दोनों में ख़ामोशी छा गई। सर्वे साहब ने एक नज़र मंच पर बैठे कवियों पर डाली और उनकी आँखों में आत्मसम्मान की बुझती ज्योति की लौ पकड़ते देख वे ऐलान-सा करते हुए उठ खड़े हुए, "हम ऐसे कवि-सम्मेलन में बैठना अपना अपमान समझते हैं।"

मैं इस सारे मामले में चुप ही रहा। सर्वे साहब के 'हम' शब्द से जिस अनेकता का आभास होना चाहिए, वैसा उस क्षण मुझे भी हुआ। फिर भी बात वैसी कुछ न थी। वे अकेले ही मंच से उठे और उनके साथ कोई और कवि नहीं उठा। मंच से उठकर एक

क्षण उन्होंने पीछे देखा भी, फिर भीड़ में खो गए।

फिर कवि-सम्मेलन शुरू हुआ। मैं एक-एक कवि का नाम पुकारता जाता था। वे आ-आकर अपनी कविताएँ सुनाते और चले जाते थे। जनता में अपार शांति थी। सच पूछो तो ऐसी शांत भीड़ मैंने इलाहाबाद क्या कहीं भी नहीं देखी। अतः कवि-सम्मेलन का रंग भी थोड़ा फीका रहा। सबसे अंत में सर्वे साहब के भानजे मतवाला जी का नाम मैंने पुकारा। एक लंबा, गोरा, पतला-सा युवक कुरते-पाजामे में कंधे पर शॉल डाले मंच पर आकर अपनी कविता पढ़ने लगा। मैंने उसे ध्यान से देखा। मगर उसके मुख पर अभी अपने मामा जी के साथ घटी घटना का कोई एक भी चिह्न नहीं था।

मतवाला जी के बाद मुझे भी दो कविताएँ सुनानी पड़ीं। फिर कृष्णा जी ने धन्यवाद की रस्म अदा की और कवि-सम्मेलन की समाप्ति का ऐलान किया। शायद दो से अधिक का समय हो गया था। संयोजक प्रो० कृष्णा से विदा लेते-लेते पंद्रह मिनट और लग गए। लगभग सारे कवि जा चुके थे। संयोजक जी सामान उठवाने के लिए वहीं रुक गए। अतः तेज़ी से क़दम बढ़ाता मैं अकेला ही घर की ओर भागा। लाल ईंटों का गड्ढों-भरा रास्ता और म्युनिसिपैलिटी की लालटेनों का धुँधला प्रकाश। अतः बार-बार ठिठक जाना पड़ता था। थोड़ी ही दूर गया हूँगा कि अगली लालटेन के प्रकाश में मैंने मतवाला जी और सर्वे जी को जाते हुए देखा। दोनों ज़ोर से बल्कि काफ़ी गरम-गरम-सी बहस करते चले जा रहे थे। दूर से कुछ साफ़ सुनाई नहीं दिया। अतः कुछ तो उनकी बात सुनने के लिए और कुछ घर तक का साथ पाने की आशा में मैंने तेज़ी से क़दम बढ़ाए।

सर्वे साहब अपने भानजे पर बिगड़ रहे थे। मैंने सोचा—शायद इस कारण कुपित हो रहे हैं कि वह भी मंच से उन्हीं के साथ क्यों नहीं उठ गया। पर कारण कुछ और था। सर्वे साहब कह रहे थे, "मैं भीड़ में बिलकुल सामने ही खड़ा था। मगर तुमने मेरी तरफ़ ऑख उठाकर देखा तक नहीं। कवि जो बने थे। बार-बार हाथ से इशारा किया कि ये कविता मत पढो। इसे मैं यहाँ दस बार तो कम से कम अपने नाम से सुना ही चुका हूँ। मगर तुम्हें अपने मामा की इज़्ज़त का ध्यान हो, तब न। आख़िर नाक कटवा ही दी मेरी।"

मैंने उस समय उनसे बोलना उचित न समझा। ये उनसे मेरी तीसरी और अंतिम भेंट थी।

(मुरादाबाद काल की रचना, 1957-58
कवि दुष्यन्त इन दिनों यहीं से बी०एड० कर रहे थे।)

दिनकर जी

आप कल्पना कर सकते हैं कि किसी साहित्यिक सभा में आई०ए०एस० यानी भारतीय प्रशासनिक सेवा के अफ़सरों की भीड़ लग जाए। वे अफ़सर जो अपने पद के रुतबे, अपनी हैसियत और मर्तबे से हर क्षण बावस्ता कहे जाते हैं, दरवाज़े से उचककर और खिड़कियों से झाँककर भीतर हॉल में हो रही कार्यवाही को देखने-सुनने की कोशिश करें। मुझे तो यह चमत्कार लगता है लेकिन यह चमत्कार भोपाल में घटित हुआ है। वह भी किसी कवि-सम्मेलन या कव्वाली के कार्यक्रम में नहीं, बल्कि दिनकर के सम्मान में आयोजित एक अनौपचारिक गोष्ठी में—जिसके निमंत्रण-पत्र भी विधिवत् छपवाए और बँटवाए नहीं गए थे।

उस समय वे राज्यसभा के सदस्य थे और एक प्रभावशाली संसद-सदस्य तथा पं० नेहरू के व्यक्तिगत मित्र की हैसियत से दिल्ली में उनकी तूती बोलती थी। मैं नौकरी के चक्कर में था और मुझे पं० इलाचन्द्र जोशी ने एक सिफ़ारिशी चिट्ठी देकर दिनकर जी से मिलने की सलाह दी थी। जहाँ तक मुझे याद है, नौकरी के मामले में दिनकर जी ने मेरी कोई मदद नहीं की, बल्कि पं० सुमित्रानन्दन पंत और श्री जगदीश-चन्द्र माथुर की कृपा से मुझे आकाशवाणी में नौकरी मिली थी। कविवर बच्चन का भी उसमें काफ़ी हाथ था। लेकिन उन्हीं दिनों मैंने अनुभव किया कि व्यक्ति-रूप में मैं जितना अधिक दिनकर से प्रभावित होता जा रहा हूँ उतना और किसी से नहीं।

बच्चन जी से मुझे अकृत्रिम और निश्छल स्नेह मिला है। पंत जी की मुझ पर कृपा रही है। मगर दिनकर जी इन बारह वर्षों में क़रीब छह वर्ष मुझसे नाराज़ रहे हैं और छह वर्ष तटस्थ। हाँ, अब से लगभग छह वर्ष पूर्व अपने जन्म-दिवस पर मेरे एक बधाई-पत्र के उत्तर में उन्होंने ज़रूर लिख भेजा था, 'जाओ माफ़ किया, ख़ुश रहो।' लेकिन जब उन्होंने माफ़ नहीं किया था, तब भी मैं ख़ुश था और उनसे उतना ही प्रभावित था जितना आज हूँ।

लेकिन अगर नाराज़ी का कारण वही था तो इस लेख के बाद उन्हें फिर नाराज़ होना पड़ेगा। क्योंकि दिनकर जी पर लिखते समय इस बात को कैसे नज़रअंदाज़ किया जा सकता है कि उनका प्रियदर्शी व्यक्तित्व नारियों के आकर्षण का केंद्र रहा है और उनके कवि और व्यक्ति दोनों ने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया है वरना उनका

काव्य अगर केवल ओज और तुर्सी का ही काव्य होता तो वह ज़्यादा 'सेकेंड-रेट' कवि होकर रह जाते।

शायद मेरे मन में इस प्रभाव का सही संदर्भ खोजने या उनके व्यक्तित्व की उन परतों को तलाश करने की अव्यक्त प्रक्रिया बहुत पहले से शुरू हो गई थी। बस, मैं दो-चार बार उनसे मिला हूँगा कि एक छोटी-सी घटना घट गई। मेरठ कॉलेज, जो उस समय तक विश्वविद्यालय नहीं बना था, अपना एक वार्षिकोत्सव मना रहा था और मेरे साले साहब यानी डॉ० देवेन्द्र कौशिक सहित उसके प्राधिकारी चाहते थे कि किसी तरह दिनकर जी को मुख्य अतिथि के रूप में बुलाया जाए। चुनाँचे कौशिक ने मेरे भरोसे यह ज़िम्मा अपने ऊपर ले लिया था और मैंने जाने किसके भरोसे उन्हें पूरी तरह आश्वस्त कर दिया था कि मैं दिनकर जी को ज़रूर ले आऊँगा।

मैं उन दिनों दिल्ली में नौकरी करता था और मेरठ में रहता था। रोज़ाना चालीस मील आने-जाने की समस्या इतनी विकट और विकराल थी कि उसमें और किसी काम की फ़ुरसत कहाँ। दफ़्तर ही वक़्त से पहुँचना मुश्किल होता। वह तो भला हो डॉ० समर बहादुर सिंह का जिन्होंने बाद में मेरे ऊपर से समय पर दफ़्तर आने की बंदिश हटवा दी। मगर उस समय में इस दायित्व को एकदम भूल गया कि मुझे दिनकर जी से मेरठ चलने के लिए वक़्त और सहमति ले लेनी चाहिए। इससे भी अजीब बात कि मेरे दिमाग़ मे यह भाव सिरे से एक क्षण को भी नही आया कि दिनकर जी काफ़ी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है और हो सकता है, वे अन्यथा व्यस्त हों या इंकार ही कर दें। इसलिए जब सुबह-सुबह देवेन्द्र कौशिक अपने साथियों के साथ एक गाड़ी लेकर मेरे घर आ पहुँचे तो मेरे पास इसके अलावा कोई विकल्प नहीं था कि मैं उन्हें पुनः आश्वस्त करूँ और उनके साथ दिनकर जी को लिवाने चला चलूँ।

अब जो दिल्ली पहुँचकर दिनकर जी से संवाद होते हैं वे भरसक अविकल रूप से नीचे प्रस्तुत कर रहा हूँ।

अभिवादन और सामान्य शिष्टाचार की औपचारिकता के बाद हमने उन्हें अपने आने का प्रयोजन बताया और प्रार्थना की कि उन्हे ज़रूर चलना है।

"ज़रूर चलेंगे।" उन्होंने कहा, "प्रोग्राम कब है ?"

"शाम को।" मैंने जवाब दिया।

"आज ?" उन्होंने आश्चर्य से माथे पर शिकनें बढ़ाते हुए पूछा।

"जी हाँ।"

"मैं तो नहीं जा सकूँगा।" दिनकर जी ने साधारण लहजे में कहा, "मैंने शाम को नगेन्द्र से कह रखा है। मेरा यूनिवर्सिटी में प्रोग्राम है।"

"मगर मैंने तो सारे मेरठ में कह रखा है कि दिनकर जी आ रहे हैं।" मैंने उनके इंकार को तेज़ी से विनम्रतापूर्वक काटते हुए कहा। देवेन्द्र तथा उनके साथियों ने भी तत्काल इस बात की पुष्टि की। और काफ़ी हद तक यह बात सच भी थी कि दिनकर जी के आने की ख़बर मेरठ कॉलेज के हज़ारों लड़कों के माध्यम से यदि पूरे नहीं तो क़रीब-क़रीब चौथाई शहर में ज़रूर फैल गई थी।

इतनी-सी बात दिनकर जी के भड़क उठने के लिए काफ़ी थी। वे लोग तो नए और निर्दोष थे इसलिए दिनकर जी सीधे मुझसे मुख़ातिब हुए और तड़पकर बोले, "मेरी यह खाल खींचकर इसमें भूसा भर दो और इसे ले जाकर टाँग दो मेरठ कॉलेज के हॉल में, ताकि लोग तुम्हें गालियाँ न दें। समझे !" फिर कुछ रुककर बोले, "मेरा तो एक ही शरीर है···और वह एक ही जगह जा सकता है।"

"तो ठीक है," मैंने अपने हिसाब से उनके अंतिम निर्णय पर सील लगाते हुए कहा, "आपका एक ही शरीर है और वह मेरठ जाएगा। हम लोग गाड़ी लेकर आए हैं, नीचे खड़ी है।"

"ग़ज़ब मूरख़ हो भाई !" दिनकर जी झुँझलाहट की पराकाष्ठा पर आवाज़ को सबसे ऊँचे पिच पर ले जाते हुए चीख़े, "ये कैसे हो सकता है ?"

मैं एकदम शांत रहा और उसी स्वर में मैंने कहा, "इस बात को आप जानें। बहरहाल मैंने कह दिया है और आपको चलना है।"

कॉलेज के लोग, जो मेरे साथ आए थे, विस्मय और आशंका के साथ इस कौतुक को देख रहे थे। यह आशंका उन्हें भी थी और मुझे भी कि वातावरण इतना तन गया है कि किसी भी क्षण टूट सकता है।

"आपने मुझसे पूछा था ?" दिनकर जी ने झल्लाकर सवाल किया और मैं समझ गया कि तुमसे आप पर आने का मतलब है कि क्रोध खीझ और व्यंग्य में ढलकर दूसरी ओर जा रहा है।

"जी नहीं।"

"फिर आपने मेरी तरफ़ से आश्वासन कैसे दिया ?" उन्होंने पूछा।

"मैं नहीं जानता।" मैंने पूरी मासूमियत से जवाव दिया।

"फिर आप जानते क्या हैं ?" उन्होंने गुस्से से पूछा।

"शायद मैं आप पर हक़ समझता रहा हूँगा।" मैंने ठंडे स्वर में जवाब दिया तो वे भी कुछ ठंडे होते दिखाई दिए। "मगर भाई, मैं कैसे जा सकता हूँ—मेरा संसद का भी काम है। फिर शाम को यूनिवर्सिटी भी जाना है।"

"तो मत जाइए !" मैंने कहा, "मैंने किसी अधिकार के नाते ही इनसे वादा कर लिया था। आप जानते हैं, अधिकार के नाते ही ऐसी बातें कही जाती हैं। मुझे दुःख है

कि मुझसे ग़लती हो गई।"

"जी नहीं, ग़लती तो मुझसे हो गई। चलिए !" वे कुर्ता उठाकर एकदम खड़े होते हुए बोले, "अभी चलना है न ?"

"जी हाँ।" मैंने ख़ुशी को मन ही मन रोकते हुए कहा।

दिनकर जी ने कुर्ता पहनकर दुपट्टा हाथ में उठा लिया और बाहर निकलते हुए बोले, "हे दुःशासन महाराज, कम से कम उस भले आदमी को टेलीफ़ोन तो कर दो कि मैं आज यूनिवर्सिटी नहीं आ सकूँगा।"

उस समय वाक़ई मुझ पर एक ख़ब्त सवार था। उन्हें ले जाने की एक ज़िद थी ...एक लड़कपन की ज़िद ! पर आज मैं सोचता हूँ कि यह कितनी ज़बरदस्त ज़्यादती थी और क्यों उन्होंने इसके आगे झुकना स्वीकार किया। आज के इस युग में, जबकि निकटतम दोस्तों को भी दस-पाँच घंटे पहले टेलीफ़ोन कर दिया जाता है, मैं किस अधिकार और किस नाते से दिनकर जी को पंद्रह मिनट की सूचना पर उठा लाया ? और किस बिना पर दिनकर जी उठे चले आए ? क्या सिर्फ़ इसलिए कि मेरी दस-पाँच कविताएँ छप चुकी थीं और मैं काव्य की लीक पर एकाध क़दम चल चुका था ?

मैं इसका कोई उत्तर देना नहीं चाहता। मेरे पास कोई उत्तर है भी नहीं। बस, एक कृतज्ञता का भाव है और एक मूर्खतापूर्ण पश्चात्ताप।

(रचनाकाल : 1960)

आत्मगत

जीवन में जो संगति और सामंजस्य अपेक्षित है वह शायद बिखर रहा है और उसे पाने की कोशिश में उसके छोर हाथों से और छूटते जा रहे हैं। बचपन में गंगा के तट पर रेत को मुट्ठी में ज़ोर से कसकर पकड़ा था कि कहीं फिसल न जाए, पर हर पकड़ के साथ रेत के कण हाथों से छूटते ही गए थे। कुछ वैसी ही विवश अनुभूति और नाटकीय आचार मेरी ग्रामीण सरल आत्मा को प्रश्नमूलक दृष्टि से घूरता हुआ नज़र आता है। मैं जो हूँ—शायद इतना बुरा नहीं हूँ—पर अपने इस वास्तविक रूप में कितने लोगों के सामने आता हूँ। और आऊँ तो कितने लोग इसे पसंद करेंगे ? शायद बहुत कम।··· और शायद तब मेरे व्यक्तित्व के साथ जुड़े हुए प्रवादों की संख्या भी बढ़ जाएगी।

प्रवाद भोपालवासियों की एक ख़ास अदा है। मेरे एक इंजीनियर दोस्त जब इन प्रवादों का अतिरंजित रूप में मेरे ही सामने वर्णन करते हैं तो मुझे इस कला का विकसिततम रूप देखने को मिलता है। अभी बहुत अरसा नहीं हुआ, एक मित्र ने मेरे घर मेरी पत्नी के फोटो को देखकर कहा था, "बंधु, ये लड़की वही है जो हमीदिया कॉलेज में पढ़ती है—मै इसे रोज़ाना देखता हूँ"···और मैं मुस्कराकर चुप हो गया था। सामाजिक जीवन में अपने साथ संलग्न इन प्रवादों को में अपनी अतिशय नाटकीय प्रवृत्ति की देन मानता हूँ। मुझे लगता है, अगर मैं अपने सामाजिक आचरण को थोड़ा समेटकर रखूँ और हार्दिकता के प्रदर्शन का नाटक थोड़ा कम कर दूँ तो लोगों को कुछ तसल्ली हो जाएगी। पर शायद तब मुझे ऐसा लगे कि मैं दूसरों का समुचित सम्मान नहीं कर रहा हूँ।

दूसरों का सम्मान : एक आदत के रूप में भोपाल आकर ओर भी विकसित हुई कला है। और जाने क्यों अब ये कला स्वभाव का ऐसा अंग हो गई है कि अवस्था और पद का बिना लिहाज़ किए जहाँ एक भी अच्छाई या एक भी गुण मुझे छूता है, वहाँ मेरा स्नेह या आदर स्वयं ठिठक जाता है। ऐसे लोगों को दोस्त मानने की भूल मुझे नहीं करनी चाहिए थी, क्योंकि कई बार इसीलिए गच्चा खा गए। सबसे मज़ेदार बात यह है कि मेरे साथ प्रवादों को नत्थी करने में सबसे अधिक हाथ भी इन्हीं लोगों का रहा है।

एक सज्जन ने मेरे विरुद्ध पत्रों का अभियान चलाया तो दूसरे मेरे एक निकट मित्र ने मेरे ख़िलाफ़ हर उस स्थान पर ज़हर उगला या उगलवाया जहाँ मेरा आना-जाना

था। यह तो रही निकट कहलाने वाले लोगों की हरकत, पर एक दार्शनिकनुमा सज्जन ...जिन्हें अब तक मैं मित्र मानता आया, अपने उपदेशों की आड़ में निरंतर मेरे भावनात्मक जीवन के मर्म पर प्रहार करते रहे। इसका मुझे तब पता चला जबकि संबंधों के टूटने की चरमराहट और बेचैनी ने मुझे छुआ।

इससे आप यह न समझें कि मुझे लोगों से शिकायत ही शिकायत है, या लोग केवल प्रवादों पर ही जीते हैं—ऐसी मेरी धारणा है। मुझे अगर भोपाल या भोपालवासियों से शिकायत ही होती तो शायद इस लेख को लिखने की ज़रूरत ही न महसूस करता। वस्तुस्थिति यह है कि स्नेह और आत्मीयता का जितना बड़ा बल इस एक वर्ष में मुझे भोपाल ने दिया उतना शायद कभी न मिलता। दो-एक परिवारों ने मुझे सदस्य के रूप में ग्रहण किया और इतना स्नेह तथा आत्मीयता वहाँ से मिली कि वैयक्तिक स्तर पर अनुभव हुई कठिनाइयों और उलझनों को भी मैं नज़रअंदाज़ करता रहा। तीन ऐसे आत्मज मित्र मिले जिन्हें अपने से अलग करके सोचने की मैं कल्पना भी नहीं कर पाता।

लेकिन दूसरी ओर भावनात्मक स्तर पर शायद इन्हीं कारणों से विसंगतियाँ भी उत्पन्न हुई। ऐसी तिक्त और विषम संवेदनाओं ने जन्म लिया कि मेरे व्यक्तित्व की, मेरी सृजनात्मक प्रतिभा की बुनियादें काँप उठीं। अनुभवों की प्रखरता और अनुभूतियों का ऐसा प्रबल ताप जीवन में कभी नहीं सहा था। शायद इसी कारण यह वर्ष सृजन की दृष्टि से बहुत हलका गया। पर मन को यों समझा लेता हूँ कि अभी सृजन की भूमि में प्रेरणाओं की खाद पड़ रही है। ये अनुभव अनुभूतियों के स्तर तक पहुँचते-पहुँचते कुछ तो समय लेंगे और शायद एक ज़्यादा ठोस धरातल पर सृजन होगा। हाँ, ऐसा हो सकता है कि चीज़ों को देखने का नज़रिया तब तक बदल जाए। शायद मेरे साहित्य के नगण्य पाठक यह भी पाएँ कि मेरा कवि पूर्व स्थापनाओं और मान्यताओं से एकदम विचल गया है।

लोग कहते हैं कि रेडियो साहित्यकार की क़ब्रगाह है, पर प्रत्यक्ष में मेरे लेखन और चिंतन को रेडियो ने कम और मेरी व्यक्तिगत-भावनात्मक विचारधारा ने अधिक अवरुद्ध किया है। हिंदी कार्यक्रमों का नियोजक होने के नाते मुझे कभी-कभी ऐसा तो लगा है कि मेरा मस्तिष्क सब चीज़ों से अधिक रेडियो को या अपनी शासकीय ज़िम्मेदारियों को महत्त्व देता है, पर बाह्य प्रतिबंध मुझे कभी अनुभव नहीं हुआ। हाँ, इस पद से हिंदी साहित्यकारों के जो विभिन्न रूप देखने को मिले उनका अनुभव अत्यंत खेदजनक और दुःखद है, इतना कि वर्तमान स्थिति में उन पर प्रकाश डालना ख़ामख़ाँ विभागीय प्रशासन और उक्त लेखक-वर्ग के बीच खाई उत्पन्न करना होगा।

एक छोटी-सी घटना याद आती है। गत 1 सितंबर को मेरा जन्मदिन था, और जिन साहित्यिक मित्रों ने मुझे बधाई दी उनकी बधाइयों के पीछे बोलता हुआ उनका

स्वार्थमय रूप मेरे ऊपर वज्र की तरह गिरा। उसके बाद अनेक पत्रों में मेरी रचनाएँ प्रकाशित हुईं, जिनमें एक-दो पर अन्य पत्रों में ख़ासी चर्चा भी हुई। पर मुझे याद है, भोपाल में लेखक के रूप में बहुत कम लोगों ने मुझसे बातें कीं। यहाँ तक कि अनेक लेखकों ने भी—जिन्हें मैं समझता था कि वे मुझसे संबंध लेखक के रूप में रखते हैं, रेडियो निर्देशक या कॉन्ट्रेक्ट प्रदाता के रूप में नहीं—मेरी धारणा को ग़लत सिद्ध किया। और इस बिंदु पर इतनी पीड़ा और इतना मानसिक क्लेश पहुँचा कि उसकी प्रतिक्रियास्वरूप मैंने साहित्य पर बात करना ही छोड़ दिया।

उपर्युक्त कथन न आत्मविज्ञापन है, न कोई गर्वोक्ति, सिर्फ़ एक आशय मात्र है, उस पीड़ा का जिसे मैं बराबर अनुभव करता रहा हूँ, जिसके कारण मैंने बार-बार सोचा कि क्या रेडियो के अतिरिक्त मेरा और कोई व्यक्तित्व नहीं। और नहीं तो फिर मेरा वह साहित्यिक रूप कहाँ रह गया, जिसके कारण मुझे रेडियो में आने से पूर्व भी मान्यता मिली थी।

और अंत में···मैं कहूँगा कि यह लेख लिखने की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं थी क्योंकि न तो मैं किसी पर्वतारोही दल का सदस्य रहा हूँ और न सार्वजनिक जीवन का अगुआ कि मेरे वक्तव्य की कोई जनउपयोगिता हो। वैसे भी एक वर्ष की अवधि किसी के जीवन में प्रायः कोई युगांतरकारी परिवर्तन नहीं करती। फिर भी मैंने अनुभव किया कि वर्ष के अंत में अपना आत्म-निरीक्षण शायद आगामी वर्ष के लिए प्रेरणास्पद हो सकता है। पिछली भूलें आगे के लिए मार्गदर्शन कर सकती हैं और यह भी हो सकता है कि कुछ लोगों को मेरा निवेदन दिलचस्प लगे तो कुछ लोग इससे भी कुछ सूत्र निकालकर कुछ नए प्रवादों को जन्म देने का गौरव प्राप्त करेंगे।

(रचनाकाल . 1961 के आसपास का)

राजेन्द्र यादव : व्यक्ति

ऐसा नहीं है कि मैं उसके पर्याप्त निकट नहीं हूँ, या अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की तरह वह अपने दोस्तों के साथ भी बेरहमी से पेश आता है। बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि उसके दोस्त उसके कमज़ोर बिंदु हैं और कभी-कभी उनकी दोस्ती के सामने वह अपने आपको बहुत बेबस और लाचार अनुभव करता है। मुझे याद आता है कि रेडियो की नौकरी में मैं अपनी अनुभवहीनता और अज्ञान के कारण राजेन्द्र यादव द्वारा अनुवादित चेखव के एक नाटक का संक्षिप्त रूपांतर प्रसारित करके संकट में फँस गया। मुझसे कह दिया गया कि अब आप कहीं और नौकरी तलाश कर लीजिए। अतः स्वभावतः मुझे नौकरी के साथ उससे भी ज़्यादा चिंता इस चुनौती की हुई जो परोक्ष रूप से मुझ तक पहुँचा दी गई थी। चुनाँचे मैंने राजेन्द्र यादव को एक ख़त लिखा और बिना स्थिति का कोई स्पष्टीकरण दिए या कारण बताए साथ में एक ऐसा ड्राफ्ट भेजा जिससे मै इस जाल को काट सकता था और फिर परोक्ष रूप से उसी सूत्र द्वारा मैंने अपने अधिकारी की चुनौती को स्वीकार करते हुए उससे कहला दिया कि 'वे अपने प्रयत्नों में कमी न रखें—यों कम से कम इस मामले में उनका ख़्वाब पूरा न हो सकेगा।' क्योंकि मैं जानता था कि ऐसी स्थिति में यदि उसके समूचे साहित्य को भी मैं अपना लूँ तो वह उफ़ नहीं करेगा।

बाद में, कई वर्षो बाद, जब मैंने राजेन्द्र यादव को सारी स्थिति बतलाई तो वह 'हो-हो' करके हँस पड़ा और बोला, "मुझे तो दिल्ली में लोगों ने कहा था कि दुष्यन्त ने तेरा नाटक ही मार दिया है।"

मैंने कहा, "नाटक तो चेखव का था। अगर ऐसा ही करना होता तो तेरी कोई कहानी मारता।"

मगर मैं सचमुच इस शराफ़त का कायल हो गया कि वस्तुस्थिति का इतना ग़लत-सलत वर्णन सुनने पर भी इस आदमी ने ज़रा-सा शिकवा नहीं किया, कहीं अपनी तरफ़ से कोई बात नहीं पूछी, और शायद मैं न बताता तो पूछता भी नहीं। लगा कि के ज़माने में इतना विश्वास लेकर चलना कितना कठिन है।

यह घटना उन दिनों की है जब उसका जीवन बहुत कड़की में चल रहा था, और वह हस्बेमामूल मुझे प्यारे-प्यारे ख़त लिखा करता था। उन्हीं दिनों का एक ख़त है।

कलकत्ता
12-10-60

दुष्यन्त प्यारे,

यह जानते हुए भी कि तू परम और चरम दुष्ट है, आज कुछ इतना प्यार उमड़ रहा है कि यह इनलैंड लेटर बिगाड़े बिना तबीयत मान ही नहीं रही। सामने टाइपराइटर ही है, सो इस टाइप का बुरा मत मानना, (मेरी) भावना इतनी मशीनी नहीं है। सो, डार्लिंग, उस दिन तुझे देखकर दिमाग़ में तस्वीर बैठ गई कि तू साले, सचमुच जँचती हुई पर्सनैलिटी का आदमी है, और अगर तेरे दिमाग़ में खुराफ़ात और फ़ितूर न होते, तो सचमुच राजा-मुन्ना होता। अब भी जो तू आगे बढ़ेगा, वह अपनी अक्ल के बूते पर नहीं, शक्ल के बूते पर ही। हाय, जानेमन, तेरा पतन देखकर मुझे कितना दुःख होता है, मैं ही जानता हूँ। काश, तू इतना उथला और बदज़ात न होता। ख़ैर बेटा, जैसा है, भुगतेंगे, क्या करें ?

तो सबसे पहले सुन कि पचमढ़ी के प्रोग्राम का क्या हुआ ? देख, तेरे रहते भोपाल के आसपास की जगहें देख ही लेनी हैं और ये तुझे ही दिखानी हैं। तू जो दिसंबर में कहानी-सिंपोज़ियम कर रहा था उसका क्या हुआ ? उसको ज़रूर कर डाल, वरना साले, हम लोग तेरे यहाँ आ मरेंगे और तेरे कपड़े-लत्ते बेचकर किराया निकालेंगे।···और देख, इस लेखक की ज़िंदगी चूँकि निहायत कड़की में चल रही है, इसलिए कुछ कहानियाँ, कुछ लेख, कुछ कविताएँ या कहानियों के नाट्य रूपांतर अब भोपाल-रेडियो से होने चाहिए।···साला, गणेशजी जैसा बैठा है, कुछ तो कर !

···बाक़ी यह सूचना पाने पर कि तू ज़िंदा है।

मेरे अनेक आशीर्वादों सहित
सस्नेह
राजेन्द्र यादव

इस ख़त को पढ़कर और उसके अन्य सभी खतों को पढ़कर हम लोग (यानी मैं, मेरी पत्नी, मेरा छोटा भाई और कभी-कभी मेरा लड़का भी, जो अब तक उसे 'लुच्चे ताऊजी' के नाम से याद करता है) देर तक हँसते रहे हैं। मुझे याद नहीं आता कि बिना गाली और 'तू' के उसने कोई ख़त मुझे लिखा हो। हाँ, एक ख़त उसने ज़रूर अपनी निजी कठिनाइयों का विस्तार से वर्णन करते हुए लिखा था, जिसके अंत तक पहुँचते-पहुँचते, पेशतर इसके कि हम पति-पत्नी करुणा-विगलित हो उठते, उसने एक ऐसा झटका दे दिया कि हम बेसाख़्ता हँस पड़े थे, लिखा था, 'दैत्य शावकों (यानी मेरे बच्चों) को प्यार और राज भाभी को प्रणाम। देख, तू बहुत भुलक्कड़ आदमी है, कहीं क्रम मत बदल देना।'

दरअसल राजेन्द्र ख़तों में जितना तेज़-तर्रार लगता है, व्यक्तिगत जीवन में उतना तेज़ है नहीं। मज़ाक़ वह कर लेता है, मगर वह उसके व्यक्तित्व का संपूर्ण हिस्सा नहीं, एक बहुत छोटा-सा भाग है। मेरा ख़याल है कि बचपन में वह कठोर, लड़ाकू और ज़िद्दी क़िस्म का बालक रहा होगा। आज भी कमलेश्वर और राकेश की मज़ाक़ों पर वह रोने की हद तक आ जाता है, और या तो उसके ठहाके खोखली हँसी देने लगते हैं, या वह मुँह फैलाकर मज़ाकिया फ़िकरों की गंभीर व्याख्या देने लगता है, या धौल जमाने की जुगत करने लगता है।

मूलतः राजेन्द्र गंभीर और भावुक व्यक्ति है, मगर वह मज़ाक़ इसलिए करता है कि वह जानता है कि गंभीर होना आज के समाज की कोई उपलब्धि नहीं है। हमारे हालात ही ऐसे हैं कि हम अपनी चेतना पर एक गहरा दबाव महसूस किए बिना नहीं जी सकते। और इसी कारण वह भावुकता का विरोध करता है कि भावुकता आज के समाज में चीज़ों को देखने की वास्तविक दृष्टि और समस्याओं का कोई समाधान नहीं दे सकती। अलबत्ता अपनी भावुक प्रकृति का उपयोग वह बदलते मूल्यों की खोज में करता है, किंतु उनके चित्रण में वह फिर इतना निस्संग और निर्मम हो उठता है कि कभी-कभी झुँझलाहट और खीझ होने लगती है, क्योंकि आधुनिक यथार्थ की सारी तल्ख़ियां को पीते जाने के बाद भी हमारी साहित्य-संबंधी धारणाओं के मूल में अब तक भावुकता के गहरे संस्कार हैं। और जिस तरह राजेन्द्र यादव साहित्य और कला के लिए अपने समूचे व्यक्तित्व को मोड़-तोड़ या बदल लेता है, उसी तरह पाठक तत्काल अपने आपको नहीं बदल सकता, न उसी आग्रह के साथ उनसे कह सकता है।

साहित्य राजेन्द्र यादव के लिए जीने और मरने का प्रश्न है। वह इतनी कुंठाओं और ग्रंथियों का आदमी था कि यदि लेखक न बनता तो राजामंडी का दादा होता। और इस बात को उसने खुद भी कुछ इतनी गहरी शर्त के साथ पहचाना है कि आज वह आदमी न रहकर लेखक, सिर्फ़ लेखक रह गया है। यानी आदमी वह है, मगर वैसा नहीं, जैसे आजकल के आदमी होते हैं। बावजूद कमलेश्वर और राकेश की दोस्ती के वह ज़मानासाज, दुनियादार और चलता पुरज़ा आदमी नहीं है, न उसे जोड़-तोड़ और हेर-फेर ही आते हैं—यद्यपि ऐसा करने की कोशिश वह बराबर करता है। अगर आप हिंदी की नई कहानी का कोई संकलन निकाल रहे हैं तो बिना लाग-लपेट के थोड़ी ही देर में वह आपसे पूछ बैठेगा—'क्यों साहब, आप पहली कहानी किसकी दे रहे हैं ?' और हो सकता है कि अपने आपको पहला कहानीकार न देखकर वह अपनी कहानी देने से भी इंकार कर दे। वैसे ये सब बातें इस बात पर भी निर्भर करती हैं कि आप कितने प्यार से उसे समझाते हैं। यक़ीन कीजिए कि प्यार से समझाने पर वह सब कुछ शीघ्र ही मान जाता है, क्योंकि चालाकी उससे निभती नहीं।

राजेन्द्र यादव की सबसे मज़ेदार स्थिति वह होती है, जब वह व्यक्ति-रूप में चतुर होने की कोशिश करता है। उस चतुराई की कोशिश में वह और भी अधिक बेवकूफ़ियाँ कर बैठता है। जैसे अपने कई सारे प्रेम-प्रसंगों को छिपाने के लिए उसने दीदीवाद का सहारा लिया था। हालाँकि उसने कभी अपने प्रेम-पत्र मुझे नहीं पढ़वाए (सिवाय उनके, जो मैंने चोरी से पढ़ लिए), मगर मेरा विश्वास है कि उसकी प्रेमिकाओं ने उसकी मूर्खता-भरी चतुराइयों पर ही अपने आपको निसार कर दिया होगा। ऐसी चतुराइयाँ वह सारे दोस्तों से करता है, और वे सबको अच्छी लगती हैं। दोस्त लोग उसके साथ भी यही सब करने से बाज़ नहीं आते। लगभग दो वर्ष हुए, मेरी पत्नी ने उसके संबंध में एक लेख लिखा था—'अंतरंग संस्मरण चित्रों में राजेन्द्र यादव और उनकी कहानियाँ', जो 'धर्मयुग' के होली विशेषांक में छपा है। उसके बारे में भारतीजी ने लिखा कि नई कहानियों में ऐसी ही सीरीज़ शुरू हो जाने के कारण हम उसे कुछ रुककर छापेंगे। फिर कुछ रुकने के बाद उन्होंने लिखा, हम इसका कुछ अंश 'अविस्मरणीय' के अंतर्गत छापना चाहते हैं। फिर उन्होंने लिखा कि लेख लंबा है, अतः इसे छोटा करने के लिए लौटा रहे हैं। इन सारी बातों के संबंध में राजेन्द्र ने मुझे लिखा, 'तू नहीं जानता, भारती बहुत बदमाश है। जो चीज़ छापनी नहीं होती उसे वह छोटा या बड़ा करने के लिए भेज दिया करता है।' और आगे जब उसने वह लेख पढ़ा तो अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त की, 'ये तेरी कहाँ की शूरवीरता है कि अपने आप तो दरवाज़ा बंद किए घर में छिपा बैठा है और बीवी-बच्चों से गालियाँ दिलवा रहा है।...इस लेख में तू एक भोला और निरीह व्यक्ति उभरता है, जो तू कतई नहीं है। पातिव्रत्य के पीछे सत्य का ऐसा बलिदान देखकर संसार के सारे यथार्थवादी साहित्य को आग लगा देने की इच्छा होती है।'

अपनी प्रसन्नता और क्षोभ राजेन्द्र यादव चाहे जितनी चतुराई से छिपाए, छिपते नहीं। प्रायः गालियाँ उसकी प्रसन्नता को व्यक्त करती हैं और शिष्टाचार नाराज़ी को। मान लीजिए कि कोई आगंतुक उससे मिलने जाए, तो जब तक वह गंभीरतापूर्वक बातें करता रहे, समझ लीजिए, तब तक वह फ़र्ज़ की अदायगी कर रहा है। मगर जब, राकेश के शब्दों में, वह किलकारी मारने लगे तो समझिए कि उसके आने से उसको प्रसन्नता हुई है। वह खुद भी जानता है कि वह चतुर नहीं है, और उसे लगता है कि लोग उसे व्यक्ति-रूप में पूरी गंभीरता से नहीं लेते। फलस्वरूप कभी-कभी वह ज़िम्मेदार होने की कोशिश करता है। यहाँ तक कि अगर नीचे से पोस्टमैन भी आवाज़ देगा तो उसे लगेगा कि वह एक ज़िम्मेदार व्यक्ति है और उसे कपड़े बदलकर तैयार हो जाना चाहिए। मगर पाँच मिनट बाद ही वह उन कपड़ों को फिर भुस बना देगा और परमानंद की किलकारियाँ मारता नज़र आएगा। आपसे मिलेगा तो हमेशा न लिख पाने का रोना रोएगा, मगर

हमेशा अपनी कोई न कोई नई किताब आपको भेंट करेगा।

सच पूछिए तो अगर वह लेखक न होता, तो मैं उसके व्यक्तित्व के बारे में बड़े आराम व इत्मीनान से यह कहकर छुट्टी पा लेता कि रुपए-पैसे के मामले में थोड़ा आत्मकेंद्रित और स्वार्थी होते हुए भी वह बेहद भोला, निष्कपट और मासूम आदमी है। पर चूँकि वह लेखक भी है और 'माध्यम का विद्रोह', 'प्रतीक्षा', 'टूटना', 'नए-नए आने वाले' और 'किनारे से किनारे तक' जैसी कहानियाँ लिख चुका है, जिनमें मानव-मन की ग्रंथियों, उलझावों और टुच्चेपन का बहुत सजीव और सही वर्णन हुआ है, इसलिए चाहे मैं कितनी ही ज़ोर से चिल्लाऊँ, पाठक इस बात पर कदापि विश्वास नहीं करेगा कि यह लेखक वास्तव में मासूम या सीधा-सादा आदमी है। क्योंकि लेखक अपने पात्रों की हरक़तों से न केवल परिचित, बल्कि किसी न किसी स्तर पर उन्हें भोगे हुए भी लगता है। और यहीं से मेरी वास्तविक कठिनाई शुरू होती है कि मैं यह किस तरह समझाऊँ कि वाकई वह एक चलता पुरज़ा, धूर्त और बुद्धिमान लेखक है; और सादा, सरल, निष्कपट तथा पोंगे क़िस्म का इंसान।

पिछले दशहरे के अवसर पर जब वह आगरा आया तो उसने मुझे लिखा—'तू आकर मिल जा ! बहुत ज़रूरी बातें करनी हैं।' मुझे ख़ुद अपना उपन्यास उसे पढ़ाना था, सो चला गया। दो-तीन दिन बाद दिल्ली चलने का प्रोग्राम बना तो वह बहुत संजीदगी से बोला, "देख बे, दिल्ली में तुझे एक काम करना ही पड़ेगा कि मेरा और कमलेश्वर का हिसाब साफ़ करा दे। वह तेरा दोस्त बहुत ज़लील है और मेरी किताब छापकर मेरे बहुत सारे रुपए दबाए बैठा है। मुझे आजकल पैसों की सख़्त ज़रूरत है।"

इस ओर, पहले भी राजेन्द्र ने एक-दो बार संकेत किया था। इसलिए बावजूद इसके कि कमलेश्वर ने काफ़ी घाटा सहकर अपना प्रकाशन बंद कर दिया था और फिर बड़ी विषम परिस्थितियों में उसे टेलीविज़न की नौकरी छोड़नी पड़ी थी और वह बेकार था, मैंने सोचा कि इस संबंध में कमलेश्वर से साफ़-साफ़ बात कर लेने में कोई हर्ज़ नहीं है। कम से कम उसका पक्ष भी सामने आएगा कि वह क्या कहता है ?

और अगले दिन दोपहर दिल्ली में हम लोग एक होटल में बैठे हुए खाना खा रहे थे। मैं, राजेन्द्र, कमलेश्वर और कमलेश्वर के दो-एक सामान्य परिचित मित्र। वातावरण में थोड़ी गर्मी थी और पखा चल रहा था तथा कमलेश्वर बीच-बीच में कोई लतीफ़ा सुनाता जा रहा था। खाना ख़त्म होने पर जब बिल आया तो कमलेश्वर ने स्वभावतः उसे अपनी तरफ़ खींच लिया, क्योंकि मैं उसी के पास ठहरा था और उसके परिचित-मित्र भी उसी के आग्रह का परिणाम थे। परंतु तभी मेरे पाँवों में एक ज़ोरदार ठोकर लगी। चौंककर नीचे देखा तो मेज़ के नीचे से यादव साहब मुझे खुटखुटाकर बिल चुकाने की प्रेरणा दे रहे थे। मैं बात को पी गया। बाद में जब हम लोग वापस लौटने लगे तो उसने

मुझे अलग बुलाकर बुरी तरह डाँटा और हर तरह से यह समझाने की कोशिश की कि कमलेश्वर बेकार है और उस पर मेहमाननवाज़ी का बोझ डालना सरासर ज़्यादती है।

अब बताइए कि इसका कौन-सा रूप सही था ? वह, जिसमें उसने कमलेश्वर से रुपया वसूलने की बात कही थी, या वह जिसमें वह उस पर तरस खा रहा था ?

कभी-कभी उसमें लेखक और व्यक्ति, व्यवहार के स्तर पर भी एक साथ जीते-जागते दिखाई देते हैं। ये क्षण उसके 'ऑब्ज़र्वेशन', परीक्षण और प्रयोग के होते हैं। इन क्षणों में वह आपके घर आकर सारे वातावरण को नोट कर लेगा; बंद पड़े ख़तों का मज़मून भाँप लेगा और आपको कोई न कोई झटका दे जाएगा। एक बार मेरी पत्नी, जो उन दिनों मनोविज्ञान में एम०ए० कर रही थी, राजेन्द्र यादव के इसी मनोविज्ञान से प्रभावित हो गई। तब वह कुछ दिनों के वास्ते मेरे साथ रहने के लिए दिल्ली आई हुई थी और राजेन्द्र भी उन्हीं दिनों दिल्ली में रह रहा था। एक दिन सुबह-सुबह वह ज़ीने से ही 'अबे ओ दुष्यन्त' का परिचित नारा बुलंद करते हुए घर में घुसा और मुझे बालकनी पर ब्रुश करते खड़ा देखकर सोफ़े पर पसरकर बैठ गया। फिर मेरी पत्नी से चाय की फ़रमाइश करते हुए बोला, "भाभी, सच-सच बताइए, ये परदे आपको कैसे लगे ?"

"अच्छे हैं।" पत्नी ने कमरे के परदों पर सरसरी नज़र डालते हुए उत्तर दिया।

"मुझे तो बहुत पसंद हैं।" उसने अपनी बात पर और ज़ोर दिया तो पत्नी को भी स्वीकार करना पड़ा कि वाक़ई परदे काफ़ी अच्छे हैं।

"इसने आपसे क्या कहा ?" राजेन्द्र ने गंभीर, प्रश्नवाचक मुद्रा में पूछा और फिर खुद ही उत्तर देते हुए बोला, "अरे, ये क्या कहेगा ! इसने तो आपसे यही कहा होगा कि यह मेरी पसंद है ?"

"तब क्या आप···?"

"अरे, तब क्या ? आप जानती नहीं इसे। रंगों की तमीज़ के मामले में यह बिलकुल गधा है। वह तो कहो, बेचारी वो, क्या नाम है नीचे वालों की लड़की का—विनीता, उसने पसंद किया है यह रंग वरना यह तो लाल-पीले रंग लाकर लटका देता।"

"विनीता ने ?" पत्नी ने आश्चर्यचकित होकर पूछा, क्योंकि एक सप्ताह से वहाँ होने के बावजूद उसने विनीता को नज़दीक से देखा तक न था।

"हो सकता है कोई और ही हो। बात यह है कि मैं उसे ठीक से नहीं देख पाया। मैं तो उस दिन तीसरे पहर के क़रीब यों ही इधर आया था, मगर मेरे आते ही किसी लड़की ने इस कमरे के ये दोनों किवाड़ बंद कर लिए। फिर मैंने भी किसी की 'प्राइवेसी' में दख़ल देना ठीक नहीं समझा। यह भी सोचा, शायद आप आ गई हों। मगर दूसरे दिन इससे पूछा, तो इसने बतलाया कि वह लड़की विनीता थी, और कमरे के परदे

लगवाने में इसकी सहायता कर रही थी।"

तभी उसकी कहानी की भनक मेरे कानों में पड़ी तो मैं झपटकर कमरे में आया। वह चाय का प्याला हाथ में लिए किलकारियाँ मारकर बच्चों की तरह हँस रहा था और मुझे देखते ही 'स्साला' कहकर मुझ पर टूट पड़ा। मैंने दो-चार छोटी-छोटी गालियों से उसका स्वागत करते हुए कहा, "क्यों बे, मेरी चाय पिएगा और मेरे ही घर में आग लगाएगा ?"

"तेरे सिर की क़सम, जो मैंने कुछ कहा हो। पूछ ले भाभी से ! क्यों भाभी ?"

"इन्होंने तो कुछ नहीं कहा।" भाभी ने चटाख से उत्तर दिया। उनके दिमाग़ में विनीता प्रवेश कर चुकी थी।

मैं कुल्ला करने के लिए फिर बाहर चला गया तो राजेन्द्र ने फिर पूछा, "भाभी, वह आपसे मिली ? आपने देखा न, कैसी सोशल और मिलनसार लड़की है। मैं तो दुष्यन्त के पास ही एक-दो बार उससे मिला हूँ, पर उसका प्रभाव मेरे दिमाग़ पर गहरा है।" पत्नी हूँ-हाँ करके टाल गई।

राजेन्द्र के दिमाग़ पर तो उसका क्या प्रभाव हो सकता था, क्योंकि उसने सिर्फ़ छज्जे पर खड़े होकर उसे दूर से देखा-भर था, या एकाध दबी-सी सीटी मारी थी, या मुझे कुरेद-कुरेदकर उसके नाम पर एक अनजान काल्पनिक प्रेमी के सौभाग्य से ईर्ष्या की थी। मगर हाँ, मेरी पत्नी के दिमाग़ पर उसका प्रभाव ज़रूर इतना गहरा पड़ा कि मेरी जान पर बन आई और वह मुझसे उसी लड़की के बारे में तब तक खोद-खोदकर बातें करती रही जब तक कि मैंने राजेन्द्र यादव का गला पकड़कर उससे सच्ची-सच्ची स्थिति न क़बूलवा ली।

बोलचाल की भाषा में इसे बदमाशी, शरारत या हरमज़दगी कहते हैं। मैं ये सारी भाववाचक संज्ञाएँ राजेन्द्र यादव को सहर्ष समर्पित कर सकता हूँ, पर इनसे जो विशेषण बनते हैं, यानी बदमाश, शरीर आदि उनमें से एक भी उस पर हरगिज़ लागू नहीं होता, क्योंकि वह मूलतः नेक, शरीफ़ और प्यार करने वाला इंसान है, जो बेहूदी से बेहूदी हरक़त करके भी शरीफ़ बना रह सकता है।

दरअसल उसका लेखक उसके व्यक्ति से थोड़ा-सा भिन्न है। यही थोड़ा-सा अंतर उसके व्यक्तित्व और साहित्य में भी है। उसका लेखक बराबर उसके रिक्त स्थानों को भरकर उसकी क्षतिपूर्ति करता रहता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें उसका लेखक निरंतर जटिल से जटिलतर होता जा रहा है और व्यक्तित्व सरल से सरलतर। अर्थात् उसका लेखक जिन वृहत्तर, व्यापक और उलझी हुई स्थितियों से जूझता है, उसका व्यक्ति उनसे निजात पा लेता है। इसीलिए कमलेश्वर कहा करता है कि लेखक के रूप में वह जितना चतुर है, व्यक्ति-रूप में उतना ही गधा है।

चूँकि उसके लेखक और उसके व्यक्ति को मैं अलग-अलग करके देखता हूँ, इसलिए मन्नू की इस भावना से मैं एकदम सहमत हूँ कि वह एक साथ दुनिया का सबसे खराब और सबसे अच्छा आदमी है। सुनते हैं कि राकेश से किसी ने पूछा था कि " 'मेरा हमदम, मेरा दोस्त' में कमलेश्वर ने आप पर जितना अच्छा लिखा था, उतना अच्छा आप राजेन्द्र यादव पर क्यों नहीं लिख पाए ?" तो उसने उत्तर दिया, "कमलेश्वर का सब्जैक्ट बढ़िया था। मेरा तो सब्जैक्ट ही अच्छा नहीं था।" मैं समझता हूँ और राकेश भी समझता होगा कि राजेन्द्र यादव सब्जैक्ट तो बहुत अच्छा है, पर कमबख़्त इतना उलझा हुआ है और इतना परिवर्तनशील है कि दस-बारह साल की दोस्ती के बावजूद उसके बारे में अंतिम रूप से कुछ कहते आज भी संकोच होता है, क्योंकि जिस बेरहमी से वह अपने को छोड़ता, बदलता या तराशता रहता है, उसकी कोई भी इंतिहा हो सकती है।

(रचनाकाल : मार्च, 1964)

रमेश बक्षी : व्यक्ति

जिस दिन मौसम बहुत अच्छा होता है और ज़्यादा गर्मी नहीं होती, जिस दिन मेरे घर के आँगन में बेतरतीबी से रखे हुए गमलों के किसी पौधे में कली फूटती है और बच्चे उसे लेकर शोर मचाते हैं, उस दिन मुझे लगता है कि आज रमेश बक्षी से ज़रूर मिलना चाहिए, उसे देखे बहुत दिन हो गए। और फिर थोड़ी ही देर बाद मुझे अपने ऊपर आश्चर्य होता है कि मैं आख़िर इस आदमी से मिलता क्यों हूँ ? इससे मेरी दोस्ती क्यों है ? वह कौन-सा धरातल है जिस पर हम दोनों एक-दूसरे के इतने निकट खड़े हैं ? सोचता हूँ तो लगता है कि हम दोनों का रहन-सहन, मिज़ाज, रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से इतनी भिन्न और कहीं-कहीं इतनी अंतर्विरोधी हैं कि यदि साहित्य हमारे बीच में न होता तो शायद हम लोगों का परस्पर दुआ-सलाम तक का वास्ता भी न होता।

बक्षी कहा करता है—'मैं एक शरीफ़ आदमी हूँ। मेरा एक सम्मानपूर्ण पेशा है। और मैं हर काम को सम्मानपूर्ण ढंग से शराफ़त के साथ करना चाहता हूँ'—और मुझे लगता है कि यह एक बहुत ही मुश्किल भूमिका है जिसे व्यावहारिक रंगमंच पर निभाने का चमत्कार सब लोग नहीं कर सकते।

आप बवक़्ते-मजबूरी किसी की इज़्ज़त पर डाका डाल सकते हैं, किसी को ज़लील कर सकते हैं, किसी को धोखा दे सकते हैं—मगर यह सब शराफ़त के साथ नहीं कर सकते। कम से कम मैं तो नहीं ही कर सकता : मुझे डाका डालने के लिए डाकू होना पड़ेगा और जेब काटने के लिए गिरहकट। किसी पर क्रोध आते ही मेरी आँखें अंगारों की तरह सुर्ख़ हो जाती हैं, होंठ व नथुने फड़कने लगते हैं और मैं मुस्कराता नहीं रह सकता। मगर बक्षी यह सब कर लेता है क्योंकि वह एक शरीफ़ आदमी है और हर काम को शराफ़त के साथ करना पसंद करता है।

दूसरे शब्दों में, मैं उस व्यावहारिक कौशल से एकदम वंचित हूँ जो बक्षी का आधारभूत तंत्र है। मगर रुचि और स्वभाव की इस विभिन्नता के बावजूद हम प्रायः रोज़ाना मिलते हैं और जब काफ़ी दिनों तक नहीं मिलते तभी कोई न कोई कली विकसकर उसकी याद दिला देती है और मैं उसके यहाँ चला जाता हूँ।

एक दिन वह मेरे यहाँ आया। वह अपने नए कहानी-संग्रह के बारे में मुझसे पूछना

चाहता था कि मैंने उसे कहाँ तक पढ़ लिया है ? मगर चूँकि ऐसा सवाल शरीफ़ आदमी नहीं किया करते लिहाज़ा उसने गोलमोल ढंग से पूछा, "कहो बंधु, कहाँ तक पहुँचे ?"

"चौदह वर्ष तक।" बक्षी की कहानियों की नायिकाओं की उम्र के हिसाब से मैंने उत्तर दिया।

वह एक शिष्ट-सी गाली देकर हँस दिया तो मुझे लगा कि मेरा उत्तर ग़लत हो गया है। उसकी नायिकाओं की उम्र तो चौदह वर्ष से अधिक होती ही नहीं। इसलिए मैंने यदि उसकी सारी कहानियाँ पढ़ ली होतीं तब भी उत्तर यही बनता।

घबराकर मैंने उससे चाय के लिए पूछा तो वह भी घबरा गया, बोला, "चाय नहीं पीऊँगा बंधु !" मगर इसके बावजूद जब रामपाल ने एक प्याला लाकर उसके हाथ में थमा दिया तो उसने चुपचाप ले लिया और किसी शौक़ीन चाबाज़ की तरह चाय पीने लगा। उसका यह हमेशा का नियम है। वह जब आता है, हमेशा हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक चाय के लिए मना करता है, और हमेशा चाय आ जाने पर चुस्कियाँ ले-लेकर उसे पीने लगता है। मेरा नौकर तक उसकी इस आदत को जानता है। इसलिए उसकी 'ना' हमारे घर में नारी की 'ना' मानी जाती है।

उस दिन दोपहर के क़रीब मैं उसके घर गया था। उसने 'धर्मयुग' की एक कथा दशक वाली योजना के लिए अपना परिचय और कहानी तैयार की थी। परिचय में उसने एक छींटा मेरे और धनंजय के ऊपर भी फेंका है। दोनों चीज़ें सुनाने के बाद, लिफ़ाफ़े में बंद करके जब वह उस पर साठ नए पैसे के टिकट चिपकाने लगा तो मैंने टोका, "हद से हद पच्चीस नए पैसे।'

"साठ नए पैसे से एक पाई कम नहीं लगेगी।" उसने कहा, "अट्ठाईस-तीस पृष्ठों की सामग्री है।"

"तो दस नए पैसे के टिकट और लगा दो !" मैंने समझाया।

"मैं हमेशा इतने ही पैसों के टिकट लगाता हूँ।"

"तुम हमेशा बेवकूफ़ी क्यों करते हो ?" मैंने कहा, "मैंने अभी बीस पृष्ठों की सामग्री 'धर्मयुग' को पच्चीस नए पैसों में भेजी है, जिसकी स्वीकृति भी आ चुकी है। तुम्हारे लिफ़ाफ़े पर भी पच्चीस पैसे से ज़्यादा के टिकट नहीं लगने चाहिए।"

बक्षी बहस के 'मूड' में आ गया। शर्त लग गई। अपनी-अपनी बात को पेलने के लिए दोनों ओर से धक्का-मुक्की शुरू हो गई और वाक्यांशों में छोटी-छोटी गालियाँ सुशोभित होने लगीं। आख़िर तय पाया कि केलकर साहब (पोस्टमास्टर) के पास चलते हैं, जो हारेगा, शाम की 'कॉकटेल' का ख़र्च बर्दाश्त करेगा।

बक्षी को 'कॉकटेल' का नाम सुनकर ही सुरूर आ जाता है और वह अंग्रेज़ी बोलने लगता है। मगर केलकर साहब ने टिकटों की जो स्थिति बताई उससे न मैं पूरी तरह

हारा और न बक्षी पूरी तरह जीत पाया। लिहाज़ा मैं शाम-ख़र्च से कन्नी काटने लगा तो वह बिगड़ उठा, "तुम साले बिलकुल मूजी हो। एक तरफ़ अफ़सर बनता है और दूसरी तरफ़ एक-एक पैसे को दॉत से पकड़ता है।" वग़ैरह-वग़ैरह। आख़िर बात इस मरकज़ पर तय हुई कि शाम के प्रोग्राम में मेरा शेयर कुछ ज़्यादा होगा।

शाम को सात बजे के क़रीब मेरे कमरे का दरवाज़ा किसी ने खटखटाया।

"कौन ?" मैंने पूछा।

"दुष्यन्त जी हैं ?" बाहर से परिचित-सी आवाज़ आई।

पत्नी ने कहा, "बक्षी जी हैं।"

"आ जाओ !" कहने पर बक्षी अंदर आ गया।

'मैंने आपको 'डिस्टर्ब' तो नहीं किया।" भीतर घुसते हुए उसने बड़ी आजिज़ी से कहा, "आप शायद कुछ लिख रहे थे।"

"नही प्यारे, ऐसी कोई बात नहीं।" मैंने उसकी औपचारिकता को लापरवाही में उड़ाने की कोशिश करते हुए कहा।

"आपका स्वास्थ्य कैसा है ?" बक्षी ने सोफ़े पर निहायत शराफ़त से बैठते हुए दूसरा सवाल किया ओर फिर मेरी पत्नी की ओर मुखातिब होकर कहा, "आजकल मौसम इतना ख़राब है भाभी जी कि किसी भी समय तबीयत बिगड़ सकती है।"

औपचारिकता के मामले मे मेरी पत्नी बक्षी से भी दो हाथ आगे है। वह इस सिलसिले को आगे बढ़ाने में योग देने लगी तो मेरी इच्छा हुई कि अपना सिर दीवार में दे मारूं। आख़िर मेरी अच्छी-ख़ासी शाम को बरबाद करके मुझे किस गुनाह की सज़ा दी जा रही है।

तभी बक्षी को सादर प्रणाम करते हुए मेरे छोटे भाई प्रेम कुमार ने कमरे में प्रवेश किया जो एम०ए० फ़ाइनल मे बक्षी का विधार्थी है और नई कहानी पर थीसिस की रूपरेखा तैयार करने के सिलसिले में पिछले दो-तीन दिन से बक्षी की सहायता ले रहा है। मुझे लगा, अब वातावरण की औपचारिकता ज़रूर कम हो जाएगी, मगर बक्षी ने उससे भी यही पूछा, "कहिए प्रेम कुमार जी ! आपकी पढ़ाई कैसी चल रही है ?"

मेरे धीरज का बॉध टूट गया तो मैंने पत्नी को चाय बनवाने के लिए बाहर किया और प्रेम को बच्चों की तलाश में भेजा और फिर रमेश बक्षी का हाथ मरोड़कर कहा, "क्यों बे मुदर्रिस के बच्चे !"

उसके चेहरे पर लड़कियों जैसी लज्जा दौड़ गई और वह इठलाकर, लचककर अपना हाथ छुड़ाने की कोशिश करने लगा, "छोड़ दीजिए, छोड़ दीजिए न !"

थोड़ी देर बाद धनंजय भी आ गया तो मैंने सारी घटना उसे बतलाई कि किस

तरह चार बजे तक यह शख़्स मेरे साथ किस क़दर बेतकल्लुफ़ और बेहूदा ढंग से पेश आ रहा था और सात बजते ही ऐसा अजनबियों वाला सुलूक करने लगा जैसे हम पहली बार मिल रहे हों। तब धनंजय ने मज़ाक़-मज़ाक़ में बतलाया कि इसकी इसी औपचारिकता के कारण कुछ लड़कियाँ इसके निकट आई थीं, पर इसी के कारण वे थोड़े ही दिनों बाद इसे तिलांजलि देकर चली गईं, जिनका नाम ले-लेकर साहित्य में यह आज तक रोता है। हमारा नाम ले-लेकर जीवन में रोएगा।

किंतु बक्षी रोता है या रो सकता है, इसमें मुझे संदेह है। इसी तरह उसके खुलकर हँसने के बारे में मुझे इससे भी अधिक संदेह है। हाँ, यह मैं ज़रूर जानता हूँ कि वह मुस्कराना और उदास होना जानता है। जब वह बहुत उदास होता है तो नए-नए रंगीन कपड़े पहनकर अकेला टी०टी० नगर की सड़कों पर टहलने निकल जाता है और मीलों की परिक्रमा करके लौटता है।

टहलना, अच्छे कपड़े पहनना, प्रतीकों की खोज करना और घर में फूल-पौधों की परवरिश करना, उसकी कुछ ख़ास हॉबीज़ हैं। यों वह पास-पड़ोस के फूलों और कलियों में भी दिलचस्पी लेता है। पता नहीं किसने उसके कपड़ों के बारे में एक लतीफ़ा सुनाया था कि एक दिन उसकी पत्नी ने कहा, 'जाइए, नहा लीजिए !'

'अभी जाता हूँ।' उसने उत्तर दिया।

'जाइए न !' पत्नी ने आग्रह किया तो यह रमेश बक्षी बेचारा जल्दी से टाई बाँधने लगा। जब पत्नी ने पूछा, 'यह क्या कर रहे हो ?' तो बोला, 'बाथरूम तक जाना है न !'

इस संबंध में मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मेरा घर उसके घर से बीस क़दम की दूरी पर है और मैं अकसर बेवक़्त तहमद लगाकर उसके घर पहुँच जाता हूँ। मगर मैंने उसे अपने घर तो क्या स्वयं उसके घर भी कभी पतलून-बुश्शर्ट या शर्ट-टाई और पैंट के बिना नहीं देखा। इसी पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए सर्वेश्वर ने एक दिन मुझसे पूछा था, "बक्षी घर पर भी हमेशा टाई वग़ैरह लगाए इतना सजा-धजा क्यों रहता है ?"

मुझे जल्दी में कोई उत्तर नहीं सूझा तो मैंने कहा था, "बात यह है कि उसकी गर्ल-स्टूडेंट्स और उसकी पत्नी की क्लासमेट्स किसी भी समय उसके घर आती रहती हैं, इसलिए बेचारे को चौकस रहना पड़ता है।"

आपने यदि बक्षी को देखा न हो तो पाँच फ़ुट पाँच इंच लंबे एक ऐसे दुबले-पतले नवयुवक की कल्पना कीजिए जिसके गालों पर लाज की कलियाँ, मुँह में मिस्री और चश्मे से झाँकती आँखों में रहस्य और औत्सुक्य-तत्त्व एक साथ खिले हुए हों। उसमें एक साथ भयंकर आकर्षण और विकर्षण विद्यमान है। यदि आप सामान्यतः एक शरीफ़ आदमी हैं तो पहली ही मुलाक़ात में वह अपनी शराफ़त की छाप आपके ऊपर

छोड़ देगा और दूसरी मुलाक़ात से आप उसके मुरीद हो जाएँगे। किंतु यदि आप मुँहफट, साफ़गोई और फक्कड़ क़िस्म के आदमी हैं और तथाकथित शरीफ़ नहीं हैं तो आपको उसकी लज्जा, विनम्रता, शालीनता और 'रिज़र्व' रहने की आदत में एक अजीब-सा लिज़लिज़ापन और कमज़ोर-सा अर्थ नज़र आएगा और मुमकिन है कि उसके निकट जाने या उसे अपने पास लाने में आपको काफ़ी वक़्त लग जाए।

दरअसल यह शराफ़त उसका जीवन-दर्शन भी है और उसकी मजबूरी भी। वह आपसे नफ़रत कर रहा होगा तब भी वह आपसे शराफ़त से पेश आने के अलावा और कोई सुलूक नहीं कर सकता। गाली वह दे नहीं सकता, हाथ उठाने की उसमें सकत नहीं। इसलिए जीवन में शराफ़त का लबादा ओढ़कर अपने आचरण और व्यवहार के स्तर पर एक प्रौढ़, संपन्न एवं सौजन्यपूर्ण जीवन जीने के अलावा उसके पास कोई दूसरा विकल्प नहीं बचता। लिहाज़ा वह मजबूरन इस नाटक की मर्यादा को निभाता है। इससे उसका दूसरा लाभ भी सधता है कि यह बक्षी–जो आज भी विचारों में अपरिपक्व एवं बौद्धिक रूप से कहीं-कहीं कैशोर्य-ग्रस्त है–उस अभाव को इस आदर्श-सौजन्य और बुज़ुर्गाना अंदाज़ के पीछे छिपा ले जाता है और ऊपर से देखने वाले सिर्फ़ यही कहते रह जाते हैं कि बक्षी जी कितने गंभीर और सज्जन आदमी हैं। मगर चूँकि यह गंभीरता और सज्जनता उसकी अर्जित प्रवृत्ति है, आंतरिक प्रवृत्ति नहीं, इसलिए उसके अवचेतन में इस सारे नाटक के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया होती है और उसका वास्तविक व्यक्ति (रीयल सेल्फ़) बाहर आने के लिए छटपटाता है। चूँकि साहित्य में सही रूप में आत्माभिव्यक्ति ही होती है इसीलिए उसका सारा साहित्य उन्हीं किशोर भावनाओं की अभिव्यक्ति है जो उसके व्यक्तित्व की संचारी एवं प्रेरक शक्तियाँ हैं। यह स्वाभाविक भी है। कोई भी कलाकार अपने 'स्व' को सृजन के स्तर पर चकमा नहीं दे सकता। भले ही सामाजिक तौर पर वह अपने आपको किसी भी रूप में पेश करता रहे।

बक्षी के व्यक्तित्व और कृतित्व में जो ज़मीन-आसमान का अंतर दिखाई देता है, उसे इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। बक्षी ने इस अंतर को छुटके और बड़के द्वारा दुहरे व्यक्तित्व के माध्यम से विश्लेषित किया है। यानी एक वह बक्षी जो व्यक्ति है–भीरु, संकोची और सज्जन; और दूसरा वह बक्षी जो लेखक है, आवारा, परंपराभंजक और प्रयोगवादी। पहला व्यक्ति गर्मियों में पहाड़ों पर जाता है तो अपने आराम और सुविधा के लिए नैनीताल में पंद्रह रोज़ का कमरा 'रिज़र्व' कराता है और दूसरा व्यक्ति जब यात्रा के लिए चलता है तो नैनीताल तक का सफ़र थर्ड क्लास के भी उस डिब्बे में करना पसंद करता है जिसमें सबसे ज़्यादा भीड़ हो। दोनों व्यक्ति एक, मगर दोनों के पीछे इतना भयंकर अंतर्विरोध क्यों ?

इस क्यों का जवाब छुटके-बड़के की कहानी सुनाकर नहीं दिया जा सकता। न

दुहरा व्यक्तित्व मान लेने से ही इस प्रश्न का उत्तर मिलता है। क्योंकि तब तो यह प्रश्न और ज़ोर से उठ खड़ा होता है कि आख़िर यह दुहरा व्यक्तित्व क्यों बना ?

हालाँकि बात थोड़ी पर्सनल है, मगर बक्षी के व्यक्तित्व को पूरी तरह समझने के लिए उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि में जाना होगा। उसका जन्म एक साधारण मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। मगर बुढ़ापे की एकमात्र संतान होने के कारण उसे इतने लाड़-प्यार और दुलार से पाला गया कि बचपन में मध्यवर्गीय जीवन की तकलीफ़ों और पीड़ा को निकट से देखने और भोगने का उसे अवसर ही नहीं मिला। यों भी अपने पिता की जनसंपर्कविहीन नौकरी के कारण उसका बाल्यकाल क़ाफ़ी एकांत में बीता और कुछ अपने दैहिक दौर्बल्य तथा कुछ अपनी प्रकृति के कारण वह स्वयं ही अतिरिक्त एकांतप्रिय एवं आत्मकेंद्रित होता गया। मेरा अनुमान है कि बचपन में उसकी ज़रा-सी 'रें-रें' भी तुरंत सबका ध्यान आकृष्ट कर लेती होगी और उसके पिताजी उसको लेकर बहुत चिंतित हो उठते होंगे, क्योंकि मैंने उन्हें सतहत्तर वर्ष की आयु में भी बक्षी के प्रति इतना ममत्वपूर्ण देखा है कि वे अपने रहते हुए बक्षी को कोई भी तकलीफ़ नहीं होने देना चाहते थे—चाहे वह बाज़ार से सौदा-सुलफ लाना हो, चाहे घर की फूल-क्यारियों में पानी देना। मगर बड़े होकर बक्षी ने महसूस किया कि दुनिया इतनी ममत्वपूर्ण नहीं है, और यहाँ 'रिरियाकर' लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं किया जा सकता। फलस्वरूप वह कला के विभिन्न रूपो की ओर बढ़ा और चित्रकारिता, कविता आदि से होता हुआ कहानी पर आकर ठहर गया। पहले वह रमेशचंद्र बक्षी 'प्रत्यूष' था, अब वह रमेश बक्षी रह गया। और तब से अब तक वह निरंतर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा कर रहा है।

आश्चर्य है कि अभी कुछ दिनों पहले तक किसी का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट नहीं हुआ। फिर दबे-दबे यह चर्चा होने लगी कि इतना लिख लेने के बावजूद लोग उसकी ओर ध्यान नहीं देते और उसकी उपेक्षा की जा रही है। और अब स्थिति यह हो गई है कि नई कहानी की किसी भी चर्चा के साथ उसका नाम अपरिहार्य हो गया है। मज़ा यह है कि कमलेश्वर हो या श्रीकान्त, राजेन्द्र यादव हो या मोहन राकेश, सभी ने मुश्किल से उसकी दो-चार कहानियाँ पढ़ी हैं और उसके बारे में कोई भी राय ज़ाहिर करते हुए कंधे उचकाकर अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। मगर बक्षी का मक़सद सबका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना था और वह पूरा हो चुका है।

हम लोग प्रायः मज़ाक़ किया करते हैं कि बक्षी प्रतिदिन एक किलो काग़ज़ तौलकर लिखता है, पर असलियत यह है कि हम सभी उसकी नियमितता से मन ही मन ईर्ष्या करते हैं। मुमकिन है, उसकी लगन और साधनों से भी जलते हों। वैसे यह मैं ज़रूर सोचता हूँ कि वह कहानीकार से अच्छा चित्रकार हो सकता था क्योंकि उसके

पास इंप्रेशंस हैं, अनुभूतियाँ नहीं; छायाएँ हैं, संस्कार नहीं; खरोंचें हैं, दर्द नहीं। उसने संघर्ष के बारे में पढ़ा है, उसे भोगा नहीं। वह मध्यवर्ग की उपज है, मगर उसे भी नहीं जानता। वह लड़कियों पर कहानियाँ लिखता है मगर सच पूछिए तो उसने आज तक किसी लड़की का हाथ पकड़ा होगा—मुझे इसमें भी संदेह है। ऐसा नहीं कि हाथ पकड़ने की उसकी इच्छा ही न हुई हो—इच्छा तो शायद लड़की को देखने मात्र से उसमें जाग उठती है, मगर उसको व्यक्त करते, न करते इतना समय लग गया होगा कि तब तक वह लड़की उकताकर आगे बढ़ चुकी होगी।

व्यक्तित्व के यही कोण उसमें विविध रूप धरकर प्रतिफलित हुआ करते हैं और इन्हीं अभावों को पहचानना और लिखना बक्षी का स्वभाव है। बक्षी का सबसे बड़ा गुण आत्मान्वेषण है और इसी आत्माभिव्यक्ति के द्वारा वह निरंतर अपना परिष्कार कर रहा है। कायरता, आत्महीनता, संदेह और ईर्ष्या आदि कमज़ोरियों पर वह कॉन्शस होकर प्रहार कर रहा है—साहित्य में लिखकर और व्यक्तिगत जीवन में बोलकर—बतियाकर। भले ही इसमें कहीं वह सफल होता है, तो कहीं असफल भी। वह असफलता का बुरा नहीं मानता, यही उसका बड़प्पन है।

एक दिन उसने हम सबकी आशा के विपरीत एक स्थानीय कवि पर फ़ब्ती कस दी। बात बड़ी मामूली-सी थी। किंतु बक्षी से उसकी उम्मीद न थी। मैंने बक्षी को बधाई दी तो वह फूँक में आ गया, बोला, "बंधु, इंदौर में बड़े मज़े आते थे। मैं सारे चपड़कनाती कवियों और लेखकों को 'ऑफ़ेंड' कर दिया करता था। मैं साफ़-साफ़ कह दिया करता था कि आप लिखते क्यों हैं ? कोई और काम कीजिए ! जाइए, यह काम आपके बस का नहीं है। और वे भुनभुनाते हुए मेरे पास से चले जाते थे।"

मुझे बक्षी की बात सुनकर हँसी आ गई कि भला यह आदमी भी किसी को 'ऑफ़ेंड' कर सकता है !

इस संबंध में एक घटना याद आ रही है हम लोग एक बड़े होटल में बैठे खाना खा रहे थे। धनंजय, बक्षी, शरद जोशी और मै। दावत शरद की तरफ़ से थी क्योंकि उसे नगरपालिका ने पाँच सौ रुपए देकर पुरस्कृत किया था। मैं और धनंजय उसे चिढ़ा रहे थे और वह नाराज़ हो-हो जा रहा था। आख़िर अपना पलड़ा हलका पड़ता देख उसने एक वाक्य कहकर सहायता के लिए बक्षी की ओर देखा तो बक्षी ने तुरंत उत्तर दिया, "हाँ, ठीक है।"

शरद ने बक्षी के समर्थन को अपनी ढाल बना लिया, बोला, "देखा, बक्षी ने भी मेरी बात को सपोर्ट किया है।"

मैंने कहा, "तुम खुश मत हो क्योंकि अब धनंजय जो इसके बिलकुल विपरीत बात कहने जा रहा है, बक्षी उसे भी सपोर्ट करेगा। क्यों बक्षी ?"

बक्षी बोला, "हाँ, ठीक है।"

हाँ, ठीक है। बक्षी को ख़राब से ख़राब रचना सुनवा दीजिए। वह यही कहेगा, 'ठीक है।' और अच्छी से अच्छी रचना सुनकर भी उसकी प्रतिक्रिया यही होगी, 'ठीक है, अच्छी है।'

बक्षी सबसे ज़्यादा मज़ेदार तब लगता है जब जोश में होता है। वैसी स्थिति में उसके चेहरे पर तेज, वाणी में ओज और होंठों पर हँसी छलकती रहती है और वह कहता रहता है, 'मैं वहाँ जा रहा था क्या ?' 'असल बात ये है कि मैंने उसकी तरफ़ देखा क्या ?' 'नीला स्कर्ट पहने वह मेरी तरफ़ मुड़ी क्या ?' 'मैंने उसको कल आने के लिए कहा है क्या ?' और इसी तरह प्रत्येक वाक्य में 'क्या' लगाता हुआ वह उत्साहपूर्वक गाड़ी आगे बढ़ाता जाता है और मैं चुपचाप उसे सुनता रहता हूँ। वह इतना प्यारा आदमी है और इतना वफ़ादार दोस्त कि उसके झूठ को काटते हुए भी तकलीफ़ होती है। उसे पीड़ा पहुँचाकर ऐसा लगता है कि हम जैसे खुद अपने आपको पीड़ित कर रहे हैं। वह इतना सुरुचि-संपन्न आदमी है कि उससे कुरुचि की बातें करते हुए भी खुद को शर्म आती है। लिहाज़ा हाँ-हूँ करने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचता। और इसीलिए आप ताज्जुब करेंगे कि उसके ऊपर लिखना, अपने ऊपर लिखने से भी ज़्यादा मुश्किल काम है। मेरी दिक्कत यह है कि मैं यदि उसके बारे में सच्ची-सच्ची बातें नहीं लिखता, तो वह समझेगा कि मैं उसे ठीक-ठीक नहीं समझता हूँ और नाराज़ हो जाएगा (क्योंकि मूर्खों से वह दोस्ती नहीं रख सकता) और यदि मैं उस पर ठीक-ठीक लिखता हूँ तो उसे लगेगा कि मैं उसे ज़लील करना चाहता हूँ क्योंकि वह कभी मेरी बुराई में एक शब्द नहीं कहता। मगर मैं फिर भी लिख रहा हूँ और इसलिए लिख रहा हूँ कि उसे चाहे जैसा लगे, वह मुझसे कभी कुछ कहेगा नहीं। मैं जानता हूँ और ख़ूब अच्छी तरह जानता हूँ कि यह लेख छप जाने के बाद जब मैं उससे पूछूँगा कि 'क्यों बक्षी, कैसा लगा लेख ?' तो वह यही कहेगा, 'आपका लेख ? अच्छा था, ठीक था।'

(रचनाकाल : 1964, भोपाल)

कमलेश्वर : दुष्यन्त कुमार की दृष्टि से

जिस दिन से कमलेश्वर का वंश बदला, लगभग तभी से मैं उसे देख रहा हूँ। और अब तक आपकी मुलाक़ात इस व्यक्ति से न हुई हो तो अब ज़रूर मिलिए। आप पाएँगे कि वह बेहद ख़ुशदिल, ख़ुशमिज़ाज और मिलनसार आदमी है। लतीफ़ों और चुटकुलों की फुलझड़ियों से वह महफ़िलें गुलज़ार रखता है। और बात को मरोड़कर बात पैदा करने में उसका जवाब नहीं।

आज यह सब है। पर जिस वक़्त यूनिवर्सिटी में वह मेरे साथ था, बहुत ख़ामोश रहता था। हम दोनों बी०ए० में थे। यद्यपि उसमें शुरू से ही साधारण से कहीं अधिक प्रतिभा, सूझ-बूझ एवं सुरुचि थी, पर मैं केवल सज्जनता के कारण उसकी तरफ़ आकृष्ट हुआ था। वह बहुत सादा, सरल और शांत था। वह बेहद बेरहम संघर्षों के बीच से गुज़र रहा था, पर उसके चेहरे पर एक भी शिकन नहीं होती थी। मुझे भी यह पता था कि उसके पास चार जोड़ों से ज़्यादा कपड़े नहीं हैं, पर उसके कपड़ों पर एक भी धब्बा नहीं होता था।

वह एक छकड़ा साइकिल पर यूनिवर्सिटी आया करता था और तलब लगने पर किसी झाड़ी के पीछे या एकांत कोने में छुपकर बीड़ी-सिगरेट पिया करता था। शायद हर महीने उसका नाम फ़ीस जमा न करने वाले 'डिफ़ॉल्टर' छात्रों की लिस्ट में रहा करता था, क्योंकि जेबख़र्च नाम की कोई चीज़ उसके पास न होती थी, इसलिए फ़ीस के रुपयों में से कुछ न कुछ वह हमेशा ख़र्च कर लेता था और वक़्त पर उसके पास पूरे पैसे नहीं होते थे।

उन दिनों वह कुछ-कुछ लिखा करता था—ख़ास तौर से एक डायरी। एक लड़की थी जिसके बारे में वह कभी-कभी बात भी किया करता था। वह लड़की भी उसे चाहती थी। तब उसकी दुनिया बहुत छोटी थी। यूनिवर्सिटी में पढ़ने आता, वहाँ से लौटकर वह एक रद्दी क़िस्म की पत्रिका के कार्यालय में काम करता जहाँ से उसे पचास रुपया महीना मिलता था और शाम को वह अकेला रहना पसंद करता। उसने अपने को क़तई महदूद कर लिया था। रात को घर लौटकर वह अपने निहायत छोटे-से कमरे में बैठकर लिखा करता था।

वह कितनी तरह के काम करता था, यह भी पता नहीं चलता था। उन दिनों भी ख़ुद्दार इतना था कि अपनी बात किसी से नहीं करता था। मुझे वे दिन याद हैं जब वह

अपने आप में 'सर्वोदयी' हो गया था (विनोबा से भी पहले)। साबुन बनाने से लेकर अपनी स्याही तक ख़ुद बनाता था। संकोची वह इतना था कि खाना भी भरपेट नहीं खा पाता था। उसकी माँ ने ही मुझे एक बार बताया था—"कैलाश (यही उसका घर का नाम है) इतना संकोच करता है कि दुबारा रोटी तक नहीं माँगता···मुझे ज़िंदगी में यह अफ़सोस हमेशा रहेगा कि मेरे बेटे ने मुझसे ही कभी रोटी या पैसा नहीं माँगा।"

जिस ज़माने में उसने लिखना शुरू किया था और जिस संघर्ष से वह निकलकर आया था, उसने कमलेश्वर को नितांत अंतर्मुखी बना दिया था। उसके उस आदर्शवादी प्यार ने उसे बाद में चलकर और भी तोड़ दिया।

वे दिन भी मुझे याद हैं जब वह पाजामा-कुरता पहने हुए अपनी उसी छकड़ा साइकिल पर एक शाम मेरे पास आया था। उसकी आँखों में धूल उड़ रही थी और चेहरा एकदम से उतरा हुआ था। चाय पीते हुए उसने बहुत धीरे से कहा था, "अब मैं अकेला रह गया हूँ।" और मुझे मालूम है कि अपने लिखने की अड़ पर उसने अपनी ज़िंदगी की वह चीज़ ख़ुद खो दी थी जिसे वह उस वक़्त सबसे ज़्यादा चाहता था। उसका एक ही तर्क था—"दुष्यन्त, ज़िंदगी में सब हासिल नहीं होता। चुनना तो होगा ही कि मैं क्या चाहता हूँ···" और उसने अपने लिए साहित्य का रास्ता चुन लिया था।

उसका लड़कपन का वह चुनाव, जो उस वक़्त उसने भावुकता में किया था, आज सही साबित हो चुका है। क्योंकि उस वक़्त मुझे और ख़ास तौर से मार्कण्डेय को यह उम्मीद नहीं थी कि कमलेश्वर इस ज़िंदगी को झेल पाएगा। शायद कमलेश्वर ने भी महसूस किया हो कि सौजन्य और सादगी के दुशाले ओढ़कर व्यक्तित्व का आकर्षण भले ही बढ़ा लिया जाए, उसका आंतरिक प्रभाव नहीं बढ़ाया जा सकता। इधर उसकी विशिष्ट प्रतिभा उसे वैशिष्ट्य प्राप्त करने के लिए उकसा रही थी। फलतः वह गंभीरतापूर्वक कहानी-लेखन की ओर उन्मुख हुआ जहाँ उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई। उधर चूँकि सामाजिक व्यवहार के स्तर पर पैनापन और वाक्चातुर्य व्यक्तित्व को दिलचस्प और अभिव्यक्ति को तेज़ बनाते हैं, इसलिए अपनी एकांतिक गाँठों को खोलकर सहज मेधा द्वारा उसने उस दिशा में भी रुचि लेनी शुरू की। यह प्रक्रिया आवश्यक भी थी। यदि ऐसा न होता तो कमलेश्वर अपनी व्यक्तिवादी गुंजलक से बाहर न आ पाता। अपने घेरों को तोड़ने का काम उसने उस शक्ति से लिया और सामाजिक, बौद्धिक और मानसिक रूढ़िबद्ध घेरों को तोड़ने का काम वह कहानी से लेने लगा।

वे तमाम घटनाएँ, जिनमें कमलेश्वर एक निहायत पैने व्यक्ति की तरह नज़र आता है, मेरे सामने लौट आई हैं···।

इलाहाबाद की गर्मी। कमलेश्वर और मैं तीन मील पैदल चलकर रेडियो स्टेशन पहुँचते हैं। काम समाप्त कर सवाल उठता है—अब क्या करें ? आराम या तीन मील का

पैदल मार्च ? जेब में पैसे भी कम हैं, तभी डॉ० धर्मवीर भारती रेडियो स्टेशन से निकलते हैं और अपनी मोटर की तरफ़ बढ़ते हुए दिखाई देते हैं (उल्लेखनीय है कि उन दिनों भारती जी ने मोटर ख़रीदी थी, वह इलाहाबाद के साहित्यकारों के कौतुक, मनोरंजन, यहाँ तक कि ईर्ष्या का विषय बन गई थी)। भारती जी शालीनतावश पूछते हैं, "अरे भई, सिविल लाइंस चल रहे हो ?"

मैं लपककर मोटर तक पहुँच जाता हूँ। कमलेश्वर हाथ जोड़कर ठिठक जाता है। भारती जी उसके संकोच को हटाने की कोशिश करते हैं, "अरे आओ भी !"

और अतिशय विनम्रता से कमलेश्वर कहता है, "वह बात यह है कि मुझे ज़रा जल्दी पहुँचना है...मैं रिक्शे से चलता हूँ...आप मोटर से आइए !"

एक पूरी किताब कमलेश्वर के ऐसे संस्मरणों पर लिखी जा सकती है, मगर उससे भी उसके व्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं हो सकता। यह तो मात्र प्रासंगिक सत्य है कि अपनी विलक्षण मेधा द्वारा उसने अल्पकाल में, इच्छामात्र से, व्यंग्य-विनोद की प्रकृति को आत्मसात् कर लिया। मूल सत्य यह है कि उसके असल व्यक्तित्व की अंतर्धारा में न तो व्यंग्य है और न हास्य। वह स्वभाव से अत्यंत संवेदनशील, भावप्रवण और गंभीर व्यक्ति है। उसका मूल भाव करुणा है—सघन पुंजीभूत करुणा—जिसके कारण वह अपने व्यंग्य में भी अनुदार नहीं हो पाता, यहाँ तक कि उसकी फब्ती से आपको कहीं ज़रा भी चोट पहुँची तो शायद पहला आदमी वही होगा जो तत्क्षण इस बात को भाँप लेगा और अवसर मिलते ही, झिझकते हुए, आपका हाथ अपने हाथ में लेकर इस क़दर प्यार से दबाएगा कि उसकी हथेलियों की ऊष्मा में आप (अगर आप थोड़े भी समझदार हैं तो) असल कमलेश्वर को खोज निकालने में भूल नहीं करेंगे।

मैंने इस असल कमलेश्वर को इसलिए भी और जल्दी खोज लिया कि वह मेरे साथ बहुत रहा है। वैसे उसकी कुछ आदतें तो बड़ी बेहूदा हैं। उनमें से एक आदत के कारण उसके साथ सड़क पर चलना मुश्किल हो जाता है—रास्ते में उसे जो भी 'राही जी', 'पीड़ित जी', 'व्यथित जी', 'बेकल जी' या 'गुमनाम जी' मिलेंगे, वह सबके लिए 'एक मिनट दुष्यन्त' कहकर अटक जाता है। इलाहाबाद में शुरू-शुरू में जब वह खुद बहुत प्रसिद्ध नहीं हुआ था, उसके यहाँ बहुत-से साहित्यकार जमे रहते थे। और यह जानते हुए भी कि साहित्य-बोध नुस्खे देकर नहीं बाँटा जा सकता, वह भरसक सबका समाधान करने की कोशिश किया करता था।

कमलेश्वर की जो सबसे बड़ी ख़ूबी है वह यह कि आप सौ फ़ीसदी यह तय करके जाएँ कि उससे लड़कर लौटेंगे, पर आप लड़कर नहीं लौट सकते, क्योंकि घोर विरोधी को वह अपने व्यक्तित्व की सहजता, सौजन्य, बुद्धि और अपनी आँखों के विश्वास से पराजित कर लेता है। वह अहंवादी नहीं है, कुंठित नहीं है; उसमें एक सहज अपनापन है।

इलाहाबाद में वह प्रायः रोज़ रात के ग्यारह-बारह बजे तक मेरे तथा अन्य दोस्तों के साथ गप्पें लड़ाया करता था। घर जाकर खाना और डाँट खाया करता था। रात को देर-देर तक लिखा करता था और सुबह फिर उसी ताज़गी और उल्लास से दिनचर्या शुरू हो जाती थी। उसी चुस्ती और उल्लास से वह अपनी छकड़ा साइकिल उठाता, तीनमील उलटा चलकर मेरे पास आता, मेरे अहदीपन पर लानत भेजते हुए खुद चाय बनाता, फिर तीन मील यूनिवर्सिटी का सफ़र तय करता, दोपहर को सेंट जोजेफ़्स सेमिनरी में कैथोलिक पादरियों को पढ़ाने जाता, शाम को एक ख़ास रास्ते से गुज़रकर अपनी प्रेमिका से मिलता और फिर सिविल लाइंस में दोस्तों से आ मिलता। इस तरह रोज़ाना बीस-बाईस मील का चक्कर काटकर रात को घर पहुँचता तो उसके दिमाग़ में केवल दो बातें होतीं—भाई साहब की प्यार-भरी डाँट और कहानी का प्लॉट।

ये उसके भयंकर संघर्ष के दिन थे। वह अपने छोटे-से क़स्बे मैनपुरी से मानसिक रूप से इतना जुड़ा हुआ था कि इलाहाबाद में रहते हुए भी वह वहीं की बातें सोचा करता था। हर महीने मैनपुरी भागकर जाया करता था और तीन-चार बोरे प्लॉट लाया करता था। उसी समय उसने 'मुरदों की दुनिया' कहानी लिखी थी। वह कहानी कमलेश्वर ही लिख सकता था, क्योंकि वह अपने कथा-क्षेत्र से संवेदना और समझदारी के स्तर पर जुड़ा हुआ था। उसके दिल में एक कसक थी—अपने छूटे हुए शहर के बाशिंदों के लिए। यही वह समय था जब वह वैचारिक द्वंद्व के बीच घिर गया था। अपने टूटते हुए सामंती घर से तो वह निकल आया था, पर जीवन में जो आस्थाएँ खंडित हुई थीं उनकी पुनः स्थापना और ज़िंदगी से फिर से जुड़ सकने का उसका वह अंतर्द्वंद्व मैंने देखा है। मैंने देखा है कि कमलेश्वर ने कभी भी किसी 'डॉग्मा' से चालित होकर लिखना स्वीकार नहीं किया है...उसकी हर कहानी उसके जीवनानुभवों में से निकली है...उसने पढ़-पढ़कर उस संक्रांति को नहीं झेला है, बल्कि उसे स्वयं जिया है।

'राजा निरबंसिया' कहानी लिखने से पहले भी वह अंतर्द्वंद्व से पीड़ित रहा है। उसका छूटा हुआ शहर तब भी लोककथाओं के आदर्शों के मातहत जी रहा था, पर इलाहाबाद में स्थितियाँ वे नहीं थीं और वह व्यक्ति-व्यक्ति के बदलते संबंध को नहीं, समय और इतिहास के बदलते संबंधों को भी देख रहा था। इसीलिए उसकी हर कहानी जीवन के संदर्भों से जुड़ी हुई है। उसकी शायद ही कोई ऐसी कहानी हो जिसके सूत्र ज़िंदगी में न हों, क्योंकि वह बहुत ख़ूबी से अंतर्विरोधों को पकड़ता है। उसकी लगभग हर कहानी का एक वास्तविक स्थल है जहाँ से वह उसे उठाता है और अपने कथ्य की कल्पना अपेक्षाओं के साथ अभिव्यक्त कर देता है। मुझे बहुत-सी वे घटनाएँ, लोग, स्थितियाँ, विचार, संदर्भ, पात्र आदि याद हैं जिन्होंने उसकी सशक्त कहानियों को जन्म दिया है। कमलेश्वर इस मामले में एक बंजारा है, क्योंकि वह अनवरत यात्रा पर रहता

है। वह लिखने का सरंजाम जुटाकर, धूपबत्तियाँ जलाकर, बेले या हरसिंगार के फूल सामने रखकर, चॉकलेट कुतर-कुतरकर खाते हुए नहीं लिखता।

इसीलिए राजेन्द्र यादव कहा करता है, "यार, इस आदमी में कितना स्टैमिना है ! दिन-भर घूम सकता है, बैल की तरह काम कर सकता है, रात-भर जागकर दोस्तों के साथ ठहाके लगा सकता है, फिर भी चेहरे पर थकान या शिकन नहीं ! जाने किस चक्की का पिसा खाता है !" और कमलेश्वर उसे या अन्य दोस्त लेखकों को संत्रस्त करने के लिए कभी-कभी ऐसे झटके दे भी दिया करता है। मन्नू भंडारी द्वारा संपादित 'नई कहानियाँ' के विशेषांक में उसकी कहानी प्राप्त करने के लिए जब यादव ने उसे बाकायदा घेर ही लिया तो वह क़लम लेकर बैठ गया और बोला, "अच्छा, तुम शेव करो, मैं कहानी शुरू करता हूँ !" और उसने कहानी शुरू कर दी। राजेन्द्र यादव ने शेव का सामान सामने रखा तो वह बोला, "राजेन्द्र, देख, नायिका दरवाज़े पर आ गई !" यादव ने जब तक शेव का पानी गरम किया, वह बोला, "देख, अब वातावरण डाल रहा हूँ !" और उसने वातावरण डाल दिया। यादव ने शेव समाप्त किया तो वह बोला, "अब एक स्थिति समाप्त हो गई !"

और जब तक राजेन्द्र यादव ने अपनी आदत के मुताबिक़ चार-पाँच 'ऐतिहासिक पत्र' लिखे, नहाया और कपड़े पहनकर तैयार हुआ, तब तक कमलेश्वर ने कहानी पूरी करके यादव को थमा दी और यादव ध्वस्त होकर रह गया। लेकिन यह केवल झटका था, उसके लेखन का तरीक़ा बिलकुल नहीं। वह तो तब लिखता है जब निभृत एकांत हो और उस पर दबाव हो—वैचारिक, मानसिक या आर्थिक।

इलाहाबाद में एक दोपहर घर लौटते हुए उसने एक नंगी जवान औरत को चार आदमियों के बीच घिरे और चिल्लाते देखा तो उसकी चेतना एक गहरा नैतिक दवाव अनुभव करने लगी। यह दबाव कई वर्षों तक उसकी चेतना पर छाया रहा—तब तक, जब तक कि वह 'एक अश्लील कहानी' लिखकर उससे उऋण न हो गया। छोटी से छोटी घटना भी कब और क्यों उसकी चेतना पर हावी हो जाएगी, यह कहना मुश्किल है। जब वह ऐसे दबावों में होता है तो अनदेखी अनजान दिशाओं की काल्पनिक यात्राएँ करता है। अनुपलब्ध और अप्रस्तुत पीड़ाओं के बारे में सोचता और पीड़ित होता है। उँगलियाँ चटकाता और कसमसाता है और ऊपर से सरल दिखाई देने वाली उस स्थिति को, उसकी सारी उलझनों, कुंठाओं और तकलीफ़ों से भरकर भोगता और लिखता है। हाँ, जब वह उनसे मुक्त होता है तो दोस्तों की खाल उधेड़ता है। चुटकुले और लतीफ़े गढ़ता है। सिगरेटें फूँकता है। नई-पुरानी बदमाशियों के बारे में बात करता है, दस्तूरी चिट्ठियाँ लिखता है और घर के काम-काज में दिलचस्पी लेता है।

इस तरह एक ओर जहाँ वह अपने समय के उलझावों, विरोधाभासों और यंत्रणाओं

को अपने भीतर उतारकर समझने की कोशिश करता है, वहीं उनसे निःसंग होकर उन्हें निरंतरता में देखने की कोशिश भी जारी रखता है। दोनों ही स्थितियों में उसका दृष्टिकोण पराजयवादी नहीं, आस्थावादी होता है।

प्रगति में परिवर्तन का बोध निहित है और कमलेश्वर की प्रगति इसी परिवर्तन की प्रतिक्रिया को समझने का परिणाम है। उसकी कहानियाँ, भाषा और कथ्य समाज के बदलते हुए भिन्न-भिन्न परिवेशों की देन हैं। उसका स्टैमिना परिवर्तन की तेज़ से तेज़ रफ़्तार में उसका सहायक होता है, इसीलिए कमलेश्वर कभी पिछड़ता नहीं और न प्रयत्न-शिथिल होता है। जब वह मैनपुरी जैसे क़स्बे से इलाहाबाद में पहुँचा तब भी और अब इलाहाबाद जैसे शहर से दिल्ली-सी महानगरी में आकर बसा तब भी आने और बसने के बीच वह निरंतर मानसिक रूप से अपने शिथिल परिवेश के प्रति सजग रहता और लेखन की भूमिका बनाता रहता है।

'राजा निरबंसिया' से 'क़सबे का आदमी' के बाद, 'नीली झील' से लेकर 'खोई हुई दिशाएँ' तक उसकी कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन की सादगी से शुरू होकर महानगर की आधुनिकतम संचेतनाओं और संश्लिष्टताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। और मैं कहना चाहूँगा कि यह कोई साधारण बात नहीं है कि एक कलाकार अपनी भावभूमियों पर परिश्रमपूर्वक तैयार की गई अपनी निर्मितियों को इतनी निर्ममता से तोड़कर अलग हो जाए और नए सफल प्रयोग करने लगे। कमलेश्वर चाहता तो 'क़सबे की कहानी' की तख़्ती लटकाए औरों की तरह एक स्कूल खोले बैठे होता। मगर उसने कलाकार का धर्म अपनाया, मठाधीशों का नहीं। वह निरंतर प्रयोग करता और अपने को तोड़ता, बदलता और संशोधित करता आया है।

उसके लेखन की सबसे बड़ी उपलब्धि जो मैं समझ सका हूँ, यह है कि उसका जीवन-दर्शन प्रभावारोपित नहीं, उसके अपने अनुभवों से बने व्यक्तित्व का सहज प्रॉजेक्शन है। जीवन की भाँति लेखन में भी युग की परस्पर-विरोधी स्थितियों में सामंजस्य का एक नया, सही और सम्मानप्रद रास्ता खोजने की चाह उसकी आधारशिला है। इन अँधेरों, उलझावों और यंत्रणाओं में मनुष्य का वर्तमान रूप खोजने और पहचानने तथा उसे सही संदर्भों में प्रतिष्ठित कर पाने की तड़प ही उसकी थाती है। इससे इतर वह नितांत अकेला और असहाय है जिसे हर पल अपने ही संस्कारों, कला-रुचियों और स्वनिर्मित प्रतिमानों से जूझना पड़ता है।

उसकी असाधारण सफलता का रहस्य है खुद अपने से टक्कर लेने की अशेष सामर्थ्य और मनोबल। रात-भर जी-जान से लड़कर वह हर सुबह उठते ही एक नई लड़ाई के लिए प्रस्तुत दिखता है।

उसकी यह लड़ाई दो स्तरों पर है—खुद अपने से और अपने समय की विसंगतियों से। इस लड़ाई में वह हर हथियार इस्तेमाल करता है, इसीलिए उसके व्यक्तित्व के बाहरी रूप में विरोधाभास बहुत प्रबल हैं। भीतरी या उपचेतन की अपेक्षा उसका चेतन कहीं अधिक क्रूर और दुनियावी है। ऊपरी एक पर्त के नीचे ही वह सघन इंसान है, पर बाहर एक धूर्त पहरेदार भी बैठा हुआ है, लिहाज़ा उस धूर्त पहरेदार से टकराए बिना उसके इंसान से मुलाक़ात नहीं होती। वह धूर्त पहरेदार आपको व्यंग्य, चुटकियों और चुस्त वाक्यों से छेद डालता है। तेज़ से तेज़ व्यक्ति को निस्तेज कर देता है। मेरी खुशकिस्मती यह है कि मेरी दोनों से दोस्ती है। मैं जानता हूँ कि जब वह आदर्श की ऊँची-ऊँची बातें करता हे तब हो सकता है कि उसका दिमाग़ घोर यथार्थवादी भूमियों की खोज में भटक रहा हो। और जब वह हाथ पटक-पटक मुझसे सत्य मनवाने की कोशिश करता है तब हो सकता है कि वह अपने ही मन में किसी विरोधी सत्य को मान्यता दे रहा हो।

इसी तरह की स्थिति में वह कुछ घोपणाएँ अपनी सद्यः लिखी गई या लिखी जाने वाली कहानियों के संबंध में भी करता है, चाहे खुद उन्हीं घोषणाओं पर उसे यक़ीन न हो। कुछ महीने पहले दिल्ली में उसकी एक कहानी लंबी-चौड़ी भूमिका के साथ सुनने का अवसर मिला—"प्यारे, वो कहानी बनी है, वो कहानी बनी है कि सुनकर फ़्लैट हो जाओगे !" और घोषणाओं के साथ कहानी सुन चुकने पर जब मैंने गय प्रकट की कि यह वहुत मामूली और लचर है, वह तत्काल सारी घोषणाएँ भूलकर पास खिसक आया ओर बोला—"यार, बात तू ठीक कह रहा है।" और फिर बच्चों की तरह निश्छलता से कहानी की खामियों को खुद भी गिनाने लगा और खुलकर एक प्रतीक और पंक्ति पर अपनी आलोचना सुनने ओर विचार-विमर्श करने लगा।

दरअसल अब से नहीं, वहुत पहले से उसकी यह आदत रही हे कि मन में चल रहे विचार को पहले ही उद्‌घोपित कर देता है और तब वह उस विचार के अनुरूप क्रियान्वयन के लिए नेतिक बाध्यता अनुभव करने लगता है। मगर इससे वे नुकसान भी उसे उठाने पड़ते हे जो अपनी गोपनीयता न रखने पर और सयोगतः विचार के कार्यान्वयन में त्रुटि आ जाने पर अवश्यंभावी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अपनी समस्त सद्‌भावना और ईमानदारी के बावजूद समाज में झूठा बनने की नौबत आ जाती है। उसका आत्मविश्वास उसे छल लेता है, क्योंकि सोची हुई हर बात पूरी ही हो जाए, यह संभव नहीं होता। वह जो सोच लेता है, उसे उपलब्ध समझने लगता है।

लिखने और लिख चुकने के तत्काल बाद का समय उसके लिए बहुत नाज़ुक होता है। यों अपनी सद्यः लिखी गई कहानियों के बारे में वह चाहे कितनी घोषणाएँ करता और डींगें हाँकता फिरे मगर रचना से जब तक उसकी संपृक्ति नहीं टूटती, वह उसके बारे में आश्वस्त नहीं हो पाता। हाँ, दूसरों की रचनाओं का वह बहुत अच्छा जज है।

सफलतम लेखक के रूप में आज जो उसकी ख्याति है, उसके बावजूद वह ईमानदारी से महसूस करता है कि गर्व करने लायक उसने अभी कुछ नहीं लिखा है। यद्यपि अपने लेखन के संबंध में वह डींगें भी हाँक देता है, पर उसके पीछे आत्मप्रवंचना कम और अच्छा तथा नया लिखने की महत्त्वाकांक्षा अधिक होती है। यह भावना उसके लेखन को जीवित रखती है अन्यथा उसके व्यक्तित्व का गठन ऐसे तत्त्वों से हुआ है (जिनमें शील, संकोच, विनय आदि तत्त्व प्रमुख हैं) कि उनके कारण उसे बाहरी जीवन में बहुत-से समझौते करने पड़ते हैं। ज़्यादातर समझौते वह दूसरों की भावनाओं को ठेस न पहुँचे, इसलिए करता है और कुछ इसलिए कि समाज में अपना मुँह साफ़ रख सके। यह अजीब विरोधाभास है कि विचारों में निषेधों और ख़ास तौर से नैतिक-सामाजिक निषेधों के विरुद्ध होते हुएभी आचरण और व्यवहार के स्तर पर वह बहुत हद तक उनकी मर्यादा का पालन करता है।

और हाँ, इन विरोधाभासों में कमलेश्वर स्वयं रहता ही नहीं, उन्हीं से वह सीखता भी है और लिखता जाता है। लेखन में असाधारण होते हुए भी वह बिलकुल साधारण-सा इंसान है—औसत से कुछ छोटा क़द और साँवला रंग। नाक-नक्श तीखे और आँखों में ऐसा आकर्षण कि जिधर से देखिए, बँधते चले जाइए। रेडियो और टेलीविज़न में नौकरी कर चुकने के कारण उसकी ज़बान, जो पहले भी मधुर थी, अब सधकर और मीठी हो गई है। सुरुचि उसकी विशेपता है। पैसा उसके पास टिकता नहीं है। पास के पचास किसी को देकर अपनी ज़रूरत के लिए पच्चीस रुपए के इंतज़ाम के सिलसिले में वह परेशानहाल घूमता हुआ मिल सकता है। वह दोस्तों की महफ़िलों में मिल सकता है, किसी बीमार के सिरहाने बैठा हुआ भी मिल सकता है, किसी सस्ती-सी दुकान में चाय पीता हुआ या बड़े होटल में नफ़ासत से खाता हुआ भी मिल सकता है। वह दूसरों के दुःख में दुखी, उनकी परेशानियाँ सुलझाता हुआ और अपने दुःखों में हँसता हुआ भी मिल सकता है। घर पर मिलना चाहें तो रात दो बजे के पहले नहीं मिल सकता। 'नई कहानी' के दफ़्तर में मिलना चाहें तो दिन के तीन बजे के बाद भी नहीं मिल सकता, पर मिल गया तो सच्ची आत्मीयता से मिलेगा। पर ख़तरा सिर्फ़ यह है कि वह आपके भीतर छिपी हास्यप्रद विसंगतियों को फ़ौरन ताड़ लेगा और फिर कभी मिलने पर आपके सामने ही मज़ा ले-लेकर सुनाएगा—"यार, तेरे उन दोनों आशिकों (शानी और धनंजय वर्मा) ने बहुत बोर किया। दोनों जब मध्य प्रदेश से आए तो वहाँ की साहित्यिक स्थितियों से दुखी और चिंतित थे···" और वह सुनाता जाएगा—"तो साहब, वे दोनों रात को तीन बजे लेटे···मुझे नींद आ रही थी, पर उसकी चिंता बहुत गहरी थी। धनंजय बोले—'कमलेश्वर जी, मध्य प्रदेश में ऐसा क्या किया जाए कि साहित्यिकों का स्वास्थ्य कुछ सुधर जाए?' उनकी बात का जवाब दे रहा था तो देखा, शानी साहब खर्राटे ले

रहे हैं। जवाब ख़त्म हुआ तो शानी साहब नींद में ही बर्राए—'कमलेश्वर भाई, इधर कहानी में जो अमूर्तता आ रही है, उसके बारे में आपका क्या ख़याल है ?' और लेटे-लेटे उन्होंने चश्मा चढ़ा लिया तो धनंजय करवट बदलकर सो गए। शानी की बात का जवाब समाप्त हुआ तो धनंजय हड़बड़ाकर जागे—'कमलेश्वर जी, हिंदी कहानी की आलोचना-पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन के संबंध में आप क्या सोचते हैं ?' और धनंजय की बात चलते-चलते शानी ने पंद्रह मिनट की नींद ली। अपना जवाब पाकर धनंजय ने उबासी लेकर पलकें मूँदीं तो शानी साहब फिर उठकर बैठ गए—'मध्य प्रदेश में कहानी की…' तो साहब, यह सिलसिला लगातार चलता रहा…और बाद में…"

और कमलेश्वर यह सब सुनाता जाएगा, सुनाता जाएगा। अगर आप बुरा मान गए तो वही पहला आदमी होगा जो इसे भाँप लेगा और अवसर मिलते ही आपका हाथ हाथ में लेकर इस प्यार से दबाएगा कि उन हथेलियों की ऊष्मा में आप असल कमलेश्वर को खोज निकालने में भूल नहीं करेंगे। अगर आपने भूल की तो बदक़िस्मती आपकी, क्योंकि वह सचमुच बहुत खुशदिल, खुशमिज़ाज और सुरुचिपूर्ण व्यक्ति है। जिन्हें यह मौक़ा नहीं मिलता, वे उसके साहित्य को पढ़कर भी वही आत्मीयता, गहराई और ईमानदारी महसूस कर सकते हैं।

(रचनाकाल : दिसंबर, 1964)

प्रकाशचन्द्र सेठी : एक विश्लेषण

भारतीय मानस में नेता की सामान्य धारणा को लेकर कोई ग़लतफ़हमी नहीं है। अनपढ़ लोग भी किसी स्वस्थ शरीर पर चूड़ीदार पाजामा या खादी की धोती, ऊपर जवाहरकट या शेरवानी और सिर पर साफ़ बुर्राक गांधी टोपी को देखते ही समझ लेते हैं कि ज़रूर यह नेता है। जो ज़रा पढ़े-लिखे हैं और चीज़ों को बारीक़ी से देखने-समझने की सलाहियत रखते हैं, वे नेता को उसकी चाल-ढाल और लवो-लहजे से भी पहचान लेते हैं। परंतु अपने इस मुख्यमंत्री को आप क्या कहेंगे, जिसके पास नेता की एक भी निशानी नहीं, जो न खादी की टोपी पहनता है और न राजनीतिज्ञों का परंपरागत लिबास, और तो और, जो नेताओं की तरह क्रोध आने पर मुस्कराता नहीं बल्कि मुख पर आया कड़वे से कड़वा सच भी, बिना किसी लाग-लपेट के धड़ल्ले से बोल देता है।

हमने तो अव तक मुख्यमंत्री के रूप में ऐसे राजनीतिज्ञ देखे हैं जिन्होंने जनता के लिए झूठे आश्वासनों के सूर्य उगाए, विरोधियों को अपमानजनक शब्द नहीं कहे—चुपचाप गोली से उड़वा दिया, कोई विवादास्पद मुद्दा आया तो ख़ामोश ही रहे और पत्रकारों के गंभीर आलोचनात्मक प्रश्नों को हज़म करके, उनकी सुविधाओं पर चर्चा करने लगे और ज़रूरत पड़ी तो प्रजातंत्र की रक्षा के लिए प्रेस को ख़रीद लिया।

मगर यह प्रकाशचन्द्र सेठी, जिसकी ऑखों में झॉककर दिल का राज़ पढ़ा जा सकता है, जिसके चेहरे पर पल-पल बदलती हुई क्रोध की आत्मीयता की लहरें ख़ुद अपना परिचय देती चलती हैं···कैसा राजनीतिज्ञ है।

नहीं, यह शख़्स हरगिज़ राजनीतिज्ञ नहीं है। यह कवियों-कलाकारों जैसी निश्छल मुद्राएँ, यह सामान्य मनुष्यों जैसी तड़पन और प्रतिक्रियाएँ बड़े नेताओं में कहाँ होती हैं। यह व्यक्ति अगर नेता ही होता तो डाकुओं के समर्पण का सारा श्रेय चुपचाप सर्वोदयी कार्यकर्ताओं की झोली में डाल देता। परंतु यदि यह व्यक्ति पारंपरिक नेता होते तो समर्पण के अवसर पर इसके भाषण की रूपरेखा कुछ इस प्रकार होती, 'भाइयो और बहनो ! आज यह हमारा परम सौभाग्य है कि देश के मान्य नेता परम आदरणीय जयप्रकाश जी हमारे बीच में हैं। भारी अस्वस्थता के बावजूद अपनी चरणधूलि से इस राज्य की भूमि को पवित्र कर उन्होंने हम सब पर महान् कृपा की है। उनके इस ऋण से हम कभी उऋण नहीं हो सकते। यह जो शताब्दियों पुरानी डाकू-समस्या आज हल

हुई है, यह भी वस्तुतः उन्हीं के मार्गदर्शन और आशीर्वाद का परिणाम है। मैं मध्य प्रदेश राज्य की जनता की ओर से उनका अभिनंदन करता हूँ और उन सर्वोदयी कार्यकर्ताओं को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस समस्या के समाधान में गहरी लगन और निष्ठा से कार्य किया। इसी कारण आज वे सहज ही हमारे प्रदेश की जनता में श्रद्धा और आदर के पात्र बन गए हैं···आदि···।'

मैं इस काल्पनिक भाषण के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि मुख्यमंत्री के मुख से यह वक्तव्य बहुत शोभा देता है। इसमें राजनीति के सारे तत्त्व हैं—अर्थात् इसमें विनम्रता भी है और चातुरी भी, झूठ भी है और मक्कारी भी और वह खोखली यश-प्रार्थिता भी, जो जयप्रकाश जी जैसी विभूति का सहारा पाने के लिए बेचैन है। मगर सेठी जी ने यह वक्तव्य दिया ही नहीं। सच को सच और झूठ को झूठ कहने वाले सेठी जी यह देखते ही भड़क उठे कि जिस समस्या को लेकर वे रात-दिन परेशान रहे हैं और जिसके समाधान के लिए उन्होंने कुर्सी सँभालते ही एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया, उसका सारा श्रेय सर्वोदयी कार्यकर्ता चुपचाप झोलों में डालकर चल दिए।

अगर प्रकाशचन्द्र सेठी ज़रा-से झूठ, थोड़े-से फ़रेब और रत्ती-भर मक्कारी से काम लेकर एक विनयपूर्ण वक्तव्य दे देते तो उनके विरोधियों को तिल का ताड़ बनाने का अवसर न मिलता। चूँकि सेठी जी में ये राजनीतिक विशेषताएँ नहीं हैं इसलिए विरोधी तत्त्वों ने इस साधारण-से सवाल को कुछ जज़्बाती धरातल पर उठाया कि मूल समस्या तो एक तरफ़ पड़ गई और सेठी बनाम जयप्रकाश का मुकदमा सुर्ख़ियों में उभर आया।

मध्य प्रदेश के शासकीय प्रचार तंत्र यानी सूचना प्रकाशन विभाग की जड़ता और कल्पनाहीनता ने भी इसमें पूरा योग किया। यह श्रेय भी दरअसल उसी को मिलना चाहिए कि इंदौर में नारायण प्रसाद शुक्ला तथा भोपाल में एक जनसंघी तथा एक कांग्रेसी विधायक के साथ हुई साधारण-सी झड़पों को समाचार-पत्रों ने हवा दी और इस तंत्र ने यत्र-तत्र यह भ्रम पैदा हो जाने दिया कि मध्य प्रदेश का मुख्यमंत्री वास्तव में एक झगड़ालू, बदज़बान और बदतमीज़ आदमी है।

इसलिए जब-जब समाचार-पत्र सेठी जी को वाणी के संयम की सलाह देते हैं तो सूचना प्रकाशन विभाग बड़े आदर भाव से वे कतरनें मुख्यमंत्री के पास भिजवा देता है, क्योंकि विभाग की क़लमों को घुन लग गया है और अफ़सरों की संवेदनशीलता को दीमक चाट रही है। वे यह समझ ही नहीं पाते कि एक ऐसा मनुष्य, जो अपने अधिकारों की सीमा के भीतर सामान्य मनुष्यों की तरह व्यवहार करता है, कैसे मुख्यमंत्री हो सकता है। जो मुख्यमंत्रियों जैसी झूठी प्रतिक्रियाएँ नहीं उगलता, जिसकी कथनी और करनी में विरोधाभास नहीं है, जो सिर्फ़ वही कहता है, जो सोचता है। वह आदमी एक महान् आदमी हो सकता है पर प्रदेश का मुख्यमंत्री नहीं।

इसीलिए और लोगों को भी लगता है कि ऐसा निश्छल और सहज व्यक्तित्व, जिसके पास न नक़ली लिबास है और न मुखौटे, ऐसा साफ़-सुथरा इंसान जो राजनीति की कीचड़ का रास्ता भी साफ़ पाँवों से तय करने का हौसला रखता है···निश्चय ही राजनीतिज्ञ नहीं हो सकता, वह सिर्फ़ इंसान हो सकता है और मैं यही कहना चाहता हूँ कि सेठी जी सिर्फ़ इंसान हैं···कोई महापुरुष या लौह पुरुष नहीं, सिर्फ़ इंसान। एक मामूली मगर मज़बूत इंसान।

अगर लौह पुरुष के राजनीतिक पिट्ठू बुरा न मानें तो मैं यह और कहना चाहूँगा कि अब लौह पुरुषों का ज़माना लद गया। आज जनता न लौह पुरुषों से डरती है, न उन्हें पूजती है। दरअसल पूजने वाला तत्त्व अब जनता और ख़ास तौर से नई पीढ़ी में दिखता ही नहीं। शायद लोग अब उसे चाहते हैं जो उन्हें अपने जैसा लगता है···शायद लाल बहादुर शास्त्री और इंदिरा गांधी की सफलता का यही राज़ हो। शायद इसीलिए प्रकाशचन्द्र सेठी इतनी जल्दी जनता के चहेते बन गए हों।

(रचनाकाल : 1972)

मोहन राकेश : एक और ज़िंदगी

मोहन राकेश उस व्यक्ति का नाम था जिसने हमेशा ऐसी ज़िंदगी जी, जो उसके अपने आदर्शों, मूल्यों और मानों के अनुरूप थी। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि इस ज़िंदगी को जीने में उसने कभी कोई छल नहीं किया, कोई बेईमानी नहीं की। वह उन लोगों में से नहीं था जो दिखाने और पहनने के दो अलग जोड़े रखते हैं। उसके पास कथनी और करनी, आदर्श और व्यवहार, चिंतन ओर आचरण का सिर्फ़ एक ही प्रतिमान था, जो उसके साहित्य से लेकर जीवन तक पर समान रूप से लागू होता है। यह प्रतिमान और यह दृष्टि बाहर से आयातित नहीं थी, बल्कि जीवन के प्रति उसकी अदम्य आसक्ति के कारण विकसित हुई थी। ज़िंदगी के लिए उसमें ग़ज़ब का उत्साह और जोश था और वह उसके साथ बड़ी सहजता से पेश आता था।

इसी सहजता के साथ ज़िंदगी जीने के क्रम में वह कुछ असहज ढाँचों को तोड़ दिया करता था। वह परंपरा-भंजक नहीं था, लेकिन बने-बनाए फ़ार्मूलों से उसे चिढ़ ज़रूर थी और इनके विरोध की उसने व्यक्तिगत रूप से भारी क़ीमत चुकाई। आम तौर पर लोग राकेश के वैवाहिक जीवन की विसंगतियों की चर्चा करते हैं पर यह बहुत कम लोग जानते हैं कि इनका उत्स कहाॅ है आर क्यों राकेश को ही इन समस्याओं और इन प्रश्नों से अकेले जूझना पड़ा ?

राकेश का पहला विवाह उस समय हुआ जब वह मदनमोहन गुगलानी 'राकेश' एम०ए०, एम०ओ०एल० था। जब कन्या-पक्ष के लोग इलाहाबाद स्टेशन पर बारात को लेने के लिए पहुँचे तो वर के रूप में श्री मोहन राकेश एक हाथ में होल्डाल और एक में अटैची सँभाले मंडप की ओर प्रस्थान कर रहे थे। हालाॅकि राकेश ने यह बात पहले ही साफ़ कर दी थी कि शादी में कोई टीम-टाम नहीं होगी और बाराती के रूप में वह अकेला ही आएगा। फिर भी कन्या-पक्ष के लोग इस असाधारण-सी बात को साधारण रूप में ग्रहण नहीं कर पाए और किसी हद तक इसका प्रभाव उसके बाद के दांपत्य जीवन पर भी पड़ा, जिसकी परिणति अंततः संबंध-विच्छेद में हुई।

विवाह या कोई भी ऐसा बंधन, जहाँ सहजता नहीं होती थी, उसे झकझोर डालता था, और वह उसे तोड़ने या उससे निकल भागने के लिए छटपटाने लगता था। बहुत कम लोग इस बात को जानते हैं कि 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' की इतनी बड़ी नौकरी वह

सिर्फ़ इसलिए छोड़ आया कि उसे रोज़ाना एक ख़ास ढंग से, एक ख़ास क़िस्म के लिबास में, चुस्त-दुरुस्त होकर, एक ख़ास स्थान पर पहुँचना पड़ता था।

पहली पत्नी से संबंध ख़त्म करके जब वह दिल्ली आया, तब मैं भी वहीं था। करोलबाग में मैं, राजेन्द्र यादव और राकेश, तीनों थोड़े-थोड़े फ़ासले पर पास-पास ही रहा करते थे। हम तीनों की नियमित बैठकें जमतीं और चार-पाँच घंटे हम रोज़ाना ज़रूर साथ रहते थे। इन बैठकों में आधा समय हम लोग ठहाके लगाने और एक-दूसरे की खिंचाई करने में गुज़ारते थे। उसे देखकर ऐसा नहीं लगता था कि इस व्यक्ति के भीतर कोई ज्वालामुखी भी हो सकता है। जब पहली बार मुझे यादव ने बताया और जब अचानक एक दिन मैंने यों ही उसे कुरेद दिया तो वह ज्वालामुखी फट पड़ा।

"सुना है, तू बीवी को तलाक़ दे रहा है ?" मैंने उससे निहायत बेतक़ल्लुफ़ाना अंदाज़ में, बड़े हलके-फुलके ढंग से यह बात पूछी थी, क्योंकि हम दोनों बड़े ही हलके-हलके मूड में थे और राजेन्द्र यादव के घर पर यह योजना बनाकर जा रहे थे कि आज उसकी किसी कहानी की जमकर तारीफ़ करेंगे और हुआ तो उसके दस-पाँच रुपयों को काटेंगे।

मगर मेरे इस जुमले पर वह ठिठककर खड़ा हो गया। मेरे कंधों पर हाथ रखकर उसने मुझे रोका और फिर अपनी तरफ़ मोड़कर अपनी आँखों में देखने के लिए विवश करते हुए, तड़पकर बोला, "तू जानता है, तू क्या बक रहा है ?"

उसकी आँखें बहुत बोलती हुई थीं। इतने मोटे लैंस के चश्मे के बावजूद उनका सौंदर्य ज़रा भी विरूपित नहीं होता था। उन्हीं आँखों से मेरी ओर देखकर उसने अंग्रेज़ी में एक और वाक्य कहा था ओर मैंने नज़रें चुरा ली थीं। उसकी आवाज़ आवेश में डूबी हुई थी और उसमें ग़ज़ब की आँच थी। फिर भी मैंने रेडियो वाले अपने झूठे आत्मविश्वास का सहारा लेकर अपनी बात को फिर दोहराया और बड़ी ज़ोरदार शैली में, पति-पत्नी के संबंधों की मर्यादा पर एक लच्छेदार भाषण भी झाड़ दिया।

वह एक नेक और साफ़दिल इंसान था, इसलिए उसने चुपचाप मेरी बातें सुनीं, चूँकि उसके दो चेहरे नहीं थे, इसलिए उसने मेरी बातों को उसी हद तक समझा, जिस हद तक वे शब्दों में कही गई थीं और फिर सहसा उसके आँसुओं का बाँध टूट गया। हम राजेन्द्र के घर का रास्ता छोड़कर देर तक इधर-उधर भटकते रहे और मैं ज़्यादातर वक़्त उसके आँसू पोंछने का प्रयत्न करता रहा। ये आँसू पत्नी से बिलगाव के नहीं, बल्कि एक मित्र द्वारा ग़लत समझे जाने की तकलीफ़ से पैदा हुए थे।

दुनिया उसे ग़लत समझे या सही, वह रत्ती-भर परवाह नहीं करता था, पर इस बात की वह बहुत चिंता करता था कि उसके दोस्त उसे ग़लत न समझें। उस घटना के दस वर्ष बाद वह एक बार फिर मेरी बाँहों में फूट-फूटकर रोया था और सिर्फ़

इसलिए कि उसे लगा, मैं उसके दृष्टिकोण पर नहीं बल्कि उसकी भावभंगिमाओं पर ज़्यादा ध्यान दे रहा हूँ।

मैंने सिर्फ़ इतना कह दिया था, "आज तू ओवर एक्टिंग कर रहा है।"

आज वह सामने से हट गया तो यह सचाई बेपरदा हो गई कि वह एक्टिंग नहीं करता था। उसके अंदर वाक़ई इतनी गरमी थी कि वाक़ई मुझ जैसे लोग सहसा यह यक़ीन नहीं कर पाते थे कि कोई किसी को इतना प्यार कैसे कर सकता है ! अजीब बात है कि इतने संवेदनशील आदमी को मैं लगातार बीस वर्षों तक ग़लत समझता रहा और वह मुझे प्यार करता रहा। यहाँ तक कि एक दिन उसने मेरे गले में हाथ डालकर अपनी प्यार-भरी आँखों से मेरी ओर देखते हुए मुझसे बड़ी मासूमियत से पूछा था, "एक बात बताएगा ? क्या तू मुझे उतना ही प्यार करता है जितना कमलेश्वर को ?" और मैं पानी-पानी हो गया था कि इस मासूम आदमी को इस सवाल का सच्चा जवाब कैसे दूँ, और मैं 'हाँ' कहकर साफ़ झूठ बोल गया था; लेकिन आज मुझे लगता है कि सब लोग सबसे ज़्यादा प्यार उसी को करते थे। और इसकी वजह यह है कि वह अकूत और अकृत्रिम प्यार देता था और बदले में सिवा प्यार के और किसी चीज़ की अपेक्षा नहीं करता था। शायद यही कारण है कि राकेश के दोस्तों की सूची इतनी लंबी है कि उनके नाम गिनाना मुश्किल है और आज उसका हर दोस्त यही समझता है कि वही राकेश के सबसे ज्यादा निकट था।

साहित्य से जुड़े हुए व्यक्तियों में कमलेश्वर उसके बहुत करीब था और हम लोग उसकी अनुपस्थिति में अकसर घंटों उसे याद किया करते थे और गालियाँ दिया करते थे। लेकिन साहित्य से हटकर उसके जिगरी लोगों में राज बेदी और ओमप्रकाश प्रमुख हैं। इसके बावजूद एक दिन ओमप्रकाश की बात छिड़ने पर मैंने जब कहा, "ओमप्रकाश तुम्हारा भले ही दोस्त हो, लेकिन कुल मिलाकर वह घटिया आदमी है," तो राकेश की पीडा मे जैसे पंख लग गए। वह चाहता तो इस मंतव्य पर सहमति या असहमति व्यक्त करके इसे ख़त्म कर सकता था, लेकिन उसने अपने पूरे चालीस मिनट मुझे सिर्फ़ यह समझाने मे बरबाद किए कि ओमप्रकाश कुल मिलाकर बढ़िया आदमी है, भले ही उसमें कही घटियापन हो। और मुझे स्वीकार करना पड़ा कि मैंने यह बात गुस्से में कही थी—यह मेरी धारणा नहीं है।

उसकी दोस्तनवाज़ी की इससे बड़ी मिसाल और क्या हो सकती है कि शादी के बाद उसने अनीता से कहा था, "अनीता, तेरी पोज़ीशन इस घर में नंबर तीन की है। पहली पोज़ीशन में मेरा लेखन है, दूसरी में दोस्त और तीसरी में तू ! बोल, तुझे एतराज़ तो नहीं ?"

अनीता को क्या एतराज़ होता—अलबत्ता उसने इससे एक सबक ज़रूर लिया

और अपने आपको राकेश की इच्छाओं में इस तरह लय कर दिया कि उसे दुनिया में राकेश और उसके दोस्तों के अलावा कुछ सूझता ही नहीं था। गोकि इसी के बल पर उसने अपनी पोज़ीशन नंबर एक की कर ली थी, पर उसने अपनी इस स्थिति का कभी फ़ायदा नहीं उठाया और हमेशा वह राकेश के पूर्व घोषित कार्यक्रम को ही तरजीह देती रही। जैसा राकेश चाहता था, अनीता वैसा अपने आपको ढालती गई और उन दोनों का एक मुकम्मल जोड़ा तैयार हुआ, तब वह संबंध तोड़कर दूसरे लोक में चला गया।

मुझे आश्चर्य होता है कि संबंधों को निभाने में बेहद एहतियात बरतने वाला आदमी अनीता को अकेला कैसे छोड़ गया ! और बरबस वह घटना याद हो आती है जब वह 'सारिका' की नौकरी छोड़कर बंबई से वापस दिल्ली आ रहा था। शरद जोशी ने उसे भोपाल रुकने के लिए पत्र लिखा था और शरद को वह शुरू से ही बहुत चाहता था। परंतु इसके बावजूद वह यह भी समझता था कि यदि शरद के निमंत्रण पर मैं भोपाल रुका तो दुष्यन्त को कहीं बहुत तकलीफ़ पहुँचेगी। लिहाज़ा उसने शरद को उत्तर दिया, "मेरा दुष्यन्त नाम का एक बहुत जलील दोस्त भोपाल में रहता है, अगर वह स्टेशन पर आकर उतार लेगा तो मैं ज़रूर भोपाल रुक जाऊँगा।" आज सोचता हूँ कि इतनी सहजता से वह भोपाल कैसे उतर गया और कैसे मैंने उसे उतार लिया—ख़ास तौर से तब, जबकि उसके पास लगभग तीस नग सामान था और साथ में अनीता और राज बेदी भी थे।

तब अनीता और उसकी शादी को मुश्किल से सात-आठ महीने हुए थे। मैं पहली बार उसकी बीवी से मिल रहा था। वह मेरी स्थिति भाँपते हुए बोला, "क्यों, भाभी पसंद है ?"

"बहुत," मैंने कहा, "बशर्ते कि तू साथ निभाए।"

"यह तो उसी पर निर्भर है।" उसने एक बहुत ज़ोरदार ठहाका लगाते हुए कहा था और मुझे बेसाख़्ता अपनी पत्नी की याद आ गई थी जो कि दिल्ली में उसके ठहाकों के मारे बेहद परेशान थी। वह रोज़ाना सुबह या शाम मेरे घर ज़रूर आता था और मेरी पत्नी ज़ीने में उसके जूतों की आहट सुनते ही चाय का पानी स्टोव पर रख देती थी और अकसर उसके बैठते न बैठते चाय का कप उसके हाथ में होता था।

उसने एक दिन झुँझलाकर मुझसे पूछा, "यार, क्या बात है, मैं आता बाद में हूँ और राजो भाभी चाय का प्याला पहले मेरे हाथ में थमा देती हैं ?"

मैंने कहा, "देख ! मैं एक छोटा-सा आदमी हूँ, मेरी छोटी-सी तनख़्वाह है और मेरी बीवी को उसी में गुज़ारा करना पड़ता है।"

"मगर इससे मेरी चाय का क्या संबंध है ?" उसने कहा।

"सीधा-सा संबंध है," मैंने उत्तर दिया, "प्याला तेरे हाथ में होगा तो तू क़ायदे से

हँसेगा। एक चारपाई पहले तोड़ चुका है और यह भी टूट गई तो दूसरी चारपाई इस महीने के बजट से नहीं ख़रीदी जा सकती। इसलिए वह तेरे आते ही चाय की तैयारी में…"

और वाक्य पूरा होने से पहले ही उसने जो छतफोड़ ठहाका लगाया तो मैं समझ गया कि इस चारपाई की उम्र पूरी हो गई है और आज की रात बिस्तर ज़मीन पर ही लगेंगे।

मैं 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' का यह आग्रह स्वीकार करने की स्थिति में नहीं हूँ और राकेश के कमरे में बैठकर उस पर लेख लिखना मेरे लिए एकदम असंभव है। मैं चारों ओर से उससे घिरा हुआ हूँ। काग़ज़, क़लम, दवात, चौकी, सिगार और सिगरेटों के टुकड़े, सबके सब, ज्यों के त्यों मेरे चारों तरफ़ पड़े हुए हैं। यद्यपि उसे गए आज पाँच दिन पूरे हो गए हैं, पर ऐसा लगता है कि जैसे अभी-अभी कोई आदमी इस कमरे से उठकर गया है।

सुधा और ओम शिवपुरी, राजेन्द्र और मन्नू भंडारी, सुभाष और मीना, सुरेश अवस्थी, जवाहर चौधरी, राजेन्द्रनाथ, राजेन्द्र अवस्थी, ओमप्रकाश और उनकी धर्मपत्नी तथा अनेक जाने-अनजाने दोस्त रोज़ाना मेरे घर में आते हैं। ऐसा नहीं लगता कि वह दोस्तों की ऐसी महफ़िल छोड़कर कहीं जा सकता है ? इतने सारे दोस्तों का प्रलोभन तो उसे कहीं से भी खींच ले आएगा ! फिर बंबई, कलकत्ता, चंडीगढ़, भोपाल और न जाने कहाँ-कहाँ से लोग आए हुए हैं।

मगर उसकी मौत का अहसास अनीता की हृदय-विदारक चीख़ों से होता है या उस पर तारी होने वाले नीम पागलपन के दौरों से। वह चाहती है कि राकेश के सारे दोस्त उसके सामने बने रहें। वह सबको अपने सामने बिठाकर खाना खिलाती है, सबको चाय पिलाती है और देखते-देखते मौत का घर एक रेस्तराँ की शक्ल में बदल जाता है। पर उसे कौन समझाए ? वह चीख़ रही है, "अरे ! यह राकेश का घर है ! ये दोस्त, जिन पर उसे इतना नाज़ था, बिना खाए-पिए यहाँ से जाएँगे ! नहीं, यह नहीं हो सकता, सब खाएँगे, अभी खाएँगे, मेरे सामने खाएँगे !"

उज्ज्वला भाभी उसे समझा सकती हैं। उनके सामने राकेश भी चूँ नहीं करता था। मगर इस वक़्त वह भी चुप हैं। सुधा बेचारी रसोई से कमरे में और कमरे से रसोई में सैकड़ों चक्कर काट चुकी है। सुनीता, गायत्री, चन्द्रा जी अपने आपको जैसे-तैसे रोके हैं। सिर्फ़ अनीता का बाँध टूटा हुआ है और वह लगातार बिगड़ रही है—कभी मुझ पर, कभी जवाहर पर, कभी कमलेश्वर पर। उसने हुक्म दे दिया है, "कोई नहीं जाएगा, सब लोग मुझसे बताए बिना चले गए हैं; अब कोई नहीं जाएगा; न कमलेश्वर, न दुष्यन्त; सब मुझसे पूछकर जाएँगे।"

और मैं घूम-फिरकर राकेश के उसी कमरे में आ पड़ता हूँ। वही चीज़ें मेरी नज़रों में फिर घूमने लगती हैं—वही स्थान, वही बातें, वही व्यक्ति और उससे जुड़ी हुई अनेक यादें मन में रह-रहकर उभरने लगती हैं। यह एयरकंडीशनर ठीक उस पलंग के बाजू में लगा है, जिस पर मैं लेटा हुआ हूँ। गर्मियों में राकेश इसके बिना नहीं रह पाता था। 'सारिका' की नौकरी में उसे और जो उपलब्धि हुई सो हुई, पर यह एयरकंडीशनर—वह कहा करता था—ज़रूर एक तात्त्विक उपलब्धि है, क्योंकि गर्मी उससे बरदाश्त नहीं होती थी।

सहसा याद आती है सन् 1959 की एक बेहद गर्म शाम, जब हम दोनों अपनी-अपनी ख़ाली जेबों को कोसते हुए उसके घर जा रहे थे। गर्मी के कारण वह बुरी तरह हाँफ रहा था और जेब के कारण वह बेतरह परेशान था। मगर ठहाकों पर ठहाके लगा रहा था। मैंने पूछा, "क्यों ख़ुश हो रहा है ?"

"तुम समझते नहीं," वह बोला, "मैं ग़रीबी को ब्लफ़ कर रहा हूँ। कहीं साली यह न समझे कि मैं उसके रोब में आ गया। तू कहीं से कुछ पैसों का जुगाड़ कर सकता है ?"

और अगले दिन, शाम को जब मैं कुछ पैसों का इंतज़ाम करके उसके घर पहुँचा तब अम्मा से मालूम हुआ कि जनाब शिमला के लिए रवाना हो चुके हैं।

मुझे उस दिन बहुत गुस्सा आया था। एक तो इसलिए कि बताकर नहीं गया और दूसरे इसलिए कि मुझे लगा, जब पैसे पास नहीं हैं तो यह अय्याशी करने की क्या ज़रूरत है ?

लेकिन दरअसल यह राकेश की अदा थी और इसी पर लोग मरते भी थे। अगर उसकी जेब में अंतिम दस रुपए बचे हैं तो वह यह नहीं सोचता था कि इन्हें ख़र्च न करूँ, बल्कि यह सोचता था कि इन्हें जल्दी से जल्दी कैसे ठिकाने लगाऊँ ! वह साढ़े सात रुपए टैक्सी में ख़र्च करके ओमप्रकाश के पास पहुँचता और अपने ठेठ अमृतसरी पंजाबी लहजे में, उन्हें पुकारकर, बचे हुए पैसे उनके सामने पटक देता, "ले भाई, अब यह ढाई रुपए बचे हैं, बोल, अब क्या करना है इनका ?"

दरअसल ग़रीब होते हुए भी वह ग़रीबों की तरह रहता नहीं था। जब पैसे नहीं होते वह चारमीनार पीता था। जब कुछ पैसे होते थे तब वह फ़ोर स्क्वायर पीता रहा। और जब काफ़ी पैसे हुए तब उसने बढ़िया सिगरेटों से लेकर सिगार तक ख़ूब पिए। मैं उसकी इस आदत से परिचित था और अकसर उसे छेड़ता रहता। कभी वह कहता, "मरदों की सिगरेट तो पार्टनर, चारमीनार है।" और कभी कहता, "चारमीनार भी कोई सिगरेट है ? अरे, अपन मिडिल क्लास आदमी हैं, हमारे लिए फ़ोर स्क्वायर से बढ़िया कोई सिगरेट नहीं हो सकती।"

मगर ऊँची क़ीमत की सिगरेटों और सिगारों के बारे में उसका तर्क सबसे ज़्यादा दिलचस्प था, "देखिए, ये लोग जो समझते हैं कि हिंदी का लेखक बड़ा दीन-हीन और अभावग्रस्त प्राणी होता है, उससे मुझे सख़्त नफ़रत है। मैं इन सबको बता देना चाहता हूँ कि हिंदी लेखक अब दान का डिब्बा हाथ में लेकर घूमने वाला प्राणी नहीं है।"

दरअसल, हिंदी लेखक की इसी इमेज़ को प्रतिष्ठित करने में उसने अपने आपको एक लंबे संघर्ष में उलझा लिया, जिसमें अंततः वह कामयाब हुआ। रेडियो, व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं आदि में पारिश्रमिक के प्रश्न से लेकर, सत्ताधारी व्यक्तियों से निजी संवंधों तक, उसने बराबर हिंदी लेखक की गरिमा को नज़र में रखा और कहीं भी, कभी भी, एंसा समझौता नहीं किया जो लेखक की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल हो। नेहरू फ़ेलोशिप या फ़िल्म सेंसर वोर्ड या फ़िल्म फ़ाइनेंस कॉरपोरेशन डायरेक्टरी उसके दरवाज़े, अपने पॉवों चलकर आई थीं—वह कभी माँगने नहीं गया।

इसीलिए उसके सहसा उठ जाने पर अनीता के पास शोक-प्रस्तावों, संवेदना-पत्रों और तारों तथा टेलीफ़ोनों का एक तॉता-सा लग गया है। पत्रों में प्रधानमंत्री से लेकर राज्यों के राज्यपाल, केंद्र एवं प्रदेशों के मंत्री तथा देश के कोने-कोने से अभिनेता, निर्देशक, लेखक और साहित्यकारों के पत्र आए हैं। बंगाल से बादल सरकार ने लिखा है, 'मैं नहीं जानता कि क्या कहूँ और कैसे कहूँ ! मैं सिर्फ़ यही कह सकता हूँ कि मैं याद करता हूँ और महसूस करता हूँ।' मगर बंबई से ख़्वाजा अहमद अब्बास लिखते हैं कि 'जव वह बंबई आया था तब में उसका पीछा करते हुए बेदी जी के घर तक पहुँचा। वहॉ से पता चला कि वह कमलेश्वर के घर गया है तो मैं वहाँ पहुँचा। वहाँ पता चला कि एयरपोर्ट गया है और दिल्ली की ओर उड़ गया होगा। अब मैं सोचता हूँ कि मुझे जीवन और मृत्यु दोनों में उसका अनुगमन करना होगा।' यह अंग्रेज़ी के एक लंबे ख़त का सारांश है। पर हिंदी के मूर्धन्य नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर का पत्र सारे हिंदी लेखकों की मनोदशा का जीवंत चित्र पेश करता है।

प्रिय श्रीमती राकेश,

मेरे हाथों में उनकी नवीनतम पुस्तक है और उसमें उन्हीं के हस्ताक्षर और ये शव्द—'स्नेह, सद्भावना और प्रतिक्रिया जानने की उत्सुकता के साथ।' पुस्तक पढ़ रहा था और कुछ दिनों बाद उन्हें अपनी प्रतिक्रिया लिखता, लेकिन अब ?

आप शायद जानती होंगी कि जब से मोहन राकेश नाटक के क्षेत्र में आए तभी से मेरा-उनका सहधर्मी स्नेह का नाता जुड़ा और जो आदर और लिहाज़ मुझे उनसे मिला वह मेरे लिए गौरव का विषय रहा। निजी तौर से यह मेरे लिए वैसी ही क्षति है जैसी मेरे छोटे भाई के असामयिक देहांत पर मैंने महसूस की थी।

आपकी सांत्वना के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। इतना विश्वास रखें कि हज़ारों के भग्न हृदय आज आपके लिए प्रार्थना करेंगे।

आपका
जगदीशचन्द्र माथुर

माथुर साहब के हाथ का लिखा हुआ यह पत्र और हज़ारों ऐसे और पत्र अनीता को भले ही सांत्वना न दे पाएँ, पर यह अहसास ज़रूर कराते हैं कि वह एक ऐसे परिवार के बीच है, जो हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ है।

मैं ज़्यादा गहराई में जाकर नहीं सोच पा रहा हूँ। लेकिन फिर भी रह-रहकर एक प्रश्न मेरी चेतना से टकराता है कि राकेश के व्यक्तित्व और कृतित्व में वह कौन-सा तत्त्व है, जो उसे समसामयिक लेखन के बीच इतना समर्थ, इतना सार्थक, इतना विराट और इतना विशिष्ट बनाए है। और इसका जवाब अनायास बातचीत में ओमप्रकाश दे देते हैं, "राकेश के लेखन की ख़ूबी यह है कि उसकी दृष्टि पूरी तरह भारतीय है। और उसकी आधुनिकता पश्चिम की नक़ल नहीं है।"

वाक़ई राकेश ने आधुनिकता को भारतीय परिप्रेक्ष्य में समझा था। उसने इसके लिए चुस्त मोहरी की पतलूनें नहीं पहनीं, व्यवस्था को गालियाँ नहीं दीं, परंपरा को वक़्त-बेवक़्त कोसने का काम नहीं किया, बल्कि चली आती हुई परंपरा को कहीं मोड़कर, कहीं तोड़कर और कहीं बदलकर अपने और समय के अनुरूप बना लिया। उसके आदर्श विदेशी लेखक नहीं रहे। उसने फ़ैशन के तौर पर भी विदेशी मान्यताएँ नहीं ओढ़ीं। उसकी अपनी मान्यताएँ सहज जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप थीं और उनके मामले में वह किसी किस्म की दखलंदाज़ी बरदाश्त नहीं करता था।

उसके पिता कट्टर धार्मिक व्यक्ति थे और उसके घर में गोश्त तो दूर, प्याज़ तक का प्रवेश वर्जित था। पर राकेश की ज़िंदगी में इन बातों की कोई गुंजाइश नहीं थी। यहाँ तक कि अम्मा की असुविधा के वावजूद उसने अपनी मान्यताओं के मामले में उनसे कोई समझौता नहीं किया। अम्मा अपने बुढ़ापे में उसके हिसाब से ढल गईं, लेकिन वह अपनी जगह टस से मस नहीं हुआ। अलबत्ता एक बार, और शायद पहली और अंतिम बार, अम्मा के मरने पर उसने रूढ़ियों के आगे माथा टेका। अपने हाथ से ज़मीन पर गोबर लीपा, दीये जलाए और वह सब किया तो अम्मा को अच्छा लगता था।

अनीता ठीक कहती है कि वह दूसरों की सुविधा का बहुत ख़याल रखते थे, मगर अपनी सुविधा की क़ीमत पर नहीं। इसीलिए वह बस की क्यू में खड़े नहीं हुए। बस तो क्या, वह कभी जीवन की क्यू में भी खड़ा नहीं हुआ। बड़ी-बड़ी उपाधियों और नौकरियों की क्यू में सबसे आगे वाली जगह उसके लिए ख़ाली पड़ी रही, लेकिन उसमें

इतना स्वाभिमान था कि यह कहना मुश्किल है कि उसके उतावलेपन और स्वाभिमान में कौन-सी चीज़ ज़्यादा थी। मुझे लगता है, शायद उतावलापन अधिक था। इसी के कारण वह कई बार वाक-आउट कर जाता था और कई बार लोग उसे ग़लत भी समझ लेते थे। और तो और, अज्ञेय जी की गोष्ठी शुरू होने से पहले ही वह एक बार इसलिए उठकर चला आया था कि वह आधा घंटा लेट हो गए थे। राकेश वक़्त का पाबंद था। और किसी दिए हुए वक़्त पर लेट पहुँचना उसकी आदत में नहीं था। बस, एक बार उसने अनीता से जनपथ पर ज़रूर लंबा इंतज़ार कराया था, पर तब उसकी घड़ी एक घंटा सुस्त थी। आज मुझे हैरत होती है कि वह इतनी जल्दी कैसे चला गया ? ज़रूर इस बार उसकी घड़ी तेज़ हो गई होगी, वरना इतने सारे कामों को छोड़कर वह यों न चल देता !

(24-12-1972, 'सा० हिंदुस्तान' में प्रकाशित)

सत्यनारायण बाबू : एक व्यक्तित्व

सत्यनारायण बाबू के व्यक्तित्व का आकलन उतना ही कठिन है जितना भारतीय अध्यात्म का विश्लेषण। उनके व्यक्तित्व के अनेक कोण और आयाम हैं, उनकी प्रतिभा के विविध रंग हैं और उनकी उपलब्धियाँ इतनी अक्षय और अकूत हैं कि उन्हें एक छोटे से लेख में समेटा नहीं जा सकता। अकसर लोगों ने अपनी सुप्रथानुसार सत्यनारायण बाबू को 'देश का वरिष्ठ राजनीतिज्ञ' या 'साहित्य मर्मज्ञ', 'नेहरू युग का अंतिम महापुरुष' कहकर याद किया है। लेकिन मेरी कठिनाई यह है कि उन्हें कुछ निकट से जानता हूँ और मुझे ये सारे विशेषण सच होते हुए भी आधे और अधूरे लगते हैं।

अगर एक ही शब्द में उनके व्यक्तित्व को बाँधना हो तो मैं उन्हें 'सांस्कृतिक संत' की संज्ञा देना चाहूँगा। कारण यह है कि संस्कृति ही एकमात्र वह विराट आगर है जिसमें साहित्य, कला, शिल्प और राजनीति आदि विविध धाराओं का समागम होता है और संत ही एकमात्र ऐसा शब्द है जिसमें व्यक्ति की ऊर्ध्वमुखी चेतना और विकास को उसकी सारी गरिमा के साथ वहन करने की सामर्थ्य है।

सत्यनारायण बाबू यदि सिर्फ़ एक राजनीतिक व्यक्ति होते तो बिहार में स्वतंत्रता के लिए की गई उनकी क़ुर्बानियों और उसके बाद तेईस वर्षों तक केंद्र में मंत्री के रूप में उनकी निष्कलंक सेवाओं को ध्यान में रखते हुए, उनका चरित्र-चित्रण करने में किसी को कठिनाई न होती। लेकिन कठिनाई यहाँ होती है कि सत्यनारायण बाबू मात्र एक राजनीतिज्ञ नहीं हैं। वे एक इतिहास-पुरुष हैं और यह एक विचित्र संयोग है कि जहाँ कहीं भी वे रहे हैं, इतिहास के केंद्रबिंदु बनकर रहे हैं। उन्होंने न सिर्फ़ इतिहास रचा है बल्कि वे स्वयं इतिहास बन गए हैं और उनके जीवन के एक-एक मोड़ से इतिहास प्रभावित हुआ है।

भारत में महान् व्यक्तियों का मूल्यांकन अकसर उनके मरने के बाद होता है और सामने बैठे हुए लोग, जो इतिहास को दिशा दे रहे हैं, अकसर अज्ञात या ओझल रह जाते हैं। सत्यनारायण बाबू के मामले में भी यह बात सौ फ़ीसदी सच है। यद्यपि मान्यता या प्रतिष्ठा उन्हें बहुत मिली। यहाँ तक कि भारतीय राजनीति में कोई भी व्यक्ति इतने लंबे अरसे तक कैबिनेट स्तर का मंत्री नहीं रहा। कोई भी राजनीतिज्ञ, काजल की कोठरी जैसी सत्ता की राजनीति से इतना बेदाग़ नहीं निकलता और कोई भी

नेता इतने सारे गुटों में इतना लोकप्रिय और विश्वसनीय नहीं समझा गया। परंतु इसी राजनीति के झमेले में सत्यनारायण बाबू के उस वास्तविक व्यक्तित्व का मूल्यांकन नहीं हो पाया जो शोषित ओर उत्पीड़ित मानवता का पक्षधर है, न्याय और सच्चाई का समर्थक है, प्रेम और बंधुत्व का सगा सहचर है और अन्याय, भ्रष्टाचार और शोषण का शत्रु है। यह सहज, उदार, करुणामय और दयार्द्र व्यक्तित्व ही बाबूजी का वास्तविक व्यक्तित्व है।

संपूर्ण मनुष्य : कृतज्ञ, करुण और स्नेहशील

मैंने अनेक बार अनेक मानवीय प्रसंगों में सत्यनारायण बाबू को छलछलावर होते हुए देखा है। जिस दिन चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की मृत्यु का समाचार उन्हें मिला, उस दिन संयोगवश मैं उनसे मिलने के लिए गया था। मेंने देखा, वे भावना के वशीभूत हो बार-बार राजाजी का प्रसंग छेड़ते थे और बार-बार स्नेह के आवेग से उनका कंठ अवरुद्ध और ऑखें अश्रुपूरित हो जाती थीं।

यों तो बाबूजी ने व्यक्तिगत संबंधों को हमेशा पार्टी और राजनीति से ऊपर रखा हे, परंतु राजाजी से आत्मीयता का एक कारण और भी था। जब केंद्र में पहला मंत्रिमंडल बना और उसमें पदों का वितरण हुआ तो सत्यनारायण बाबू के लिए उपमंत्री का पद निर्मित किया गया। सत्यनारायण बाबू उन दिनों लंदन गए हुए थे। लौटने पर जब उन्हें यह समाचार मिला तो उन्होंने इस पद को अस्वीकार करते हुए एक पत्र नेहरू जी को इस आशय का लिखा कि मैंने किसी पद के लिए आज़ादी की लड़ाई नहीं लड़ी थी और मेरी लड़ाई या क़ुर्बानी को अगर इस पद से तौला जा रहा है तो यह मेरे साथ सरासर अन्याय है। जब बाबूजी का यह पत्र नेहरू जी ने सबके सामने विचारार्थ रखा तो राजाजी सबसे पहले आदमी थे जिन्होंने अंग्रेज़ी में बड़े ज़ोरदार ढंग से कहा, "सत्यनारायण की क़ुर्बानी किसी भी मायने में मुझसे या तुमसे कम नहीं है, जिसके हम या तुम हक़दार हो सकते हैं।" बाद में सरदार पटेल आदि नेताओं ने भी इसका समर्थन किया और सत्यनारायण बाबू को कैबिनेट स्तर का मंत्री-पद दिया गया। पर यह बात सत्यनारायण बाबू के मन में गहरे घर कर गई कि राजाजी में सही बात को सही समय पर कहने का साहस है। और इस सामान्य-सी बात को बाबूजी एक ऋण की तरह साभार अपने मन में सहेजे रहे। पर राजाजी की मृत्यु का समाचार सुनते ही उनके धैर्य का बाँध टूट गया और राजाजी के व्यक्तित्व की और उनके स्वभाव की स्मृति से उनका संवेदनशील हृदय भर आया।

सत्यनारायण बाबू एक पारदर्शी इंसान हैं। वे सहज ही इतने बड़े हैं कि उनमें लघुता, दुराव-छिपाव या दर्प रत्ती-भर नहीं है। जो आदमी बच्चों की तरह दूसरों के दुःख में रो

सकता है, वही करुणा-पुरुष, काल-पुरुष या कला-पुरुष हो सकता है। सत्यनारायण बाबू की आँखों में सदैव वह तरलता तैरती रहती है जो अध्यात्म, कला या मानवीय महिमा से मंडित व्यक्तियों में ही पाई जाती है।

यों वे देवता नहीं, हाड़-मांस के इंसान हैं और इंसानों की कुछ कमज़ोरियाँ उनमें हैं। पर वे इसीलिए हैं कि उनमें ढोंग या पाखंड नहीं। इसके विपरीत उनमें ग़ज़ब का नैतिक साहस है कि वे अपनी कमज़ोरियों को सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर सकें और उन्हें निभा सकें। जैसे अपने संपर्क के व्यक्तियों और कर्मचारियों के प्रति उनमें अगाध ममत्व है और वे लोग उनकी इस कमज़ोरी को पहचानंते हैं इसलिए घटिया किस्म की कोई कमज़ोरी उनमें नहीं है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। बाबूजी के अभिनंदन ग्रंथों की जाने कितनी योजनाएँ कितने लोगों ने बनाई पर उन्होंने इन अभिनंदन ग्रंथों या अभिनंदन समारोहों के आयोजकों को हतोत्साहित कर दिया। एक बात और कि स्वभावतः सत्यनारायण बाबू किसी का ऋण नहीं रखते। इसे उनकी कमज़ोरी समझिए या राजपूती संस्कार कि कोई उन पर ज़रा-सा उपकार कर दे तो वे उससे दुगना उपकार करके तुरंत मुक्त होने की कोशिश करते हैं। पर यदि किसी का उपकार चुकता नहीं हो पाता तो बाबूजी उसे ऋण की तरह स्वीकार करते हुए हमेशा कृतज्ञ और आभारी बने रहते हैं।

बाबूजी के मानस की सहजता और आत्मीयता की हद यह है कि यदि उनके संपर्क का छोटे से छोटा आदमी भी उन्हें कुछ समय तक दिखाई न दे तो वे स्वतः उसके बारे में पूछताछ करते हैं कि कहीं उसकी तबीयत खराब तो नहीं ? पिछले दिनों मैं डेढ़-दो महीने के लिए घर चला गया तो उन्होंने मेरे विभागाध्यक्ष से पूछा, "दुष्यन्त कहाँ है ? वह बहुत दिनों से दिखाई नहीं दिया।" इसी प्रकार कई बार जब पत्रकारों की भीड़ उन्हें घेर लेती है तब भी उनकी पैनी दृष्टि से यह छिपता नहीं कि कौन-सा पत्रकार आज अनुपस्थित है और वे उसी के बारे में पूछते हैं, "आज हरदैनिया दिखाई नहीं दे रहे या आज साखी कहाँ हैं ?" मगर इसके पीछे मात्र दृष्टि का पैनापन ही नहीं, संबंधों की सघनता भी है। इसलिए हर खेमे और हर गुट का पत्रकार हर दल और हर राजनीति का अनुगामी उनके पास आता है और अभिभूत, प्रभावित या संतुष्ट होकर लौटता है। उनके मन में किसी के प्रति वैमनस्य नहीं, लेकिन लगाव सबके प्रति है। मुझे कभी-कभी लगता है, वे इस युग के भीष्म पितामह हैं जो सत्ता की शरशय्या पर पड़े हुए भ्रष्टाचार का महाभारत देखने के लिए अभिशप्त हैं। कभी वे मंत्रियों को डाँटते हैं, कभी विधायकों को और कभी अफ़सरों को कि उन्होंने यह कैसा वातावरण बना रखा है ?

दरअसल बाबूजी दुर्भावना से नहीं, भावना से कार्य करते हैं। मनुष्य मात्र के लिए करुणा का अजस्र स्रोत उनके मन में उमड़ता रहता है और वे अपने संपर्क में आने वाली हर स्थिति, स्थान या व्यक्ति को अपरिमित स्नेह देते हैं।

कला एवं साहित्यानुरागी मानस

बातचीत में संस्कृत के श्लोकों और भक्तिकालीन कवियों विशेषतः तुलसीदास की चोपाइयों के उदाहरण देना बाबूजी की अपनी शैली है। उनकी स्मरण-शक्ति अद्‌भुत और विलक्षण है। जिन लोगों ने उन्हें तुलसीदास पर बोलते सुना है, वे उनकी साहित्यिक सूझबूझ का लोहा माने बिना नहीं रह सकते।

बहुत पहले की बात है—जब बाबूजी केंद्र में मंत्री थे तो वे वाराणसी में तुलसी पुस्तकालय की रजत जयंती के अवसर पर रामचरितमानस पर आयोजित पंडितों की एक विराट सभा में उद्‌घाटन के लिए बुलाए गए। इस पर काशी के विद्वानों में इस बात को लेकर काफ़ी टीका-टिप्पणी भी हुई कि उन्हें केवल मंत्री होने के नाते निमंत्रित किया गया है। परंतु जब वे बोलने के लिए खड़े हुए तो पॉच ही मिनट बाद सारी सभा मत्रमुग्ध हो गई और फिर सबने निस्तब्ध होकर उनका भाषण सुना। भाषण की समाप्ति के बाद लोगों के विशेष अनुरोध पर वे आधा घंटा और बोले। उनका भाषण ख़त्म होने पर काशी के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने नतमस्तक होकर बाबूजी को साधुवाद दिया ओर भाषण की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा, "मैं आपके बारे में बड़े भ्रम में था। आपने न केवल मेरा भ्रम दूर किया बल्कि इस आयोजन की भी लाज रख ली।"

एक दिन मै बाबूजी के पास बैठा था कि बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू के सदस्य एवं वरिष्ठ आई०ए०एस० अधिकारी श्री गोरेलाल शुक्ल उनके पास मिलने के लिए आए और उन्हे मानस चतुश्शती समारोह की प्रगति और अवरोधों से अवगत कराया। उसी दिन बाबूजी को किसी ने बताया था कि मध्य प्रदेश का एक युवा आई०ए०एस० अधिकारी आधुनिकता के नाम पर तुलसीदास की आलोचना करता है और रामचरितमानस को घटिया काव्य कहता फिरता है। अतः उस प्रसग के याद आते ही उन्होंने शुक्ल जी से कहा, "इस तरह के साहित्यिक गुंडे हर देश और हर युग में हुए हैं। बर्नार्ड शॉ का प्रसिद्ध नाटक 'माइ फ़ेयर लेडी' चार वर्ष तक लंदन में बड़ी धूमधाम से खेला गया। व्यवस्थापको और मित्रों के आग्रह पर एक दिन शॉ भी नाटक देखने जा पहुँचे। दर्शकों को मालूम हुआ कि शॉ भी हमारे बीच हैं तो वहॉ उल्लास का उन्माद छा गया। आख़िर शॉ को स्टेज पर जाकर दो शब्द बोलने के लिए विवश होना पड़ा। स्टेज पर अपने प्रिय लेखक को देखकर जनता ख़ुशी से पागल होकर कूदने और उछलने लगी। मगर एक सिरफिरा, जो शॉ से द्वेष भाव रखता था, उन्हे चिढ़ाने और हूट करने लगा। तब शॉ ने उसे संबोधित करके कहा, "महोदय, मैं आपसे सहमत हूँ। पर बताइए, इतने प्रबल बहुमत का मैं क्या करूँ ?" इस घटना के द्वारा बाबूजी ने बड़ी बारीक़ी से शुक्ल जी को समझा दिया कि लोगों की टीका-टिप्पणी से विचलित न हों और अपने काम में लगे रहें।

इस संदर्भ में मुझे एक और घटना याद आती है। एक दिन भाषा विभाग के संचालक

डॉ० शुकदेव दुबे और मैं बाबूजी से मिलने के लिए राजभवन गए। बातचीत के सिलसिले में दुबे जी के मुँह से निकला, "बाबूजी, तुलसीदास के साहित्य का आपका गहरा अध्ययन है, पर ऐसा लगता है कि बिहारी और सूर से आप नाराज़ हैं।" इस पर बाबूजी ने दो घंटे तक बिहारी और सूर की वह मार्मिक व्याख्या की और उनके इतने पद और दोहे सुनाए कि शुकदेव दुबे, जिन्होंने रीतिकाल पर डॉक्टरेट ली है, बाद में मुझसे बोले, "बाबूजी की रीतिकाल में ग़ज़ब की पैठ है। मैं उनके ज्ञान और स्मरण-शक्ति को देखकर चकित रह गया और उनके सामने अपने आपको बौना महसूस करता रहा।"

कुछ ऐसी ही बात मुझसे एक विद्वान कुलपति ने भी कही थी कि बाबूजी के सामने पहुँचकर मैं इतना बौना अनुभव करता हूँ जैसे उन्होंने मेरा आधा सुख सोख लिया हो। डॉ० दुबे और कुलपति का उल्लेख मैंने इसलिए भी किया कि इससे उनका विद्वानों, कलाकारों और लेखकों के प्रति अनुराग सिद्ध होता है। वस्तुतः साहित्यकारों, शिक्षाशास्त्रियों, शिल्पियों और संगीतज्ञों के बीच बाबूजी को अपार सुख मिलता है। जैसा कि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त मज़ाक़ में कहा करते थे, बाबूजी का मूल व्यक्तित्व इन्हीं कलाकारों का है, राजनीतिज्ञों में नहीं। परिस्थितियों ने उन्हें राजनेता बना दिया वरना वे ज़रूर लेखक या संगीतज्ञ होते। वे कलाकारों से जितनी जल्दी तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं उससे कभी-कभी लगता है कि वे शायद इन लोगों में अपने व्यक्तित्व की एक और पहचान खोजने की कोशिश करते हैं।

बेगम अख़्तर पिछली बार जब भोपाल आईं तो राजभवन में ही उनका कार्यक्रम हुआ। कार्यक्रम के बाद बाबूजी ने उन्हें चंदेरी की एक साड़ी भेंट की। पर इस भेंट के पीछे मात्र कुछ रुपयों की भेंट का दंभ नहीं बल्कि एक कलाकार को सम्मान देने का बोध था। बाबूजी ने मध्य प्रदेश के राज्यपाल की हैसियत से इस बोध की व्यापकता प्रदान की है। और राज्यपाल के नाते यह उनका कला-प्रेम ही है कि आज प्रदेश में कला-संस्कृति और साहित्य अपेक्षाकृत बहुत बेहतर स्थिति में है। कलाकार इस बात को जानते हैं कि उनके अधिकारों का हनन नहीं किया जा सकता क्योंकि राजभवन के दरवाज़े उनके लिए सदैव खुले हैं।

राजनीति की कीचड़ में उजले पाँव

कृतज्ञता को शास्त्रों में संपूर्ण मनुष्य का लक्षण माना गया है, परंतु राजनीति में कृतज्ञता और वफ़ादारी सामयिक मूल्य है। राजनीतिज्ञ अपने नेता के प्रति तभी तक वफ़ादार रहता है जब तक उसका सितारा चमकता रहता है। उसके डूबते ही वह किसी और उगते हुए सूरज की तलाश करने लगता है।

सत्यनारायण बाबू ने अपने राजनीतिक जीवन में कभी ऐसी करवटें नहीं बदलीं।

राजेन्द्र बाबू, नेहरू जी और सरदार पटेल से उनके जो संबंध थे, वे उन्होंने आखिर तक निभाए। उनकी कोशिश हमेशा यह रही कि इन लोगों के पारस्परिक मतभेद बढ़ने न पाएँ। इसके लिए उन्होंने जो प्रयत्न किए उनको इतिहास भुला नहीं सकता। अगर सत्यनारायण बाबू मध्यस्थता न करते तो एक ऐसी स्थिति आ गई थी कि नेहरू और पटेल त्यागपत्र देकर मंत्रिमंडल से हट जाते और देश अपनी आज़ादी के बाल्यकाल में ही इन दो महान् नेताओं का संरक्षण खोकर अनाथ हो जाता।

सत्यनारायण बाबू ने नेहरू जी के प्रधानमंत्रित्व काल में भी कभी सरदार पटेल का विश्वास नहीं खोया। अकसर लोग उन्हें सरदार का मित्र और साथी मानते थे। जब सरदार और नेहरू जी के मतभेद बढ़े तो बहुत-से लोग प्रधानमंत्री को प्रसन्न करने के लिए उनकी तरफ़ आ गए। पर बाबूजी की वही भूमिका रही जो थी और इसी कारण वे उन दोनों के बीच एक सेतु का काम कर सके।

यह कोई मामूली बात नहीं है कि आदमी सत्ता के सामने संबंधों की बलि दे दे, अवसरों के नाम पर मैत्री को क़ुर्बान कर दे। सत्यनारायण बाबू ने जीवन-भर अपने संबंधों को निभाया और सत्ता में रहते हुए भी सत्ता को कभी मनुष्य और मनुष्यता से बड़ा नहीं माना। यही कारण है कि संगठन कांग्रेस से लेकर समाजवादी पार्टी तक हर दल में उनके प्रशंसकों की संख्या सबसे अधिक है जो सिद्धांततः कांग्रेस की नीतियों के विरोधी होते हुए भी शक्ति रूप में सत्यनारायण बाबू के बड़े भक्त हैं।

मुझे एक लोहियावादी नेता का एक ऐसा पत्र देखने का सुयोग प्राप्त हुआ जिसमें उन्होंने बाबूजी को विदेह की संज्ञा दी है और भक्ति भाव से उनकी स्तुति की है।

अभी देश के मान्य सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण भोपाल आए थे। उन्होंने चर्चा के दौरान बाबूजी से सहमत आश्रम में नवनिर्मित ब्रजकिशोर भवन का उद्घाटन करने का अनुरोध करते हुए कहा, "आपको चलना ही पड़ेगा, क्योंकि देश में आप ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो राजेन्द्र बाबू, ब्रजकिशोर प्रसाद और मौलाना मज़रूल हक़ के समान रूप से सहयोगी और मित्र रहे हैं। आपके अलावा आपसे वरिष्ठ दूसरा कोई व्यक्ति मुझे नज़र नहीं आता।" और बाबूजी जयप्रकाश जी का यह अनुरोध टाल नहीं सके। उन्हें स्वीकृति देनी ही पड़ी।

इन प्रसंगों का उल्लेख मैंने केवल एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से उनके वैयक्तिक पक्ष को उजागर करने के लिए किया है। अगर उनकी राजनीतिक या प्रशासकीय उपलब्धियों का लेखा-जोखा करने बैठा जाए तो वह एक दीर्घ और दुष्कर कार्य होगा।

पर एक बात उसमें भी उल्लेखनीय है कि बाबूजी ने प्रशासन में भी मानवीयता का पक्ष हमेशा ऊपर रखा है। अभी भोपाल के अंतरराज्यीय महिला हॉकी मैचों में भोपाल के लड़कों ने कुछ लड़कियों के साथ छेड़छाड़ करने की कोशिश की। जब यह

बात बाबूजी को मालूम हुई तो उन्होंने पुलिस के एक वरिष्ठ अधिकारी को बुरी तरह फटकारा और कई बार मुख्यमंत्री को बुलाने के लिए फ़ोन द्वारा यह पता लगवाने को कहा कि वे दिल्ली से लौटे या नहीं ? इस छोटी-सी घटना से घंटों उनका मूड ऐसा ख़राब रहा जैसे उनके अपने लड़कों ने किसी लड़की को छेड़ दिया हो। वे स्वयं लज्जित और अपमानित महसूस करते रहे और बार-बार कहते रहे, "बताइए, वे लड़कियाँ भोपाल की सभ्यता के बारे में कितनी ख़राब राय लेकर जाएँगी। हम भी कभी लड़के थे। पर ऐसा तो कभी नहीं हुआ।"

दरअसल यहाँ चिंता उनकी महानता का प्रमाण है। इस पर से देखा जाए तो यह एक प्रशासनिक मुद्दा है और ज़्यादा से ज़्यादा पुलिस महानिरीक्षक या गृहमंत्री को इस पर ध्यान देना चाहिए। पर जहॉ तक मेरी जानकारी है, गृहमंत्री को इस घटना की ख़बर भी उस समय लगी जब पुलिस महानिरीक्षक को बाबूजी ने इस तरह की घटना की पुनरावृत्ति न होने देने के लिए सचेत कर दिया था।

दरअसल बाबूजी राज्यपाल की हैसियत से अपने आपको प्रदेश से काटकर नहीं देख पाते। जन-कल्याण, प्रशासनिक स्थिरता और नैतिक मूल्यों का विकास उनकी सतत चिंता के विषय हैं। उनकी दृष्टि में आज सारे संकटों के बीच नैतिक संकट एक बहुत बड़ा संकट है, इसीलिए वे इस मामले में बहुत संवेदनशील हैं। कहा जाता है कि बाबूजी ने श्यामाचरण शुक्ल को इसीलिए हटवाया कि उनके कार्यकाल में नैतिक मूल्यों की उपेक्षा कुछ ज़्यादा बढ़ गई थी और जन-सामान्य में प्रशासन की अधिक छवि बिगड़ रही थी। सेठी जी को उन्मुक्त समर्थन देने के पीछे भी सबसे प्रमुख कारण यही है कि बाबूजी ईमानदारी से यह महसूस करते और कहते हैं कि सेठी जी नैतिक रूप से श्रेष्ठ व्यक्ति हैं और सामाजिक या राजनीतिक भ्रष्टाचार से परे हैं। कौन नहीं जानता कि पिछले भूचाल में सेठी सरकार को स्थिर रखने में सत्यनारायण बाबू की कितनी ज़बरदस्त भूमिका रही है।

देश की सक्रिय राजनीति से अलग होने के बावजूद उलझे और पेचीदा मामलों में अभी भी प्रधानमंत्री उनकी सलाह लेती हैं। हाल ही में उत्तर प्रदेश की राजनीति में उन्होंने जिस ख़ूबसूरती से राज्य के आंतरिक विवादों से श्री बहुगुणा को खींचकर मुख्यमंत्री के पद पर ला बिठाया और अंतिम क्षणों में पं० कमलापति त्रिपाठी को केंद्र में आने पर सहमत कर लिया, वह उन्हीं का बूता था, वरना त्रिपाठी जी का नाम मुख्यमंत्री-पद के लिए लगभग घोषित हो चुका था।

आज वे मध्य प्रदेश के राज्यपाल हैं पर उन राज्यपालों में से नहीं हैं जो मुख्यमंत्री की कठपुतली बनकर प्रदेशों के राजभवनों में आते हैं। वे संविधान के प्रति प्रतिश्रुत हैं और उसी की सीमा में अपने अधिकारों और दायित्वों को समझते हैं। यह मध्य प्रदेश

का सौभाग्य है कि उसे एक ऐसा राज्यपाल मिला है जो इस युग का महानतम राजनीतिज्ञ ही नहीं बल्कि देश का महानतम व्यक्ति भी है। उर्दू के महाकवि ने ठीक ही कहा है—

हज़ारों साल बुलबुल
अपनी बेनूरी पे रोती है,
बड़ी मुश्किल से होता है
चमन में दीदावर पैदा।

(रचनाकाल 1972-73, भोपाल)

अफ़वाहों के बीच वहीदा रहमान और फ़रीद उर्फ़ अहसान

जब मेरे बच्चों ने मुझे बताया कि वहीदा रहमान की शादी फ़रीद अहमद सिद्दीकी से तय हो गई है, तो मैं एक क्षण के लिए भी नही चौंका। लेकिन जब यह मालूम हुआ कि यह फ़रीद साहब और कोई नहीं, बल्कि मेरे पुराने दोस्त अहसान मियॉ ही हैं तो मेरे चेहरे पर आश्चर्य की भंगिमाएँ दुगनी हो गई।

मैं जानता हूँ कि उनचालीस वर्ष की इस उम्र तक अहसान सिर्फ वहीदा रहमान के इंतज़ार में नहीं रहे। इस बीच एक से एक अच्छे पैग़ाम और एक से एक उम्दा रिश्ते उनके लिए आए, मगर वे टालते गए। दो-एक रिश्ते तो ऐसे नवाबी घरानों के थे और इतने माक़ूल लोगों की मार्फ़त आए थे कि लगा अब शादी तय ही हो जाँएगी। मगर स्वभाव से घुमक्कड़ और मिज़ाज से शिकारी, अहसान, हमेशा किसी न किसी बहाने की आड़ लेकर बचते रहे। ज़्यादा ज़ोर पड़ा तो विदेश भाग गए। थोड़ी फुरसत हुई तो वनों में चले गए। और वहॉ भी किसी ने जा पकडा तो वही विनम्र मुद्रा ओर वही पुराना तर्क—"मैं तो भाई लकडहारा हूॅ। बहुत छोटा-सा आदमी। शिकार खेलता ओर खाता हूॅ। आपको मुझसे कहीं बेहतर लड़के मिल जाएँगे।"

मगर इस बार फ़ॉरेस्ट-कॉन्ट्रेक्टर फ़रीद साहब उर्फ़ अहसान मियॉ मुकर नहीं सके। बीच में थे गफ़ूर साहब, एडीशनल चीफ़ सेक्रेटरी, महाराष्ट्र और किदवई साहब, सेक्रेटरी, सूचना प्रसारण, भारत सरकार। अहसान साहब इन दोनों साहबान के इतने अहसानमंद और मुरीद हैं और इस कदर इज़्ज़त करते हैं कि अगर वे वहीदा की बजाय किसी हमीदा से शादी करने का प्रस्ताव रखते, तो भी उनकी हिम्मत चूॅ करने की नहीं हो सकती थी।

जब मैंने टेलीफ़ोन पर उनसे कहा, "फ़िल्मी तारिका से शादी करनी थी तो वह इंतज़ाम भी हो जाता। इतने दिनों तक दोस्तों को झॉसा क्यो देते रहे ?" तो अहसान मियॉ ने बड़े दयनीय स्वर में कहा, "यार, तुम सब जानते तो हो। फिर वहीदा बहुत अच्छी लड़की है।"

अहसान ने ठीक ही कहा कि वहीदा बहुत अच्छी लड़की है। मगर सोचता हूँ कि अहसान के पिता हाफ़िज़ अहमद हसन साहब आज ज़िंदा होते तो क्या यह रिश्ता हो

सकता था ? मेरा ख़याल है—नहीं। और हालाँकि सारी दोस्ती के बावजूद अहसान ने यह बात मुझसे छिपाई है, पर मैं जानता हूँ कि अहसान की माँ अभी भी इस रिश्ते के पक्ष में नहीं थीं। इसलिए अहसान ने अपने भाइयों और पाकिस्तान-स्थित दोस्तों की मार्फ़त माॅ पर लगातार यह दबाव डाला कि अगर उन्होंने मंज़ूरी नहीं दी तो अहसान ज़िंदगी-भर कुँवारे रहेंगे। तब कहीं जाकर उन्होंने सहमति दी और पाकिस्तान से शादी में आने का आश्वासन भी। इसीलिए शायद यह मामला अब तक टलता आया है।

अभी अंग्रेज़ी 'ब्लिट्ज़' और कुछ और हिंदी-उर्दू के अख़बारों में इस मुद्दे को लेकर कुछ विवादपूर्ण बातें छपी हैं कि यह शादी होगी या नहीं ? किसी पत्रकार ने जब इस बारे में अहसान मियाँ से पूछा तो उन्होंने कहा, "ज़रूर होगी। क्यों नहीं होगी ? अगर नहीं हुई तो मैं फिर वनों में जाकर बंदूकों से खेलने लगूँगा।"

शिकार अहसान का पहला शौक़ है। काले तीतर का लालच देकर आप उन्हें नजीबाबाद से हज़ार मील दूर ले जाइए। दूसरा शौक़ है—शराब और वह भी स्कॉच, पीने का नहीं, पिलाने का। संक्षेप में उन्हें पैसा फूँककर दोस्त बनाने का शौक़ है। उदाहरण के लिए, अभी मुझे दिल्ली से अपने गाँव नवादा जाना था—जो नजीबाबाद से छह मील है और एक-दो मील कच्चे का रास्ता है। अहसान मियाॅ ने पहले तो रमेश जी के घर से मेरा सामान उठाया और फिर नजीबाबाद पहुँचकर जब जीप स्टार्ट नहीं हुई तो अपनी नई फिएट की चाबी मेरे हाथ में देते हुए बोले, "इसे ही ले जाओ यार ! जीप कोई सवारी है ! ये गाडी कच्चे में फ़र्स्ट क्लास चलती है।" ओर लाख मना करने के बावजूद मुझे फिएट लेकर ही गाॅव जाना पड़ा।

ऐसे फक्कड़ और खुशमिज़ाज आदमी आम तौर पर पारदर्शी होते हैं। अहसान भी अपवाद नहीं हैं। उनका व्यक्तित्व खुली किताब की तरह है। आप देखते ही समझ जाएॅगे कि यह किस क़दर प्यारा और साफ़दिल आदमी है और जो आपकी नज़रों से छुपा रह जाएगा, उसे वह खुद बता देगा।

छिपाने के लिए उनके पास कुछ है ही नहीं। अपने बारे में बड़े से बड़ा स्कैंडल, वह बड़े मज़े से रस ले-लेकर सुनाते हैं। कई साल पहले की बात है। एक अमेरिकन लड़की ने एस०डी०एम० नजीबाबाद की अदालत मे उनके ख़िलाफ़ एक मुकदमा दायर किया। उन्हीं दिनों इत्तिफ़ाक़ से मैं गाॅव गया हुआ था और एक दिन अहसान से मिलने भी गया। छूटते ही उन्होंने कहा, "यार, सुना तुमने ? वह अमेरिकन छोकरी थी न, जिसके बारे में मैंने तुम्हें बताया था, उसने मुझ पर दावा ठोक दिया है कि उसकी नाजायज़ संतान (लड़की) का पिता मैं हूँ।" और फिर सदा होंठों से लगे रहने वाले सिगार को हाथ में थामकर एक ज़ोरदार ठहाका लगाते हुए पूछा, "कहो, कैसी रही ?"

मैंने जलकर कहा, "यह तुम्हारी बेवकूफ़ी की इंतिहा है।"

मुझे गुस्से में देखकर उन्होंने उस लड़की का एक ख़त मेरे सामने रखा जिसमें उसने अपने गर्भवती होने और उस गर्भ के लिए अपने किसी अमेरिकी दोस्त को (जो अहसान का भी दोस्त था) ज़िम्मेदार ठहराने की क़सम खाई थी। लिहाज़ा मैंने कहा, "अभी केस दायर ही हुआ है। तुम इस ख़त को पेश कर दो, तो मामला यहीं रफ़ा-दफ़ा हो जाएगा। वह तुमसे कुछ पैसा-वैसा हड़पना चाहती है।"

"वाह मियाँ, वाह !" अहसान साहब सिगार का एक लंबा कश खींचकर अपनी हरी-नीली आँखों में मुस्कराते हुए बोले, "ऐसे कैसे ख़त्म कर दूँ ! आने तो दो ज़ालिम को। शायद वह इलज़ाम अबकी बार सच साबित हो जाए, जो उसने लगाया है।"

यह मस्ती और कहीं-कहीं बड़बोलापन अहसान के मिज़ाज में है। मगर मैं जानता हूँ कि लड़की को देखकर उसकी रूह काँपती है। सारी दुनिया का कई बार चक्कर लगाने के बाद भी मुश्किल से उनकी तीन-चार लड़कियों से दोस्ती हुई और वह भी दोस्ती से आगे न जा सकी।

"इधर पढ़ने में आया है कि उनकी दो शादियाँ पहले ही हो चुकी हैं। ख़ुदा जाने ये बीवियाँ उन्होंने कहाँ छिपाकर रखीं और इन शादियों में कौन शरीक हुआ ? मगर मैं और मुझ जैसे उनके और हमउम्र दोस्त, जो अहसान को बचपन से जानते हैं, इस समाचार से चकित ज़रूर हैं। जब मेंने व्यक्तिगत रूप से इस बात की छानबीन की कि यह अफ़वाह उड़ी तो उड़ी कैसे ? तो मेरे छोटे भाई के समान डॉ० सुभाष मिश्र ने अपने प्रोफ़ेसरी लहजे में फ़रमाया, "भैया, ये फ़िल्म वालों का अपना शिगूफ़ा है। मैं अभी बंबई गया था। वहाँ दसियों लोगों से मिला और इस नतीजे पर पहुँचा कि वहीदा की बड़ी बहन सईदा नहीं चाहती कि वहीदा की कभी शादी हो और सोने का अंडा देने वाली मुर्गी घर से चली जाए। उनके तीन बच्चे हैं और वे खुद तलाक़शुदा हैं। लोग कहते हैं कि उन्हें अपना भविष्य अँधेरा नज़र आया तो उन्होंने नासिर मियाँ और जौहर की मदद से एक नया शिगूफ़ा छोड़ दिया कि अहसान मियाँ शादीशुदा हैं और वे इस बात की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करने और मुतमइन होने के बाद ही शादी करेंगी।"

"इसमें हर्ज ही क्या है ?" मैंने कहा, "वे मुतमइन हो लें। आख़िर लड़की दे रही हैं तो सोच-समझकर देंगी।"

"आप भी कमाल करते हैं।" डॉ० सुभाप ने हैरतअंगेज़ नज़रों से मेरी तरफ़ देखते हुए कहा, "आपने ही तो बताया था कि उन्होंने शादी से पहले गुप्तचर विभाग के डी०एस०पी० श्री यूसुफ़ को जाँच-पड़ताल के लिए नजीबाबाद भेजा था और उससे भी पहले मेरठ का कोई सईद नामक धनवान सक्का फ़रीद की हैसियत की जाँच-पड़ताल कर गया था। कहा था न ?"

"कहा होगा—पर उन्हें और जाँच कर लेने देने में क्या हर्ज है ?" मैंने उसे छेड़ते

हुए पूछा।

"हर्ज सिर्फ़ ये है कि यह जाँच कभी पूरी नहीं होगी।" डॉ० सुभाष ने एक लंबी साँस छोड़कर कहा, "मैं तो इसलिए आपको समझाने की कोशिश कर रहा हूँ कि आप फ़रीद साहब के दोस्त हैं, वरना हो तो ठीक, न हो तो ठीक। अपने को क्या लेना ? पर आप समझते ही नहीं। आज फ़िल्मी दुनिया में यह आम चर्चा है कि यह जाँच तब तक चलती रहेगी जब तक वहीदा की उम्र पैंतालीस साल की नहीं हो जाती। फिर न पैग़ाम आएँगे, न दूल्हे। यह अध्याय बंद हो जाएगा। वहीदा भी घर में बनी रहेंगी और सईदा का भी ख़र्च चलता रहेगा। इस शादी पर मैं एक हज़ार रुपए की शर्त लगा सकता हूँ।"

डॉ० सुभाष मिश्र जैसे दसियों लोग मुझे और मिले जो इस शादी को लेकर खामखाह बहसों और शर्तो में उलझे हुए हैं। वे न अहसान को जानते हैं, न वहीदा को, पर बातें इस विश्वास से करते हैं कि जेसे सीधे उन्हीं से मिलकर चले आ रहे हों।

कुछ ही दिनों पहले एक साहब ने फ़रमाया था, "शादी इसलिए नहीं होगी कि वहीदा को मालूम हो गया है कि अहसान साहब शादी उससे नहीं बल्कि उसकी दौलत से कर रहे हें। सईदा ने 'ब्लिट्ज़' को अपने बयान में साफ़ बता दिया है कि यह अगर प्रेम-विवाह होता तो उन्हें कोई एतराज़ न होता, मगर चूँकि यह अरेंज्ड मैरिज है, लिहाज़ा उनकी ज़िम्मेदारी है, और वे इसे नहीं होने देंगी। आप खुद अख़बारों में देखेगे।"

इस क़िस्म की चर्चाएँ सुनकर मेरा माथा ठनका ओर मैंने अहसान को लिखा कि वह पैसे की बात को जड़ से ख़त्म कर दें। साफ़ कह दें कि मुझे लड़की चाहिए, पैसा नही। वैसे किसी दूल्हे को ऐसी सलाह देना उसके निजी मामलों में हस्तक्षेप भी है। पर चूँकि ताऊजी मरहूम बानी अहसान के पिता मेरे स्व० पिताजी के मित्र थे और अहसान मेरे मित्र हैं इसलिए मेंने यह हिम्मत की। दूसरा कारण यह भी था कि मैं जानता हूँ कि अहसान पैसे का लालची नहीं, दुश्मन है। फिर भी पैसा उसके पीछे भागता है और वह चाहे तो कई एक्टर-एक्ट्रेसों को मय उनकी दौलत के खरीद सकता है। साथ ही वह इतना जज़्बाती है कि वहीदा पर जो लाखों रुपए का इनकम टैक्स बकाया है, उसे अपने पास से भर सकता है। मुझे टाइम्स ऑफ़ इंडिया की मार्फत खोजकर एक बहुत सीनियर राजनेता ने दिल्ली में सिर्फ़ यह कहने के लिए अपने पास बुलाया कि अहसान वहीदा के चक्कर में तीस-चालीस हज़ार रुपया गँवा/लुटा चुका है और लाखों रुपए का बिज़नेस खो चुका है। उसे समझाया जाए कि वह इस हरक़त से बाज़ आ जाए।

अहसान के घरवालों, चंद दोस्तों और कुछ रिश्तेदारों को ख़ुशी होगी अगर यह रिश्ता टूट जाए। अभी भी अहसान पर बहुत दबाव पड़ रहा है। लोग कहते हैं, वहीदा की माँ के ख़ून-ख़ानदान का कुछ पता नहीं। कुछ लोग गुरुदत्त, राजकपूर और देव

आनन्द के साथ उसके पुराने स्कैंडलों की क़तरनें अहसान को भेजते हैं। कुछ लोग वहीदा को गालियाँ लिखकर गुमनाम पत्र अहसान को भेजते हैं। पर अहसान सिर्फ़ एक बात कहते हैं कि यह सब बकवास है। मैं उसे अपनी नज़रों से देखता हूँ। वो एक नेक और प्यारी लड़की है। मैं अगर शादी करूँगा तो सिर्फ़ उसी से।

अगर यह रिश्ता टूटा तो अहसान को ज़रूर दुःख होगा, इसलिए कि वह शरीफ़ और सहृदय व्यक्ति है जो सिर्फ़ प्यार करता है। छल-कपट और सियासत उसमें नहीं है। वह पैसा ख़र्च करता, कमाता और दोस्त बनाता है। उसके दोस्तों में ज़्यादातर विदेशों के राजदूत, कमिश्नर, सेक्रेटरी या बड़े-बड़े मंत्री और बिज़नेस मैगनेट हैं। उसकी मॅगनी का सामान ले जाने वालों में उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध उद्योगपति साहू सुरेशचन्द्र, 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' के मैनेजर श्री रमेशचन्द्र जैन और महाराष्ट्र के तत्कालीन सेल्स टैक्स कमिश्नर गफ़ूर मियाँ इत्यादि थे। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार के सचिव श्री किदवई तो उसके बुज़ुर्ग हैं ही।

इसलिए महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि रिश्ता टूटता है या नहीं, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसे कौन तोड़ता है और क्यों ? यह देखना है कि अहसान अपने नैतिकतावादी दोस्तों या परिवार वालों के दबाव से झुककर इसे तोड़ेंगे या वहीदा अपनी बहन और तथाकथित हितैषियों के षड्यंत्र से घबराकर इसे ख़त्म करेंगी ? अभी तो दोनों के बीच मधुर संबंध हैं और दिल्ली और बंबई के टेलीफ़ोन ऑपरेटर मज़े के साथ वहीदा और फ़रीद की बातचीत सुनते और मुस्कराते हैं। आइए, दुआ करें कि यह जोड़ी षड्यंत्रों का शिकार न हो।

(रचनाकाल : 1973-74)

मोती भवन

मैं मोती भवन के गेस्ट हाउस में ठहरा हुआ हूँ। हैदराबाद आने का बाईस साल पुराना स्वप्न अब साकार हुआ है। लेकिन इस आकार से जो तस्वीर बनती है—वह इतनी करुणोत्पादक और दयार्द्र है कि मैं सिहर उठता हूँ।

बदरीविशाल से बहुत दिनों बाद ख़तो-किताबत का सिलसिला शुरू हुआ—ग़ज़लों के माध्यम से। उनके शब्दों में, मैं निवर्तमान कवि से वर्तमान कवि हुआ और उन्होंने कभी हेदराबाद आइए न, लिखकर एक बहुत पुरानी ख़्वाहिश को फिर हवा दे दी। मैंने जवाब दिया कि आप जब भी सच्चे मन से बुलाएँगे, मैं चला आऊँगा। इसी बीच एक संयोग बन गया। उनकी बेटी उषा का विवाह 23 मई को निश्चित हुआ और उन्होंने लिखा कि 18 तक आ जाइए···हो सकता है कि शादी में कुछ काम आपको करना पड़े। मैंने तत्काल स्वीकृति भेज दी कि मैं 22 मई को पहुँच रहा हूँ और बाद में गोकि शादी जून के लिए स्थगित हो गई लेकिन उनके आग्रह और अपनी भावना के वशीभूत मैंने 22 तारीख़ की रात्रि के ठीक आठ बजे हैदराबाद हवाई अड्डे से उन्हें टेलीफ़ोन किया कि मैं हाजिर हूँ। अध्यात्म त्रिपाठी नाम के सोशलिस्ट कार्यकर्ता और समीक्षक मुझे लेने के लिए पहुँचे और ठीक पौने नौ बजे के क़रीब जब मैंने मोती भवन की इमारत में प्रवेश किया तो अब तक मैं तीन चीज़ों के लिए तरस रहा था—एक गिलास ठंडा पानी, एक प्याला गरम चाय या थोड़ी बीयर या व्हिस्की और स्नान नहीं तो कम से कम मुँह-हाथ धोने के लिए ज़रा-सी तनहाई। लेकिन गेस्ट हाउस के जिस कमरे में मुझे ठहराया गया था वह श्री अध्यात्म त्रिपाठी का दफ़्तर था। वहाँ रैकों में संसदीय डिबेट के वॉल्यूम्स रखे हुए थे और मेज़ पर 'पार्लियामेंट में लोहिया' नामक पांडुलिपि के काग़ज़। मेरा सूटकेस राजनीतिक भीड़ में एक संकोची साहित्यकार की तरह एक तरफ़ पड़ा रहा। वराबर के कमरे में नीचे के दरवाज़े से त्रिपाठी जी के चंचल और होनहार बच्चे मेरी देख-रेख और सेवा-सुश्रूषा करते रहे। श्री त्रिपाठी व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए सुविधाएँ जुटाने का बंदोबस्त करते रहे। बहुत देर तक वे नौकरों को ढूँढ़ते रहे और नौकर उनसे बचते रहे। एक लुकाछिपी-सा खेल बराबर चलता रहा···मैं एक विवश दर्शक-सा बना यह नामुराद खेल देखता रहा···देखता रहा···मेरी तनहाई पाने की तड़प जितनी बढ़ती गई···उतना ही श्री त्रिपाठी का प्रेम उमड़ता गया। इस ऊहापोह में दो घंटे गुज़र गए—

हम लोग ऊपर छत पर आ पड़े। तब तक श्री बदरीविशाल का कहीं पता नहीं था। आख़िर मैंने झल्लाकर त्रिपाठी जी से कहा, "आप क्या समझते हैं, मैं यहाँ नौकरी माँगने के लिए आया हूँ···या मैं 'कल्पना' में अपनी कविताएँ छपाने के लिए एक हज़ार रुपए ख़र्च करके आया हूँ···?"

त्रिपाठी जी मेरे प्रश्न को समझे नहीं, बोले, "इसलिए तो नहीं आए ?"

"फिर किसलिए आया हूँ ?" मैंने पूछा और ख़ुद ही जवाब दिया, "मैं एक दोस्त के निमंत्रण पर एक दोस्त से मिलने के लिए इतनी दूर चलकर आया हूँ···वह दोस्त कहाँ है ?"

अनुत्तरता के इसी वातावरण में हम खाना खाने के लिए चले···परंतु सीढ़ियाँ उतर रहे थे कि बदरीविशाल सीढ़ियाँ चढ़ते नज़र आए। तेरह साल बाद उनसे मुलाक़ात हुई। वे जी भरकर गले मिले। सारी बातें याद हो आईं, कैसे-कैसे सपने कल्पना से जुड़े थे ···सन् बावन-तिरपन की कल्पना का वह नशा। बदरीविशाल के इलाहाबाद के दौरे ···हम लोगों की घंटों-घंटों की बैठकें···गरमागरम बहसें···कल्पना में छपने-छपाने, उसे बनाने और उठाने का उत्साह ! और हम सबके साथ जुड़ा हुआ बदरीविशाल का सहज, स्नेहशील, जुझारू गत्याकांक्षी युवा व्यक्तित्व !

मैंने बदरीविशाल की ओर देखा, उन्होंने उम्र को जैसे एक मरकज़ पर रोक लिया है···अब से तेईस साल पहले जब हम लोग मिले थे, उनकी प्रवृत्ति मोटापे की ओर थी। मैं सोच रहा था, बदरीविशाल की तोंद लटक आई होगी। लेकिन उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। वैसा ही स्मार्ट, ताज़ा और गतिवान व्यक्तित्व ! मैंने कहा कि "बदरी भाई ! कमाल है, आपने उम्र को एक मरकज़ पर रोक रखा है।" कुछ हँसी, कुछ क़हक़हे ···और फिर खाने की मेज़ पर जा बैठे।

एकदम सादा, बिना तकल्लुफ़ का खाना। बेतकल्लुफ़ी के साथ कहूँ तो एकदम मामूली खाना ! मगर बदरीविशाल के प्यार में वह सब चलता रहा। बदरीविशाल हैदराबाद के करोड़पति लोगों में गिने जाते हैं···उनके सामने यह कहना तो ज़्यादती होगी कि मुझे यहाँ असुविधा हो रही है।···लेकिन मैंने दूसरे शब्दों में कहा, "बदरीविशाल, मुझे होटल में ठहर जाने की इजाज़त दीजिए। दरअसल मुझे किसी के घर ठहरने की आदत नहीं। मुझे थोड़ा एकांत चाहिए···और मुझे बड़ी दिक़्क़त होती है क्योंकि मैं इस आत्मा को चाहे कितने कष्ट दे लूँ पर इस शरीर को बड़े प्यार से रखता हूँ···" फिर लगे हाथों मैंने कहा, "आपके श्री अध्यात्म त्रिपाठी आदमी तो बड़े अच्छे हैं···लेकिन मैं इनके साथ रह नहीं पाऊँगा। मैं दरअसल जिस आदमी को पसंद नहीं करता, उसके साथ रह नहीं पाता।"

मगर बदरीविशाल ने मेरी एक दलील नहीं सुनी, कहा, "ऐसा कैसे हो सकता है ?

"'आप जो सुविधा चाहेंगे, आपको यहाँ दी जाएगी। आप अलग कमरा चाहते हैं'" आपको कमरा दिया जाएगा। मगर आप होटल में नहीं रहेंगे।"

मैं जानता था कि मैं कुछ भी बोलता तो वह फ़रमाइश पूरी होती। लेकिन मैं यह कैसे कहता कि आपका गेस्ट हाउस एक घुड़साल से भी गया-बीता है। उसमें न कोई सुरुचि है, न सफ़ाई, न चाय-पानी का प्रबंध है, न सर्विस नौकरों की। आज मैं यह कहना चाहता हूँ कि आदमी अपने बेडरूम से नहीं, अपने गेस्ट हाउस से जाना जाता है। होंगे आपके यहाँ कूलर, एयरकंडीशनर, मगर आपका गेस्ट हाउस ओवन की तरह तपता है।

यों ये बातें कितनी सच मगर कितनी हलकी हैं और ये बात ऐसे आदमी से कहना कितना मुश्किल है जिसे आप जानते हैं कि वह सचमुच नेक और दोस्तनवाज़ इंसान है और ट्रेड यूनियनों के या पार्टी के काम में अकसर तपती दोपहरियों को बिना पंखे के झेलता है। फिर ये गेस्ट हाउस, ये गंदा बाथरूम, दूसरा ये अनफ़र्निश्ड और अव्यवस्थित रूप और इसकी ये बेहद साज-सज्जा सिर्फ़ मेरे लिए ही नहीं, उन सभी मेहमानों के लिए है जो यहाँ ठहरते हैं। फिर बदरीविशाल मुझे जानते न हों तो शिकायत भी करूँ। उन्होंने तो पच्चीस साल पहले का मेरा वह रंग भी देखा है जब मैं बीस रुपए के दो कमरों के एक ऐसे मकान में रहता था जहाँ सिर उठाते ही छत से टकराता था। ऐसी हालत में मेरा कुछ कहना बड़बोलापन या दंभ माना जा सकता है'''झूठी अफ़सरी या झूठी विलासिता का मोह समझा जा सकता है ! फिर मैं ये ख़तरे क्यों उठाऊँ ?

बमुश्किल तमाम मैं इस मानसिक द्वंद्व से उबरा। सुबह-सुबह दसियों बार नौकरों की मिन्नत और ख़ुशामद करने के बावजूद जब मुझे बेड टी नहीं मिली तो मैंने मजबूरन मोती भवन के सामने तिराहे पर एक बहुत छोटी-सी दुकान में जाकर दो प्याले नमकीन चाय पी। सुबह नौ बजे के क़रीब बदरीविशाल का नौकर नाश्ते में डबलरोटी के दसियों भुने हुए सूखे टुकड़े जब मेरे सामने रख गया तो अवस्था की दुर्दशा पर मेरी आँखों में आँसू भर आए। मैंने इस नाश्ते की कल्पना भी नहीं की थी। उसी समय उनके मुख्य द्वार पर त्रिपाठी जी से कोई बिल पास कराने आया और एक दूसरा नौकर दो चाबियाँ बनवाने का भुगतान लेने आया। (दो चाबियाँ बनवाने के पाँच रुपए) मेरी समझ में नहीं आया कि मैं हँसूँ कि रोऊँ ? मैंने एक नौकर को बहुत ज़ोर से डाँटा'''और झल्लाकर बाथरूम में घुस गया। जहाँ एक टेबल पर रखे मीठे और नमकीन के काग़ज़ को सैकड़ों चींटियाँ घेरे हुए हैं। काग़ज़ पर ढेर-सी खाद्य-सामग्री रखी थी।

और आज सुबह उठते ही मैंने देखा कि गेस्ट हाउस के बाईं ओर पशुओं के शेड में खड़ी गाएँ रो रही हैं। उनकी कोखें पिचकी हुई हैं और वे लगातार उस ओर देख रही हैं जिस तरफ़ से चारा डालने वाला नौकर उनके लिए दाना-घास डालने आता होगा। घंटों इस प्रतीक्षा में गुज़र जाते हैं। मैं ख़ुद चाय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। आख़िर झुँझलाकर

त्रिपाठी जी से कहता हूँ, "पंडित जी ! इस गोवध को रोकने की व्यवस्था नहीं हो सकती ?"

पंडित जी यानी त्रिपाठी जी मेरी बात के उत्तर में नौकरों के निकम्मेपन का रोना ले बैठते हैं। बताते हैं कि इस कोठी में बीसियों नौकर हैं, लेकिन सबके सब कामचोर हैं। देखते ही मुँह छिपाने लगते हैं। अब इनकी शिकायत करूँ तो इनकी रोज़ी जाए। शिकायत न करूँ तो ये सुनते नहीं। बताइए, क्या करूँ ?"

मुझे कामचोर लोगों के प्रति यह करुणा अच्छी नहीं लगती। मगर मैं कुछ नहीं करता। मैं जानता हूँ कि मुझे बदरीविशाल जी से खुद बात करनी पड़ेगी। उन्हें बताना पड़ेगा कि इससे ज़्यादा अच्छी व्यवस्था सिर्फ़ पाँच नौकरों द्वारा संभव है। मैं पंडित जी को राजा साहब कुचेसर के महल की व्यवस्था का विवरण देता हूँ तो वे मुझे इन नौकरों की पारंपरिक अकर्मण्यता का क़िस्सा सुनाने लगते हैं।

मोती भवन के इतने बड़े अहाते में न कोई फूलों की क्यारी है, न घास की हरियाली के दिलकश मंज़र। चारों तरफ़ एक उजाड़, नीरसता और बेरुख़ी-सी है। यों तो कुछ नए-नए अंकुरों और पौधों को देखकर ऐसा लगता ज़रूर है कि कोई बच्चा अब फूलों में दिलचस्पी लेने लगा है। कोई भावुक हृदय फूलों और पौधों से बातें करने के लिए छटपटाने लगा है। मैं सोचता हूँ, कला, साहित्य और संस्कृति में इतनी गहरी रुचि और सूझबूझ रखने वाला संवेदनशील बदरीविशाल अब तक कहाँ था ?

मैं ज़रा और गहराई में टटोलने की कोशिश करता हूँ तो पता चलता है कि बदरीविशाल को दौरे पड़ते हैं। कभी संस्कृति का, कभी व्यवसाय का, कभी साहित्य का और कभी व्यवसायी का। व्यवसाय के दौरे में तो वे ग्रीन टुबैको जैसी विराट कंपनी खड़ी करके उसे थोड़े दिनों बाद बेच देते हैं और साहित्य के दौरे में वे कल्पना की अनियमितता को नियमित रूप देने लगते हैं या साहित्यिक मित्रों से पत्राचार करने में जुट जाते हैं। आजकल बागबानी के दौरे में उन्होंने इन फूलों पर दस हज़ार रुपए फूँक दिए हैं और आगे फूँके जाने की संभावना है।

हो सकता है, सितंबर यानी तीन-चार महीने में यहाँ एक अच्छा बगीचा तैयार हो जाए। लेकिन दौरा ख़त्म होते ही ये बाग़ फिर वीरान हो जाएगा। जैसे ये गाएँ कभी बहुत मोटी-ताज़ी थीं और आज देखभाल न होने के कारण सूखती जा रही हैं। वैसे ही ये पौधे पानी की एक-एक बूँद को तरसा करेंगे।

लोग कहते हैं, इस घर का लाखों रुपए प्रतिवर्ष का ख़र्च है। लेकिन मैं देखता हूँ कि मेरी इच्छा से मुझे यहाँ एक प्याला चाय नहीं मिल सकी। इत्तिफ़ाक़ से ग्यारह बजे के क़रीब ओमप्रकाश निर्मल और आनन्दी सहाय शुक्ल मेरे पास आ बैठते हैं। मैं त्रिपाठी से कहता हूँ—नौकर से कहता हूँ, पर मैं उन्हें चाय नहीं दिला पाता। दरअसल

मैं ख़ुद पीना चाहता था, उसी तरह जैसे रात के खाने के बाद मैं एक डली गुड़, एक फाँक आम या एक टुकड़ा मिठाई खाने की इच्छा रखता हूँ। वर्षों की आदत होने पर भी वह पूरी नहीं होती।

किसी कुटिया में रहकर ज़रूरतों को मारना कितना आसान है, लेकिन किसी राजभवन में भूखा रहना कितना कष्टप्रद है—इसका एहसास मुझे यहीं हुआ। आनन्दी सहाय शुक्ल बार-बार मज़ाक़ करते गए। घड़ी की सुइयाँ धीरे-धीरे एक से तीन तक आ पहुँचीं और मेरी भूख बढ़ती गई। मैंने जानबूझकर नहाने का प्रोग्राम स्थगित कर दिया क्योंकि मैं जानता था कि नहाने के बाद खाने के लिए मुझे फिर होटल की तरफ़ भागना पड़ेगा। परसों नहाया तो भूख लगी और मैं एक कार लेकर हैदराबाद के एक छोटे-से किंतु ख़ूबसूरत बार में जा बैठा था। बदरी भाई ने समझा, मुझे मुर्गी खाने और शराब पीने का शौक़ है—मैंने प्रतिवाद नहीं किया।

लेकिन जब मैं देखता हूँ कि सत्तर पैसे की चाबी यहाँ पाँच रुपए में बनती है और हर आदमी पैसे को यहाँ फूँकने की फ़िराक़ में है तो मैं चाहता हूँ कि मुझे उस व्यक्ति को, जिसे अपना दोस्त समझता हूँ, यह सारा व्यूह समझाऊँ। उसे बतलाऊँ कि उसके नौकर आज लखपति हो गए हैं और पैसे की छाया में खड़े होकर तुम्हें उस धूप का अंदाज़ा नहीं हो रहा है जो तुम अपनी संतान के लिए इकट्ठा कर रहे हो।

कहते हैं कि उनके पास इतनी संपत्ति है कि चार-छह पीढ़ियाँ बेचकर खाना चाहें तो भी इसी शानो-शौक़त से गुज़ार सकती हैं। लेकिन परजीवी की तरह जीना भला कोई ज़िंदगी है। अपने गट्टों की कमाई का जो सुख होता है, वह बाप-दादों की संपत्ति बेच-बेचकर खाने में हो सकता है ?

मेरे लिए यह महत्त्वपूर्ण वात नहीं है कि मुझे आज किससे क्या मिला और न यह महत्त्वपूर्ण बात है कि नौकर वार-बार कहने के बाद भी एक गिलास ठंडा पानी नहीं देते। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक ऐसी ज़बरदस्त स्वार्थपरता, अव्यवस्था, अराजकता इस छोटे-से दायरे में पनप रही है जो मेरे मित्र के लिए घातक है। मुझे डर है कि जो काग़ज़ पचास साल बाद मेज़ से ख़त्म होते वे कहीं दस साल में न चुक जाएँ, बदरीविशाल जैसे लोहियावादी. प्रगतिशील एवं संस्कारी मनुष्य को कहीं आदमियत के इतने टुकड़े देखने को न मिलें कि बह अपने आप पर हैरान हो जाए।

मैं फिर बाथरूम में जाता हूँ और देखता हूँ कि अभी तो काग़ज़ पर चीज़ें रखी हैं, चींटियाँ उसे खींच नहीं पा रही हैं, लेकिन कल जब ये काग़ज़ हो जाएँगी तो ज़रूर मेज़ से नीचे गिर पड़ेगा और चींटियाँ इसे बिलों तक खींच ले जाएँगी। चींटियों का धर्म है कि वे गुड़ पर लपकें, हमारा काम है कि हम अपने को सुरक्षित रखें। काश, मोती भवन में यह व्यवस्था होती।

(रचनाकाल : 1974-75)

मनोज : एक दिलकश 'आम आदमी'

"साहब ! आपके पाँव में क्या हो गया ?" डाँग साहब ने सवाल किया, जो नई दिल्ली के ओबेराय इंटरकॉन्टिनेंटल होटल में मनोज कुमार से मिलकर अभिभूत हो उठे थे। डाँग साहब यों तो एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट का धंधा करते हैं पर कभी फ़िल्मी अभिनेता बनने की तमन्ना उनके दिल में थी, जो दिल में ही रह गई और अब एक फ़िल्म बनाकर उसे पूरी करने की सोच रहे हैं।

मनोज के पैर में फ्रैक्चर हो गया था और वे बेंत के सहारे चलने-फिरने लगे थे। डाँग साहब ने अपना सवाल फिर दुहराया तो मनोज ने बड़ी शरारत-भरी बेबसी से मेरी तरफ़ देखा।

"क्या बताएँ साहब, क्या हो गया है ! कोई कहने लायक़ बात हो तो कही जाए।" फिर मैंने मनोज की तरफ़ इशारा करके चेहरे पर बेबसी फैलाते हुए कहा, "हजरत दिनदहाड़े अपनी महबूबा के कमरे में जा पहुँचे। घर में उसके बाप और भाई वग़ैरह सब मौजूद थे। उन्होंने ललकारा तो खिड़की से कूदकर भागे और पाँव तोड़ लिया।"

डाँग साहब के मुँह से संवेदना की एक उफ़ निकली ही थी कि मनोज कुमार ने मुझे ललकारकर कहा, "ऐसे बोल रहे हो जैसे तुम्हारी हमशीरा (बहन) लगती हो वो ?"

मैंने भी उसी तेवर में जवाब दिया, "मेरी न सही, किसी की तो लगती होगी। तुम्हें क्या हक़ था कि उसके घर में जा घुसो ? फिर इतने बड़े स्टार होकर छोरियों के कमरों में खिड़कियाँ कूदते हुए शर्म आनी चाहिए !"

इश्क : काँटों की सेज

"जो शर्म करते हैं, वे इश्क नहीं करते जनाब ! इश्क का रास्ता काँटों पर से गुज़रता है। क्यों साहब ?" मनोज ने बड़ी भावुकता के साथ डाँग साहब की तरफ़ देखकर कहा और डाँग साहब फ़ौरन फ़्लैट हो गए। बड़ी तकलीफ़ से उन्होंने मेरी तरफ़ एक डायलॉग फेंका, "देखिए त्यागी जी ! मनोज साहब ने बिलकुल सही फ़रमाया है। आप तो शायर हैं। किसी शायर ने ही तो कहा है, 'इश्क किया तो डरना क्या ?' फिर बताइए, इसमें मनोज साहब की क्या ग़लती है ?" और डाँग साहब के कहने पर मैंने मान लिया कि ग़लती मनोज कुमार की नहीं, मेरी है, क्योंकि मुझे उनके साथ उनकी कार से गेस्ट हाउस तक लौटना था।

मगर ये सौ फ़ीसदी झूठे संवाद किसी पूर्व नियोजित साँठ-गाँठ का परिणाम नहीं थे। हाँ, मनोज से पहली ही मुलाक़ात में एक ऐसा स्पष्ट समझौता ज़रूर हो गया था कि इन संवादों की नौबत आ पहुँची थी।

मैं पंडित श्यामाचरण शुक्ल से मिलने सूचना प्रसारण मंत्री श्री विद्याचरण शुक्ल के बँगले पर गया हुआ था कि मुझे विट्ठल भाई पटेल का फ़ोन मिला, "फ़ौरन ओबेराय में चले आओ, मनोज कुमार भी मेरे साथ आए हुए हैं।"

मनोज का नाम उन्होंने भले मुझे आकृष्ट करने के लिए लिया हो, लेकिन मैं जानता हूँ और मेरे दोस्त होने के नाते वे भी जानते होंगे कि मेरी फ़िल्म कलाकारों से मिलने में कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं होती। कलाकारों को परदे पर देखकर दो-तीन घंटे काटना और बात है, मगर उनके सामने बैठकर उनकी बातें सुनना मेरे लिए भारी पड़ता है। मगर विट्ठल भाई चूँकि मनोज के साथ आए ही नहीं थे, साथ ठहरे हुए भी थे; इसलिए मैं साढ़े दस बजे के क़रीब पूरी तरह तैयार होकर उनसे मिलने के लिए चल दिया। मेरा ख़याल था कि मनोज कुमार से दस-पाँच औपचारिक बातें—मौसम, फ़िल्म इंडस्ट्री और कुछ नई फ़िल्मों के बारे में होंगी और फिर विट्ठल भाई से मिलकर मैं घंटे-दो घंटे में लौट आऊँगा। लगे हाथों शाम को उन्हें रमेशचन्द्र जी के यहाँ निमंत्रित कर लूँगा जिनका कि मैं खुद मेहमान था।

मगर मनोज से मिलकर मेरे सारे अनुमान ग़लत साबित हुए। सुबह से रात के नौ बजे तक मुझे वहीं रुकना पड़ा और हम लोगों ने कला और फ़िल्म से लगाकर साहित्य, राजनीति, देश और समाज तक सारे विषयों पर ढेर-सी बातें कीं और उन बातों में सबसे पहले औपचारिकता को उसी ने तोड़ा। उसके एक पाँव में चोट थी और वह बेंत के सहारे टहल रहा था। मैंने पूछा, "ये क्या हुआ आपके पाँव में ?"

"यह मत पूछो।" उसने बड़ी संजीदगी से कहा।

"क्यों ?"

"इसलिए कि शर्म आती है।" मनोज ने एक फ़िल्मी मुस्कराहट फेंकी और बोला, "अरे यार, किसी हीरोइन के यहाँ जाते, उसका भाई या कोई विलेन आ जाता और वहाँ से सिर पर पाँव रखकर भागते, कोई एक्सीडेंट होता और उसमें पाँव की हड्डी टूटती तो मज़ा आता। यहाँ तो साला कुछ भी नहीं हुआ। सुबह-सुबह उठे। नौकर को आवाज़ देने के लिए नीचे उतर रहे थे कि सीढ़ियों से पाँव फिसला। फ्रैक्चर ! अब बोलो ! है न शर्म की बात ?"

"बेशक डूब मरने की बात है !" हम दोनों ने एक ज़ोरदार ठहाका लगाया और दोस्त हो गए।

बेईमानी जानने वाला ईमानदार

दरअसल मनोज में मुझे एक बहुत सुलझा हुआ, संजीदा और व्यावहारिक नौजवान मिला, जिसमें न तो दिखावे हैं, न अभिनेताओं वाले लटके-झटके। वह एक ईमानदार आदमी है गोकि बेईमानी जानता है। जैसे वह बुनियादी तौर पर एक शरीफ़ इंसान है, मगर ज़रूरत पड़ने पर बदमाश भी हो सकता है। वह जानता है कि आज के समाज में ज़िंदा रहने के लिए आदर्शों की बैसाखियों से काम नहीं चलता। उसे मालूम है कि ज़मीन ठोस और खुरदरी है, ऊबड़-खाबड़ और ऊँची-नीची है और इसे हमवार बनाने के लिए मेहनत करनी पड़ती है।

उसने पहली बार मुझसे हाथ मिलाया तो मैंने उसकी तरफ़ देखा। उसकी आँखों में खुलूस, शफ़क़त और शराफ़त थी और उसके सख़्त मर्दाना हाथ की गिरफ़्त गर्मजोशी का सुबूत दे रही थी। थोड़ी देर की बातों के बाद ही मुझे कहना पड़ा, "मानता हूँ दोस्त कि फ़िल्म इंडस्ट्री में पढ़े-लिखे लोग भी होते हैं।"

उसने तत्काल व्यंग्य की धार महसूस की और तुर्की-ब-तुर्की जवाब दिया, "क्यों ? जब साहित्य के क्षेत्र में जाहिल मिल सकते हैं तो फ़िल्म में···"

और बात पूरी होने से पहले ही हम दोनों ने फिर एक ज़ोरदार ठहाका लगाया। एक बार फिर उसने स्टाइल से बाँह घुमाकर मज़बूती से हाथ मिलाया। और एक बार फिर मुझे अपनी कलाई और उँगलियों की गिरफ़्त सख़्त करनी पड़ी। मुझे वह मर्दानगी अच्छी लगी। मैंने कहा, "जाट का हाथ लगता है।"

"जाट ही हूँ," उसने बड़ी सहजता से कहा।

"मुझे लिज़लिज़े और मुर्दा हाथ पसंद नहीं आते," मैंने कहा, "ऐसा लगता है जैसे किसी ने मरा हुआ चूहा हाथ में धर दिया हो।"

"मुझे भी," उसने सिर हिलाया और टहलने लगा।

शे'र की बारीकियाँ

ओबेराय होटल के बहुत आरामदेह स्कैंडेनेवियन स्वीट में वह ठहरा हुआ था। एक बहुत बड़ा ड्राइंगरूम, जिसमें दोनों सिरों पर दो छोटी बैठकों के लिए सोफ़े लगे थे। क़ीमती क़ालीन। उम्दा परदे और बाहर दूर-दूर तक नज़र आती हुई दिल्ली की वर्षामय हरियाली। दूसरी तरफ़ बेडरूम। बीच में बाथरूम और सामान इत्यादि रखने की जगह। वह एक क़ीमती स्वीट था।

मनोज को शायद डॉक्टर ने सलाह दी थी कि हड्डी अपनी जगह बैठ गई है, अब आप घूम-फिरकर पाँव को रवाँ कीजिए। इसलिए वह कभी बातचीत करता, कभी लेटकर पढ़ने लगता और कभी उठकर टहलने लगता। पहली ही मुलाक़ात में जब हम

लॉबी से लिफ़्ट द्वारा ऊपर आ रहे थे तो उसने कहा था, "हाँ, वह क्या शे'र है तुम्हारा कि तुम किसी रेल की तरह हो और मैं पुल की तरह ! है न ?"

तू किसी रेल-सी गुज़रती है,
मैं किसी पुल-सा थरथराता हूँ

मैंने पूरा शे'र सुनाया और देखा कि वह शे'र की बारीकियों में खो गया है।

मैंने देखा, उसमें बड़बोलापन नहीं है। न साहित्य को लेकर, न कला को लेकर। न वह बहुत ज़्यादा इंटेलैक्चुअल होने का सुबूत देता है क्योंकि वह जानता है कि इन स्यूडो-इंटेलैक्चुअल का एक वर्ग हम लोगों के बीच सामान्य जन की विरक्ति का पात्र है। इसलिए वह सामान्य बना रहना चाहता है, कम से कम चिंतन या सोच के स्तर पर और एक सामान्य आदमी के रूप में वह बेहद दिलकश और प्यारा इंसान है।

ख़ूबसूरत वह है, लेकिन मुझे उसकी ख़ूबसूरती से ज़्यादा उसकी सादगी पसंद है, उसकी व्यावहारिकता पसंद है और उसकी सूझबूझ का मैं कायल हूँ, जो सीधे आम आदमी को उससे जोड़ती है।

आप देखिए, मनोज ने 'उपकार' बनाई, 'पूरब-पश्चिम', 'शोर' तथा 'रोटी कपड़ा और मकान' बनाई और वे सारी की सारी समस्या-प्रधान फ़िल्में थी। ये समस्याएँ सीधे हमारी राष्ट्रीय और सास्कृतिक समस्याओं से जुड़ती हैं। इनमें से एक सांस्कृतिक दृष्टिकोण ओर राष्ट्रीय चितना एकदम स्पष्ट है। परंतु चिंता या यह दृष्टिकोण बिलकुल एक ओसत आदमी का है किसी बुद्धिजीवी का नहीं, क्योंकि मनोज फ़िल्में उस आदमी के नजरिए से बनाता है जो अपनी अनेक ज़रूरतों को काटकर फिल्मे देखता है।

दर्शक की भाषा, दर्शक का हिसाब

"वही दर्शक मेरा सबसे बड़ा जज है यार !" मनोज ने एक औपचारिक इंटरव्यू देते हुए मुझसे बड़ी ईमानदारी से कहा, "मैंने खुद कभी फ़ीस से और कभी साग-सब्ज़ी से पेसे चुराकर फ़िल्मो के टिकट ख़रीदे हैं। मै जानता हूँ, उस दर्शक को धोखा दूँगा तो मे कहीं का नहीं रहूँगा। इसलिए मैं अपनी फ़िल्मों में उसी की समस्याओं पर उसी के हिसाब से, उसी की भाषा मे सोचता हूँ। मेरे नज़दीक एक अच्छी फ़िल्म की कसौटी यह नही कि उसे एक विशिष्ट वर्ग की ख़ास जनता देखे, बल्कि यह है कि उसे ज़्यादा से ज्यादा लोग देखें। बहुमत को बेवकूफ़ कहकर एक विशिष्ट वर्ग के निर्णय पर चलने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि देश के बड़े-बड़े नेता इसी बहुमत के आधार पर शासन करते हैं।"

मुझे लगा, मनोज के इस तर्क में दम है। पर मनोज का दुर्भाग्य यह है कि उसकी फ़िल्मों को मुट्ठी-भर लोगों ने सतही कहकर रद्द कर दिया है। मैंने राष्ट्रीय पुरस्कारों की

ओर इशारा किया तो मनोज ने पूछा, "तुम ईमानदारी से बताओ कि तुम फ़िल्में क्यों देखते हो ?"

"मेरी बात मत पूछो," मैंने कहा, "मैं तो तीन घंटे बिताने के लिए फ़िल्म देखता हूँ और सिनेमा हॉल से बाहर निकलते ही अकसर भूल जाता हूँ कि क्या देखा था।"

"चलो, तुममें कोई बौद्धिक आडंबर नहीं। तुमने सीधी-सच्ची बात कह दी। पर यहाँ भी मैं पूछना चाहूँगा कि अगर वे तीन घंटे भी तुम्हें बाँधकर न रख सकें तो तुम्हें कैसा लगेगा ? जहाँ तक पुरस्कारों की बात है तो मुझे किसी ऐसी फ़िल्म का नाम बताओ जिसे नेशनल अवार्ड मिला हो और जो नेशनल लेबल पर जनता से जुड़ी हो। भाई, पुरस्कार उन फ़िल्मों को दिया जाता है, जिन्हें जनता नहीं, जज लोग देखते हैं, मेरी फ़िल्में जनता देखती है। अब तुम बताओ, मुझे पुरस्कार क्यों मिलेगा ?"

मनोज में पुरस्कार के प्रसंग को लेकर कहीं गहरी तकलीफ़ है और वह तकलीफ़ मुझे इसलिए और भी सही लगी कि मनोज ईमानदारी के साथ कुछ राष्ट्रीय महत्त्व के सवालों से जूझता है।

मैंने पहली मुलाक़ात में ही उसकी फ़िल्मों पर राय देते हुए कहा था, "सरकार का आधा काम तो आप ही कर देते हैं।" इस तोहमत को उसने सिर झुकाकर स्वीकार किया था।

श्रीमती इंदिरा गांधी में मनोज कुमार की गहरी आस्था है। यहाँ तक कि उसकी फ़िल्म में इंदिरा जी के भाषण को सुनकर एक पात्र का चरित्र ही बदल जाता है। मनोज ने मुझसे कहा कि जब यह फ़िल्म बनकर पूरी हुई तो लोगों ने मुझसे कहा कि देश में इंदिरा-विरोधी लहर चल रही है। जिस सिनेमा हॉल में यह फ़िल्म दिखाई जाएगी, लोग उसके परदे फाड़ देंगे। परंतु मनोज अपनी जगह से टस से मस नहीं हुआ। फ़िल्म चली और ख़ूब चली।

"लेकिन" मनोज ने मुझसे कहा, "हुआ क्या ? सरकार की इतनी फ्री पब्लिसिटी के बावजूद मुझे क्या मिला ? ऐसी फ़िल्मों का एंटरटेनमेंट टैक्स भाफ़ कराने के लिए भी यदि मुझे राज्य सरकारों के चक्कर काटने पड़ें तो मुझसे ज़्यादा बदनसीब और कौन होगा ?"

मनोज ने बताया, "राष्ट्रीय समस्याओं को उभारना मेरा प्रमुख उद्देश्य रहता है। जैसे मेरी 'शोर' पहली हड़ताल-विरोधी फ़िल्म थी। मैं कला को कला के लिए नहीं, जीवन के लिए मानता हूँ। मगर जीवन बहुत भयावह है। मैं इस कड़वी गोली को थोड़ी चाशनी लपेटकर पेश करता हूँ। जैसे कड़वे कैप्सूलों की ऊपरी परतों पर मीठी चाशनी चढ़ी रहती है।"

"क्या इसीलिए कुछ लोग इन फ़िल्मों के यथार्थवादी स्वरूप पर शक करते हैं ?"

"छोड़ो यार, यथार्थ की बात। यथार्थ का कोई एक ही रूप तो नहीं होता। फिर भी बुद्धिजीवी लोगों को मेरी फ़िल्मों से यदि निराशा होती है तो मैं कुछ नहीं कर सकता। एक बार मैंने 'माधुरी' के संपादक अरविन्द कुमार और 'धर्मयुग' के संपादक डॉ० धर्मवीर भारती को अपनी नई फ़िल्म देखने का निमंत्रण दिया। फ़िल्म ख़त्म होने के बाद ये लोग कुछ ख़ामोश-से हो गए। मैंने राय पूछी तो उन्होंने कुछ गोलमोल-सा जवाब दिया। मैंने अरविन्द से कहा, "दोस्त, मैं यदि तुम्हारी और डॉ० भारती की समझ से फ़िल्म बनाता तो अब तक मेरा डिब्बा गोल हो गया होता।"

ख़तरा बौद्धिक होने का

यह संवाद मनोज की व्यावहारिक बुद्धि का सबसे बड़ा सुबूत है। वह बौद्धिक होने का ख़तरा समझता है। वह जानता है कि जनता क्या चाहती है। इसलिए उसकी फ़िल्में फ़्लॉप नहीं होतीं। आज सारे देश में 'पूरब-पश्चिम' की आरती गूँज रही है। हरिद्वार के प्लेटफ़ॉर्म से लेकर दक्षिण के मंदिरों तक मनोज ने सदियों पुरानी सांस्कृतिक धुन बदल दी है। यह कोई मामूली बात नहीं है कि अपनी हर फ़िल्म में मनोज अपनी ही छवि को नए सिरे से नहीं गढ़ता, बल्कि अपने दर्शकों को भी आस्वाद के नए धरातलों पर ले जाता है।

उसके भीतर एक ज़बरदस्त आत्मविश्वास है जो उसे उसके प्रशंसकों ने दिया है। इसलिए वह अब तो अपनी फ़िल्मों के प्रेस शो तक नहीं करता। मैंने इस विषय में पूछा तो मनोज ने कहा, "मैंने प्रेस शो इसलिए नहीं किया कि तथाकथित बुद्धिजीवियों को मेरी फ़िल्में कभी अच्छी नहीं लगतीं। वे मेरी परवाह नहीं करते, फिर मैं उनकी परवाह क्यों करूँ ?"

इस उपेक्षा के पीछे भी उसकी व्यावहारिकता थी, दंभ नहीं। वह एक सहज आदमी के नाते बात करता रहा और एक मिनट को भी ऐसा नहीं लगने दिया कि वह कोई बड़ा फ़िल्मी कलाकार है। उसके पास लतीफ़ों का अक्षय भंडार है, जिनमें श्लील-अश्लील सभी तरह के लतीफ़े हैं। वह लतीफ़े सुनाता रहा, सिगरेट फूँकता रहा और टहलता रहा।

उज्जैन से बहुत सारे लड़के कांग्रेस के युवा नेता मनोहर बैरागी के साथ विट्ठल भाई से मिलने के लिए आए थे। मैंने सबसे परिचय कराया। वह तब भी लतीफ़े सुनाता रहा। शाम को मेरे आग्रह पर 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' के मैनेजर रमेशचन्द्र भी आ गए तो चाय-गोष्ठी ज़रा गहरी जमी। रमेश भाई चले गए तो मैंने कहा, "ताज्जुब है, तुम दारू नहीं पीते ?"

मनोज ने कहा, "यही बात अशोक कुमार ने मुझसे पूछी थी, 'मनोज, तू दारू क्यों

नहीं पीता ?' और मैंने कहा था, 'दादामुनि, कभी मैंने आपसे पूछा है कि आप दारू क्यों पीते हैं ?' "

व्यावहारिक इंसान

ओबेराय में मैं मूलतः विट्ठल भाई का मेहमान था और विट्ठल भाई मनोज के। दोपहर में थोड़ी देर के लिए मनोज खाना खाने अपनी ससुराल चला गया था। लौटने पर उसने सबसे पहला सवाल यही पूछा, "तुमने खाना खाया ?"

इस छोटी-सी बात से मेरी यह धारणा और पुष्ट हुई कि मनोज व्यावहारिकता को नज़र में रखकर चलने वाला एक इंसान है। यह ज़रूरी नहीं है कि हर आदमी एक महान् आदमी हो, पर हर आदमी को कम से कम आदमी तो होना ही चाहिए। मनोज एक अच्छा आदमी और अच्छा कलाकार है। अगर उसके हाथ कोई क़ायदे की थीम लग गई तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा कि वह इस युग की सही फ़िल्म बना जाए।

(सितंबर, 1975, 'माधुरी' में प्रकाशित)

जो लिखा नहीं जाता

सीपा फ़िल्म क्लब द्वारा प्रदर्शित फ़िल्म 'बदनाम बस्ती' प्रसिद्ध कथाकार कमलेश्वर के 'बदनाम गली' नामक उपन्यास पर आधारित है। हमारे विशेष अनुरोध पर, इस उपन्यास के लेखक और उसकी लेखन-प्रक्रिया से संबंधित कुछ नितांत निजी संस्मरण प्रस्तुत हैं—प्रसिद्ध हिंदी कवि दुष्यन्त कुमार की क़लम से।

"अब मैं उपन्यास लिखने वाला हूँ।" उसने लाल मुहम्मद बीड़ी का एक टोटा सुलगाते हुए कहा और फिर पलंग पर उकडूँ बैठकर लंबे-लंबे कश खींचने लगा।

यह उन दिनों की बात है जब कमलेश्वर और मैं दोनों इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पढ़ते थे और परिचय की औपचारिक सीमाएँ लाँघकर एक-दूसरे के काफ़ी निकट आ चुके थे। वह एक छकड़ा-सी साइकिल पर यूनिवर्सिटी आया करता था और तलब लगने पर किसी झाड़ी के पीछे या एकांत कोने में छिपकर बीड़ी या कोई घटिया क़िस्म की सिगरेट पिया करता था। अकसर उसका नाम फ़ीस जमा न करने वाले डिफ़ाल्टर छात्रों की लिस्ट में रहा करता था क्योंकि फ़ीस के रुपयों में से कुछ न कुछ वह हमेशा दोस्तों पर और ख़ास तौर से मुझ पर ख़र्च कर देता था। शायद उसे यह अच्छा नहीं लगता था कि हमेशा मैं ही ख़र्च करूँ और वह चुपचाप देखता रहे।

वह उन दिनों कुछ लिखा भी करता था। कुछ कहानियाँ—प्रभाववादी शैली की; और एक बड़ी निजी-सी डायरी। उस लड़की के बारे में वह कभी-कभी बातें भी किया करता था और कभी-कभी मेरे साथ भी साइकिल से उसके घर के आसपास का एकाध चक्कर लगा दिया करता था। यह एक अजीब अनकहा एकतरफ़ा-सा प्रेम था, गोकि लड़की भी उसे चाहती थी।

तब उसकी दुनिया बहुत सीमित थी और व्यक्तिगत स्तर पर वह गहरे आर्थिक और मानसिक संघर्ष से गुज़र रहा था। एक तरफ़ यूनिवर्सिटी की पढ़ाई, दूसरी तरफ़ किसी रद्दी-सी फ़िल्मी पत्रिका में पचास रुपए महीना की नौकरी, नियमित रूप से जमने वाली साहित्यिक गोष्ठियाँ और इससे भी ज़्यादा नियमित हम तीनों (कमलेश्वर, मार्कण्डेय और मैं) की बैठकें और इस सबके ऊपर एक छोटा-सा इश्क और इन सब तकाज़ों को निबाहने के लिए उसकी रोज़ाना साइकिल पर बीस-बाईस मील की भाग-दौड़ !

इसलिए जब उसने उपन्यास लिखने का इरादा ज़ाहिर किया तो मुझे बेसाख़्ता हँसी आ गई।

मैंने आश्चर्य से पूछा, "तू उपन्यास लिखेगा ?" इस प्रश्न में उसकी क्षमता पर कम, उसकी आवारगी और व्यस्तता पर ज़्यादा अविश्वास था।

मगर वह हतप्रभ नहीं हुआ। पलंग के नीचे से ढूँढ़कर बीड़ी का एक जला हुआ टोटा निकालकर मेरी ओर बढ़ाते हुए बोला, "हाँ, मैं लिखूँगा। लिखना ही पड़ेगा, क्योंकि अब इसके अलावा कोई चारा नहीं है।"

इसके कुछ साल बाद वह दिन भी मुझे याद है जब वह एक शाम बदहवास-सा, साइकिल दौड़ाता हुआ मेरे पास आया। उसकी आँखों में धूल उड़ रही थी और चेहरा एकदम बुझा हुआ था। मेरे पहले संग्रह में उसकी इसी मनःस्थिति पर एक कविता है—

कल माँ ने यह कहा
कि उसकी शादी तय हो गई कहीं पर,
मैं मुस्काया वहाँ—मौन,
रो दिया किंतु कमरे में आकर,
जैसे दो दुनिया हों मुझको
मेरा कमरा और मेरा घर !

उसकी प्रेमिका पराई हो गई थी। पर इसमें सौ फ़ीसदी उसकी अपनी कमज़ोरी थी। उसने अपने भाई या माँ से तो क्या, शायद कभी अपनी उस प्रेमिका से भी अपने भविष्य को लेकर कोई बात नहीं की थी। हाँ, मुझसे ज़रूर वह बातें किया करता था और उस दिन भी वह घंटों भावुकता की रौ में अंट-शंट बोलता रहा। पर एक बात, जिस पर उस समय वह ज़ोर दे रहा था, मुझे अब तक याद है, "अब कुछ बाक़ी नहीं रहा दुष्यन्त ! कोई सपना, कोई उम्मीद, कुछ नहीं। सिर्फ़ इस क़लम का सहारा है।" और उसने अनजाने ही एक बहुत सही फ़ैसला कर लिया था।

साहित्य का रास्ता उसने भावुकता में चुना या मजबूरी में—इसका निश्चित उत्तर शायद वह भी न दे सके। पर यह ज़रूर है कि इस असफल प्रेम की भावुकता ने उसके फ़ैसले को पुख़्ता किया और वह बाक़ायदा लेखक बन गया।

लड़कियाँ उसकी ज़िंदगी में बाद में भी आईं, पर इन सबसे पहले एक प्रेमिका उसकी और थी, जिसके किस्से वह अपनी पहली प्रेमिका के समान ही रुचि ले-लेकर सुनाया करता था। यह प्रेमिका उसके दिल-दिमाग़ और ज़ेहन पर, उसकी और किसी भी प्रेमिका से ज़्यादा छाई हुई थी और इलाहाबाद से ज़रा-सी फ़ुरसत मिलते ही वह

अकसर उससे मिलने के लिए भाग जाया करता था...और जब वहाँ से लौटता तो हमेशा कहानियों के 'एक बोरा प्लॉट' उसके पास होते।

यह प्रेमिका मैनपुरी की थी। उत्तर प्रदेश की एक अल्पविकसित मामूली-सी बस्ती, जिससे मानसिक स्तर पर कहीं वह इस तरह जुड़ा था कि इलाहाबाद में रहकर भी उस बस्ती के छूटे हुए बाशिंदों की ज़िंदगी फ़िल्म की तरह उसकी कल्पना में घूमा करती थी।

यह जो 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' उपन्यास है—जो बाद में 'बदनाम गली' के नाम से छपा और जिस पर 'बदनाम बस्ती' के नाम से प्रेम कपूर ने फ़िल्म बनाई—मैनपुरी के उन्हीं लोगों की कहानी है। इसके पात्रों, घटनाओं और विविध स्थितियों के बारे में, उसके मुँह से मैं इतनी बातें सुन चुका था कि वह नगर मेरे लिए क़रीब-क़रीब परिचित हो चला था। और आज तो कौन हिंदी पाठक यह नहीं जानता कि 'राजा निरबंसिया', 'धूल उड़ जाती है', 'मुर्दों की दुनिया', 'क़सबे का आदमी' जैसी उसकी प्रसिद्ध कहानियाँ इसी मैनपुरी की ज़मीन पर खड़ी हैं। दरअसल मैनपुरी ने उसको और उसने मैनपुरी को प्रतिष्ठित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। उसके इन क़िस्सों से ऊबकर आख़िर मैंने उससे एक दिन ख़ुद ही कहा था, "तुम इस ज़िंदगी पर कोई उपन्यास लिखकर छुट्टी क्यों नहीं पाते ?"

"सोच रहा हूँ।" उसने वही पुराना-सा उत्तर दिया था। लेकिन थोड़े ही दिनों बाद उसने अमृतराय को 'हंस' के लिए एक उपन्यास लिखकर देने का वचन दिया और जाने कब चुपचाप 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' लिखने में जुट गया।

'हंस' पुस्तक के रूप में निकल रहा था और उसमें मेरी भी एक कविता प्रकाशित होने वाली थी। 'हंस' का अंक मुझे मुरादाबाद में मिला। मैं एकदम भूल गया कि इसी अंक में मेरी कविता छपी है और मैंने सारे काम छोड़कर पहले वह उपन्यास पढ़ा। उसके बाद तत्काल कमलेश्वर को एक लंबा-सा ख़त लिखा। मैं उपन्यास की स्थितियों से इतना अभिभूत था कि अपनी बहुत सारी ज़रूरी बातें लिखना भी याद न रहा। मसलन, मैं यह पूछना भी भूल गया कि उसने मेरे गाँव की रामलीला की कई घटनाएँ अपनी मैनपुरी की रामलीला से जोड़कर क्यों लिख दीं और मेरी प्रेमिका के पत्र रंगीले की प्रेमिका के नाम से ज्यों के त्यों क्यों छाप दिए ? कम से कम नाम, पात्र और घटनाक्रम तो बदल देता।

बाद में इस बारे में उससे पूछा तो भाषण की मुद्रा में मेज़ पर उँगलियाँ फैलाकर बड़ी मासूमियत से उसने एक साथ तीन स्पष्टीकरण दिए। बोला, "तूने ख़त मुझे रखने के लिए दिए थे...वे सुरक्षित रखे हैं !" फिर बोला, "देख, किशोरवय की लड़की का ख़त अगर मैं कल्पना से तैयार करता तो न उसमें जान होती, न उसकी भाषा में। अब देख ...क्या बात बनी है।" और इसके बाद भी मुझे ख़ामोश देखकर बोला, "तू शेर आदमी

है यार ! मेरे संकट में तेरे प्रेम-पत्र मेरे काम आ गए। आख़िर बुरे वक़्त में दोस्त ही तो दोस्तों के काम आते हैं।"

...और सीपा फ़िल्म क्लब के उद्घाटन के अवसर पर उसका यह ताज़ा ख़त :

प्रिय दुष्यन्त,

तुम्हारा पत्र और फ़िल्म क्लब का निमंत्रण मिला। तुम्हारा ख़त ही काफ़ी था। मैं योरोप से परसों ही लौटकर आया हूँ। तीन महीने का काम और बारह देशों की यादों के बीच इस बुरी तरह फँसा हुआ हूँ कि भोपाल आना बिलकुल मुमकिन नहीं लग रहा है। प्रेम कपूर ने भी कहा पर मैं बेहद मजबूर हूँ।

इस उपन्यास से तुम कितने जुड़े हुए हो इसका सुबूत यह भी होगा कि इस पर बनी फ़िल्म के प्रदर्शन के वक़्त मेरी जगह तुम ही मौजूद रहोगे...

पत्र में और भी बहुत-सी बातें हैं। पर एक आदमी और जो इस फ़िल्म के प्रदर्शन के वक़्त मौजूद होगा—और जो मुझसे कहीं ज़्यादा और किसी हद तक कमलेश्वर की ही तरह इस उपन्यास और इसकी भावभूमि से जुड़ा हुआ है—वह व्यक्ति है प्रेम कपूर कंचन। हमारा इलाहाबाद का पुराना दोस्त और सफल कथाकार !

मगर नहीं। यह प्रेम कपूर कंचन नहीं, सिर्फ़ प्रेम कपूर है। वह पोस्ट ऑफ़िस में नौकरी करने वाला सीधा-सादा कंचन जाने कहाँ खो गया। यह तो त्रिवेणी का फ़िल्मकार है। लोग उसे लेखक से अधिक 'वदनाम बस्ती' के निर्माता और निर्देशक के रूप में जानते हैं। अपनी पहली फ़िल्म 'बदनाम वस्ती' के साथ फ़िल्मी दुनिया में उसने कुछ ही समय के भीतर सफलता की जो मंज़िल तय की है, उतनी दूरी साहित्य में तय करने के लिए शायद किसी भी लेखक को कम से कम दस वर्ष तो लगते ही।

हिंदी के लघु उपन्यासों में जितना महत्त्वपूर्ण यह उपन्यास है, हिंदी की लघु वजट वाली फ़िल्मों में इस फ़िल्म का महत्त्व भी शायद उससे कम नहीं है।

हो सकता है, कमलेश्वर कल इससे भी अच्छा उपन्यास लिखे और उसे इससे भी ज़्यादा प्रसिद्धि मिले, लेकिन जैसी ताज़गी, जैसा अपनापन और जैसी निर्व्याज सरलता इस उपन्यास में है वैसी शायद अगल उपन्यास में मुश्किल से मिले ओर फ़िल्मों में इस ताज़गी की बात तो अभी मृग-मरीचिका ही है।

ग़लती का शिकार : एक कहानीकार

आजकल जैसे बरसाती पत्र देखने में आते हैं, वैसा ही एक पत्र हमने भी निकाला था–विहान। नया-नया उत्साह था, इसलिए उसे लेकर हर वक़्त एक नशा-सा छाया रहता था। यूनिवर्सिटी से छुट्टी मिलते ही हम तीनों संपादक (कमलेश्वर, मार्कण्डेय और मैं) किसी रेस्तरॉ, पार्क या कमरे में बैठकर पत्र की रूपरेखा तैयार करने में लग जाते और उसके आर्थिक पक्ष पर विचार-विमर्श किया करते थे। आख़िर जैसे-तैसे कुछ विज्ञापन हमने बटोर लिए। अब सिर्फ़ काग़ज़ के लिए नक़द पैसे का इंतज़ाम करना शेष था.।

कहते हैं, भगवान् सच्ची लगन वालों का बड़ा ध्यान रखता है। अतः ठीक उन्हीं दिनों जब हम काग़ज़ की व्यवस्था के लिए परेशान थे, बॉदा ज़िले के एक कस्बे में भगवान् ने कवि-सम्मेलन का आयोजन करा डाला। संक्षेप में हुआ यों कि वहॉ की किसी शिक्षण-संस्था ने श्रीकृष्ण दास को उस कवि-सम्मेलन का सभापति मनोनीत किया था और कवियों को चुनने तथा लाने का ज़िम्मा भी उन्हीं के ऊपर छोड़ दिया था। मे चूँकि तव तक कवि-सम्मेलनों में गाने-वाने का काम कर लिया करता था, अतः दास वाबू ने मुझे उसमें चलने का निमंत्रण दिया। निमंत्रण क्या, हुक्मनामा कहूँ तो ज़्यादा सही होगा क्योंकि उनकी आज्ञा को टालने का साहस न तब था और न आज ही है। फिर भी झिझकते-झिझकते मैंने संग ाथ की दृष्टि से उनके सामने कमलेश्वर और मार्कण्डेय के नाम और रख दिए। मार्कण्डेय के कंठ से तो वे सुपरिचित थे पर कमलेश्वर का नाम सुनकर वे थोड़े ज़रूर चोंके। किंतु जब मैंने उन्हें इस ओर से पूरी तरह आश्वस्त कर दिया, तो वे उसके लिए भी सहमत हो गए और हम मन ही मन अपनी पत्रिका को न्यूज़-प्रिंट की बजाय व्हाइट प्रिंटिंग काग़ज़ पर छापने का ख़्वाब देखने लगे।

मुझे याद है, उस छोटे-से क़स्बे में हम लोग संध्या के क़रीब सात बजे पहुँचे होंगे। संयोजक इतज़ार में थे ओर हमें देखकर उनके चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे। दास बाबू के साथ हमारा भी ख़ूब स्वागत-सत्कार किया गया, शायद इसलिए और भी कि अन्य कवियों में से अधिकांश कवि वादा करके भी नहीं आ सके थे। परिचय की औपचारिकता के बाद वे लोग दास बाबू से कवियों की ग़ैर-ज़िम्मेदारी का रोना रोने लगे और हम तीनों बैठकर इधर-उधर की साहित्यिक चर्चा करने लगे। क़िस्सा-कोताह यह कि इसी बीच खाना-पीना हुआ और अंत में हम लोग कवि-सम्मेलन के मंच पर जा बैठे।

हॉल जनता से खचाखच भरा था। मगर मंच पर कुछ स्थानीय कवियों के अलावा

बाहर के एक-दो ही कवि थे। अतः हम तीनों को ज़रूरत से ज़्यादा ही महत्त्व दिया जा रहा था और हम कवि-सम्मेलनों को ज़रा भी महत्त्व दिए बिना अपने 'विहान' की सामग्री और मुखपृष्ठ पर चर्चा किए जा रहे थे। आख़िर दास बाबू ने कवि-सम्मेलन की कार्यवाही शुरू की और स्थानीय कवियों से कवि-सम्मेलन का रंग न जमता देख उन्होंने मेरा नाम पुकारा। मैं सहज भाव से उठकर माइक पर गया और एक गीत सुनाकर फिर दोस्तों में जा बैठा। मेरे गीत से इतना हुआ कि शोर कुछ दब गया और कवि-सम्मेलन रंग पर आने लगा। अब दास बाबू ने दो स्थानीय कवियों पर एक बाहर का कवि बुलाना शुरू कर दिया था और उसका परिचय बड़े ही महत्त्वपूर्ण ढंग से जनता को कराते थे। इसीलिए मार्कण्डेय का जब नंबर आया तो उसकी कविता मुझसे भी ज़्यादा जमी। यद्यपि उसका परिचय भी मुझसे अच्छा कराया गया था। मगर कमलेश्वर के परिचय में तो दास बाबू ने विशेषणों की भरमार कर दी। स्मरण रहे कि उन दिनों कवि तो क्या कहानीकार के रूप में भी कमलेश्वर को कोई नहीं जानता था। हाँ, उसकी भावपूर्ण बड़ी-बड़ी आँखों और कुरते-पाजामे के ऊपर सदरी के पहनावे से उसे कवि ज़रूर समझा जा सकता था। इसलिए जनता बेहद प्रभावित हुई और कमलेश्वर के माइक पर आते ही जनता ने उसका भारी स्वागत किया। शायद इससे कमलेश्वर 'मूड' में आ गया था क्योंकि फिर उसने जो गीत गाना शुरू किया तो जनता तो जनता स्वयं हम लोग भी झूम उठे। ऐसा मधुर कंठ, ऐसा साफ़ उच्चारण और स्वरों का ऐसा संतुलित आरोह-अवरोह कि गीत का एक-एक प्रभाव वातावरण पर उभरता चला गया। सारी जनता एकदम ख़ामोश हो गई जैसे गीत में डूब गई हो। आख़िर जब गीत ख़त्म हुआ और कमलेश्वर माइक छोड़कर हम लोगों के पास आने लगा तो दास बाबू ने भावविह्वल होकर उसे सीने से लगा लिया। उधर जनता का जादू टूटा तो उसने पुनः-पुनः का शोर मचाना चालू कर दिया। मैं वह दृश्य कभी नहीं भूल सकता क्योंकि उस समय कमलेश्वर की दशा विचित्र थी। उसकी हिरण जैसी मासूम आँखों में ऐसा कातर भाव था जैसे कोई शिकारी उसका पीछा कर रहा हो और उसे तुरंत वहाँ से भाग जाना चाहिए। मगर दास बाबू निरंतर आग्रह किए चले जा रहे थे। आख़िर त्रस्त होकर उसने दास बाबू के कान में कुछ फुसफुसाया और एक पल उसकी ओर देखकर दास बाबू ने फ़ौरन जनता को संबोधित किया, "आप लोग शांत रहिए ! अभी कमलेश्वर जी की तबीयत ठीक नहीं है। थोड़ी ही देर बाद वे आपको फिर कविता सुनाएँगे। देखिए…"

मगर थोड़ी देर बाद कमलेश्वर का वहाँ पता भी न था। दरअसल ग़लती मेरी ही थी। मैंने कमलेश्वर को सिर्फ़ एक ही गीत दिया था। मुझे ख़याल भी नहीं था कि कमबख़्त इतना जमेगा।

(1963-64, 'धर्मयुग')

पाल गोल्डिनी परंपरा और हिप्नोटिज़्म

पाल गोल्डिन के एक 'सब्जेक्ट' (दर्शक) की आत्मस्वीकृति पढ़कर (नई दुनिया, 7 अक्तूबर) मैं यह सोचने को बाध्य हुआ कि सम्मोहन विद्या जैसी कोई चीज़ वास्तव में है भी या नहीं ? बहुत-सी स्मृतियाँ एक साथ मन में कौंध गईं। सुदूर अतीत से लेकर सद्यः वर्तमान तक सम्मोहन संबंधी अनुभवों का एक सेतु-सा बन गया और उस पर चहलक़दमी करते हुए मेरे जिज्ञासु मन ने एक-एक कर सारे अनुभवों को उलट-पलट-कर देखा।

अभी कुछ दिन हुए ग्वालियर से डॉ० सुरेश अग्निहोत्री का सिफ़ारिशी पत्र लेकर एक हिप्नोटिस्ट मेरे पास आए थे। बातचीत के दौरान उन्होंने जादू और सम्मोहनशास्त्र में अपनी गति की विशद् चर्चा की और मैंने इस ख़याल से उनमें काफी दिलचस्पी दिखाई कि शायद उन्हीं के माध्यम से सम्मोहन संबंधी धारणाओं की अपनी ढहती हुई इमारत को कुछ और सहारा दे सकूँ।

वात दरअसल यह है कि सन् '57 या '58 के आसपास मुरादाबाद शहर में श्री दयाव्रत शर्मा नाम के एक व्यक्ति रहा करते थे जो पेशे से अध्यापक थे—वहाँ के प्रसिद्ध हिंदू कॉलेज में अंग्रेज़ी विभागाध्यक्ष—और रुचियों से औघड़। मैं उन दिनों वहाँ बी०टी० का विद्यार्थी था और आए दिन दयाव्रत शर्मा के बारे में तरह-तरह की वातें सुनता रहता था। कभी यह कि वे पारे से सोना बनाने का प्रयोग कर रहे हैं और कभी यह कि उन्होंने कुछ योगिनियाँ सिद्ध कर ली हैं। चुनाँचे उत्सुकता बढ़ती गई और आख़िर एक कॉमन मित्र श्री सर्वेश्वर सरन सर्वे की मार्फ़त उनसे मुलाक़ात का मौक़ा भी मिला।

श्री शर्मा ने भी अपने सम्मोहन संबंधी अनुभवों का इतना विस्तृत और रोचक विवरण, पहली ही मुलाक़ात में दिया कि मैं स्तब्ध रह गया। मैंने मनोविज्ञान के विद्यार्थी की हैसियत से किताबों में उन मनोविश्लेषकों के बारे में पढ़ा था, जिन्होंने सम्मोहन विद्या द्वारा अंतर्मन की ग्रंथियों का पता लगाकर मिरगी, पागलपन और अनेक प्रकार के मनःविकारों की सफल चिकित्सा की थी। परंतु ऐसे एक जीवित हिप्नोटिस्ट को प्रत्यक्ष देखने का यह पहला अनुभव था। अतः मैं उनकी ओर तेज़ी से झुका। शर्माजी कविता और उपन्यास भी लिखते थे इसलिए साहित्य की ज़मीन पर हम लोग

बराबरी के भाव से मिलने लगे—बावजूद इसके कि मैं विद्यार्थी था और उनकी बहुत इज़्ज़त करता था।

उन्हीं दिनों उनका एक उपन्यास 'नहीं मरेंगे' भी प्रकाशित हुआ था जो औपन्यासिक दृष्टि से तो रद्दी था किंतु सम्मोहन विद्या और परा विद्या के सत्य और जीवंत अनुभवों का अभिलेख होने के कारण मैं उसे बहुत ही मूल्यवान समझता था। शर्माजी का कहना था कि किसी न किसी अर्थ में इसकी हर घटना सत्य और अनुभवसिद्ध है और मेरे पास यह मानने का कोई कारण नहीं था कि एक इतना ज़िम्मेदार व्यक्ति ग़लत बात कहेगा। दरअसल उनका प्रोफ़ेसर होना मेरे इस विश्वास को और पुख़्ता करता था कि हिप्नोटिज़्म या सम्मोहन नामक एक विद्या है जो मन की भीतरी और बाहरी शक्तियों के बीच समन्वय का दुष्कर कार्य कर सकती है।

लेकिन यह सपना बहुत जल्दी टूट गया क्योंकि उन्हीं दिनों मेरे मित्र (आजकल 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' संस्थान के मैनेजर) श्री रमेशचन्द्र जैन की पत्नी एक अजीब मनोविकार से ग्रस्त हो गई। घर में आने वाला हर आदमी उन्हें गंदा और अपवित्र नज़र आता। उन्हें लगता कि यह बस में बैठा होगा, किसी मेहतर से छू गया होगा, किसी सार्वजनिक शौचालय में गया होगा या गंदे व्यक्ति से मिला होगा···अतः हर वक़्त घर की सफ़ाई और धुलाई में जुटी रहतीं। नौकरों को जाड़ों की कड़कड़ाती ठंड में भी बार-बार नहाने के लिए बाध्य किया जाता और रमेश जी को जो व्यवहार मिलता सो अलग। मैं उन दिनों आकाशवाणी, दिल्ली में था और रमेश जी अपनी पत्नी के इलाज के सिलसिले में दिल्ली आते-जाते रहते थे। मेरा ख़याल है कि उस सस्ते ज़माने में भी उनके इलाज पर लगभग डेढ़ हज़ार रुपया प्रतिमाह ख़र्च होता था। आख़िर तंग आकर रमेश जी ने दिल्ली में ही स्थायी रूप से बसने का फ़ैसला किया और परिस्थितियों से मजबूर होकर 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' संस्थान में पब्लिसिटी मैनेजर की नौकरी स्वीकार कर ली।

एक दिन बैठे-बिठाए मुझे ख़याल आया कि क्यों न उनकी पत्नी के इस विकार का उपचार सम्मोहन विद्या द्वारा मुरादाबाद के प्रो० दयाव्रत शर्मा द्वारा कराया जाए ? और दूसरे ही दिन मैं और रमेश जी भाभी को लेकर मुरादाबाद जा पहुँचे। वहाँ जाकर शर्माजी से मिले और उन्हें सारी बातें समझाईं। उन्होंने हमें आश्वस्त किया कि यह एक मामूली-सा काम है और वे इसको जड़ से ख़त्म कर देंगे। चुनाँचे पहला सम्मोहन-प्रयोग उन्होंने भाभी पर वेटिंग रूम में ही किया जिससे वे सम्मोहित तो नहीं हुईं परंतु कुछ अजीब-सी शांति उन्हें ज़रूर महसूस हुई।

इससे पहले शर्माजी ने मुरादाबाद में मेरे सामने कोई प्रयोग नहीं किया था। पर उनकी एक ऐसी हवा थी कि मैंने रमेश जी से उनके बारे में काफ़ी बढ़ा-चढ़ाकर बातें

की थीं। और स्वाभाविक रूप से रमेश जी की तरह मैं भी इस प्रत्याशा में था कि वे भाभी को सम्मोहित करके उन कारणों का पता लगाएँगे जिन्होंने इस विकार को जन्म दिया है। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ और शर्माजी ने वातावरण, शांति और पेशेवरों वाली लफ़्फ़ाज़ी से हम लोगों को काफ़ी दिनों तक उलझाए रखा। बहुत दिनों तक लटकाने के बाद उन्होंने कुछ शर्तें रखीं जिनमें उनके स्थायी रूप से दिल्ली चलने का प्रस्ताव भी था। संक्षेप में उनकी सारी शर्तें मानी गईं, वे दिल्ली भी पहुँच गए, उन्हें हज़ार रुपए महीने की नौकरी भी मिल गई। उनका हिप्नोटिज़्म का कोर्स भी चलता रहा, पर न भाभी को और न मुझे या रमेश जी को ही वे कभी सम्मोहित कर पाए। हमने बहुत 'को-ऑपरेट' किया, जैसा वे चाहते थे वैसा वातावरण दिया, पर हुआ कुछ नहीं। हाँ, अपने एक निकट संबंधी लड़के को वे अकसर सम्मोहित कर दिखाया करते थे।

हमेशा मुझसे और रमेश जी से उन्होंने यही कहा कि आप लोगों की इच्छाशक्ति शायद ज़्यादा मज़बूत है इसीलिए मैं आप लोगों को सम्मोहित नहीं कर पाता। मैं पाल गोल्डिन के तमाशे तक अपनी इच्छाशक्ति के भ्रम में फूला हुआ था, पर 'नई दुनिया' के पाठकों के पत्रों ने पाल गोल्डिन की बखिया उधेड़ने के साथ ही मेरे गुब्बारे में भी पिन चुभो दी।

इसी बीच, सौभाग्य से, ग्वालियर से आए हिप्नोटिस्ट की बदौलत यह रहा-सहा भ्रम भी साफ़ हो गया कि हिप्नोटिज़्म नाम की कोई विद्या है। यह एक बड़ी दिलचस्प ओर करुण कहानी है। इस हिप्नोटिस्ट के अनुरोध पर मैंने मध्य प्रदेश शासन के एक वरिष्ठ सचिव श्री हनुमंत राव के बँगले पर उसके एक प्रदर्शन की व्यवस्था की थी। परंतु जब सम्मोहन-शक्ति के एक प्रयाग के लिए उसने मेरा ही नाम पुकारा तो मैं विस्मित भी हुआ और प्रसन्न भी। उसने एक चार तह वाली काली पट्टी वरिष्ठ अधिकारियों को दिखलाकर मेरी आँखों पर बाँधने की घोषणा की और कहा कि जादूगर लोग प्रायः अपनी आँखों पर पट्टी बाँधकर मोटरसाइकिल आदि चलाते रहे हैं, पर मैं अपनी अद्‌भुत सम्मोहनी शक्ति द्वारा श्री त्यागी से यह कार्य कराऊँगा। फिर दर्शकों को पट्टी दिखाने के बाद मेरी ओर आते हुए उसने बड़ी सफ़ाई से पट्टी की तीन तह नीचे मोड़ दीं और सिर्फ़ एक झीनी-सी पट्टी मेरी आँखों पर बाँधी। कहना आवश्यक है कि इस पूरी प्रक्रिया के दौरान बल्कि इससे पहले से ही मुझे आँखें बंद रखने का निर्देश दिया गया था। फिर उसने सम्मोहन संबंधी सुझाव देने के बहाने जो मेरे कान में कहा, वह गोल्डिन की भाषा से सर्वथा भिन्न है। मेरे बाएँ कान में मंत्र फूँकने का अभिनय करते हुए वह बोला, "सर, पट्टी ठीक कर लीजिएगा और आँख खोलकर देख लीजिएगा कि आपको साफ़ दीख रहा है या नहीं।" और दाएँ कान के पास आकर बोला, "सर, पेट का सवाल है, अगर आपने ज़रा-सा सहारा दे दिया तो मेरा उद्धार हो जाएगा।" एक

क्षण को मुझे लगा कि यह भी व्यक्ति के शोषण की एक टेक्नीक ही है और मुझे इसका विरोध करना चाहिए, पर दूसरे ही क्षण मुझे उसकी गरीबी पर तरस आ गया और उस भावुकता के अधीन मैं अपने मित्रों, बच्चों और अधिकारियों के सामने जैसा वह चाहता था वैसा झूठ बोल गया।

मगर झूठ का यह सिलसिला और न चले, लोग विवेक की क़ीमत पर परोपकार का धंधा न करें, इसलिए मुझे लगा कि यह ज़रूरी है कि बेमुरव्वत होकर सच कह दिया जाए। शायद इससे हिप्नोटिज़्म या सम्मोहन-शक्ति में विश्वास रखने वाले कुछ और लोगों की आँखें खुलें। शायद कुछ और स्वप्न भंग हों तो कुछ और रोचक तथ्य प्रकाश में आएँ।

साक्षात्कार

संपादकीय

लेखक ने इन साक्षात्कारों को कहीं मुलाक़ात, कभी बातचीत और कभी-कभी इंटरव्यू भी कहा है। इन साक्षात्कारों की एक बड़ी विशेषता साक्षात्कारकर्ता की वह दृष्टि है, जिसमें साक्षात्कार देने वाले के व्यक्तित्व का सूक्ष्म अंकन और चित्रण भी कर दिया गया है। दुष्यन्त जैसे जीनियस के सवाल-जवाब भी फ़ौरी और रस्मी न होकर समय, समाज, राजनीति, कला और साहित्य के गहरे रुझानों और गतिशीलताओं का परिचय देते हैं।

इन साक्षात्कारों में अनौपचारिकता, सहजता, बौद्धिक प्रखरता और इतिहास-सजगता के साथ-साथ संबंधित व्यक्तित्वों की स्वभावगत विशिष्टता और विलक्षणता का रस भी मौजूद है।

कृश्नचंदर के साथ एक मुलाक़ात

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"टिन्नी।"

"तुम्हारा जीवन कैसा है ?"

"सादा।"

"तुम्हारे विचार कैसे हैं ?"

"ऊँचे।"

"तुम बड़ी होकर क्या बनोगी ?"

"नेता।"

"तुम पैसा कमाओगी या नाम ?"

"नाम।"

"तुम भाषण कैसे दोगी ?"

और टिन्नी अपने नन्हे-नन्हे हाथों को उठाकर भाषण देने की मुद्रा का प्रदर्शन करने लगी। कई बार के देखे हुए इस बाल-अभिनय पर हम सभी एक बार फिर ज़ोर से ठहाके लगाकर हँस पड़े और टिन्नी सकुचाकर कीर्ति की गोद में दुबक गई।

बंबई का मौसम। न ज़्यादा गर्मी, न सर्दी। खार का इलाक़ा। न ज़्यादा भीड़, न एकदम ख़ामोशी। हम लोग (मैं, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, कीर्ति चौधरी, सलमा सिद्दीक़ी) गुरु-निवास के बरामदे में बैठे थे और साहित्य के साथ निहायत घरेलू क़िस्म की बातचीत भी चल रही थी। कोई भी कहीं से बातचीत का सिलसिला उठा देता और वह ओंकार-कीर्ति की छोटी-सी बच्ची पर आकर टूट जाता, जो बराबर अपनी नन्ही-नन्ही अदाओं से सबको मोह रही थी। ओंकार चूँकि कृश्नचंदर वाले मकान के ही एक पोर्शन में रहते हैं, इसलिए सलमा जी ने उस टिन्नी को अच्छी ट्रेनिंग दी है।

तभी सामने गेट पर दरवाज़े के घसीटने की-सी आवाज़ आई और हाथ से अपना गला पकड़े, खाँसते हुए एक अधेड़-से आदमी ने प्रवेश किया।

"आइए कृश्न साहब ! मुलाक़ात करवाऊँ।" ओंकार ने कुरसी से खड़े होते हुए कहा, "ये मेरे दोस्त हैं दुष्यन्त कुमार।"

"बड़ी खुशी हुई।" कृश्नचंदर ने मेरे बढ़े हुए हाथ को अपने हाथ में ले लिया। और

फिर रस्मी बातचीत शुरू हो गई। यह कृश्नचंदर से मेरी पहली मुलाक़ात थी। उनका गला ख़राब था और वे बार-बार खाँसते जाते थे। इसलिए बात किसी एक मरकज़ पर ठहर नहीं पाती थी।

यह बैठक काफ़ी देर तक चली। इस बीच कृश्नचंदर कपड़े बदलने चले गए और कुरता-पाजामा पहनकर लौट आए। इसी दौरान नरेंद्र शर्मा आए और पंत जी के नए महाकाव्य 'लोकायतन' से लेकर अब्बास की नई फ़िल्म 'शहर और सपना' तक पर बातचीत हुई। फिर कृश्नचंदर ने, जो हैज़ा रोकने का टीका लगवाकर आए थे, सलमा जी से लेकर कीर्ति और ओंकार तक को हैज़े का टीका लगवाने की सलाह दी और इसी बीच शायद सलमा ने मेज़ पर खाना लगवा दिया था और वे रस्मी तौर पर हम सबसे खाने का इसरार कर रही थीं। मुझे लगा कि अब कृश्नचंदर भीतर चले जाएँगे, लिहाज़ा मैंने दूसरी मुलाक़ात का सिलसिला निकालने के लिए कहा, "कृश्न साहब, मैं आपसे एक इंटरव्यू लेना चाहता था। कल कोई वक़्त दीजिए।"

"हाँ-हाँ, ज़रूर।" कृश्नचंदर ने कहा और निहायत औपचारिक तरीके से सुबह का वक़्त तय हो गया।

सुबह का वक़्त। दूसरी मुलाक़ात।

"हाँ साब, मैं तैयार हूँ।" कृश्नचंदर ने सुबह आठ बजे के क़रीब ओंकार के कमरे में झाँकते हुए मुझसे कहा।

"बस, मैं पाँच मिनट में हाज़िर हुआ।" मैंने उनके नहाए-धोए स्वरूप और नई पैंट-शर्ट की ओर देखकर मन ही मन अपने अहदीपन को लानत भेजते हुए कहा। दरअसल मैंने तब तक बिस्तर से उठकर एक प्याला चाय पीने के अलावा और कुछ भी नहीं किया था, क्योंकि रात ओंकार-कीर्ति से डेढ़-दो बजे तक बातें होती रही थीं।

कृश्नचंदर खाने के लिए चले गए तो मैंने ओंकार की तरफ़ देखा था, जो कुछ असंतुष्ट लग रहा था। दरअसल ओंकार की इच्छा नहीं थी कि मैं कृश्नचंदर का इंटरव्यू लूँ। उसका ख़याल था कि मैं कृश्नचंदर को छेड़े बिना बाज़ न आऊँगा और इससे उनके ताल्लुक़ात में ख़राश आ सकती है, क्योंकि उसने अपना दोस्त कहकर कृश्नचंदर से मेरा परिचय कराया था। मगर कीर्ति ने मेरे पक्ष का समर्थन किया और पूरी बात को एक शुद्ध साहित्यिक धरातल दे दिया। अलबत्ता इस बात का थोड़ा अफ़सोस ज़रूर मुझे था कि सुबह जुहू देखने का जो प्रोग्राम बनाया है, वह कैंसिल हो जाएगा।

मगर कृश्नचंदर की तत्परता और ताज़गी देखकर सारी थकावट और विषाद पल-भर में धुल गया और मैं जल्द से जल्द मुँह-हाथ धोकर कृश्नचंदर के ड्राइंगरूम में जा पहुँचा।

"आइए ! वहाँ बैठेंगे !" कृश्नचंदर मुझे अपने स्टडीरूम की तरफ़ ले जाते हुए बोले

और फिर मुझे वहाँ छोड़कर दवाई की गोलियाँ या जाने कुछ और ढूँढ़ने के लिए फिर बाहर चले गए।

सिगरेट सुलगाकर मैंने एक सरसरी-सी नज़र कमरे पर डाली। दरवाज़े से लगी एक मेज़, जिस पर किताबें, फाइलें और पत्रिकाएँ पड़ी थीं। सामने एक रैक, जिसमें हिंदी, उर्दू, अंग्रेज़ी की थोड़ी-सी पुस्तकें रखी थीं। एक पलंग, साइड में सोफ़े के दो पीस, जिनमें से एक पर मैं बैठा हुआ था और सामने एक कैलेंडर।

"तो शुरू किया जाए ?" कृश्नचंदर ने कमरे में प्रवेश करते हुए बहुत सरलता से पूछा।

"जी। मगर बात ये है कृश्न साहब," मैंने इंटरव्यू शुरू करते हुए कहा, "कि मैं साफ़गोई के लिए कुछ हद तक बदनाम आदमी हूँ। हो सकता है, कुछ ऐसे सवाल भी पूछ बैठूँ जो आपको पसंद न आएँ। इसलिए पहले ही···।"

"नहीं-नहीं।" कृश्नचंदर ने सहजता से मुस्कराते हुए जैसे मेरे मुँह पर हाथ रख दिया।

मेरा अहम् तड़प उठा। मैं देख रहा था कि यह शख़्स बराबर सरलता, सादगी और ईमानदारी का नाटक करता चला जा रहा है, मगर कहीं पकड़ में नहीं आ रहा। माना कि व्यक्ति रूप में इसे अपनी उपलब्धि या ऐश्वर्य का कोई घमंड नहीं है, पर क्या इसे यह भी एहसास नहीं है कि यह इतना बड़ा लेखक है और एक अपेक्षाकृत नए लेखक से बातचीत कर रहा है ?

कृश्नचंदर को लगा कि शायद मैं असमंजस में पड़ गया हूँ। इसलिए पिछली बात का सूत्र आगे बढ़ाते हुए बोले, "भई, अगर लिटरेचर में भी यह ईमानदारी न हुई तो कहाँ होगी ? आप जो चाहे पूछें, मैं कोशिश करूँगा कि आपको ठीक-ठीक उत्तर दूँ।"

मैंने सीधे पीढ़ियों के संघर्ष की बात उनके सामने रख दी। शायद पिछले ही दिन 'सारिका' संपादक चंद्रगुप्त विद्यालंकार से मिला था। उसका प्रभाव हो या कल भारती, जो आत्मपरिचय सहित 'धर्मयुग' में नए लेखकों को प्रकाशित करने की योजना बता रहे थे, उसका, मैंने पूछा, "क्या उर्दू में भी नए और पुराने का यह विवाद है ?"

"हाँ, है। ज़रूर है।" उत्तर मिला।

"किस रूप में है ?" मैंने पूछा तो वे रुककर सोचने लगे।

"आप हिंदी और उर्दू के नए लेखकों को किन अर्थों में अपने आपसे या पुराने लेखक से अलग या विशिष्ट मानते हैं।" मैंने बात आगे बढ़ाई।

"पहला और सबसे मोटा फ़र्क़ तो टेकनीक का है।" कृश्नचंदर ने जैसे खिड़की से बाहर सुबह की धूप में दिखाई देने वाले छोटे-छोटे पौधों की ओर देखते हुए कहा, "हम लोगों की ज़बान ज़रा 'स्लो' और रची हुई होती है और नए लेखक के रिएक्शंस

(प्रतिक्रियाएँ) भी हमसे फास्ट (द्रुत) हैं और टेकनीक भी उसी हिसाब से बदली हुई है। दूसरी अहम बात यह है कि नए लेखकों में सेंटीमेंट की कमी है। काफ़ी कमी है।"

"क्या आपका कहना यह है कि नया लेखक सेंटीमेंटल नहीं है ?" मैंने प्रश्न साफ़ किया।

"हाँ, नया लेखक सेंटीमेंटल (भावुक) नहीं है।"

"क्या सेंटीमेंटल होना लेखक का गुण है ?"

"शायद कुछ हद तक है। मगर इस पर लंबी बहस हो सकती है।" कृश्नचंदर ने अपनी ख़ूबसूरत आँखों से मेरी ओर देखते हुए पूछा, "बोलो, तैयार हो बहस के लिए ?"

"तो हो जाए।" मैंने चुनौती स्वीकार करते हुए और 'नई कहानी' के गत विशेषांक में प्रकाशित राजेन्द्र यादव की 'टूटना' शीर्षक कहानी का प्लाट उन्हें बताया और फिर पूछा, "क्या आप नहीं मानते कि राजेन्द्र यादव की जगह कोई भावुकता-प्रिय लेखक अगर इस कहानी को लिखता तो वह हीनता-भाव से ग्रस्त उस नायक को, जो कैरियर बनाने में रत है, पत्र के पाते ही सीधे पत्नी के पास भेज देता और आँसुओं से भीगे वातावरण में उस बिछुड़े हुए जोड़े का मिलाप कुछ इस तरह कराता कि भले ही पाठक का भी हृदय भारी और पलकें गीली हो उठतीं, मगर एक विशिष्ट कोण से उभरता हुआ कैरेक्टर चौपट हो जाता और एक उजागर सत्य की हत्या हो जाती।"

"मैं मानता हूँ कि भावुकता के योग से ऐसी कहानी बिगड़ सकती थी।" कृश्नचंदर ने समझोते के विंदु पर आते हुए कहा।

मैंने अपनी बात पर ज़ोर दिया, "ऐसा नहीं, कैसी भी कहानी हो, भावुकता लेखक को यथार्थ-विमुख ही बनाती है। कमलेश्वर की 'खोई हुई दिशाएँ' जैसी श्रेष्ठ कहानी का अंत भी भावुकता के कारण पिट गया है और जीलानी बाबू की कहानी पर तो आपने 'धर्मयुग' में राजेन्द्र यादव का लेख देखा ही होगा।"

"मैं नहीं देख पाया ?"

"उसमें राजेन्द्र ने जीलानी बाबू और प्रकारांतर से कुछ भारतीय भाषाओं के लेखकों की भावुकता पर ही चोट की है।"

"मैं समझता हूँ," कृश्नचंदर ने जवाब दिया, "कि कहानी के मामले में हिंदी लेखक कुछ ज़्यादा कांशस हैं। इसलिए हिंदी में भावुकता का विरोध भी उर्दू से कुछ ज़्यादा है। पश्चिम में यह और भी ज़्यादा है। मगर पश्चिम की बात तो समझ में आती है। देखते-देखते आज़ादी की लहर वहाँ फैली और एक-एक करके सारे ग़ुलाम देश आज़ाद होते गए और होते जा रहे हैं। धीरे-धीरे पूरा एशिया उनके हाथ से निकल गया। अफ्रीका निकल रहा है, यानी एक ज़मीन उनके पाँवों के नीचे से खिसक रही है। इसीलिए उनका भावुकता से कट जाना स्वाभाविक है। मगर हम अगर ईमानदारी से कहीं थोड़े-थोड़े

सेंटीमेंटलिस्ट भी रहें तो क्या हर्ज है ?" कृश्नचंदर ने पूछा।

उसी मासूमियत से मैंने उत्तर दिया, "हर्ज कुछ नहीं। साहित्य में दूसरे से ज़्यादा हर्ज अपना ही होता है। क्या आप जानते हैं कि हिंदी के कांशस लेखकों और पाठकों का एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है, जो आपके बारे में यह सोचता है कि आप चंद फ़ार्मूलों पर कहानियाँ लिखते हैं। आप क्या सोचते हैं ?"

"मैं इस बात को जानता हूँ। कुछ उर्दू के लेखक और आलोचक भी मेरी इसी तरह आलोचना करते हैं।"

कृश्नचंदर ने मेरी बात का अधूरा-सा उत्तर देकर अपनी चाँद पर हाथ फेरा, एक लंबी-सी खाँसी और सोचने का समय लिया। फिर रुककर बोले, "फिर भी मैं आपसे पूछता हूँ कि ये कांशस लेखक मेरी तरह क्यों नहीं लिख पाते ? देखिए, हर विरोध के कई कारण हुआ करते हैं। हो सकता है कि चूँकि मैं असाधारणीकरण और प्रेषणीयता की बात को काफ़ी महत्त्व देता हूँ और पाठक को अँधेरे में नहीं रखना चाहता, इसलिए भी मेरे अंदर यह कमज़ोरी कहीं झलकती हो। मगर मुख्य बात यह है कि चूँकि मैं रचनाओं में सामाजिक चेतना के प्रश्नों को उठाता और उन्हें अहम समझता हूँ और चूँकि मैं विचारों से मार्क्सवादी हूँ, अतः कभी-कभी विचारों का एक ऐसा ढाँचा (पैटर्न) या संगठन (ऑर्गनाइजेशन) बन जाता है कि लोग मुझे फ़ार्मूलेबाज़ भी कह देते होंगे। यों मार्क्सवादी विचारधारा के विरोधी लोग मेरा यों भी विरोध करते हैं।"

"मैं मार्क्सवादी विचारधारा का विरोध नहीं करता," मैंने कहा, "मगर मुझे ख़ुद ऐसा लगा कि इधर आपकी कई कहानियाँ ऐसी आई हैं जो एक ही ज़मीन से ली गई हैं, जिनमें एक क्लब है, कुछ बोतलें शराब की हैं, कुछ दिलफेंक आदमी हैं और कुछ औरतें हैं...और...बस कहानी है।"

"कुछ उदाहरण देंगे ?" कृश्नचंदर ने धीरे से पूछा।

"याद्दाश्त बहुत अच्छी तो नहीं है फिर भी 'बीबी-कतरा', 'प्रिंस फीरोज़' आदि कुछ कहानियाँ याद आती हैं।" मैंने सोचते हुए उदाहरण दिए।

"अरे वे !" कृश्नचंदर के माथे पर पड़े बल ढीले पड़ गए और उन्होंने मुझे एक सिगरेट सुलगाने का वक़्त देते हुए कहा, "वे सब मेरे एक उपन्यास का अंश हैं जिसमें मैंने बंबई के उच्च वर्ग की सामाजिक ज़िंदगी का खोखलापन और दूसरी बातें उठाई हैं। वैसे बहुत स्वाभाविक है कि उनसे आपको इस तरह की बात सोचने का आधार मिला हो। और क्या पता, हिंदी के और भी बहुत-से पाठकों की धारणा ऐसी ही कहानियों से बनी है।"

"क्या आप जानते हैं कि हिंदी में आपकी कहानियाँ बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं ?" मैंने पूछा।

"हाँ। पाठकों के पत्रों से पता चलता है।"

"आपके पास हिंदी पाठकों के ज़्यादा पत्र आते हैं या उर्दू पाठकों के ?"

"फ़िफ़्टी-फ़िफ़्टी समझिए। शायद हिंदी के कुछ ज़्यादा।" कृश्नचंदर ने उत्तर दिया।

"आप ख़ुद भी हिंदी कहानियाँ पढ़ते हैं या नहीं ?" मैंने पूछा।

"हाँ, पढ़ता हूँ।" उत्तर मिला।

"अच्छा, ये बताइए कि हिंदी के लेखकों में आपको कौन लेखक सबसे ज़्यादा पसंद है ?" मैं चाहता था पूछूँ, और क्यों ? मगर रुक गया। शायद प्रश्न बहुत स्कूली हो जाता।

"मुझे ?" कृश्नचंदर ने थोड़ा सिर उठाकर मेरी ओर देखा और फिर जैसे मेरे ऊपर विश्वास करते हुए बोले, "मुझे अमरकांत पसंद है। कमलेश्वर, राकेश और यादव की कहानियाँ पसंद हैं। निर्मल वर्मा की फ़ार्म अच्छी लगती है और वह जो चौधरी है न ?"

"चौधरी ?" मैंने सोचते हुए याद किया, "राजकमल चौधरी ?"

"हाँ, राजकमल चौधरी। उसके कथ्य से मैं सहमत नहीं हूँ, मगर प्रतिभा उसमें है।"

"उर्दू के नए लेखकों में आपको कौन-कौन पसंद हैं ?" मैंने अगला प्रश्न किया।

"उर्दू में मुझे रामलाल, ग़यासुद्दीन गद्दी, जिलानी बाबू की कहानियाँ अच्छी लगती हैं।" फिर कुछ रुककर बोले, "एक नाम और नोट कर लीजिए, सुरेंद्र प्रकाश, उसकी कहानियाँ भी मुझे पसंद आती हैं।"

मैंने इन नामों में सिर्फ़ जिलानी बाबू और रामलाल को पढ़ा था, इसलिए पूछा, "जिलानी बाबू की कहानियों में क्या सचमुच अति भावुकता का दोष है ?"

"मैं कह चुका हूँ कि मैंने यादव का लेख नहीं पढ़ा। मुमकिन है, उस कहानी में यह दोष हो। मैं कह नहीं सकता। मगर उनकी और कहानियों में और उनकी ही क्यों, सभी नए लेखकों की कहानियों में भावुकता हमसे कम है ?"

बार-बार बेहद ईमानदारी के साथ कृश्नचंदर जिस तरह नए लेखक का महत्त्व स्वीकार कर लेते थे, उससे मुझे ख़ुशी तो होती थी, मगर साथ ही यह भी लगता था कि कहीं यह शख़्स अपनी उदारता का झंडा गाड़ने के लिए ही तो यह सब नहीं कह रहा। मैं चाहता था कि मेरे किसी सवाल पर कृश्नचंदर भड़क उठें और अपने असली रूप में आ जाएँ, मगर वे शांत रहे।

बड़े आश्चर्य की बात है कि इंटरव्यू देने वाला बिना किसी पूर्वाग्रह के इंटरव्यू दे रहा था और लेने वाला अपने मन में ख़ामख़ाँ एक पूर्वाग्रह पाले हुए था और उसे स्थापित करने के लिए हर प्रश्न में किसी स्थान की तलाश कर रहा था। शायद इसीलिए मैं बात को सलमा सिद्दीक़ी यानी कृश्नचंदर की नई साथिन के ऊपर ले आया और उसे सैद्धांतिक मोड़ देने के ख़याल से उर्दू की महिला कहानीकारों का प्रसंग खड़ा कर लिया।

"सलमा मूलतः व्यंग्यकार हैं," कृश्नचंदर ने कहा, "अतः उनमें भावुकता भी कम ही है। वाजिदा मिडिल क्लास के मुस्लिम समाज का चित्र, उनके सेक्स संबंधी व्यवहार या आचरण और उनके सेक्स-पैटर्न और उसमें भी ख़ास तौर से हैदराबाद की ज़िंदगी को उठाती हैं। लिहाज़ा एक सीमा की शिकायत उनसे हो सकती है। हाँ, कुर्रतुलएन हैदर की संभावनाएँ अपेक्षाकृत इन सबसे बड़ी हैं।"

"क्या वे इस्मत की ऊँचाइयों पर पहुँचती हैं ?"

"नहीं।" कृश्नचंदर ने दो टूक और साफ़ जवाब दिया, "मगर वे बहुत अच्छा लिखती हैं।"

मुझे मतलब की, यानी ऐसी कोई बात, जिसमें मैं कृश्नचंदर की व्यवहारगत कमज़ोरी पकड़ सकूँ, हाथ नहीं लग पा रही थी। इसलिए इंटरव्यू को हिंदी और उर्दू के प्रश्न पर ले आया। मुझे मालूम था कि वे उर्दू में पहले लिखते हैं, लेकिन छपाते हिंदी में पहले हैं। फिर भी पूछा, "आप पहले हिंदी में लिखते हैं या उर्दू में ?"

कृश्नचंदर ने सही जवाब दे दिया। और फिर मेरे यह पूछने पर कि आप हिंदी में क्यों आए ? उन्होंने अपनी यूरोप-यात्रा के कुछ संस्मरण सुनाए, जिन्होंने उन्हें राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर गंभीरता से सोचने और हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में पूरी अहमियत देने के लिए प्रेरित किया था। मैं जानबूझकर इसे छोड़े दे रहा हूँ, क्योंकि बात अनजाने ही मुख्यतः नए और पुराने मूल्यों पर केंद्रित हो गई थी। और मन ही मन मैंने इन अर्थों में कृश्नचंदर को बड़ा मान लिया था कि वे नए को समझने और मानने के लिए सतत प्रयत्नशील हैं।

कृश्नचंदर ने कहा, "आप नए की बात करते हैं तो क्या उम्र में नया होने पर ही कोई आदमी नया होता है ? आपके यहाँ नामवर सिंह कितने नए आदमी हैं। वैसे वे मार्क्सवादी भी हैं पर प्रतिपादन पुराने मूल्यों का करते हैं। क्या वे पूर्वी-पश्चिमी नया साहित्य नहीं पढ़ते ?"

इसमें मतभेद की गुंजाइश नहीं थी। कृश्नचंदर का अंतिम वाक्य भी कोई प्रश्न नहीं था। मगर पश्चिमी साहित्य का प्रसंग आया तो मैं लगे हाथों पूछ ही बैठा, "क्यों कृश्न साहब, क्या आपने विदेशी लेखकों में कामू, सार्त्र और अस्तित्ववादी लेखकों तथा काफ़्का आदि को पढ़ा है ? मैं विशेष रूप से काफ़्का के बारे में बात करना चाहता हूँ ?"

"मुझे ये सभी लेखक अच्छे लगते है।" कृश्नचंदर ने एक चलता हुआ-सा उत्तर मुझे थमा दिया।

मैंने कहा, "मैं काफ़्का के बारे में पूछना चाहता हूँ ?"

"मुझे पसंद तो है, मगर भाई, वह बहुत एब्सट्रैक्ट है।" कृश्नचंदर ने अंतिम शब्द कुछ इस तरह कहे जैसे एब्सट्रैक्ट होना उनके नज़दीक मुजरिम होता हो। और बात

एब्सट्रैक्टनेस या अमूर्त कला पर ठहर गई।

मैंने पूछा, "क्या आप भी मार्क्सवादी की तरह एब्सट्रैक्स आर्ट से नफ़रत करते हैं ?"

"नहीं-नहीं।" कृश्नचंदर ने मुझे अपनी बात का ग़लत मतलब लगाते देखकर अंग्रेज़ी में कहा, "कला में अमूर्त विधान एकदम व्यर्थ नहीं होता। उसका कुछ तो उपयोग है ही। कभी-कभी कोई विचार, कोई बड़ा विचार आता है और उसे थोड़े में कहने की इच्छा होती है, तो मैं ख़ुद इस तरह के आर्ट का सहारा लेता हूँ।"

"तो क्या यह आपके मार्क्सवादी सिद्धांतों के विपरीत नहीं पड़ती ?" मेरा इशारा ख़ुश्चेव की कला संबंधी मान्यताओं की तरफ़ था, जिसे कृश्नचंदर ने फ़ौरन पकड़ लिया।

"यह इस बात पर मुनस्सिर है कि आप अपनी बात को कितना प्रेषणीय बना पाते हैं।" कृश्नचंदर ने मूर्त कला को जनवादी धरातल देने की कोशिश करते हुए कहा, "अमूर्त होना जनता से कटकर एक छोटे-से दायरे में महदूद हो जाना भले हो, मगर वहाँ भी इस तरह के तजुरबे किए जा सकते हैं कि आपकी बात की अपील अधिक से अधिक हो।"

मैं पूछना चाहता था कि कैसे ? तभी सलमा जी आ गई और हमें नाश्ते की मेज़ पर जाना पड़ा। सलमा जी लेखिका से भी अच्छी गृहिणी हैं, इस बात का सुबूत नाश्ते की मेज़ ने दिया और मैंने अपने इंटरव्यू को ख़त्म मानकर कृश्नचंदर की देखा-देखी छुरी-काँटा एक तरफ़ उठाकर रख दिया और खाने में लग गया। मगर ज्योंही मिठाई, आमलेट और टोस्ट ख़त्म हुए और पेट की भूख शांत हुई, मेरे लेखक की भूख फिर जाग उठी।

"क्यों कृश्न साहब, भला ऐसा क्यों है कि उर्दू में जहाँ अनेक सफल कहानियाँ लिखी गई, वहाँ एक भी सफल नॉवेल नहीं लिखा गया ?" मैंने पूछा।

सवाल बड़ा नाज़ुक था और मैंने क्षमा-याचना के साथ अंतिम कहकर पेश किया था। कृश्नचंदर ने कुछ देर तो इधर-उधर झाँका और फिर कारण की खोज में कुछ इस तरह की बातें कहने लगे कि विभाजन के बाद हिंदुस्तान में उर्दू की स्थिति काफ़ी ख़राब हो गई है ? मगर यह तर्क अपने आप में काफ़ी लचर था, क्योंकि यही स्थिति कहानियों के संबंध में लागू नहीं होती थी।

अतः मैंने ही कहा, "कहीं ऐसा तो नहीं कि उर्दू में कहानीकारों के पास जो स्टॉक-कैरेक्टर और फ़ॉर्मूले तथा लटके-झटके होते हैं, वे कहानियों में तो जैसे-तैसे साथ निभा देते हैं, मगर उपन्यास की लंबी यात्रा में लड़खड़ाकर गिर जाते हैं। आपका क्या ख़याल है ?"

मगर मेरे पूछने से पहले ही कृश्नचंदर और सलमा सिद्दीक़ी दोनों ने प्रतिवाद में हाथ उठा दिए और हालाँकि इंटरव्यू कृश्नचंदर दे रहे थे, मगर उन्हें कोई माकूल जवाब न देते

देखकर सलमा जी ने बोलना शुरू कर दिया और सच्चे साथी की तरह उन्होंने अपना जवाब इस बात पर ख़त्म किया कि उर्दू में अच्छे उपन्यासों की कमी नहीं है और मुझे कृश्नचंदर के उपन्यास ज़रूर पढ़ने चाहिए।

पूरे ढाई घंटे बीत चुके थे। लिहाज़ा मैं चुप हो गया और मैंने एक सिगरेट सुलगाकर कहा, "मुझे अब कुछ नहीं पूछना।"

"लेकिन मुझे पूछना है। अब मैं आपसे चंद सवाल करूँगा।" कृश्नचंदर ने मुस्कराकर कहा, "आपके पास वक़्त तो है न ?"

मैंने घड़ी की तरफ़ देखा। छोटी सूई ग्यारह के पास थी। मनमोहन सरल जुहू पर मुझे खोजकर लौट गया होगा। अतः मैंने कहा, "जी हाँ, ख़ूब वक़्त है।"

इंटरव्यू ख़त्म हो चुका था। इसलिए यहाँ से इस मुलाक़ात का परिशिष्ट शुरू होता है।

परिशिष्ट

प्यालों में थोड़ी-सी चाय शेष थी। मैंने चाय का आख़िरी घूँट भरते हुए यों ही पूछा, "क्या उपेन्द्रनाथ अश्क की उर्दू में भी वही स्थिति है, जो हिंदी में है ? यह एक बिलकुल निजी सवाल है।"

"भई, बात ये है कि अब क्या कहूँ, वह मेरा ख़ास दोस्त है।" कृश्नचंदर ने गहरी उलझन महसूस करते हुए और सलमा जी की तरफ़ देखते हुए कहा, "वैसे यह ज़रूर है कि उसके मरने के साथ ही उसका साहित्य भी भुला दिया जाएगा। मगर आप वादा करते हैं न कि यह इंटरव्यू का हिस्सा नहीं है।"

"जी, बिलकुल नहीं, यह तो इंटरव्यू का परिशिष्ट है।" मैंने उन्हें तसल्ली दी कि वे ख़ामख़ॉ घबराएँ नहीं।

19 मार्च, 1961, 'धर्मयुग' मे प्रकाशित, 'नई कहानी' मे राजेन्द्र यादव की 'टूटना' जिस साल छपी

भोपाल : साहित्य के झरोखे से

भोपाल में साहित्य का मतलब शायरी होता है। जी हाँ, शायरी। भोपाल में जितने कवि और शायर हैं, उतने शायद ही यूरोप के किसी मुल्क में हों। इसलिए अकसर प्रवृत्तियों के आधार पर अर्थात् रूमानी कवि, प्रकृति के कवि या तरक्क़ीपसंद शायर, क़ौमी शायर आदि की बजाय भाई लोगों ने उनका वर्गीकरण मुहल्लों के आधार पर किया है, जैसे टी०टी० नगर के कवि, नॉर्थ टी०टी० नगर के कवि, पीर गेट के शायर, बुधवारे के शायर, मंगलवारे के शायर वग़ैरह-वग़ैरह...। और ख़ुदा जाने कहाँ तक सच है, कहने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि चंद शायरों में स्पृहा इस बात पर होती है कि उनकी ग़ज़लें कितनी तवायफ़ें गाती हैं और अकसर शायरी की श्रेष्ठता को इस कसौटी पर कसा जाता है कि आजकल कौन-सी तवायफ़ किसकी ग़ज़ल गा रही है। यानी तवायफ़ जितनी श्रेष्ठ होगी, उतनी ही श्रेष्ठ ग़ज़ल होगी।

मैंने अपने इंटरव्यू के लिए शायरों के इस तबके को जानबूझकर छोड़ दिया है, क्योंकि इसके बरअक्स शायरों का एक ऐसा तबका भी यहाँ है, जो साहित्य और समाज की सारी समस्याओं पर निहायत ईमानदारी और संजीदगी से सोचता है और अपने प्रगतिशील विचारों के बावजूद जीवन के प्रति एक अजीब-सा दर्दीला किंतु सौंदर्यवादी दृष्टिकोण रखता है। ऐसे लोगों में भोपाल की मशहूरो-मारूफ़ हस्ती हैं अख़्तर सईद। पेशे से वकील, संस्कारों से शायर, विचारों से वामपक्षीय राजनीतिज्ञ और स्वभाव से बेहद ख़ुशमिजाज़, मेहमाननवाज़ और हरदिल अजीज़। मैंने जब उनसे इस इंटरव्यू के सिलसिले में शायरी की चर्चा चलाई, तो कहने लगे, "जनाब, आप हैं कहाँ ? आज की ऐज (युग) शायरी की नहीं, साइंटिफ़िक एचीवमेंट्स (वैज्ञानिक उपलब्धियों) की है। आज का टेस्ट (रुचि) साइंस है, शे'र नहीं। लिहाज़ा न किसी की शायरी में दिलचस्पी है, न रुझान। वह सिर्फ़ शौक़ की चीज़ रह गई है। यों मैं ज़ाती तौर पर उसे फ़ालतू चीज़ नहीं मानता, मगर वह फ़ालतू बना दी गई है। और पेशतर इसके कि आप मुझसे यह पूछें, किसने बना दी है, मैं अर्ज़ करना चाहूँगा कि हर चीज़ की कसरत (अधिकता) उसकी ख़ूबी को कम कर देती है।"

"मगर अख़्तर साहब, जब आज के युग का टेस्ट ही शे'र नहीं रह गया है, तो फिर आप शे'र कहने की तकलीफ़ भी क्यों उठाते हैं ? आख़िर उस चीज़ से क्या फ़ायदा

जो आपको पूरे युग और समाज से नहीं जोड़ती ? यों भी यह बात क्या आपके तरक़्क़ीपसंद उसूलों के ख़िलाफ़ नहीं पड़ती ?"

"देखिए, त्यागी साहब, आपके सवालात का सिलसिलेवार जवाब यह है कि जिस दश्त की सैयाही में उम्र गुज़री है, उससे इतनी जल्दी ताल्लुक़ात ख़त्म नहीं किए जा सकते, एक बात। दूसरी बात यह है कि मैं मान ही नहीं पाता कि साहित्य हमें समाज के पास नहीं ले जाता। साहित्य का मक़सद ही इंसान और समाज की ख़िदमत करना है। ज़िंदगी के हुस्न को उभारकर रखना है। मैं बराबर नए साहित्य और उर्दू अदब के नए ट्रेंड्स (प्रवृत्तियाँ) के टच (संपर्क) में रहता हूँ। उधर एक सियासी जमात (राजनीतिक दल) से भी मुताल्लिक हूँ और शऊरी तौर पर पिछले बारह सालों से प्रोग्रेसिव आइडियोलॉजी (प्रगतिशील विचारधारा) से जुड़ा हूँ। लिहाज़ा यह अहसास बराबर तेज़तर होता रहा है कि हम अदीब अगर इनसानियत की ख़िदमत का फ़र्ज़ अदा करें और ज़िंदगी को ख़ूबसूरत बनाने की ज़िम्मेदारी लेकर चलें, तो कोई सबब नहीं कि साहित्य की अहमियत को नज़रअंदाज़ कर दिया जाए। अगर साहित्य के ज़रिए समाज की ठोस ख़िदमत हो, तो लोग ज़रूर इस तरफ़ मुतवज्जह (आकृष्ट) होंगे।"

"आपका यह सवाल बहुत माकूल है कि आख़िर ख़ुद अदीब इस तरफ़ मुतवज्जह क्यों नहीं हुए ?" अख़्तर सईद ने मेरे सवाल पर गंभीर होते हुए कहा, "इसका सबब है सलाहियत की कमी। हिंदी की बात ख़ुद ज़्यादा बेहतर जानते होंगे। जहाँ तक उर्दू अदीबों और ख़ासकर शायरों का सवाल है, वे पढ़ने-गुनने से ताल्लुक़ नहीं रखते। अगर शराब और साक़ी की तरह पढ़ना-लिखना भी शायरी का एक पार्ट होता, तो हमारे शायरों में सलाहियत की कमी न होती और उर्दू शायरी का मिजाज़ बदला हुआ होता।"

"आपकी बातों से लगता है कि आप बहुत ज़्यादा पढ़ते हैं।" मैंने कहा, तो अख़्तर साहब ने एक ज़ोरदार ठहाका लगाया और बोले, "जी हाँ, पढ़ने की कोशिश ज़रूर करता हूँ, मगर यह शौक़ भी निभ नहीं पाता। आप तो जानते ही हैं कि वकालत-क़ानून पढ़ने-लिखने, बोलने बल्कि बोले चले जाने का काम है। और मेरा यह पेशा मेरे पढ़ने-लिखने में बहुत ज़्यादा रुकावट डालता है।"

मैंने अख़्तर सईद से विदा ली और किसी ऐसे आदमी को खोजने की कोशिश करने लगा, जो चाहे किताबों का कीड़ा न हो, मगर नियमपूर्वक पढ़ता हो। शायरों की बस्ती में यह तवक्कह फ़िज़ूल थी। लिहाज़ा मैंने अपना रुख़ कॉफ़ी हाउस की तरफ़ किया। पीछे से किसी गाड़ी में ब्रेक लगने की-सी आवाज़ हुई और मुझे मुड़कर यह देखना पड़ा कि क्या मैं वाकई अपने विचारों में इतना ज़्यादा खो गया हूँ कि मेरे बीवी-बच्चे मेरे बीमे की रक़म के हक़दार बन जाएँ ? मालूम हुआ, हमारे अज़ीज़ इंजीनियर दोस्त जनाब सुरेंद्र मल्होत्रा अपनी नई 'फ़िएट' पर सवार हैं और हमें लिफ़्ट देने की ग़रज़ से

चौंका रहे हैं। हमने उन्हें अपनी परेशानी बताई, तो बोले, "अगर मज़दूर क्लास से इंटरव्यू लेने में परहेज़ न हो तो हमारी फ़ैक्टरी में एक सब-ओवरसीयर है, जो हर वक़्त किताब हाथ में लिए रहता है।"

उन सज्जन का नाम निकला श्याममनोहर सक्सेना। जब हमने मल्होत्रा साहब के कमरे में उन्हें बुलवाया तो हज़रत हाथ में कोई धार्मिक पुस्तक लिए थे, जिसे देखते ही हमारे फ़रिश्ते कूच कर गए। हमने छूटते ही पूछा, "आपकी रुचि धार्मिक साहित्य में है ?" तो वे एक क्षण को तो झिझके, मगर दूसरे ही क्षण सच्चाई पर उतर आए, "देखिए सा'ब, साहित्य-वाहित्य की बात क्या है ? वह तो उम्र के ऊपर चलता है। मैं तो यूँ समझा हूँ कि बीस से तीस की उम्र तक क़िस्से-कहानियाँ तथा कविताएँ और बाद में धर्म तथा फ़िलॉसफ़ी की किताबें सभी पढ़ते हैं।"

मैंने कहा, "सबकी बात छोड़िए, सक्सेना साहब ! आप सिर्फ़ अपनी कहिए कि आपको पढ़ने का शौक़ कब, क्यों और कैसे लगा और कैसे आप क़िस्से-कहानियों से धर्म और दर्शन की किताबों की तरफ़ झुके और वह कौन-सी बात है, जो आपको पढ़ने के लिए मजबूर करती है ?"

सक्सेना साहब एक बार फिर थोड़ा हिचके, किंतु उन्होंने जो कहानी सुनाई उसका लबे-लुआब इस प्रकार है, " मेरा जन्म सन् '21-22 के आसपास हुआ। घर में काफ़ी लाड़-प्यार और बिगड़ने की सहूलियत मिली। पिताजी मुझे बाँधकर रखना चाहते थे और मैं समाज में कुछ कर गुज़रने का इच्छुक था। इसलिए कई बार घर से भागा और इधर-उधर धक्के खाकर इस नतीजे पर पहुँचा कि दुनिया बड़ी पेचीदा है और इसे केवल अनुभवों के ज़रिए समझा जा सकता है। हर अनुभव में कोई न कोई नसीहत छिपी होती है। और साहित्य अपने अनुभवों का ही निचोड़ होता है। शरद् और प्रेमचंद इसीलिए मुझे बहुत पसंद हैं कि उनके साहित्य से हमें नसीहत मिलती है। जहाँ साहित्य से हमें यह नसीहत न मिले और अच्छे और ख़राब कामों का नतीजा सामने न आए, वहाँ मुझे लगता है कि साहित्य अपने उद्देश्य से गिर रहा है। शायद इसीलिए मुझे धार्मिक पुस्तकें बहुत पसंद हैं। यहाँ तक कि 'रामायण' मैं रोज़ पढ़ता हूँ। क्रांतिकारियों की जीवनियाँ पढ़ते-पढ़ते रोने लगता हूँ। वैसे मैं हर साहित्य से अपने मतलब की बात निकाल ही लेता हूँ, चाहे वह, जासूसी उपन्यास ही क्यों न हो। उदाहरण के लिए, जासूसी उपन्यास भी मनोरंजन के साथ-साथ हममें एक 'एक्टिविटी' भरते हैं और दिमाग़ को तेज़ करते हैं।

" हाँ, आप जो नए साहित्य की बात करते हैं, उससे मुझे ज़रूर उलझन होती है, क्योंकि उसमें लड़कियों-औरतों के अलावा और कुछ होता ही नहीं। ऐसे साहित्य का दिमाग़ पर बुरा प्रभाव पड़ता है। देखिए, शुरू-शुरू में बच्चा अपने माँ-बाप से प्यार करता है, फिर वह बड़ा होकर अपने स्कूल के दोस्तों-साथियों से प्यार करना सीखता

है, मगर जब ऐसी रचनाएँ पढ़ता है, तो मुहल्ले-पड़ोस की लड़कियों से प्यार करने लगता है, जो एक बहुत ग़लत बात है। दरअसल साहित्य ऐसा होना चाहिए कि लड़का या तो अपने देश और समाज से प्यार करे या अपनी बीवी और बच्चों से, यही भारतीय आदर्श है।"

मैंने कहा, "आपने शायद अपनी जवानी में किसी से प्यार नहीं किया, इसीलिए आप रोमांटिक साहित्य के इतने ख़िलाफ़ हैं।"

"नहीं, सा'ब, प्यार मैंने भी किया है और बीवी के रहते के बावजूद किया है। मगर उसके पीछे भी एक आदर्श था, जो मैंने अपनी बीवी को भी बतला दिया था। उसमें कोई पाप नहीं था। वह लड़की हमारे ही मुहल्ले में रहती थी और बहुत प्यासी नज़रों से आने-जाने वाले लड़कों की तरफ़ देखा करती थी। शुरू-शुरू में तो मैंने कोई ध्यान नहीं दिया, पर जब मालूम हुआ कि वह एक मुसलमान लड़के की तरफ़ झुक रही है, तो मैंने हिंदू धर्म की रक्षा के ख़याल से उसकी ओर क़दम बढ़ाया और बातचीत 'नमस्ते' से शुरू हो गई।"

"फिर कहाँ तक पहुँची ?"

"पहुँची कहीं तक नहीं। मैंने उसकी अपनी बीवी से दोस्ती करा दी। दरअसल मैं उसे उसकी शादी तक उलझाए रखना चाहता था। इसलिए बावजूद उसकी सारी इच्छाओं के हमारा 'लव' 'किसिंग' से आगे नहीं गया। हम रात को अकेले में घंटों-घंटों के लिए मिलते थे, मगर कोई बात नहीं हुई।"

"यह कैसे हो सकता है कि आप घंटों-घंटों के लिए मिलते हों और कोई बात न हो ? आख़िर कुछ प्रेम-प्यार की बातें तो होती होंगी ?" मैंने पूछा।

"नहीं, हम ख़ामोश नहीं बैठते थे। बातें भी करते थे, मगर यही कि आज तुमने क्या किया या मैंने क्या किया। दूसरे, हम लोग एक-दूसरे के लिए कुछ न कुछ खाने की चीज़ें ले जाया करते थे और उस वक़्त का भी उपयोग कर लेते थे।"

मैंने धन्यवाद देकर सक्सेना साहब को विदा किया और अपने इंजीनियर दोस्त मल्होत्रा साहब की ओर मुख़ातिब हुआ, जो भौचक होकर मेरी ओर ताके जा रहे थे। मैंने गुज़ारिश की, "जनाब, उन लोगों की बात छोड़िए जो प्रेम के वक़्त का भी खाने-पीने में उपयोग कर लेते हों। ऐसे आदर्शवादी ज़रूर साहित्य से भी कोई न कोई नसीहत लेना चाहते हैं। अब आप फ़रमाइए कि आप साहित्य से क्या अपेक्षा रखते हैं ?"

सुरेंद्र ने बड़ी कातर दृष्टि से मेरी ओर देखकर कहा, "यार, मैं तो रात को सोने से पहले या ट्रेन में सफ़र गुज़ारने के लिए या यों ही वक़्त गुज़ारने के लिए साहित्य पढ़ता हूँ। क्या तुम मेरा भी इंटरव्यू ले रहे हो ?"

"हाँ, ले तो रहा हूँ।" मैंने कहा, "मगर तुम मुझे सिर्फ़ इतना बता दो कि तुम क्या

पढ़ते हो और क्यों पढ़ते हो ?"

"क्या पढ़ता हूँ, यह तो तुम्हें मालूम है, क्योंकि ज़्यादातर साहित्यिक किताबें तुम्हारे यहाँ से ही माँगकर लाता हूँ। उनके अलावा अंग्रेज़ी उपन्यास और करेंट टॉपिक्स की चीज़ें जैसे—किलरकांड वगैरह पढ़ता हूँ और मक़सद होते हैं दो—एक मनोरंजन और दूसरा 'मेंटेनेंस ऑफ़ माइंड' बस। बल्कि यों कहूँ कि मनोरंजन ही मक़सद होता है तो भी शायद ग़लत न होगा, क्योंकि उसमें मेंटेनेंस वाली बात भी आ जाती है। यों तो सिनेमा-थिएटर में भी मनोरंजन होता है, किंतु साहित्य से हमारा जो मनोरंजन होता है, वह एक साथ हमारी कई तरह की मानसिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करता है। दूसरे शब्दों में मनोरंजन का मतलब है 'ब्रेन वाशिंग' यानी दिमाग की साफ़-सफ़ाई। भई, मैं तो इंजीनियर हूँ। जिस तरह मशीनों की सफ़ाई करता हूँ, उसी तरह अपने दिमाग़ की भी सफ़ाई करनी पड़ती है। और यह पढ़ने से हो जाती है, बशर्ते कि किताब तथाकथित नए साहित्य की, यानी उलझाने वाली न हो।

" वैसे हमारा पेशा ऐसा है कि इसमें लोग पढ़ते-लिखते नहीं हैं। मगर इसमें पेशे से अधिक दोष उन जूनियर स्कूलों के शिक्षकों और अभिभावकों का है, जो बाल्यकाल में ही विद्यार्थियों को पढ़ने की आदत नहीं डालते। मै तो समझता हूँ कि अगर बचपन में छोटी-छोटी कहानियाँ सुनाकर या देकर बच्चे में पढ़ने की आदत डाल दी जाए, तो वह चाहे इंजीनियर नहीं, कुछ भी बन जाए, उसका काम बिना कुछ पढ़े चल ही नहीं सकता। और यह बहुत अच्छी बात है। कम से कम पढने की आदत से आदमी अपनी 'वोरियत' को भगा सकता है, उस 'बोरियत' को जो आज मशीनी ज़िंदगी का एक हिस्सा बन गई है और जिससे बचने के लिए क्लबों, बारो ओर कॉफ़ी हाउसों की तरफ़ भागते है। मे कहता हूँ कि क्लब और कॉफ़ी हाउस क्या, आप अपनी प्रेमिका तक से बोर हो सकते है, पर साहित्य से बोर नहीं हो सकते, क्योकि उसमे और चाहे कुछ हो, मोनोटनी (एकरसता) नहीं होती। क्या ख़याल है ?"

मैं अपने खयाल का इज़हार करने ही जा रहा था कि मल्होत्रा साहब ने घड़ी पर नज़र डालकर कहा, "चलो, अब तुम्हें घर छोड़ दूँ। बहुत बोर कर दिया तुमने।" और बजाय मेरे घर छोड़ने के वे मुझे अपने घर के पास छोड़कर खिसक गए।

मुझे एक प्याला चाय की ज़रूरत थी, लिहाज़ा विना किसी तकल्लुफ़ के मैंने लाला मुल्कराज की उस बड़ी-सी इमारत की सीढ़ियाँ चढ़ीं, जिसे 'साकेत' कहते हैं।

एक स्मार्ट लड़की मेरे लिए नौकर से चाय उठवाए हुए आई और बोली, "आप बहुत थके हुए लग रहे हैं।"

मैंने चाय का प्याला हाथ में लिया और उसकी बात का जवाब देने की बजाय उलटे उसी से पूछा, "तुम कुछ पढ़ती हो स्वर्णा ?"

स्वर्णा—नहीं। अब श्रीमती स्वर्णलता बंका, सुरेंद्र मल्होत्रा की बहन हैं।

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं, सब कुछ पढ़ती हूँ, आपकी नई कविताएँ छोड़कर, वे मुझे पसंद नहीं आतीं।"

"या समझ में नहीं आतीं ?" मैंने पूछा।

बोली, "बात है एक ही। अगर समझ में आएँ, तब भी पसंद आ सकेंगी, इसमें संदेह है।"

मेरी कई आदतों से उन्हें चिढ़ है। यहाँ तक कि मेरे साहित्य से भी। मैं जिसे गायक मानता हूँ, उसे वह हिंदुस्तान का सर्वश्रेष्ठ कवि कहती हैं और मैं जिसे सर्वश्रेष्ठ कहानीकार मानता हूँ, उसे वह सर्वश्रेष्ठ 'बोर' कहकर टाल जाती हैं। मैंने उन्हें अपनी इंटरव्यू वाली योजना बताई, तो बोलीं, "आप मेरा इंटरव्यू ले लें।" और फिर खुद ही कहने लगीं, "देखिए, साहित्य एक सच्चे जीवनसाथी की तरह होता है। जब आप अकेले होते हैं, तो वह आपका साथ देता है। जब आप उदास होते हैं तो वह आपमें स्फूर्ति भरता है और जब आप थकने, टूटने या बिखरने लगते हैं तो वह आपकी बाँह पकड़कर आपको प्रेरणा, स्नेह और सहानुभूति देता है। यही नहीं, जब आप जीवन की सारी दिशाओं को अंधकारपूर्ण पाते हैं तो वह आपका मार्गदर्शन करता है और एक जीवनसाथी की तरह आपको अंधकार से प्रकाश की ओर जाने में सहायता करता है।"

वह अपने अत्यंत सरल तथा सज्जन पति के प्रभाव से एक क्षण को भी मुक्त नहीं हो पाती। इसलिए जब उसने फिर साहित्य की तुलना जीवनसाथी से की, तो मैंने कहा, "सब लड़कियाँ तुम जैसी खुशकिस्मत नहीं होतीं स्वर्णा, और न सब जीवनसाथी ही इतने अच्छे होते हैं। कुछ गधे भी तो हो सकते हैं।"

"तो मैं यह कब कह रही हूँ कि सारा साहित्य ही अच्छे किस्म का होता है। आपकी नई कविताओं या आपके नए कथा-साहित्य के बारे में बात करनी होगी, तो मैं कहूँगी कि वह उनके लिए, जो उसे पढ़ते हैं, एक ख़राब जीवनसाथी की तरह है, जो प्रकाश से अंधकार और सुलझाव से उलझनों की ओर ले जाता है।"

स्वर्णा बिलकुल मज़ाक़ के मूड में थी और मैंने अपनी चाय ख़त्म कर ली थी। वह बोली, "बैठिए, साहित्य की बात नहीं करेंगे। यह बड़ा बोर विषय है। मैं तो पढ़ती हूँ, इसलिए बोर होती हूँ कि पढ़ लिया और नहीं पढ़ती, तो इसलिए बोर होती हूँ कि कुछ पढ़ा नहीं। ख़ास तौर पर आपके जो नए लेखक हैं न, इनकी जो कहानियाँ मैंने पढ़ी हैं, हे मेरे ईश्वर, उन्हें पढ़ न पाओ तो परेशानी, कि देखो, हमने इतने महत्त्वपूर्ण लेखक छोड़ दिए ! पढ़ने लगो तो परेशानी, हाय, कमबख़्त कितनी मेहनत करनी पड़ती है इन्हें पढ़ने में ! पढ़ चुकी तो परेशानी कि दिमाग़ में जाने कैसी-सी प्रश्न-भरी पीड़ा सुरसुराती रह जाती है। इसलिए सबसे अच्छी बात यह है कि हम इस साहित्य की बात ही न करें।

रेडियो-साहित्य की बात करें।"

थोड़ी ही देर बाद मुझे उठ खड़े होना पड़ा, क्योंकि मुझे चाय के साथ सिगरेट पीने की आदत है और मेरी जेब में उस समय सिगरेट नहीं थी।

दूसरे दिन मैंने सोचा कि क्यों न लगे हाथों श्यामानुज प्रसाद वर्मा से भी इंटरव्यू ले लिया जाए, जो एजूकेशन डायरेक्टर होने के नाते सारे राज्य की शिक्षा संबंधी गतिविधियों के नियामक हैं। चुनाँचे सोचने के साथ ही मैंने उन्हें टेलीफ़ोन भी कर दिया और घंटे-भर बाद ही मैं उनके दफ़्तर में उनके साथ चाय पी रहा था। वर्मा साहब अंग्रेज़ी बोलने में सुविधा अनुभव कर रहे थे। बोले, "मस्तिष्क की गति निरंतर एक-सी नहीं रहती, बदलती रहती है। जिसे आप मूड कहते हैं, वह इन्हीं बदलती हुई मानसिक स्थितियों की छाया है। एक ही महीने में आपका मूड अनेक करवटें बदल सकता है। और मेरा पढ़ना मुख्यतः ऐसे ही मूड्स पर निर्भर होता है। यही कारण है कि मैं जासूसी उपन्यासों से लेकर सीरियस सामाजिक रचनाएँ तक समान उत्साह से पढ़ता और इंज्वॉय कर पाता हूँ।"

"यानी आप इंज्वॉयमेंट के लिए पढ़ते हैं ?" मैंने पूछा।

"यह बात भी मूड पर निर्भर करती है कि और इंज्वॉयमेंट भी उसका एक पक्ष हो सकता है, बशर्ते कि मैं बहुत थका हुआ हूँ और थोड़ी ताज़गी चाहता हूँ। लेकिन सेल्फ़ रियलाइज़ेशन अर्थात् आत्मबोध इसका दूसरा पक्ष है।" वर्मा साहब ने आगे कहा, "यों समझिए कि आप साहित्य की एक विधा, यानी कविता में दिलचस्पी रखते हैं, मगर इसका मतलब यह तो नहीं होता कि आप कहानियाँ, उपन्यास नहीं पढ़ते या पढ़ सकते। क्या कभी-कभी ऐसा नहीं होता कि दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र की बजाय और विषयों को पढ़ना पसंद करता है ? उन्हें इंज्वॉय करता है ? वह मूड के अनुसार उनसे मनोरंजन भी प्राप्त कर सकता है और आत्मबोध भी। साहित्य कहीं न कहीं हर व्यक्ति की अपनी भावनाओं को प्रतिबिंबित या प्रतिगुंजित करता है।"

"इस हिसाब से तो राजनीति भी आदमी को प्रतिबिंबित और प्रतिगुंजित करती है और वह भी साहित्य हो सकती है ?" मैंने पूछा।

" क्यों नहीं ? राजनीति भी मानवीय कृतित्व है और हर मानवीय चीज़ साहित्य का एक अंग हो सकती है, बशर्ते कि वह कलात्मक ढंग से प्रस्तुत की जाए। क्रोंचे के शब्दों में यह कहूँगा कि केवल अभिव्यक्ति ही कला है। आप अजंता, एलोरा और खजुराहो को देखिए। वे क्या हैं ? सिर्फ़ एक्सप्रेशन। डिकेन्स, हार्डी वग़ैरह ने ज़िंदगी की रोज़मर्रा की बातें लिखी हैं, लेकिन सिर्फ़ कहने के ढंग ने उन्हें साहित्य बना दिया है। और जीवन की विकृति भी कलात्मक हो सकती है, बशर्ते कि उसे डी०एच० लॉरेन्स की तरह चित्रित किया जाए। जीवन की नग्न तस्वीरें तो अजंता-एलोरा भी हैं, पर उनकी

अभिव्यंजना कलात्मक स्तर पर हुई है।

" कलात्मक साहित्य भी अश्लील हो सकता है। उसका अच्छा-बुरा प्रभाव भी नकारा नहीं जा सकता। मगर ऐसे साहित्य का मूल्यांकन भी इस बात पर निर्भर करता है कि कौन-सा पलड़ा भारी है। आप मोराविया को लीजिए या चेख़व की 'डार्लिंग' कहानी को। उसमें बावजूद नग्नता के, कला वाला पलड़ा भारी है। उधर रूसी क्रांति के परवर्ती लेखकों को लीजिए। वे राजनीतिक प्रचार को भी कलात्मक ढंग से पेश करते हैं। यहीं मैं फिर राजनीति वाली बात पर आऊँगा कि जीवन में आवश्यक होने के बावजूद उसके मिश्रण से साहित्य संकुचित और सामयिक मूल्य का होकर रह जाता है। मैं कहता हूँ, राजनीति की विश्वजनीन समस्याओं, जैसे युद्ध, शांति आदि पर भी तो लिखा जा सकता है, पर लोग छोटे-छोटे दायरों में घूमते हैं। मुझे तो सच पूछिए, डॉ० ज़िवागो भी अच्छा नहीं लगता। मुझे उसमें कोई आर्ट नज़र नहीं आता। ख़ुदा जाने उसे नोबल प्राइज़ कैसे मिल गया ! "

वर्मा साहब बराबर बड़े प्यारे अंदाज़ में बोलते-बोलते अचानक 'कांशस' हो गए, क्योंकि वक़्त काफ़ी गुज़र गया था। मुझे ख़ुद इतनी विचारोत्तेजक सामग्री मिल गई थी कि दिमाग़ भारी-भारी महसूस होने लगा था। मैं उनसे विदा लेकर चला तो सोचा कि इस थकान को एक हलके-फुलके इंटरव्यू से उतारा जा सकता है। सो कु० तलत मसूद के पास चला आया, जो एम०ए० की स्टूडेंट भी है और अब कुछ दिनों से रेडियो में एनाउंसर भी। उसने मेरे सवालों का जवाब निहायत संजीदगी और ईमानदारी से दिया। बोली, "अरे, सब लड़कियाँ पढ़ती हैं त्यागी साहब, बस मौक़ा मिलने की देर होती है। कमबख़्त नॉवेल साथ लेकर क्लास में जाती हैं। ज़रा टीचर की आँख बची कि किताब आँखों के सामने। हाँ, मक़सद सबके अलग-अलग होते हैं। मसलन कुछ लड़कियाँ, चाट न खाई, नॉवेल पढ़ लिया, इसलिए पढ़ती हैं। कुछ, घर में ज़्यादा रोटियाँ थोपनी पड़ीं तो कुछ मनोरंजन हो जाए, इसलिए पढ़ती हैं। और कुछ इसलिए पढ़ती हैं कि दूसरी लड़कियों पर अपनी क़ाबिलियत और अदबी-शऊर का रोब डालें। लड़कियाँ क्या लड़के भी ग़ालिबन इसी दृष्टि से पढ़ते होंगे। मगर मैं दूसरी दृष्टि से पढ़ती हूँ। यानी मैं मनोरंजन के साथ-साथ साहित्य में ज़िंदगी का हुस्न भी देखना चाहती हूँ। मैं चाहती हूँ कि साहित्य हमें बदलकर रख दे। हमें मॉज दे, चमका दे। इसका मतलब यह नहीं कि हमारे साहित्यकार और अदीब हमारे सामने ऊँचे-नीचे आदर्श रखें और हमें कल्पना की भूलभुलैयों के चक्कर लगवाएँ, बल्कि मतलब यह है कि वे हमारे वर्तमान में जो कुछ कुरूप, घिनौना और भद्दा है, उसे इस तरह सच्चे और यथार्थवादी ढंग से पेश करें कि हमें उससे परेशानी होने लगे और हम ख़ुद एक दिन उकताकर उसे बदल दें।"

"तुम्हारा क्या ख़याल है, आधुनिक साहित्य यथार्थवादी है या आदर्शवादी ?" मैंने

पूछा।

"नहीं, यथार्थवादी ही है, कुछ-कुछ है और कुछ-कुछ होता जा रहा है। मगर हिंदी की बात मैं ज़्यादा नहीं जानती। उर्दू में तो कृशनचंदर जैसे लेखक एक-दो ही हैं, जो यथार्थवादी नज़र रखते हैं। आप दूर क्यों जाते हैं, औरतों को लीजिए। साहित्य में उन्हें या तो देवी बनाकर पूजा गया है या एकदम अधम और वेश्या-रूप में चित्रित किया गया है, जबकि ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। सच्चाई इन दोनों के बीच में है। यानी औरत, औरत है। न वह सिर्फ़ प्रेम करती है, न सिर्फ़ नफ़रत। वह दोनों करती है। वह देवी भी है, दानवी भी। और वह एक साथ अच्छी भी है और बुरी भी। वह केवल अच्छी या बुरी कैसे हो सकती है ?"

कुछ इसी से मिलती-जुलती बात माणिकचंद्र जैन ने कही, जो यहाँ सेक्रेटरिएट में अपर डिवीज़नल क्लर्क हैं। कहने लगे, "साहित्य को यथार्थवादी होना चाहिए, मानता हूँ, पर उसकी अपील भी व्यापक होनी चाहिए। हिंदी के आधुनिक कथा-साहित्य की कमज़ोरी ही यह है कि वह यथार्थपरक तो है, लेकिन उसमें व्यापक मानवीय अपील नहीं है। वह गहराई में नहीं उतरता। वह हमारे हृदय के भीतर तक नहीं पहुँचता। उसमें कहानीपन नहीं रह गया है। यथार्थ की सृष्टि का अर्थ कुरूप की सृष्टि नहीं होता। इसलिए मुझे आज भी, जहाँ तक उपन्यासों का संबंध है, पुराने कथाकार अच्छे लगते हैं—जैनेंद्र, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल आदि। हाँ, कहानियाँ मुझे नए लेखकों की पसंद आती हैं, पर उनमें भी बाँग्ला कहानियों की-सी अपील नहीं है।"

मैंने कहा, "कहीं आप बाँग्ला कहानियों की भावुकता से तो आक्रांत नहीं हैं ?"

"हो सकता है, आपकी बात सही हो। देशपांडे भी अकसर इस संदर्भ में मुझ पर यही आरोप लगाया करता है। लेकिन भावुकता भी, यदि वह मनुष्य को अधिक सहजता तथा सहानुभूति के साथ समझने की दृष्टि देती है, तो अस्वीकार्य क्यों हो ? सच पूछिए तो मुझे निर्गुण की 'एक शिल्पहीन कहानी' 'वापसी' से ज़्यादा अच्छी लगी थी। मैं तो साहित्य का पहला उद्देश्य मानता हूँ कि उससे आनंद की सृष्टि होनी ही चाहिए।"

जैन साहब के मित्र हैं भगवंत देशपांडे, जो वैसे तो रंगमंच के आदमी हैं और प्रकाशन विभाग में कलाकार हैं, पर पढ़ते हैं आधुनिक साहित्य और जैन साहब से घंटों चर्चा करते हैं। यहाँ वह मित्र-धर्म निबाहने में एकदम चूक गए। बोले, "मैं माणिक की बात से सहमत नहीं हूँ। साहित्य का उद्देश्य आनंद की सृष्टि करना नहीं, दृष्टि देना है। ऐसी दृष्टि जो हमें चीज़ों के आर-पार देखने की शक्ति और सामर्थ्य दे। आप ही बताइए कि जिस युग और समाज में हम जी रहे हैं, जिन उलझावों और पीड़ाओं को हम भोग रहे हैं, उनमें आनंद है कहाँ ? यदि थोड़ी देर के लिए मान लो कि साहित्य

द्वारा आनंद की सृष्टि होती भी है, तो उससे हमारा जीवन क्या आनंदमय हो जाएगा ? उससे क्या हमारी समस्याएँ सुलझ जाएँगी ? क्या हमारा जीवन सरल और सुगम हो जाएगा ? अतः साहित्य से एक ऐसी वस्तु की माँग करना, जो हमारे जीवन में भी नहीं है, ग़लत है। यह साहित्यकारों से एक अनुचित अपेक्षा है। यह तो उसी तरह की बात हुई कि कोई आदमी भयंकर दर्द से छटपटा रहा है, और आप अपेक्षा करें कि वह आपको अपनी पीड़ा की बात न सुनाकर लतीफ़े सुनाए। अरे भाई, आप उसे अपना दर्द कहने दीजिए और देखिए कि आपके भी कहीं दर्द होता है या नहीं ? विश्वास कीजिए कि मर्ज़ की पहचान ही उसके निदान का कारण बनती है। बिना मर्ज़ को पहचाने उसका इलाज करने वाले नीम-हकीमों का ज़माना अब लद गया है। माणिक साहब बाँग्ला हकीमों की सहानुभूति की बहुत वकालत करते हैं। मगर वे भूल जाते हैं कि मौखिक संवेदना और सहानुभूति के ये पुराने नुस्ख़े छोटी-मोटी बीमारियों में ही काम आ सकते हैं। आज की बीमारी बहुत बड़ी है और उसका इलाज भी ऑपरेशन है, ऑपरेशन। मुझे ख़ुशी है कि हमारा लेखक, कम से कम नया लेखक, ऑपरेशन टेबल पर खड़ा है। उसमें सर्जन की-सी निस्संगता भी है और तल्लीनता भी। उसमें रोगी की चिंता भी है और अपने कर्तव्य की गहरी भावना भी। उसके पास कौशल भी है और समझ भी। कहिए तो नाम गिनाऊँ लेखकों के ?"

मैंने कहा, "नाम गिनाना छोड़िए, आप यह बताइए कि जिस दृष्टि की आप बात कर रहे हैं, वह आपको कहाँ ले जाती है ?"

"वह हमें अपने तक ही ले जाती है, और कहीं नहीं। क्या आप यह नहीं सोचते कि अपने तक पहुँचना ही सबसे बड़ी बात है ? मनुष्य अपने मनुष्यत्व को पहचान ले, अपनी ख़ूबियों-ख़ामियों से परिचित हो जाए, यहीं से तो असली यात्रा शुरू होती है। अगर हम अपने आपको पहचाने बिना, अपनी सामर्थ्य और सीमाओं को जाने बिना किसी दूसरे के पास जा खड़े हो गए, तो उसे क्या दे सकते हैं ? जब हमें यही पता नहीं है कि हमारे पास क्या है और क्या नहीं, तो हमारे आदान-प्रदान का स्तर क्या हो सकता है ?"

"आप तो साहित्य को व्यावसायिक शर्तों से देख रहे हैं !"

"साहित्य ही नहीं, ज़िंदगी भी व्यवसाय ही है। आप बताइए कि हर क़दम को उठाते हुए आप और हम झिझकते क्यों हैं ? आगा-पीछा क्यों सोचते हैं ? इसलिए न कि हमारे अवचेतन मन में घाटे और लाभ की भावना पड़ी होती है। हम अपने हर काम का, बल्कि यों कहिए कि समझदारी से किए हुए हर काम का अच्छा फल चाहते हैं ? तो क्या साहित्य-सृजन समझदारी से किया हुआ काम नहीं होता ? उससे अच्छे फल की आशा क्यों न की जाए ? आनंद भी अच्छा फल है। पर वह क्षणिक है। दूसरे शब्दों में, आनंद ब्याज है। मूलधन तो वह दृष्टि ही है, जो हमें साहित्य से मिलती है और हमेशा

साथ रहती है। वही दृष्टि लेखक का श्रेय और प्रेय होनी चाहिए।"

भगवंत देशपांडे की अगली बातें मैंने नहीं सुनीं, क्योंकि लेखन के साथ 'दृष्टि' और 'श्रेय' जोड़कर उसने मुझे चौंका दिया था। मैं सोचने लगा कि अभी मेरे एक मित्र ने 'रात की बाँहों में : भोपाल' लिखकर भोपालवासियों के एक काफ़ी बड़े लेखक-वर्ग को नाराज़ कर दिया था, जिस पर मीटिंग हुई थी और बेचारे लेखक को लेने के देने पड़ गए थे। अतः लगा कि मुझे भी भोपालवासियों की साहित्य संबंधी धारणाओं पर इंटरव्यूज़ लेने से पहले शहर में डुगडुगी पिटवाकर घोषणा कर देनी चाहिए कि 'आज बतारीख़ फ़लाँ, बवक़्त फ़लाँ, बमुकाम फ़लाँ व बज़रिए फ़लाँ चंद इंटरव्यूज़ लिए जाएँगे। जिन साहबान को इस बारे में कुछ कहना हो, वे वक़्ते-मुकर्रिरा पर हाज़िर होकर अपने ख़यालात का इज़हार कर सकते हैं।' मगर दूसरे ही क्षण मेरे भीतर से कोई बोला, 'ख़ाँ, ये भोपाल है। ख़यालात का इज़हार तो यहाँ क्या होता, ख़ामख़ाँ गीतों, नज़्मों और गजलों का ढेर लग जाता।'

रामधारी सिंह दिनकर ने 'चेतना' देखी

पिछले दिनों कविवर दिनकर भोपाल में बालकवि बैरागी के मेहमान थे और इस बात में कोई तुक नहीं थी कि मैं उन्हें साहित्यिक चर्चा से हटाकर किसी फ़िल्म पर बातचीत करने के लिए उकसाता ! लेकिन चूँकि अपनी एक शाम उन्होंने कृपा करके मुझे दे दी थी और संयोग से फ़िल्म 'चेतना' से संबंधित लोगों में से एक, सरदार राजेंद्र सिंह गुजराल का आग्रह था कि हम फ़िल्म ज़रूर देखें, इसलिए 'चेतना' को देखने और उस पर दिनकर जी के साथ आकस्मिक चर्चा करने का मौक़ा मिला।

बड़ी विचित्र बात

मुझे यह बात शुरू में ही साफ़ कर देनी चाहिए कि न तो फ़िल्म की समीक्षा मेरा उद्देश्य है और न दिनकर जी का। बावजूद इसके कि वे सेंसर बोर्ड के सदस्य रहे हैं, फ़िल्मों के अच्छे दर्शक हैं। मैं किसी हद तक एक सावधान दर्शक भी हूँ, पर दिनकर जी न तो फ़िल्म को उसकी तकनीकी समग्रता में परखने की इच्छा रखते हैं और न शांतिपूर्वक देख सकने का धैर्य। वे तो बच्चों की तरह फ़िल्म देखते हैं और बीच-बीच में टिप्पणी करते हुए दूसरे का देखना भी दूभर कर देते हैं।

"बड़ी विचित्र बात है रे दुष्यंत, फ़िल्मों की भाषा बदल गई है। कौन है जी इसका लेखक ?"

"बाबूराम इशारा।" सरदार जी ने जवाब दिया।

"कहाँ का इशारा है यह ?"

"हिमाचल प्रदेश का।"

"अच्छा ?" दिनकर जी ने गर्व से मेरी ओर घूमकर देखा, "क्यों भाई, तुम्हें इस फ़िल्म की भाषा कुछ जानदार नहीं लगती ? मुझे तो महसूस होता है कि इसमें पहली बार साहित्यिक भाषा का प्रयोग हुआ है।"

फ़िल्मों की ज़बान से उकताए हुए लोगों के लिए 'चेतना' की भापा सचमुच एक राहत है। दिनकर जी ने सही जगह उँगली रखी है। अपनी इस फ़िल्म की भाषा में इशारा ने वाकई फ़िल्मी भाषा की एकरसता को तोड़ने और एक नई भाषा गढ़ने की कोशिश की है। शायद यही वजह है कि उसने अंग्रेज़ी का प्रयोग धड़ल्ले से किया है और कहीं-कहीं बहुत ही सार्थक प्रयोग भी किया है।

मर्द की जीत

फ़िल्म आगे बढ़ती है तो दिनकर जी उसके प्रवाह में धार-धार हो लेते हैं। एक स्थल पर वे इतने गंभीर हो जाते हैं कि झल्लाकर कहते हैं, "लो, कहाँ तो ससुरी हाथ नहीं छूने देती और कहाँ दो हज़ार रुपए पर समूची चली आई। अंधेर है जी, कहीं ऐसा होता है ?"

"जी हाँ, होता है।" मैं दिनकर जी की बालसुलभ जिज्ञासा को शांत करते हुए उत्तर देता हूँ, "भोपाल में भी होता है, पर यहाँ फ़ीस ज़रा कम होती है।"

"अरे !" दिनकर जी चौंकते हैं, "यही सब देखते, करते रहते हो क्या ? ख़ैर, अनुभव कोई बुरा नहीं होता···और भई, मुझे तो ख़ुशी इस बात की है कि मर्द की जीत हुई। देखा तुमने रमेश (शत्रुघ्न सिन्हा) को, कैसा पट्ठा मस्त फक्कड़ आदमी है। आदमी हो तो फिर ऐसा कि आदमी लगे तो। गुनाह भी करे तो पूरी निष्ठा के साथ। ये हीरो तो तुम्हारा बावा मुक्तानंद के यहाँ जाने योग्य है। क्यों ?"

"जी हाँ।" मैं जवाब देता हूँ, क्योंकि यह सच है कि हीरो कमज़ोर है और शत्रुघ्न सिन्हा अपनी ज़रा-सी भूमिका से ही बहुत विशिष्ट बन गया है। दूसरे, उसकी संवाद-रचना इतनी अच्छी है कि उसके प्रभाव से बचा नहीं जा सकता। तीसरे, दो-एक स्थानों पर अंग्रेज़ी के अनावश्यक प्रयोगों के बावजूद शत्रुघ्न के चरित्र की भाषा से उसकी अपनी भाषा का विचित्र संगति और साम्य है। लेकिन इस सबके बावजूद शत्रुघ्न या स्वयं रेहाना सुल्तान भी एक्टिंग के मामले में नादिरा से आगे नहीं हैं।

बहुत ख़ूब औरत

दिनकर जी ने नादिरा के संवाद सुनकर इतना ही कहा, "बहुत ख़ूब है ये औरत! संवाद में अपने जीवन का दर्शन बोलती है।" और वे नादिरा की बातों पर सहमति-सूचक गर्दन हिलाने लगते हैं।

हॉल में नादिरा के किसी संवाद पर प्रशंसासूचक सिसकारी-सी उठती है और पीछे की लाइन से कोई कहता है, "वाह ! जवाब नहीं।" और मुझे लगता है, वास्तव में नादिरा की अभिनय-शैली और उसके संवाद अपना जवाब नहीं रखते। आलोचकों की नज़र से वह भले ही ओझल हो जाए, लेकिन संवेदनशील दर्शक गहरे दर्द के साथ कहे हुए उस संवाद को नहीं भूल सकता, जिसमें वह रेहाना से कहती है कि 'हमें माँ, बहन कहने वाले बहुत मिल जाएँगे··पर पत्नी कहने वाला कोई नहीं मिलता।' और··मैं समझता हूँ कि सीमा और अनिल धवन की शादी के बाद जिस दृष्टि से वह उन्हें वर-वधू के रूप में बाहर निकलते हुए और जाते हुए देखती है··वह दृष्टि अपनी रचना में संपूर्ण अभिनय है।

लेकिन यह चमत्कार अभिनेता से अधिक निर्देशक का है।

मोहलत कब टूटेगी

शादी के बाद सीमा ने कुछ दिनों के लिए अनिल से बाहर सोने का जो अनुरोध किया है, उसे दिनकर जी ने नाम दिया—मोहलत। फिर झल्लाकर बोले, "क्यों जी, ये मोहलत कब टूटेगी ?" मैं चुप रहा। फिर खुद ही बोले, "अरे, सारी फ़िल्म ही इस फ़ार्मूले पर टिकी है। मोहलत टूट गई तो फ़िल्म कैसे चलेगी आगे ?"

"ये ज़्यादती है आपकी।" मैंने प्रतिवाद किया, "अगर यथार्थवादी रंग में भी आप छोटी-मोटी छूट नहीं देंगे तो कैसे काम चलेगा ?"

"भई ! वो तो ठीक है। मगर यह देखो न कि एक तो नायक तुम्हारा कमज़ोर। दूसरे बीवी पुरज़ोर। देखो, क्या ग़ज़ब की एक्टिंग करती है ! मैं तो शुरू में समझा, ये भक्तिन चौपट करेगी फ़िल्म को। तुम तो 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के अख़बारों में लिखते रहते हो...जानते हो इस लड़की को ?"

"मैं नहीं जानता।"

"तो अब जानना, जाकर। तुमसे बताए दे रहा हूँ, ये होनहार कलाकार है। कौन, अरविंद है न, 'माधुरी' का संपादक; वही कवि, उससे या अधिकारी से कहना। बुलाकर परिचय करा देंगे और शाबासी मेरी तरफ़ से भी दे देना।"

वेश्या का रूपांतरण

"एक बात और समझ लो।" दिनकर ने अपनी रनिंग कमेंटरी को आगे बढ़ाते हुए कहा, "स्त्रियों को रिझाने की कला भी कोई छोटी-मोटी कला नही है। तुम्हारे नायक को तो बड़े साधारण संवादों पर सफलता मिल गई। मगर वह रवींद्रनाथ की कविता है न, 'पतिता', उसमें ज़िक्र आया है कि बहुत-सी अप्सराएँ शृंगी ऋषि के पास उन्हें रिझाने के लिए गईं। उनमें एक, जो साकार सौंदर्य की प्रतिमा थी, उसे देखकर ऋषि महोदय बड़े चकित हुए, और कुछ नही सूझा तो पूछ बैठे, 'तुम कौन देवी हो ?' जानते हो इस पर अप्सरा क्या बोली ? उसने कहा कि यह मेरी सर्वोत्तम प्रशंसा है और यदि यह प्रशंसा नहीं है तो भी इसमें मेरे भीतर कुमारी नारी प्रगट हो गई है।"

"पर रेहाना के संदर्भ मे इस कहानी का क्या औचित्य है ?" मैंने पूछा।

"तुम देख नहीं रहे हो कि विवाह के बाद उसमें वही कुमारी नारी प्रगट हो रही है। यह कोई छोटी सफलता है ? दरअसल यह फ़िल्म वेश्या से पत्नी में रूपांतरण की कहानी है।"

फिर कुछ क्षण रुककर बोले, "पर एक विचित्र अनुभव मुझे हो रहा है कि इस फ़िल्म की नायिका मुझे कुछ-कुछ यूरोपियन-सी लगती है। तुम्हें ऐसा नहीं लगता ?"

"जी नहीं।" मैंने कहा, "मुझे ऐसा नहीं लगता। आपको लगता है तो ज़रूर कोई

ख़ास कारण होगा।"

दिनकर जी बोले, "शायद तुम ठीक कहते हो। कारण भी मैंने खोज लिया। बात यह है कि यूरोप वाले फ़िल्मों में अपनी सुंदरियों के पाँवों का अधिक प्रदर्शन करते हैं, जबकि भारत वाले वक्ष-स्थल का। इस फ़िल्म में निर्देशक ने यूरोपीय पद्धति अपनाई है।"

दिनकर जी की टिप्पणियाँ हिंदी फ़िल्मों पर अनायास और अकृत्रिम प्रतिक्रियाएँ थीं। एक समीक्षक से अधिक एक सहृदय दर्शक उनमें झलक रहा था। संयोग से हॉल ख़ाली था।...पंद्रह दिनों में ही फ़िल्म केवल एक ख़ास वर्ग के दर्शकों तक सीमित हो गई थी। इसलिए भी मुझे उनकी टिप्पणियों से उलझन नहीं हो रही थी कि फ़िल्म मेरी देखी हुई थी। मगर बीच-बीच में वे छोटे-छोटे संस्मरण भी सुनाते जा रहे थे।

जवाहरलाल की परेशानी

शादी के वाद भी जब सीमा ने सिगरेट और शराब नहीं छोड़ी तो दिनकर जी की कवि-सुलभ आदर्शवादिता को जैसे एक धक्का-सा लगा, फिर यथार्थ को स्वीकारते हुए बोले, "अरे भाई, इतना आसान नहीं होता। एक तो इसका पति ही कमबख़्त पौरुषहीन है...दूसरे पैसे वाला है...पर कैसा पैसे वाला है, हज़ार रुपया महीना सिगरेट-शराब पर ख़र्च कर सकता है तो एक मोटर क्यों नहीं ले लेता ?"

मैं यही प्रश्न सरदार जी से पूछता हूँ तो वे कहते हैं, "हीरो अमीर नहीं है, वह तो मध्यमवर्ग का आदमी है।" मैं उन्हें छेड़ता हूँ, "सरदार जी, मध्यमवर्ग का पति यह ऐयाशी नहीं निभा सकता।"

दिनकर जी बोलते हैं, "अरे भाई, छुटती नहीं है काफ़िर मुँह से लगी हुई। जानते हो, मैंने बड़ी ताक़त से सिगरेट छोड़ी। और एक दिन जो मैं जवाहरलाल जी के पास गया तो क्या देखता हूँ कि कैंची और सिगरेट लिए बैठे हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि सिगरेट के टुकड़े काटकर पीने की योजना बना रहे हैं, ताकि कुछ तो कम हो।"

दिनकर जी का संस्मरण ख़त्म होते न होते गाना शुरू हो गया था और फ़िल्म समाप्ति के निकट आ गई थी। सहसा गाना ख़त्म हुआ तो नायिका मर गई।

"मर गई ?" दिनकर जी ने सरदार जी से पूछा।

"जी हाँ।"

"क्या गाना ख़त्म होने का इंतज़ार कर रही थी ?" सरदार जी हँस दिए।

"अरे भाई, व्यर्थ ही नायिका को मारने के लिए इतनी लंबी-चौड़ी भूमिका और इतना लंबा गाना रचा, क्या उसे किसी यथार्थवादी ढंग से नहीं मारा जा सकता था ?"

सरदार जी इस प्रश्न का उत्तर सोच ही रहे थे कि राष्ट्रगीत शुरू होने के कारण बातचीत का सिलसिला ख़त्म हो गया। लेकिन मेरे मन में बहुत सारी शंकाओं के साथ

यह शंका मँडलाती रह गई कि जब निर्देशक ने संयोगों और प्रचलित फ़िल्मी परिणतियों से हर जगह अपने आपको बचाने की कोशिश की है और जीवन के प्रति भरसक एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाए रखने में सफलता पाई है, तो अंत में इस गलदाश्रु भावुकता से क्यों नहीं बच सका ? क्या वह यह समझता है कि गीत सुनाते हुए मारने से मृत्यु की यंत्रणा कम हो जाती है या यह कि गीत के साथ मौत प्रभावशाली हो जाती है ?

लीक से हटकर

वैसे निर्देशन के स्तर पर ख़ूबियॉ बहुत हैं लेकिन कमियाँ और भी ज़्यादा हैं। जैसे नायक का कहीं-कहीं कमज़ोर अभिनय और रेहाना का कहीं-कहीं संवाद बोलने का बेहद लचर ढंग ! लेकिन रेहाना अपने सशक्त अभिनय से अपनी आवाज़ और लचर संवादों तक को ढक ले जाती है और इस हद तक कि कहीं-कहीं उसका अभिनय वहीदा जैसी सशक्त कलाकार की शैली में, वहीदा को ही चुनौती देता हुआ लगता है। अपनी पहली ही फ़िल्म से जो अभिनेत्री वहीदा रहमान से तुलनीय हो जाए, उसकी संभावनाओं का हिसाब नहीं लगाया जा सकता। यों अभिनय के साथ गीत भी बहुत अच्छे हैं और उनकी धुनें भी कर्णप्रिय हैं।

मुझे आश्चर्य नहीं होगा यदि यह फ़िल्म फ़िल्म-जगत् में एक क्रांतिकारी मोड़ की भूमिका बन जाए। आप नहीं कह सकते कि कब एक छोटा-सा क़दम किसी महान् यात्रा का पहला चरण सिद्ध होता है ! इसलिए बड़ी बजट वाली रंगीन फ़िल्मों के बीच 'चेतना' का यह छोटा-सा प्रयोग प्रेरणा तो है ही, एक चुनौती भी है।

"देखें इशारा और कुन्नू की यह चुनौती फ़िल्मी दुनिया में क्या रंग लाती है। दिनकर जी फ़िल्म के प्रति थोड़े उत्साहित हो उठे हैं और खाने की मेज़ पर बैठकर बोलते हैं, "भई, कुछ हो, कम से कम और फ़िल्मों से हटकर तो है। कहॉ ऐसी फ़िल्में बनती थीं रे हिंदी में, मैंने तो कितनी फ़िल्में देखी हैं।"

भारतीय राजनीति के कुछ नाजुक प्रसंग
सत्यनारायण सिंह से एक अंतरंग बातचीत

मध्य प्रदेश के राज्यपाल श्री सत्यनारायण सिंह पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल के विश्वस्त साथियों में रहे हैं। सन् 1946 में जब अंतरिम सरकार बनी तब वह उसकी संसदीय पार्टी के मुख्य सचेतक (चीफ ह्विप) थे और बाद में कांग्रेस पार्टी के मुख्य सचेतक रहे। सन् 1949 से वह केंद्रीय मंत्रिमंडल में आ गए और सोलह वर्ष तक संसदीय कार्यों के मंत्री तथा बाद में सूचना मंत्री के महत्त्वपूर्ण पद पर कार्य करते रहे। इस प्रकार एक लंबी अवधि तक स्वतंत्रता-संग्राम और फिर केंद्रीय मंत्रिमंडल से संबद्ध रहने के कारण उनके पास पहली श्रेणी के नेताओं के अमूल्य संस्मरणों की एक ऐसी निधि है, जो यदि प्रकाश में आ जाए तो उससे इतिहास के कई अनलिखे और अपरिचित तथ्यों का उद्घाटन होगा।

बाबू जी से मिलते हुए हमेशा मेरी नज़र इतिहास की विलुप्त कड़ियों पर रही है। इस बार भी मेरे सामने सबसे अहम सवाल यही था कि उन्हें उस मनःस्थिति में कैसे लाऊँ, जब वह अपने अतीत में खो जाएँ और मैं सिर्फ़ श्रोता की हैसियत से वर्तमान के झरोखे में बैठा हुआ एक अनकही कहानी सुनता रहूँ।

मैं जानता हूँ कि 'रामचरितमानस' और उसके रचयिता महाकवि तुलसीदास बाबू जी की कमज़ोरी हैं, इसलिए जब बातचीत वहाँ से शुरू होकर लेखकों की वर्तमान पीढ़ी तक आई तब मैंने 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' का वह अंक खोलकर उनके सामने रख दिया जिसमें मेरे लेख के साथ मोहन राकेश के कुछ पारिवारिक चित्र प्रकाशित हुए थे। राकेश की मृत्यु के समाचार से वह पहले से ही काफ़ी दुखी थे, परंतु लेख के साथ चित्रों को देखकर उनका हृदय और भर आया और वह काफ़ी देर तक अपनी व्यथा को सहेजने की कोशिश करते रहे।

इस भावुकतापूर्ण क्षण को एक उपयुक्त अवसर समझकर मैंने उनसे सीधे प्रश्न किया, "बाबू जी, जैसे हम लेखकों का एक परिवार होता है और उसमें मैत्री तथा आत्मीयता के अलावा तरह-तरह के वैमनस्य और मतभेद भी होते रहते हैं, वैसा ही कुछ राजनीतिज्ञों में भी होता होगा ? सुना है, नेहरू और पटेल में अकसर कुछ तनातनी हो जाया करती थी ?"

मेरा प्रश्न सुनकर अचानक बाबू जी किसी गहरे सोच में डूब गए। ऐसा लगा जैसे शारीरिक रूप से सामने होते हुए भी वह कहीं बहुत दूर चले गए हैं। मैं मौन और खालीपन

की इस स्थिति के लिए तैयार नहीं था। पर उन्हें यों ख़यालों में खोया हुआ और ख़ामोश देखकर मेरा ध्यान भी अनजाने ही राजभवन के उन विशाल मैदानों की ओर चला गया, जहाँ सुंदर हरी-भरी दूब और छोटी-छोटी फूलदार झाड़ियों की शाख़ें लहलहा रही थीं। लगा कि पहले यहाँ बेतरतीबी से उगी हुई घास और जंगली झाड़ियाँ हुआ करती थीं। पर अब जैसे सब कुछ बदल गया है। लॉन, उसमें उगी घास की मसृणता, गमलों के फूल और फूलों की क़िस्में ! यहाँ तक कि राजभवन की इमारत के पार्श्व और प्रसंग तक बदल गए हैं। अब यहाँ साहित्य, संगीत और संस्कृति मुखर है। अब राजभवन की हर चीज़ के पीछे एक सुरुचि और सौंदर्य-बोध के दर्शन होते हैं। लोग कहते हैं कि राजभवन की एक-एक चीज़ पर राज्यपाल के भव्य व्यक्तित्व की छाप है।

परसों राज्यपाल के विश्वसनीय निजी सचिव श्री राजेंद्रप्रसाद सिंह बता रहे थे कि प्रधानमंत्री जब पिछली बार भोपाल आईं, तब उन्होंने बाबू जी से कहा, "आपने तो राजभवन की काया पलट दी !" और बाबू जी ने हँसकर उत्तर दिया, "शरीर तो वही है, हाँ, मैंने इसकी आत्मा में ज़रूर परिवर्तन किए हैं।"

श्री राजेंद्र भाई की बातों के बारे में मैं सोच ही रहा था कि सहसा बाबू जी के बोलने से मेरा ध्यान भंग हुआ और मैं तत्काल वस्तुस्थिति के धरातल पर आ गया। किंतु बाबू जी जैसे दूर अतीत में बीसियों वर्ष पीछे चले गए थे। उनकी आवाज़ में भावनाओं का उतार-चढ़ाव था और वह मेरे प्रश्न का उत्तर दे रहे थे, " आंतरिक विग्रह कहाँ नहीं होते ? चाहे लेखक हो या राजनीतिज्ञ, दुर्बलताएँ सबमें एक-सी होती हैं। हममें भी थीं। हम भी छोटे-मोटे प्रश्नों को लेकर आपस में उलझ जाते थे। स्वराज्य के चार-पाँच महीने बाद ही एक बड़ा विकट प्रश्न उपस्थित हुआ कि सेंट्रल असेंबली की अध्यक्षता कौन करे ? झगड़ा राजेंद्र बाबू और मावलंकर जी के बीच था, किंतु नेहरू और पटेल, मावलंकर के साथ थे और गांधी जी राजेंद्र बाबू के। इस तरह, मुझे याद है, दिसंबर, '47 में यह विवाद उठा और ऐसा उठा कि इसकी अनुगूँज दूर-दूर तक हुई। विदेशी दूतावासों तक में यह चर्चा फैल गई कि स्वतंत्रता के बाद सत्ता के लिए भारतीय नेताओं की एकता टूटने लगी है।

" आख़िर निश्चय किया गया कि 2 जनवरी, 1948 को कांस्टीट्यूएंट असेंबली की बैठक बुलाई जाए। उस समय बी०एन० राव उसके एडवाइज़र थे और आयंगार सचिव। मेरे कानों तक जव यह चर्चा पहुँची तब मुझे बड़ी तकलीफ़ हुई। पर तारीख़ तय हो चुकी थी और मैं मन ही मन बड़ी छटपटाहट महसूस कर रहा था। आख़िर 31 दिसंबर को मैं कांस्टीट्यूएंट असेंबली के दफ़्तर गया और मैंने राव तथा आयंगार से कहा कि इस झगड़े का कोई हल निकालना चाहिए। देश में आज इतनी बड़ी-बड़ी हस्तियाँ मौजूद हैं। यदि अब इसका रास्ता नहीं निकला तो कब निकलेगा ?

" वह मेरी चिंता से तो चिंतित हुए पर उन्होंने कहा, 'अब बहुत देर हो गई है। तुम ख़ामख़ाँ दीवार से टकरा रहे हो। फ़ैसला अब कांस्टीट्यूएंट असेंबली में ही होगा।'

" लेकिन मैंने हिम्मत नहीं हारी। मुझे लगा कि अगर असेंबली में इसका फ़ैसला हुआ तो बुरा होगा। लोग यही सोचेंगे कि एक छोटी-सी सुविधा को हम लोगों ने सिद्धांत का प्रश्न बना लिया और जिस एकता का शोर मचाते थे, उसका निर्वाह नहीं कर पाए।

" आख़िर मैंने राजेंद्र बाबू के घर जाने का फ़ैसला किया। मुझे आज भी याद है कि जब मैं उनके घर पहुँचा, वह दाढ़ी बना रहे थे और मुझे देखते ही खिल उठे। दरअसल, कई कारणों से उनका मुझ पर बड़ा भरोसा था। जब वह बिहार कांग्रेस के अध्यक्ष थे, तब मैं छह साल तक उसका जनरल सेक्रेटरी रहा। इसलिए मैंने जाते ही सीधे उनसे एक बात कही कि 'अब कोई रास्ता निकालिए।'

" वह बोले, 'भई, क्या रास्ता हो सकता है। दोनों झुकें तो कोई रास्ता निकले। मावलंकर नहीं मानते, इसलिए मैं भी नहीं मानता।'

" यह बात ऐसी जगह अटकी कि कोई हल नज़र नहीं आता था। मगर गंगा को आना था और भगीरथ को यश प्राप्त होना था। इसी तरह मुझ पर भी ईश्वर की कुछ ऐसी कृपा हुई कि एक हल मेरे दिमाग़ में आ गया। मैंने राजेंद्र बाबू से कहा कि एक रास्ता है। उन्होंने पूछा—'कौन-सा ?' मैंने कहा—'आप अपनी शक्तियाँ डेलीगेट (प्रत्यायोजित) को दे दीजिए। मगर इतनी-सी प्रार्थना मेरी और मान लीजिए कि वह प्रत्यायोजन स्थायी हो। आम तौर पर जो शक्तियाँ सौंपता है, उसे शक्तियाँ वापस लेने का भी अधिकार होता है। आप अपनी असेंबली की अध्यक्षता करने संबंधी शक्तियाँ हमेशा के लिए उन्हें सौंप दीजिए। इससे उनका भी अहम् खंडित नहीं होगा और आपकी सर्वोच्च स्थिति स्पष्ट हो जाएगी।' राजेंद्र बाबू साधु पुरुष थे, कहने-सुनने पर तैयार हो गए। मैं फ़ौरन सरदार पटेल के पास गया। वह उसी समय सूरत से आए थे और चार बजे स्टीयरिंग कमेटी की बैठक थी। उस कमेटी में सरदार पटेल, पं० नेहरू, राजेंद्र बाबू, मोहनलाल सक्सेना, दीवान चमनलाल और मैं, इस तरह कुल मिलाकर नौ सदस्य हुआ करते थे। सरदार पटेल ने अपना दुःख व्यक्त करते हुए इस झगड़े की चर्चा की तो मैंने कहा, 'इस विवाद को निपटाने का एक रास्ता है।' वह बोले, 'बताओ।' मैंने अपना वही शक्तियाँ सौंपने वाला सुझाव दोहराया तो सरदार ने उसे उसी क्षण क़बूल कर लिया। मैं इसके बाद सीधा मावलंकर जी के पास गया। मैं चाहता था कि उन्हें अपने तरीक़े से इस प्रस्ताव पर सहमत कर लूँ। पर लगा कि उन्हें यह सुझाव पसंद नहीं आया। आख़िर मुझे कहना पड़ा कि इस पर सरदार अपनी सहमति दे चुके हैं तो वे निरुत्तर हो गए। इसके बाद जब मैं नेहरू जी की स्वीकृति लेने के लिए पहुँचा, तब वह हँसकर बोले, 'यह रास्ता बहुत अच्छा है और तुमने एक अच्छा काम किया है। मुझे भला क्या एतराज़ हो सकता है ?'

" इसके बाद ठीक साढ़े तीन बजे दोनों तरफ़ के पक्षकार कमेटी हॉल के पास जमा हो गए। सब अपने-अपने पक्ष के प्रचार और समर्थन के लिए कटिबद्ध थे, पर जब मैंने सूचना दी कि सारा मामला तय हो गया है, तब सब के सब सहसा ठगे-से खड़े रह गए। उन्हें विश्वास नहीं था कि इतनी बड़ी समस्या का इतनी आसानी से कोई हल निकल आएगा। तब आयंगार, जो पहले कह रहे थे कि इस झगड़े को हल करना दीवार से सिर टकराना है, सहसा भावुक हो उठे और मेरे पास आकर बोले, 'आपने असंभव को संभव कर दिखाया। आपके कारण हम सबकी इज़्ज़त रह गई, वरना बड़ी बदनामी उठानी पड़ती।' "

बाबू जी ने कहानी ख़त्म करने के बाद एक नज़र मेरी ओर देखा और मुझे लगा कि वे शायद मेरी प्रतिक्रिया जानने का प्रयत्न कर रहे हैं। व्यक्ति को एक नज़र में आर-पार देख लेने की कला उनमें कुछ तो जन्मजात है और कुछ जनसंपर्क के इतने दीर्घ अनुभवों का परिणाम है। मैंने सुना है कि कभी-कभी कुछ लोग अपने पक्ष के समर्थन में पत्रकारों और राजनीतिज्ञों से लेकर अनेक प्रकार के व्यक्तियों को उनके पास भेज देते हैं और बाबूजी सहानुभूतिपूर्वक सबकी सुनते भी हैं, पर उनकी राय को, जो अकसर सही होती है, बदल पाना आसान नहीं होता।

"तुम क्या सोचने लगे ?" उन्होंने मेरी उलझन भाँपते हुए पूछा।

"जी, मैं सोच रहा हूँ कि ऐसे नाज़ुक मौक़े पर यदि आपको यह हल न सूझता और कमेटी या असेंबली में ज़ोर-आज़माइश होती तो इससे न सिर्फ़ हमारे इतने बड़े नेताओं की 'इमेज' बिगड़ती, बल्कि हो सकता है कि पक्ष-विपक्ष का एक स्थायी गुट तैयार हो जाता ओर उस काल का इतिहास दूसरी स्याही से लिखा जाता।"

बाबू जी मेरी बातें ध्यान से सुन रहे थे। ऐसा लग रहा था जैसे वे अपनी स्मृतियों को सहेज रहे हों।

कुछ ही क्षणों बाद वे बोले, " तुम सही कहते हो। शायद भगवान् को यही मंज़ूर था कि मैं खाइयों को पाटता रहूँ। एक बार और ऐसा प्रसंग उठा था और तब विवाद नेहरू जी और सरदार पटेल के बीच था। तुम्हें याद होगा कि कांग्रेस अध्यक्ष का एक चुनाव टंडन जी और कृपलानी जी के बीच हुआ था। यह एक भयानक द्वंद्व था। वैसा ही जैसा कि वाणासुर की लड़की के विवाह के प्रसंग पर शिव और कृष्ण के बीच हुआ था। मैंने और अन्य दोस्तों ने भी बहुत कोशिश की कि चुनाव न हो और कोई सर्वसम्मत हल निकल आए। नेहरू जी कृपलानी को चाहते थे और पटेल थे टंडन जी के पक्ष में। हालात ऐसे थे कि टंडन जी की जीत स्पष्ट थी। ऐसी स्थिति में नेहरू जी राजा जी के पास गए और उनसे बोले कि टंडन जी अध्यक्ष हो जाएँगे तो मैं इस्तीफ़ा दे दूँगा।

" राजा जी ने उसी क्षण मुझे बुलवाया। मैंने नेहरू जी को उनके घर से निकलते देखा था। उनके मुख पर उद्विग्नता स्पष्ट थी। राजा जी स्वयं बहुत चिंतित थे। आते ही

उन्होंने मुझसे कहा, 'स्थिति बहुत भयानक हो गई है। नेहरू जी इस्तीफ़ा दे देंगे। उन्होंने इस्तीफ़ा दिया तो मैं भी इस्तीफ़ा दे दूँगा।'

" मैंने कहा, 'पटेल भी यही कह रहे हैं और लोग भी इसी तरह सोच रहे होंगे। आप सब लोग इस्तीफ़े दे दीजिए और गद्दी ख़ाली न रहे, इसलिए मैं उसे सँभाल लूँगा।'

" राजा जी इस मज़ाक़ पर मुस्कराए ज़रूर। वह उस समय बिना पोर्टफोलियो के मिनिस्टर थे। पर दूसरे ही क्षण बोले, 'देखो, गंभीरता से लो। तुम चाहो तो इस समय एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हो।'

" मैं जानता था कि उन्होंने यह इशारा इसलिए किया था कि मैं सरदार पटेल और पं० नेहरू दोनों का ही विश्वासपात्र था और कई मौक़ों पर दोनों के बीच संवाद का काम कर चुका था। लेकिन तब भी मैं तटस्थ बना रहा।

" मैंने कहा—

तुलसी झगड़ा बड़न के
बीच न परिहूँ धाय
लड़ैं लौह-पाहन दोऊ
बीच रुई जल जाय।

" वह रात के बारह बजे तक समझाते रहे और मैं आनाकानी करता रहा। अंत में उन्होंने कहा, 'तुम सिर्फ़ नेहरू और पटेल की मुलाक़ात भर करा दो। और कुछ न करो।'

" मैंने राजा जी को इसका भी कोई निश्चित जवाब नहीं दिया, हालाँकि मैं जानता था कि मैं इस भूमिका से बच नहीं सकता। इसीलिए जब मैं घर से चला था, तब सरदार को यह फ़ोन करके चला था कि राजा जी ने बुलाया है। उनकी तबीयत ठीक नहीं थी, इसलिए भी मुझे ही जाना चाहिए था। पर एक तो रात बहुत हो चुकी थी, दूसरे मैं बहुत थक गया था, अतः मैंने बहाना बनाया कि इस समय मेरे पास ड्राइवर नहीं है। तब उन्होंने कहा कि मैं अपनी गाड़ी भेज रहा हूँ। और थोड़ी देर बाद ही उनका प्राइवेट सेक्रेटरी आकर मुझे लिवा ले गया।

" सरदार पटेल से बहुत देर तक बातें होती रहीं। मैंने उन्हें अपना दृष्टिकोण समझाया और कहा, 'देश विघटन के कगार पर है। अगर आप और नेहरू जैसी महान् विभूतियाँ आपस में टकरा गई तो इसके दूरगामी परिणाम होंगे और इसका नुकसान आने वाली पीढ़ियाँ भुगतेंगी। यह कोई स्थानीय घटना नहीं है।' मुझे लगा, मेरी बातों का उन पर असर हो रहा है।

" अगले दिन सुबह क़रीब साढ़े आठ बजे राजा जी का फ़ोन आया और उन्होंने फिर अपना वही पुराना आग्रह दुहराया कि मैं इन दोनों नेताओं की मुलाक़ात करा दूँ।

उनका कहना था कि इन दोनों में ज़बर्दस्त आंतरिक समझदारी है, पर छोटे-छोटे अहम्-भाव कहीं रास्ते में आ जाते हैं। इसी के कारण दोनों मिलते तक नहीं।

"अतः थोड़ी देर बाद मैं फिर सरदार के पास गया। संयोग से राजेंद्र बाबू भी वहीं आ गए। सरदार को रात में मैंने बहुत समझाया था और सुवह फिर राजेंद्र बाबू ने भी वही बातें कहीं। पर इसके साथ ही उन्होंने मुझे भी नेहरू जी के पास जाने के लिए उकसाया और अंततः एक संकल्पप्रेरित भाव से मैं नेहरू जी की ओर चल दिया।

"नेहरू जी उस समय विदेश मंत्रालय के अपने कमरे में बैठे थे और बहुत चिंतित दिखाई दे रहे थे। उन्होंने मुझे देखा तो एक क्षण के लिए स्वागत का भाव उनके चेहरे पर आया ज़रूर, लेकिन मुख का विषाद ज्यों का त्यों बना रहा। कुछ देर बाद उन्होंने पूछा, 'क्यों आए हो ?' मैंने कहा, 'सुना है आप इस्तीफ़ा दे रहे हैं।' 'हाँ', उन्होंने कहा, 'यह मेरा अंतिम निर्णय है और कल-परसों में मैं इस्तीफ़ा भेज दूँगा।' मैंने आवेश के साथ कहा, 'मुझे अफ़सोस होता है कि गांधी जी ने बहुत बुरा फ़ैसला किया जब आपको अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि गांधी जी का उत्तराधिकारी देश को मँझधार में छोड़कर पलायन करने की बात सोच सकता है। मेरी समझ में नहीं आता कि आप चाहते क्या हैं ? क्या यह कि आप और पटेल दोनों इस्तीफ़ा दे जाएँ और इस देश पर लियाकत अली और पाकिस्तानी नेता शासन करें ?'

"नेहरू जी ने मुझे टोका, 'तुम आख़िर कहना क्या चाहते हो ?'

"मैंने कहा, 'मैं यह कहना चाहता हूँ कि आपको अर्जुन वाला क्लैव्य आ गया है। आप कर्म से विरत हो गए हैं। आप अपनी ओर अपने व्यक्तित्व की विराट् भूमिका का सामाजिक और राष्ट्रीय सदर्भ नहीं समझते ?'

"नेहरू जी चुप रहे और मैं कहनी-अनकहनी कहता चला गया। ज़रूर मेरी आवाज़ में शक्ति होगी और भावनाओं में सच्चाई, वरना नेहरू जी इतनी बातें पीने वाले लोगों में से नहीं थे। उनकी ख़ामोशी से मेरा हौसला और बढ़ गया और मैंने कहा, 'मैं आपका एक छोटा-सा सिपाही हूँ। आपके आदेशों पर मैं जीवन-भर काम करता आया हूँ, लड़ता आया हूँ। मैंने सच्चे अर्थों में अपना धर्म निभाया है। अब आपको मेरी यानी अपने सिपाही की बात भी सुननी पड़ेगी।'

"मेरे इन शब्दों ने नेहरू के भावुक मन को ज़रूर कहीं गहरे में छुआ होगा कि वे गद्गद होकर बोले, 'तुम सिपाही नहीं, सिपहसालार हो, जनरल हो।'

" 'अगर मैं जनरल हूँ तो आपको मेरा हुक्म मानना होगा। आप इस्तीफ़ा नहीं देंगे और इसके बदले में मैं आपको वचन देता हूँ कि यदि कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव में टंडन जी विजयी होते हैं, तब भी नासिक अधिवेशन में आपके प्रस्ताव ज्यों के त्यों पारित होंगे। उनमें कोई हस्तक्षेप, परिवर्तन या संशोधन पटेल या टंडन जी नहीं कर पाएँगे।'

" मैं एक बहुत बड़ा वायदा सरदार से बिना पूछे कर बैठा था, ठीक उसी तरह जैसे रावण के दरबार में अंगद ने पाँव जमाते हुए कहा था कि यदि कोई इस पाँव को हटा दे तो 'फिरै राम सीता मैं हारीं'।

" किंतु नेहरू जी पर इस आश्वासन का समुचित प्रभाव पड़ा, यद्यपि एक क्षण के लिए वे भौचक्के-से मेरी ओर देखते रह गए थे, मानो पूछ रहे हों, 'तुमने पटेल से बात कर ली है ?'

" मैंने फौरन कहा, 'इस विषय में मैं जो कुछ कह रहा हूँ, पूरी ज़िम्मेदारी से कह रहा हूँ और विश्वास के साथ कह रहा हूँ। आप खुद मेरे साथ सरदार के पास चलिए, वहाँ स्थिति और साफ़ हो जाएगी।'

" नेहरू जी का वह दिव्य व्यक्तित्व, वह चिंताकुल मुखमंडल और वह निर्णायक क्षण मैं कभी नहीं भूल सकता। उन्होंने सचमुच एक सिपाही की तरह अपना वायदा निभाया और चुपचाप मेरे साथ सरदार के निवास की ओर रवाना हो गए।

" आज उस समय के वातावरण की कल्पना करता हूँ तो लगता है कि दोनों महान् नेताओं की यह मुलाक़ात अपने आप में इतिहास का एक नाजुक मोड़ थी और मुझे इस बात का गौरव प्राप्त हुआ कि मैंने इसमें एक छोटी-सी भूमिका निभाई। मेरे परम मित्र महावीर त्यागी अकसर छेड़ते हुए मुझे Power bchind the throne यानी सत्ता के पीछे की शक्ति कहा करते थे। तुम भी तो त्यागी हो, जानते हो उन्हें ? "

"जी हाँ, वे मेरे बहनोई हैं। उनकी पत्नी स्व० शर्मदा त्यागी मेरी चचेरी बहन थीं।"

"वह मेरे अभिन्न मित्र हैं। वह कहा करते थे, जवाहरलाल जी को तुम जो समझाते हो, वे वही करते हैं। और इस बार भी भगवान् की कृपा से त्यागी जी के शब्द सच्चे हुए। मेरे कहने से जवाहरलाल जी पटेल के घर तक चले गए।"

"आप तो इस ऐतिहासिक मुलाक़ात के समय उपस्थित थे ?" मैंने पूछा, "उस अवसर पर इन दो नेताओं के बीच क्या बातें हुइ ?"

"यह बहुत दिलचस्प बात है।" बाबू जी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "इन दोनों नेताओं में उस समय इस प्रश्न को लेकर कोई बात ही नहीं हुई। हालाँकि मैं उन दोनों को अकेला छोड़कर चला आया था, पर मैंने देखा कि उन दोनों ने परस्पर आत्मीयता और सद्भाव के साथ एक-दूसरे की आँखों में झाँका और एक विवाद का अंत हो गया। उन दिनों प्रेस में बड़ी खलबली मची थी। चारों ओर प्रवादों और अनुमानों का बाज़ार गर्म था। जैसे ही मैं इन दोनों को एक कमरे में छोड़कर बाहर आया कि प्रेस वालों ने मुझे घेर लिया। चारों तरफ़ से प्रश्नों की बौछार शुरू हो गई, मगर मैंने सिर्फ़ यही कहा, 'दो मित्र मिल रहे हैं और एक विवाद ख़त्म हो रहा है। क्योंकि जब आँखें चार होती हैं, मुहब्बत हो ही जाती है।' "

पं० नेहरू का एक मूल्यांकन
सत्यनारायण बाबू की नज़र में

मध्य प्रदेश के राज्यपाल श्री सत्यनारायण बाबू उन राजनीतिज्ञों में से हैं, जिन्होंने देश की स्वतंत्रता का स्वप्न, कल्पना से यथार्थ की भूमि पर उतरते हुए, घुटलियों चलते और जवान होते हुए देखा है। उनके पास विशाल अनुभव-संपदा के साथ एक ऐसी प्रखर राजनीतिक दृष्टि है, जिसके आलोक में भारतीय इतिहास के अनेक विवादास्पद चरित्रों की परीक्षा और पुनर्परीक्षा की जा सकती है—विशेष रूप से ऐसे चरित्रों की, जिनके व्यक्तित्व को मरणोपरांत प्रवादों ने धुँधला करने की कोशिश की है।

मैंने हाल ही में किसी अंग्रेज़ी साप्ताहिक में पढ़ा था कि भारत में लोकतंत्रात्मक व्यवस्था का सूत्रपात करने के बावजूद नेहरू स्वभाव से तानाशाह थे और उनका वश चलता तो वह पूरी भारतीय व्यवस्था को एकतंत्रवाद की दिशा में मोड़ देते। नेहरू सरीखे व्यक्तित्व पर यह आरोप एक घातक प्रहार है, किंतु इस तरह के प्रहार उन पर अनेक दिशाओं से हुए हैं। पं० नेहरू के व्यक्तित्व के इसी विवादास्पद पहलू पर कुछ संकलित करने के उद्देश्य से मैंने एक दिन बाबू जी से कहा, "बाबू जी, कुछ लोग नेहरू जी पर एकतंत्रवादी होने का आरोप लगाते हैं और उन्हें तानाशाह कहते हैं, आप इससे कहाँ तक सहमत हैं ?"

श्रेष्ठ इंसान थे !

"कौन कहता है ?" बाबू जी ने एकदम राजसी रोब से तड़पकर कहा, लेकिन दूसरे ही क्षण परिस्थिति के अनुसार सहज होते हुए बोले, "शायद नेहरू को तुम लोग समझ ही नहीं सकते, क्योंकि यह कल्पना भी तुम्हारे लिए मुश्किल है कि किसी का व्यक्तित्व इतना विराट् हो सकता है। कोई मुझसे पूछे तो मैं निःसंकोच कहूँ कि व्यक्ति के रूप में नेहरू जी महात्मा गांधी से भी श्रेष्ठ इंसान थे। वह इस शताब्दी के सबसे बड़े आदमी थे।"

मुझे सहसा उनके ए०डी०सी० यतीशचंद्र और राँगड़ेकर की बातें याद हो आईं। यतीश भारतीय पुलिस सेवा के वरिष्ठ अधिकारी हैं और बिजनौरी होने के नाते मेरे दोस्त हैं। वह उस दिन कह रहे थे, 'नेहरू जी हमारे गवर्नर साहब की कमज़ोरी हैं।' और मैंने पहली बार अनुभव किया कि नेहरू जी के प्रसंग पर वास्तव में बाबू जी भावुक हो उठते हैं।

इस देश का बिगड़ा हुआ बच्चा

थोड़ी देर बाद उन्होंने कहना शुरू किया, "नेहरू जी तानाशाह नहीं थे। हाँ, वह ज़िद्दी ज़रूर थे। वह खुद कहा करते थे कि मैं इस देश का विगड़ा हुआ बच्चा हूँ। (आई एम ए स्पॉयल्ड चाइल्ड ऑफ दि कंट्री) परंतु इस बालकोचित ज़िद के कारण सबसे अधिक नुकसान भी उन्हें ही उठाना पड़ता था। जानते हो, चीन से हार जाने के बाद उन्हें कितनी क्षति उठानी पड़ी ?" प्रश्न करके क्षण-भर के लिए वे जैसे स्मृतियों के कुछ और पृष्ठ उलटने के लिए ठिठके।

बाबू जी ने कहना शुरू किया, "तुम्हें युद्ध के बाद की वास्तविकता और अंदरूनी कहानी मालूम नहीं। उस समय सारा देश विक्षुब्ध था। हॉ, कुछ लोग ज़रूर अपने परकोटे में बंद थे। कृष्ण मेनन जनता के आक्रोश से बेख़बर युद्ध का सामान बनाने वाली फैक्टरियों में दैनिक आवश्यकता की चीज़ों का उत्पादन करा रहे थे, जिसका दुष्परिणाम देश की जनता को और पूरे नेतृत्व को भुगतना पड़ा। किंतु सबसे ज़्यादा नुकसान नेहरू जी को ही उठाना पड़ा, जिनका कंचनजंघा सरीखा चौबीस हज़ार फुट ऊँचा व्यक्तित्व देखते-देखते पंद्रह हज़ार फुट घट गया था। यह कोई मामूली क्षति नहीं थी। अगर नेहरू के स्थान पर कोई दूसरा नेता होता तो लोग उसे धक्के मारकर सत्ता से निकाल देते। लेकिन नेहरू का रुतबा घटते-घटते भी इतना कम नहीं हुआ था कि लोग उनके सामने सिर उठा सकें।"

"सुना है उस समय अमेरिका से भारत की मदद का कोई प्रस्ताव आया था ?" मैंने वात आगे बढ़ाते हुए प्रश्न किया।

"हॉ, कैनेडी की ओर से ऑफर आया था कि भारत आणविक अस्त्रों को छोड़कर ओर जो मदद मॉगेगा, उसे दी जाएगी। पर इसकी नौबत ही नहीं आई, क्योंकि तब तक चीन एकतरफ़ा युद्धविराम की घोषणा कर चुका था।"

मेनन पर हमला

"मैं उस समय ह्विप कॉन्फ्रेंस में भाग लेने के लिए बंवई गया था।" बाबू जी ने कथानक के सूत्र अपने हाथ में लेते हुए कहा, "बंबई से लौटने के तत्काल वाद कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई। वह इन मायनों में अपनी तरह की अकेली बैठक थी कि उसमें असंतोष के दबे-घुटे स्वर अभिव्यक्ति के बहाने तलाश कर रहे थे। बनारस के रघुनाथ सिंह उन दिनों कांग्रेस के सचिव थे। उन्होंने काफ़ी घुमा-फिराकर, अनुशासन की मर्यादा और नेहरू जी के व्यक्तित्व का पूरा-पूरा लिहाज़ बनाए रखते हुए उस बैठक में एक छोटा-सा वक्तव्य दिया। उसमें जन-असंतोष का ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा कि मैं कल चाँदनी चौक गया था और वहाँ मैंने पाया कि जनता में श्री कृष्ण मेनन के विरुद्ध

ज़बर्दस्त रोष है।'

" रघुनाथ सिंह अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाए थे कि पंडित जी आगबबूला हो गए, बोले, 'तुम स्ट्रीट टॉक्स करते हो। यहाँ बैठकर मैं इस तरह की बातें सुनना हरगिज़ पसंद नहीं करता।'

" मुझे अचानक तुलसीदास की एक चौपाई का स्मरण हो आया :

सचिव, वैद्य, गुरु—तीन जो
प्रिय बोलहिं भय-आस,
राज, देह अरु धर्म का
शीघ्र होत है नास।

" अतः मैंने तत्क्षण निश्चय किया कि मैं भय के कारण प्रिय नहीं बोलूँगा। मैं मंत्री हूँ और यदि मैंने इस समय सच नहीं बोला तो मैं अपने कर्तव्य से गिर जाऊँगा।

" श्री कृष्ण मेनन उस समय मेरी बगल में बैठे हुए थे। मगर एक संकल्पप्रेरित भाव से मैं बोलने के लिए खड़ा हुआ और मैंने कहा, 'रघुनाथ सिंह जो कुछ कह रहे हैं, ठीक कह रहे हैं। सिर्फ़ मेनन ही नहीं, बल्कि जनता में आपके प्रति भी भयंकर रोष है। मैं रात बंबई से लौटा हूँ। वहाँ मैं सैकड़ों लोगों से मिला। उनमें छात्र थे, प्रोफ़ेसर भी, वकील भी थे और नेता तथा अभिनेता भी, बुद्धिजीवी वर्ग के लोग भी थे और व्यवसायी भी और सभी में मैंने ज़बर्दस्त असंतोष पाया। ऐसा लगता था जैसे एक ज्वालामुखी उनके भीतर भरा है, जो किसी भी क्षण फट सकता है। रघुनाथ सिंह जी ने जो कुछ कहा है, वह स्थिति का सही चित्रण है, कोई अतिरंजना नहीं।'

" मेरे इतना कहते ही बैठक में सन्नाटा छा गया और सकते के आलम में बैठक ख़त्म हो गई। जब मैं बाहर आया, तब महावीर त्यागी मेरे पाँवों में झुक गए और बोले, 'तुम महान् हो और आज तुमने सच्चा फ़र्ज़ निभाया है। मैं तुम्हारी सचाई का क़ायल हो गया।' "

मेनन के प्रति नेहरू जी का मोह

अतीत की स्मृतियाँ अकसर बाबू जी को विह्वल कर देती हैं और वे विपयांतर कर बैठते हैं। इसलिए उनके रुकते ही मैंने तपाक से प्रश्न किया, "पंडित जी पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई ?"

"पंडित जी अपने कमरे में चले गए थे, किंतु उनके चेहरे पर उद्विग्नता साफ़ दिखाई दे रही थी। उन्हें कष्ट में देखकर मुझे भी कष्ट हुआ, पर मैं वह सत्य बोलने के लिए अभिशप्त था। बाद में पंडित जी ने रघु रमैया को मेरे पास भेजा और उनके द्वारा यह

टटोलने की कोशिश की कि यदि मेनन को रक्षा मंत्री पद से हटाकर रक्षा उत्पादन मंत्री बना दिया जाए तो इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? मैं समझ गया कि पंडित जी के मन में मेनन के प्रति मोह बाक़ी है और मुझे वह मेनन-विरोधी समझ रहे हैं। मैंने कहा, 'मुझे इसमें क्या आपत्ति हो सकती है ? मैंने व्यक्ति-विरोध के नाते तो मेनन का विरोध किया नहीं है। मैं तो पंडित जी की आँख हूँ और कान भी। इसलिए जो देखता-सुनता हूँ, उसे उन तक पहुँचाना अपना कर्तव्य समझता हूँ। अव पंडित जी यदि मेनन को रक्षा उत्पादन मंत्री बनाना चाहते हैं तो बड़े शौक़ से बनाएँ। मैं तो पंडित जी के प्रति हमेशा वफ़ादार रहा हूँ और रहूँगा।' "

एक और हमला

"फिर श्री मेनन रक्षा उत्पादन मंत्री बने ?" मैंने पूछा।

" हाँ, अगले दिन ही विज्ञप्ति निकल गई कि मेनन रक्षा उत्पादन मंत्री नियुक्त किए जाते हैं। परंतु तुलसीदास ने कहा है :

जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि

" शायद मेनन के सितारे गर्दिश में थे, इसलिए उन्होंने तेजपुर में एक ऐसा वक्तव्य दे डाला, जो उत्तेजक था और विवादास्पद भी। उसमें उन्होंने अपने आलोचकों को चुनौती देते हुए कुछ ऐसा कहा, जिसका सीधे-सीधे अर्थ यह होता था कि उनका किसी ने क्या बिगाड़ लिया ? रक्षा उत्पादन मंत्री होने के साथ प्रतिरक्षा विभाग अभी भी उनके पास है और उनके सारे अधिकार ज्यों के त्यों अक्षुण्ण हैं।"

"जी हाँ, सुना है कि इस वक्तव्य पर बड़ी तीखी प्रतिक्रिया हुई थी ?"

"इतनी तीखी कि मेनन-विरोधी हवा एक बार फिर तेज़ी से बह निकली और सड़कों से लेकर संसद तक उनका विरोध होने लगा। उनके वक्तव्य के अगले ही दिन सुवह दस बजे के क़रीब श्री महावीर त्यागी आठ-दस व्यक्तियों के साथ मेरे निवास पर आए और बोले, 'अब पानी सिर तक आ गया है, इसलिए हम यह अल्टीमेटम देने आए हैं कि यदि मेनन का कुछ नहीं हुआ तो हम शाम को पार्टी की बैठक में अविश्वास का प्रस्ताव रखेंगे।'

" इस सूचना पर मुझे स्वाभाविक रूप से चिंता हुई और मैंने अन्य नेताओं के विचार जानने की भी कोशिश की। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि शास्त्री जी और मोरारजी भाई भी इसी विचार के हैं। और उन्होंने भी मुझसे कहा कि तुम नेहरू जी से बातें कर लो।

" अकसर यही होता था कि जब कोई अप्रिय बात नेहरू जी से कहलानी होती या कोई नाजुक काम कराना होता तो सब लोग मुझे आगे कर देते थे और मैं जानते-बूझते

हुए नेहरू जी के पास चला जाता था। इसलिए मैंने झुँझलाकर कहा, 'आप लोग समझते हैं कि एक बेवकूफ़ राजपूत हाथ लग गया है, उसी से बिल्ली के गले में घंटी बँधवाओ। पर अब मैं यह ग़लती हरगिज़ नहीं करूँगा।' "

नेहरू के विरुद्ध अविश्वास

" कहने को तो मैंने मना कर दिया, मगर मैं जानता था कि घंटी मुझे ही बाँधनी पड़ेगी, क्योंकि अविश्वास का प्रस्ताव नेहरू जी के विरुद्ध था और उसके पीछे असंतोष की भावना इतनी प्रबल थी कि वह पास भी हो सकता था। मैं लोगों को इस मुद्दे पर टटोलकर देख चुका था और सबने मुझे टका-सा जवाब दे दिया था कि अब मोर्चा मेनन के नहीं, नेहरू के ख़िलाफ़ है।'

" आख़िर हारकर मैं बारह बजे के क़रीब नेहरू जी के निवास-स्थान की ओर गया। वहाँ सबसे पहले इंदिरा जी ही मिलीं। मैंने सोचा, चलो इनसे कहकर कर्तव्य से छुट्टी पा लूँ। इसलिए स्थिति की वास्तविकता का ब्योरा विस्तार से बताते हुए मैंने उनसे कहा, 'अब तुम देख लो इंदु, लोगों में बड़ा असंतोष है। बेहतर हो कि इस बारे में तुम पंडित जी से बात करो।'

" पर वह मुझसे ज़्यादा होशियार निकलीं। वस्तुस्थिति की नज़ाकत भाँपते हुए उन्होंने कहा, 'बाबू जी, मेरी हिम्मत नहीं कि मैं इस विषय पर उनसे बातें करूँ। आप ही कहिए न।'

" मैंने उन्हें राजा परीक्षित के यज्ञ की कहानी सुनाई, जिसमें 'तक्षकाय स्वाहा' के साथ मंत्रबल से सारे सर्प आ-आकर स्वाहा हो गए थे। लेकिन तक्षक, इंद्र के सिंहासन के पाए से लिपट गया था। जब वह नहीं आया, तब यह नौबत आ गई कि 'इंद्राय तक्षकाय स्वाहा' अर्थात् तक्षक के साथ इंद्र भी स्वाहा कर दिया जाए।'

" मैंने इंदु से कहा, 'अब तक्षकाय स्वाहा' नहीं, बल्कि 'इंद्राय तक्षकाय स्वाहा' की स्थिति पैदा हो गई है। मेनन के साथ पंडित जी भी लपेट में आ गए हैं और यह एक भयंकर बात है।'

" पर इंदिरा जी अपने निश्चय से विचलित नहीं हुई। इसी बीच पंडित जी की गाड़ी भी आ गई और वे ऊपर चले गए। तब इंदिरा जी ने यशपाल कपूर से कहा, 'बाबू जी को बापू के पास ले जाओ।'

" मैं समझ गया कि सारी बातें अब मुझे ही कहनी पड़ेंगी। अतः मैं चुपचाप लिफ़्ट की ओर बढ़ गया। कपूर मेरे साथ थे। लिफ़्ट खोलकर उसमें जाने और ऊपर पहुँचने में मुश्किल से चालीस-पचास सेकेंड लगे होंगे, पर इसी बीच कपूर ने धीरे से मेरे कान में कहा, 'बाबू जी, देश में बहुत असंतोष है। मेनन को हटवाइए न !' "

नेहरू और सत्यनारायण बाबू आमने-सामने

" तब कपूर नवयुवक ही थे। इसलिए उनकी बात पर मैंने ज़्यादा ध्यान नहीं दिया और उन बातों के बारे में सोचता रहा, जो मुझे नेहरू जी से कहनी थीं कि उन्हें कैसे और कहाँ से शुरू करूँगा ? आख़िर मैंने अपना इरादा पक्का किया और नेहरू के सामने जाते ही बिना किसी लाग-लपेट के साफ़ शब्दों में उनसे कहा, 'अब आपके विरुद्ध विद्रोह खड़ा हो गया है पंडित जी ! यही बताने के लिए मैं हाज़िर हुआ हूँ।'

" पंडित जी ने एक क्षण मेरी ओर देखा और फिर सिर की टोपी आवेश के साथ मेज़ पर पटकते हुए बोले, 'ठीक है, मेरा इस्तीफ़ा ले लो।'

" मैंने इस उत्तर की कल्पना भी नहीं की थी। इसलिए सहसा मेरे मुँह से निकला, 'आप कैसी बातें कर रहे हैं ? मैंने आपसे इस उत्तर की आशा नहीं की थी। जिस व्यक्ति ने देश के लिए इतनी बड़ी कुर्बानी दी हो, उसके मुँह से ऐसी बातें अच्छी नहीं लगतीं।'

" 'तुम क्या चाहते हो ?' उन्होंने सीधे प्रश्न किया।

" मैंने कहा, 'देश के हित में लोगों ने बड़े-बड़े बलिदान किए हैं। किसी ने अपने बेटे का बलिदान किया तो किसी ने अपने भाई का, आप एक मेनन को नहीं छोड़ सकते ?'

" पंडित जी ने कहा, 'क्यों छोड़ दूँ ?'

" 'छोड़ने के कारण अनेक हैं।' मैंने नम्रतापूर्वक कहा, 'पार्टी में उनके विरुद्ध व्यापक असंतोष है। स्वयं आपके घर में लोग उनसे खुश नहीं हैं। अभी कपूर मुझसे कह रहा था कि मेनन को हटवाइए। लेकिन सबसे बड़ा कारण लोकमत है। यदि लोकनायक ही लोकमत की उपेक्षा करेगा तो फिर उसका सम्मान कौन करेगा ?'

" मैंने कहा, 'अगर कुछ नहीं तो लोकहित में ही आपको यह त्याग करना चाहिए। आख़िर जनता इंसाफ़ के लिए किसकी ओर देखती है ?'

" मैंने पंडित जी के चेहरे की ओर एक क्षण के लिए देखा। वह किसी विचार में डूब गए थे। मुझे लगा कि तीर निशाने पर पड़ा है। निशाना लगाने के बाद शिकार को खोजने की मेरी आदत नहीं रही। अतः मैं चुपचाप नमस्कार करके वहाँ से उठ लिया। लौटते हुए जब इंदिरा ने पंडित जी की प्रतिक्रिया जाननी चाही, तब मैंने कहा, 'सारी बातें बता आया हूँ, देखो, क्या होता है।'

" इसके बाद तो लोगों का ताँता मेरे घर लग गया। सब यही जानना चाहते थे कि नेहरू जी ने क्या कहा ? इन लोगों में नेता थे और पत्रकार भी। मोरारजी देसाई सहित कई साथियों ने कुरेद-कुरेदकर मुझसे पूछा। मैंने कहा, 'मुझे जितना और जो कहना था, कह आया। अब आप लोग जाकर कहिए।' "

स्पॉयल्ड चाइल्ड

अचानक बाबू जी को चुप होते देख मैंने एक प्रश्न किया, "बाबू जी, जैसे नेहरू जी को देश का 'स्पॉयल्ड चाइल्ड' कहा जाता है, वैसे ही आपके बारे में कहा जाता है कि आप नेहरू जी के 'स्पॉयल्ड चाइल्ड' थे। इस मज़ाक़ में कितनी सच्चाई है ?"

"तुमसे किसने कहा ?" बाबू जी ने चौंककर अचानक पूछा तो मैं सहसा निश्चय नहीं कर पाया कि बाबू जी के विषय में जानकारी का विश्वसनीय स्रोत बताऊँ या न बताऊँ ? परंतु उन्होंने प्रश्न दुहराया नहीं। बोले, "यह बात काफ़ी सच है और मैं पंडित जी से कहा करता था कि जैसे आप देश के स्पॉयल्ड चाइल्ड हैं, वैसे ही मैं आपका स्पॉयल्ड चाइल्ड हूँ। पर दरअसल इस तर्क की आड़ में मैं उनसे कहनी-अनकहनी सब तरह की बातें कह लेता था। वे मुझे जानते थे और मेरा भरोसा करते थे। इसलिए क्षण-दो क्षण की कड़वाहट झेलने को भी मुझे ही विषपायी बनना पड़ता था। जैसे उस क्षण पंडित जी को चाहे मेरी बातें बुरी लगी हों, पर शाम को पार्टी मीटिंग में ज़रूर उन्होंने मन ही मन मेरी भूमिका सराही होगी।"

अभूतपूर्व बैठक

" मुझे अभी तक याद है कि उस दिन बैठक छह बजे थी और ठीक छह बजे ही शुरू हुई। मीटिंग में काफ़ी भीड़ थी और लोग वक़्त से पहले ही आ गए थे। नेहरू जी भी समय से आए थे, किंतु उनके आने पर उस दिन एक अजीब बात हुई। पहले जब कभी वे आते थे, तब सभाकक्ष उनके स्वागत में तालियों से मुखर हो उठता था। पर उस दिन कोई ताली नहीं बजी, न कोई उठकर खड़ा हुआ। पंडित जी आए और आकर सीधे अपनी कुर्सी पर बैठ गए। सदस्यों की मनःस्थिति और सभाकक्ष का वातावरण भॉपने में उन्हें मुश्किल से चंद मिनट लगे होंगे। दूसरे ही क्षण उन्होंने उठकर घोषणा कर दी, 'मि० मेनन ने इस्तीफ़ा दे दिया है और मैंने स्वीकार कर लिया है।'

" पंडित जी का इतना कहना था कि सारा कमरा ख़ुशियों से भर उठा, देर तक मेज़ें खनकती रहीं और तालियॉ बजती रहीं। लोग ख़ुशी से झूम-झूम पड़ते रहे। जब यह तूफ़ान थमा और लोग बाहर निकले, तब पंडित जी ने मुझसे कहा, 'लो, तुम्हारा किया कर दिया, अब तो ख़ुश हो ?' मैंने उत्तर दिया, 'पंडित जी, मैं अनासक्त भाव से बातें कहता हूँ। उनमे विद्वेष नहीं, नैतिक संगति होती है। इसलिए एक सहयोगी के रूप में श्री मेनन के जाने की मुझे कोई ख़ुशी नहीं। हॉ, एक नागरिक के रूप में मैं भी सर्वसामान्य की भावनाओं का आदर करता हूँ।' "

नेहरू का लोकतांत्रिक रूप

मेरा नेहरू वाला प्रश्न अभी भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुआ था। अतः एक दिन फिर अवसर पाते ही मैंने वही विषय छेड़ दिया, "बाबू जी, आपने नेहरू जी के विषय में जो बातें बताई, उनसे यह तो सिद्ध होता है कि वे एक अच्छे और श्रेष्ठ इंसान थे और आपको बहुत चाहते थे, पर यह कहीं नहीं सिद्ध होता कि प्रजातंत्र में उनकी गहरी आस्था थी या वे बड़े भारी डेमोक्रेट थे। व्यक्ति-रूप में तो अनेक तानाशाह भी बड़े श्रेष्ठ इंसान हुए हैं।"

"तुम ख़ाक नहीं समझते !" बाबू जी झुँझलाकर बोले, "ऐसी एक नहीं, हज़ारों मिसालें और घटनाएँ हैं, जिनसे उनका प्रजातांत्रिक स्वरूप स्वतः सिद्ध हो जाता है। क्या कोई तानाशाह इस तरह लोकमत के सामने झुककर अपने किसी निकट मित्र को हटा सकता था ? और सुनो, एक छोटी-सी घटना सुनाता हूँ। बात ज़रा पुरानी है, तब की जब 1937 में अंतरिम सरकार बनने की नौबत आई थी। उस समय कांग्रेस में इस बात को लेकर काफ़ी खींचतान हुई थी कि कांग्रेस सत्ता में आए या न आए। नेहरू जी अंग्रेज़ों द्वारा दी गई सत्ता ग्रहण करने के घनघोर विरोधी थे। उनका तर्क था कि 'सत्ता माँगी नहीं जाती, ली जाती है। इस तरह टुकड़े के मानिंद फेंकी गई सत्ता हमें पूर्ण स्वतंत्रता के अपने पवित्र उद्देश्य से विमुख कर सकती है और हममे सत्ताजन्य आलस्य, प्रमाद आदि के दुर्गुण भी आ सकते हैं।' उनके विपरीत अन्य लोगों का ख़याल था कि हमें सत्ता में आने से पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने में जल्दी सफलता मिलेगी। साथ ही अंग्रेज़ों तथा जनता को भी यह विश्वास दिला सकेंगे कि हम शासन-दंड सँभालने की भी सलाहियत और सामर्थ्य रखते हैं। इसके अलावा एक व्यावहारिक लाभ यह होगा कि वे अधिकारी और बड़े-बड़े ज़मींदार वग़ैरह, जो अभी भी अंग्रेज़ सरकार के प्रति वफ़ादार हैं, सहसा हिल जाएँगे। ज़ोर-जुल्म कम होंगे और कांग्रेस के प्रति तथा प्रकारांतर से स्वराज्य के प्रति लोगों में आस्था बढ़ेगी।"

उनसे बड़ा डेमोक्रेट कौन हुआ ?

आख़िर इस मसले को लेकर ज़बर्दस्त विवाद चला। नेहरू जी कांग्रेस के अध्यक्ष थे। इसलिए इस मुद्दे पर जनमत जानने के लिए दिल्ली में एक विशाल कन्वेशन हुआ, जिसमें सारे सूबों से कांग्रेस के चुने हुए कोई तीन हज़ार प्रतिनिधियों ने भाग लिया। लेकिन तीर-चार दिन की वहस के बाद भी जब कोई निप्कर्ष नहीं निकला, तब यह तय पाया कि मामला निर्णय के लिए कार्यसमिति के सुपुर्द कर दिया जाए। इसी प्रस्ताव के अनुसार 3 जुलाई, 1967 को स्वराज्य भवन में कार्यसमिति की एक बैठक आयोजित की गई, जिसमें दो दिन के ज़बर्दस्त विरोध और तीव्र वाद-विवाद के बाद नेहरू जी की हार हुई और यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि जिन प्रांतों में कांग्रेस का बहुमत है, वहाँ कांग्रेस

को अपनी सरकार बनानी चाहिए। चूँकि संयुक्त प्रांत में स्व० गोविंदवल्लभ पंत कांग्रेस के नेता चुने गए थे, अतः गवर्नर ने उन्हें सरकार बनाने का निमंत्रण दिया था। इस अवसर पर अपनी प्रसन्नता प्रदर्शित करने के लिए कांग्रेस वालों ने एक ज़बर्दस्त जुलूस निकाला। क्योंकि नेहरू जी सरकार बनाने के पक्ष में नहीं थे, इसलिए लोगों को स्वाभाविक रूप से यह आशा थी कि नेहरू जी इस जुलूस में भाग नहीं लेंगे। लेकिन उस जुलूस की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें नेहरू जी सबसे आगे, सबसे ज़ोरदार नारे लगाते हुए चल रहे थे। जब किसी पत्रकार ने उनसे कहा कि आपके प्रस्ताव को अमान्य करके कार्यसमिति ने ठीक नहीं किया, तब नेहरू जी तपाक से अंग्रेज़ी में बोले, 'एज दि किंग कैन डु नो रोंग, दि वर्किंग कमेटी कैन आल्सो डू नो रोंग' अर्थात् जैसे 'किंग (इंग्लैंड का राजा) कोई ग़लत काम नहीं कर सकता, वैसे ही कार्यसमिति भी कोई ग़लत काम नहीं कर सकती।

" अब बताओ, नई पीढ़ी के आलोचक किस तर्क से नेहरू को तानाशाह कहते हैं ? उनसे बड़ा डेमोक्रेट और कौन हुआ है ? उनसे महान् व्यक्ति कहाँ है ? उनसे बेहतर लोकतांत्रिक परंपराएँ किसने डाली हैं ?"

भावावेश में अपनी बात कहते-कहते सहसा बाबू जी जैसे नेहरू में खो-से गए। उनकी आँखें भीग आईं और अंतस की व्यथा उनके चेहरे पर झलकने लगी। पुराने मित्रों के प्रसंग छिड़ने पर अकसर वे इसी तरह भावुक हो उठते हैं और उन क्षणों में अकसर मुझे स्व० मैथिलीशरण गुप्त का वह विनोद याद हो जाता है, जब वह बाबू जी को छेड़ते हुए कहा करते थे, 'सत्यनारायण बाबू, आप व्यर्थ राजनीति की कीचड़ में धँस गए। आपको तो साहित्य में आना चाहिए था। आप अगर राजनीति में न जाते तो निश्चय ही एक बहुत बड़े लेखक या कवि होते।'

साक्षात्कार एक राजनेता से

"देश की आर्थिक संपन्नता के बारे में आपकी क्या धारणा है ? इस स्थिति के लिए आप राजनीतिक नेतृत्व को कहाँ तक उत्तरदायी मानते हैं ?"

"देश की आर्थिक संपन्नता या विपन्नता के बारे में मेरी स्पष्ट धारणा यह है कि वही देश आर्थिक दृष्टि से संपन्न हुए हैं, जहाँ का राष्ट्रीय चरित्र ऊँचा रहा है। बिना राष्ट्रीय चरित्र के संपन्नता नहीं लाई जा सकती, विपन्नता ही हाथ लगेगी। देश की राजनीतिक स्वतंत्रता के पश्चात् यद्यपि यह बात कही गई कि आर्थिक संपन्नता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता अपूर्ण है, किंतु इन 27 वर्षों में इस दिशा में कोई ठोस कार्यवाही हमारे यहाँ नहीं हुई। राजनीतिक स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए जिस तरह देश की समस्त पार्टियों ने मिल-जुलकर कार्य किया, वह आर्थिक दृष्टि से संपन्न होने के लिए नहीं किया गया। देश की आज़ादी के बाद हमने सत्ता के लिए संघर्ष सर्वाधिक किए और यही एकमात्र कारण है कि आर्थिक दिशा में हम संपन्न हो नहीं सके। संपन्नता के लिए जो बेसिक उद्योग की आवश्यकता थी, उस ओर हमारा ध्यान नहीं गया। विश्व के जिन देशों ने आज़ादी मिलने के बाद प्रगति की है, उन्होंने अपने देश के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति की।

" जहाँ तक राजनीतिक नेतृत्व को उत्तरदायी ठहराने का सवाल है, इस संबंध में मेरी राय इस भाँति है कि राजनीतिक नेतृत्व को जिस कड़ाई के साथ प्रारंभ में कार्य करने चाहिए थे, वे नहीं हुए। राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ, स्वच्छंदता अधिक किया गया। मैंने हाल ही में सोवियत की यात्रा की थी। वहाँ आज़ादी के बाद आर्थिक संपन्नता जिस तीव्र गति से लाई गई है, उसके पीछे एकमात्र कारण उनकी ईमानदारी एवं राष्ट्रीय चरित्र का होना है। उन्होंने अपने देश के छब्बीस करोड़ लोगों की दैनंदिन आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिया और आज वहाँ संपन्नता दिखाई देती है।

" सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में असंतोष एवं अराजकता निश्चय ही बढ़ी है। अराजकता की स्थिति का निर्माण कराने के लिए विरोधी राजनीतिक पार्टियाँ विशेष रूप से सक्रिय हैं। 1972 के आम चुनाव के समय जो वायदे हमने जनता से किए थे, वे अब तक पूरे नहीं हो पाए हैं। देश की जनता ने स्थिरता लाने के लिए अपना फ़र्ज़ पूरा किया। असंतोष एवं अराजकता की बढ़ोतरी का यह भी कारण है कि

दैवी प्रकोप के कारण अनावृष्टि हुई, उत्पादन कम हुआ, आवश्यकताओं की वृद्धि नहीं रुकी, आम लोगों की ज़रूरत की चीज़ें, खाद्यान्न आदि के भाव आसमान छूने लगे। विरोधी देशों को यह एक सुनहरा अवसर मिला शासन के प्रति असंतोष पैदा करने का, असंतोष से अराजकता होती है।"

"रोज़ सीधे आसमान की ओर जाती हुई क़ीमतों के संदर्भ में इस 'गरीबी हटाओ आंदोलन' की क्या सार्थकता और औचित्य है ? क्या इस नारे के बाद से गरीबी हटाने की संभावनाएँ बढ़ती दिखाई दी हैं ?"

" 'ग़रीबी हटाओ' एक कार्यक्रम है। 'ग़रीबी हटाओ' नारे का औचित्य संदेहपूर्ण नहीं है। इसके लिए देश के लोगों को काम चाहिए। पंचवर्षीय योजना-काल में इस दिशा में अधिकाधिक प्रयास करना होगा कि नए-नए उद्योग स्थापित हों और लोगों को काम दिया जाए। 'ग़रीबी हटाओ' के नारे मात्र से ग़रीबी नहीं हटेगी, इसके लिए तो समस्त देशवासियों को काम करना होगा। ग़रीबी हटाने की दिशा में निश्चित रूप से सफलता मिलेगी, बशर्ते राजनीतिक स्थिरता देश में रखी जावे।

" देश में भूख, बेरोज़गारी, अभाव और महँगाई को लेकर प्रदर्शन, घेराव, तालाबंदी के कार्यक्रम, विरोधियों की सत्ताधारी दल के प्रति साज़िश हैं, क्योंकि देश के विरोधी दल विगत आम चुनाव में गठबंधन के पश्चात् ही बुरी तरह ध्वस्त हो गए थे। अपने आपको बनाए रखने के लिए प्रदर्शन, घेराव और तालाबंदी उनके लिए आवश्यक हो गई है। यह सही है कि बेरोज़गारी, अभाव और महँगाई पिछले वर्ष की तुलना में बढ़ी है, लेकिन इसके लिए सत्ताधारी दल पूरी तरह प्रयत्नशील है। जन-असंतोष को हर तरह से उभारने के प्रयास किए जा रहे हैं—बढ़ती हुई महँगाई के विरुद्ध जनअसंतोष होना स्वाभाविक है। सरकार इसके लिए हरसंभव प्रयत्न कर रही है।

" पूरे देश में अनावृष्टि के कारण अकाल की स्थिति है, इसे तो नकारा नहीं जा सकता। अकाल की स्थिति में हड़तालों का कराया जाना आसान काम है। मरता क्या नहीं करता। लेकिन इसे किसी क्रांति की भूमिका की संज्ञा नहीं दी जा सकती। असंतोष की जिन स्थितियों में देशों में क्रांतियाँ होती हैं, वह स्थिति इस देश में नहीं है।"

" इस देश का बुद्धिजीवी बिका नहीं है। संसद में, विधानसभाओं में तथा अन्य स्थानों में शासन की असफलताओं की प्रवरतम आलोचनाएँ बुद्धिजीवी वर्ग के द्वारा ही की जाती हैं। यह कहना सही नहीं है कि क्रांति की भूमिका बनाने एवं सच को सच कहने का बुद्धिजीवी में अभाव है। यदि यही होता तो प्रधानमंत्री की मारुति कार के मामले में आलोचनाएँ नहीं होतीं।

" राजनीति सर्वोपरि हो गई है और मेरी राय में सारी बुराइयों का मूल कारण यही है। इसके लिए हमें काफ़ी गंभीरतापूर्वक सोचना होगा। राजनीति के सिवाय, सामाजिक

तथा आर्थिक क्षेत्र में भी ध्यान देना होगा। आज तो राजनीति बीमारी की तरह हमें ग्रसित करती जा रही है। राजनीतिक चर्चाएँ अधिकाधिक होती हैं।

" देश के उत्थान के लिए बुद्धिजीवियों को अपनी सशब्द लेखनी एवं वाणी से जनता के सामने वस्तुस्थिति को स्पष्ट रूप से रखना होगा। साहित्य-सृजन की आवश्यकता होगी, जो देश के उत्थान के लिए सहायक बने। मेरा इस दिशा में योगदान यह है कि मैं पूर्ण निष्ठा के साथ अपने कार्यों को कर रहा हूँ।

" मेरे प्रदेश में निश्चित रूप से कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ लोग नंगे रहते हैं। वे क्षेत्र हैं बस्तर के अबूझमाड़ तथा अन्य आदिवासी इलाक़े। एक किलो नमक ख़रीदने के लिए बीस मील चलना पड़ता है। महँगाई एवं अन्नाभाव के कारण वृक्षों की पत्तियों को खाने की बात समझ में आती है, किंतु पशुओं का चारा नहीं खाया जा सकता। हमारे और उनके रहने में भारी अंतर है। इसे दूर करने के लिए सरकार को दृढ़ क़दम उठाने होंगे। जनता के लिए इस आधार पर हम देश में संपन्नता लाने के लिए कृतसंकल्प हैं, लेकिन पच्चीस-छब्बीस वर्षों का अनुभव यही बताता है कि हमने स्वतंत्रता का ग़लत अर्थ लगाया और आज हमारी जो हालत ख़राब हुई है, उसका मूल कारण यही है।

" मेरी राय में तो सरकार को दृढ़ता के साथ समाजवादी कार्यक्रमों को अपनाना होगा तथा इसके लिए राष्ट्रीयकरण शीघ्रातिशीघ्र किया जाना चाहिए। धन और धरती बाँटनी होगी। बड़े और छोटे का फ़र्क़, ग़रीब-अमीर का फ़र्क़ मिटाना होगा, तभी जाकर देश में संपन्नता लाई जा सकती है। जिन समाजवादी देशों ने प्रगति की है, उन्होंने इन वातों की ओर विशेष ध्यान दिया है। आज देश में सीमित प्रजातंत्र की चर्चा चल पड़ी है। सोवियत रूस में प्रजातंत्र सीमित कहा जाता है। वहाँ हर व्यक्ति ख़ुशहाल है। ग़रीबी, बेरोज़गारी तथा भुखमरी वहाँ नहीं है। लेकिन हमारी शासन-प्रणाली वहाँ से भिन्न है। हम समाजवादी कार्यक्रमों को प्रजातांत्रिक तरीक़ों से पूरा करना चाहते हैं तथा इसके लिए सख़्ती से अमल करने की आवश्यकता है, न कि सख़्ती बरतने की तथा प्रजातंत्र को सीमित करने की। "

(1974)

पीढ़ियों का संघर्ष

एक प्रखर छात्रा परमजीत कौर से बातचीत

प्रश्नकर्ता—दुष्यन्त

"पुरानी और नई पीढ़ी के बीच का फ़ासला एकदम बहुत अधिक मालूम पड़ने लगा है।" मैंने महारानी लक्ष्मीबाई कन्या महाविद्यालय छात्र संघ की अध्यक्ष कु० परमजीत कौर को लक्ष्य करके अपनी बात कहनी चाही। पर उसने मुझे बीच में ही रोक दिया, बोली, "फ़ासला ? फ़ासला क्या, कभी-कभी तो ऐसा लगता है जैसे दो विपरीत दिशाएँ हों। एक-दूसरे को काटती हुई, एक-दूसरे से भिन्न। आज पुरानी सारी मान्यताएँ यकायक बदल गई हैं या उन पर सोचने का पुराना ढंग ही सिरे से बदल गया है ?"

"नई पीढ़ी में अनेक कमियाँ हो सकती हैं, पर क्या आपकी राय में पुरानी पीढ़ी ने नई पीढ़ी के निर्माण में या उसे समझने में कोई भूमिका निभाई है ?"

"जी हाँ।" कु० परमजीत कौर उर्फ़ पम्मी ने चेहरे पर व्यंग्य की गंभीरता ओढ़ते हुए कहा, "नई पीढ़ी में सारी कमियों के निर्माण के लिए पुरानी पीढ़ी ज़िम्मेदार है। मैं नहीं जानती आप कौन-सी कमी की बात कर रहे हैं। इस उच्छृंखला की, इस तोड़-फोड़, प्रदर्शन और घेरावों की या हिप्पी फ़ैशन में घूमते आवारापन की। पर यह सब नई पीढ़ी पर लाद दिया गया है। यह उस दम घोंटने वाली नैतिक संहिता की प्रतिक्रिया ज़रूर है, जिसमें हमें 'डूज़ और डोंट्स' या करनी और कथनी के बंडल थमा दिए हैं। और हम बिना ध्यान दिए उन उपदेशों को, बंबइया फ़िल्मों की तरह सुनने और देखने के लिए विवश हो गए हैं। क्या आप नहीं मानते कि दमन की हमेशा उग्र प्रतिक्रिया होती है। गेंद को जितनी ज़ोर से ज़मीन पर पटकते हैं, वह उतनी ही ऊँची उछलती है। कहना चाहती हूँ कि पुरानी पीढ़ी के दमन-शास्त्र ने नई पीढ़ी की उच्छृंखलता का निर्माण किया है। उसे समझने की कोई गंभीर कोशिश कभी नहीं हुई। हुआ उलटे महज़ यह है कि तीज-त्योहारों की तरह मनाए जाने वाले वार्षिक उत्सवों आदि पर निमंत्रित नेताओं और विशेष उत्सवों आदि पर निमंत्रित नेताओं और विशेष अतिथियों ने नुस्खों के रूप में हमें नैतिकता बाँटी है।"

"नई पीढ़ी के व्यवहार के लिए अकसर सिनेमा को दोषी ठहराया जाता है ?"

"यह सरासर ग़लत है। बल्कि सच्चाई यह है कि सिनेमा के व्यवहार के लिए यानी

सिनेमा के घटियापन के लिए नई पीढ़ी दोषी है। अगर हम इन सड़ी हुई फ़िल्मों का बहिष्कार करने लगें तो"। पर वह अलग बात है। सिनेमा के मत्थे नई पीढ़ी का दोष मढ़ना मेरे विचार से समस्या को बहुत सरलीकृत करके देखने और इतिहास की सच्चाइयों और प्रौद्योगिक युग की अनिवार्यताओं से बचने की कोशिश है। सिनेमा ने नई पीढ़ी के दोषों को पुख़्ता किया है, पैदा नहीं।"

"छात्रों पर आरोप लगाया जाता है कि वे घटिया किस्म की फ़िल्में अधिक देखते हैं ?"

"जी हाँ। इसलिए देखते हैं कि वे हमारे सिनेमाघरों में दिखाई जाती हैं। छात्र या छात्राएँ वही देख सकते हैं, जो उन्हें दिखाई देता है। मेरे सामने पहाड़ है तो मैं पहाड़ देख सकती हूँ, कारखाना नहीं। पर इन आरोप लगाने वालों पर मेरा यह आरोप है कि इन्होंने अपनी नई पीढ़ी के लिए मनोरंजन के कितने स्वस्थ साधन उपलब्ध करा रखे हैं ? मनोरंजन के लिए छात्रों के सामने सिनेमा के सिवाय दूसरा विकल्प क्या है ?"

"क्या आपने कभी यह सोचा है कि छात्रों को अच्छे सिनेमा के प्रति जागरूक करने का आपका भी कोई कर्तव्य है ?"

"जी हाँ, है। पर न सिनेमा के प्रति जागरूकता लाने के लिए मैं भाषण देना पसंद करती हूँ और न फ़िल्म बनाना। दोनों मेरी रुचि और सामर्थ्य से परे हैं। हाँ, अच्छी समानांतर फ़िल्मों पर हम लोग चर्चा ज़रूर करते हैं और ऐसी फ़िल्में हम ज़रूर देखते हे, भले ही फ़ार्मूला फ़िल्में अनदेखी चली जाएँ।"

"अच्छी फ़िल्म की आपकी कसौटी क्या है ?"

"सिर्फ़ एक ही कसौटी है कि फ़िल्म ज़िंदगी से जुड़ी हुई है या नहीं ? भले ही इसमें अच्छे नाच-गाने न हों, मारधाड़ और रोमांस के दृश्य न हों, लेकिन अगर वह ज़िंदगी की सही तस्वीर पेश करती है, यानी अगर वह यथार्थ या यथार्थ का आभास भी देती है तो अपने तकनीकी मूल्यों में, ख़राब होने के बावजूद, मैं उसे देखना चाहूँगी।"

माध्यमिक शिक्षा मंडल द्वारा संचालित आदर्श विद्यालय के प्राचार्य से जब मैंने यही प्रश्न किया तो वे बोले, "मुझे तो ऐसा लगता है कि नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से ज़्यादा जागरूक है। पुरानी पीढ़ी की बहुत-सी दक़ियानूसी मान्यताओं को नई पीढ़ी ने तोड़ा है या बदला है। इसलिए दोनों पीढ़ियों में अंतर है और फ़ासला होना स्वाभाविक ही है।"

(अधूरा)

एक प्राचार्य से फ़िल्मों और नई पीढ़ी पर बातचीत

बच्चों के लिए अच्छी फ़िल्में बनाई जानी चाहिए। प्राचार्य के रूप में अच्छे नाटक, एकांकी, मोनोलॉग तैयार किए जा सकते हैं। पुराने महापुरुषों की देन के बारे में बताया जा सकता है। नई फ़िल्मों की ओर बच्चों का झुकाव सेक्स के कारण है। हमें सेक्स के बारे में थोड़ा लिबरल होना पड़ेगा।

सेक्स को हमने आज बहुत दबाया है। सेक्स को उन्मुक्त किसी न किसी रूप में करना पड़ेगा। भले ही इतना उन्मुक्त न करें कि बच्चे बिगड़ जाएँ।

अच्छी फ़िल्म में दो-तीन बातें होती हैं—देशप्रेम की भावना।

इन्हीं प्रश्नों के उत्तरों के लिए जब मैंने आदर्श विद्यालय के प्राचार्य गुरुप्रसाद श्रीवास्तव से संपर्क किया, तो वे बोले, " मुझे ऐसा लगता है कि नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से कुछ ज़्यादा जागरूक है। पुरानी पीढ़ी की मान्यताओं को नई पीढ़ी ने तोड़ा है। इसे उच्छृंखल बनाने में पुरानी पीढ़ी का ज़्यादा हाथ है। आज जो समाज में भ्रष्टाचार वग़ैरह है, उसके प्रति भी नई पीढ़ी अपेक्षाकृत ज़्यादा समझदार है, वह उसे बर्दाश्त नहीं कर सकती।

" हम उनकी भावनाओं, उनके विचारों के परिवर्तन को चूँकि उसी स्तर पर समझ नहीं पाते, इसलिए उन्हें उच्छृंखल समझते हैं।

" पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को समझने के लिए शिक्षण संस्थाओं में कितना अवसर देती है ? सिनेमा ने केवल एक ही देन दी है, वह है ड्रेस के बारे में। जिस प्रकार की एक्टिंग देखते हैं हमारे बच्चे, उसकी नक़ल घरों पर करते हैं। उससे बचा भी नहीं जा सकता। हम इसे स्वीकार करें—ड्रेस से, विचारों से कोई बहुत फ़र्क़ नहीं पड़ता। हम उन्हें अवसर नहीं दे पा रहे हैं। देना चाहिए। "

1. फ़िल्म की सामाजिक क्रांति में ज़बरदस्त भूमिका रही है। केवल मनोरंजन का साधन नहीं है।

2. सिनेमा मनोरंजन है, पर फ़िल्म देखने वालों में इतना विवेक होना चाहिए कि वे कितने को ग्रहण करें। यह हमारे ऊपर ही तो है कि हम क्या चुनते हैं। हमारे जो घरेलू संस्कार हैं वे सदैव सामने होने चाहिए। जापान बाहर से बहुत उदार है, पर भीतर से संस्कारवान है। संस्कारों में कोई परिवर्तन नहीं उसके यहाँ।

निबंध, विविध सामयिक टिप्पणियाँ एवं अन्य गद्य-प्रकार

राष्ट्रोन्नति में सबसे बड़ी बाधा सिनेमा

हम बापू के वे शब्द नहीं भूल सकते जिनमें उन्होंने भारत की स्वतंत्रता के चिरायु होने की शुभकामना प्रकट की थी, साथ ही साथ यह भी कहा था कि मेरी इच्छा है, भारत विश्व की महान् शक्ति बने और समस्त देशों का नेतृत्व करे।

अपने शब्दों को सत्य करने से पूर्व ही बापू अपनी इहलीला समाप्त कर स्वर्ग सिधार गए। इस कारण वे शब्द सत्य करने और बापू की उस इच्छा को पूर्ण करने का भार अब हम पर आ पड़ा है। इसलिए हमें चाहिए कि हम स्वयं को ख़ूब शक्तिशाली बना लें, ताकि कर्तव्य के उस गुरुतम भार को सहन करने में समर्थ हो सकें।

उपरोक्त कार्य सरल नहीं। सरल था अवश्यमेव, पर बापू के लिए, हमारे नहीं। हमें उस कार्य को सरल बनाने के लिए अपनी जड़ मज़बूत करनी चाहिए, तदंतर शनैः-शनैः उस दिशा की ओर अग्रसर होना चाहिए।

हमारी, हमारी ही क्या किसी भी देश की उन्नति का भार वहाँ के नवयुवकों के कंधों पर होता है। यदि किसी देश का युवक-समाज प्रगतिशील और साहसी होता है तो वह देश शीघ्र उन्नति के उच्च शिखर पर जा आसीन होता है। किंतु इसके विपरीत होने पर उसे अवनति के गर्त की ओर लुढ़कने में भी देर नहीं लगती।

हमारी पराधीनता की शृंखलाएँ टूट गई हैं। पर देखते हैं कि हमारे युवक तथा युवती-समाज के लोगों में इतना बल नहीं है कि वे राष्ट्र-उन्नति का भार वहन कर बापू द्वारा निर्देशित पथ की ओर अग्रसर कर सकें। प्रश्न उठता है, क्यों ? इसका कारण कुछ सामाजिक कुरीतियाँ हैं और इन कुरीतियों के कारणदाता हैं अधिकांशतः ये हमारे फ़िल्म निर्मातागण।

प्रत्येक देश का युवक-युवती समाज अपने राष्ट्र को निज स्कंध पर सँभाले उन्नति के प्रशस्त पथ पर तेज़ी से बढ़ता चला जा रहा है और हमारा देश इस दौड़ में सबसे पीछे है। हमारा समाज अभी तक फ़िल्म-निर्माता द्वारा पिलाई गई भाँग के नशे में चूर सोया पड़ा है। कभी आँखें खोलना है तो फिर उसे एक खुराक पिला दी जाती है। ऐसी दशा में वह भी क्या सोचे ? सोचना तो इन पूँजीपति फ़िल्म-निर्माताओं को चाहिए जो देश की उन्नति में बाधा बनकर उसके ही नहीं, अपने साथ भी बहुत बड़ा अन्याय कर रहे हैं।

इनके इस कृत्य में इनका एक मूर्खतापूर्ण स्वार्थ सन्निहित है। ये लोग समझते हैं कि राष्ट्र-समाज की उन्नति से हमारी उन्नति रुक जाएगी। जनता चित्र देखना कम पसंद करेगी। पर भूल जाते हैं कि राप्ट्र की उन्नति ही व्यक्तिगत उन्नति का मूल है। राष्ट्रोन्नति से व्यक्तिगत उन्नति को कोई धक्का नहीं पहुँचता।

यदि ये अस्वाभाविक और गंदे प्रेम को एक तरफ़ छोड़कर राष्ट्र-प्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत चित्रों का निर्माण करने लगें, बजाय इश्क के, देश की तर्ज़ पर नवयुवकों को शहीद होने का उपदेश देने लगें और बजाय लैला-मजनू के, वीर जवाहर और विजयलक्ष्मी पंडित होने की सीख देने लगें, तो क्या जनता उन्हें नहीं देखेगी ? अवश्य देखेगी। और देखेगी ही नहीं, बल्कि हृदय से ऐसे चित्रों का स्वागत भी करेगी।

प्रारंभ में कुछ मोटी अक्ल वाले भले ही इस ओर कम ध्यान दें, किंतु कालांतर में उन्हें भी देखने पड़ेंगे। उनकी प्रवृत्ति सदैव ऐसी ही बनी नहीं रहेगी, बल्कि समय और परिस्थिति के साथ बदलती रहेगी।

हमारा समाज भी सदैव ऐसा ही नहीं रहेगा। वह भी कभी जागेगा। उसे भी कभी अपनी स्थिति का बोध होगा। हमारी सरकार इस ओर प्रयत्नशील है। किंतु क्या ही अच्छा हो, यदि ये फ़िल्म-निर्माता भी इस ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाएँ ! यदि ये ऐसा नहीं करते तो याद रखें कि समाज के जाग जाने पर, जिसके कि जागने में अब विलंब नहीं है, इन्हें मुँह की खानी पड़ेगी। ये चाहे समाज को कितनी ही भाँग क्यों न पिलाए जाएँ, किंतु वह निकट भविष्य में ही जागने वाला है, इसमें संदेह नहीं।

इन फ़िल्म-निर्माताओं या सिनेमाओं के कारण ही हमारा समाज अब तक अंधकार के गहन गर्त में पड़ा है। समाजोन्नति में ही राष्ट्रोन्नति निहित है। जब समाज ही अंधकार में था तो राष्ट्र कहाँ से प्रकाश पाता ? दूसरे शब्दों में इन्ही के कारण हमारा राष्ट्र भी अंधकार में रहा।

आज, जब बापू ने ज्ञान-रश्मियों की ज्योति हम तक पहुँचाई तो हमें इनके सारे काले कारनामे दीखने लगे। इनके सारे पाप, जो काले आवरण की ओट मे छिपे थे, प्रकट हो गए। जितने व्रण इन्होंने समाज को दिए थे, कसकने लगे और आज भी कसक रहे हैं।

प्राचीन इतिहास उठाकर देखिए, वह नारियों की पावन गाथाओं से भरा पड़ा है। उसके पृष्ठ-पृष्ठ पर उनके वीरोचित कार्यो का उल्लेख है। किंतु आज की नारी 'अबला' है, 'दुर्बल' है। क्यां ? क्यों दिया गया उसे यह नाम ? इसलिए कि आज के अधिकतर मनुष्य उसे वासना की पूर्ति का साधन समझते हैं। ऐसा दीप समझते हैं, जिसे जब चाहें फूँक मारकर बुझा दिया जाए।

पुरुष ने उसे क्यों उपेक्षित दृष्टि से देखना शुरू किया, क्यों उसे वासना-पूर्ति का

साधन मानना शुरू किया और क्यों माना, फूँक पर नाचने वाला दीप ?

वहीं पुरुष वर्ग, जो आज से कुछ दिनों पूर्व 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' का पाठ किया करता था, आज इतनी ओछी मनोवृत्ति का कैसे हुआ ? कभी किसी ने विचार किया है इस पर ?

केवल एक सिनेमा के कारण, जिसने भारतीय नारी का रूप इतना बिगाड़ा कि वह उपरोक्त दशा को पहुँच गई।

यदि देखा जाए तो आज के अधिकांश युवक कोई सुरैया के प्रेम में मजनू बना हुआ, कोई रेखा पर आहें भरता हुआ और कोई कामिनी कौशल पर आँखें गड़ाए हुए नज़र आएगा। इसलिए कि इन फ़िल्म-निर्माताओं ने नारी का इतना नग्न प्रदर्शन कराया है कि कोई भाड़ भी वेश्याओं का नहीं करा सकता। वक्षस्थल को एक हाथ उभरा हुआ और जाँघ को नग्न दिखाए बिना तो इनका काम चलता ही नहीं। इन्होंने कभी इस ओर ध्यान दिया ही नहीं कि अपनी बहन-बेटियों का इस प्रकार नग्न प्रदर्शन कराकर पैसा कमाना कहाँ तक उचित है ?

राष्ट्रीयता नाम से तो जैसे इन्हें चिढ़ है। ये तो केवल चाहते हैं–धनोपार्जन। चाहे कैसे भी हो, इन्हें धन अवश्य मिलना चाहिए। और ऐसा करने के लिए ये अश्लील से अश्लील चित्र निर्माण करने में भी नहीं चूकते। उदाहरणार्थ, अब तक जगनू, नाटक, शहनाई जैसे चित्रों के निर्माण में प्रयत्नशील हैं। ऐसे चित्रों के कहानीकारों को भी तो न जाने क्या हुआ है ? न जाने उनकी बुद्धि पर कैसा परदा पड़ा है ? ऐसी-ऐसी अस्वाभाविक और अश्लील कहानियाँ और उस पर दंभ भरते हैं साहित्य-सेवी होने का। इनकी तो ऐसी दशा है ही, पर सिने गीतकार इनसे और भी दो पग आगे हैं। वहीं ईश्वर-प्रदत्त वाक्शक्ति, जिसका प्रयोग कवि देश को जगाने और संस्कृति की आराधना में करते हैं, आज सिनेमा के गीतों में जा रही है। किस प्रकार से ? यह भी दर्शनीय है। कवि का उद्देश्य संसार को एक उपदेश देने का हो सकता है। ऐसी काव्य रचना करने का होता है, जिसे पढ़कर लोग एकांत में ज्ञान, भय में धैर्य और निराशा में आशा धारण कर अपने जीवन-युद्ध में सफलता प्राप्त कर सकें। पर हमारी समझ में नहीं आता कि 'जवानी की रेल चली जाए रे', 'लूट जवानी फिर नहीं आनी', 'मेरे जोबना का देखो उभार' आदि सरीखे गानों से देश का क्या उपकार हो सकता है ? उपकार के अतिरिक्त ऐसे गीत तो अपकार ही करते हैं तथा वासनात्मक भावनाओं के उद्दीपन में सहायता करते हैं।

यूरोपियन देशों में राष्ट्रप्रेम के सैकड़ों चित्रों का निर्माण हुआ है। पर हमारे यहाँ अब दो-एक इस प्रकार के चित्र बनाए गए हैं, जिनका अभाव इससे पूर्व बहुत खटकता था। यों कुछ लोग 'अठारह सौ सत्तावन' और 'हमारा हिंदुस्तान' को इस ढंग का बताते थे, किंतु वह केवल धाँधलेबाज़ी वाली बातें थीं, वास्तविकता की नहीं।

हमारा देश उस समय रूस, अमेरिका आदि देशों के समान हो सकता है, जबकि श्री मोहन सिंह जी के कथनानुसार चित्रों में केवल चार बातें हों—कला की, राष्ट्रप्रेम की भावना, स्वच्छ एवं पवित्र मनोरंजन तथा सामाजिक जीवन और ऐतिहासिक घटनाओं का दिग्दर्शन। *किंतु ये बनाते हैं ऐसे दूषित और अश्लील चित्र, जो जनता का नैतिक* स्तर गिराने में काफ़ी सहायता करते हैं।

और यदि ऐसे चित्र निर्माण करने को इन्हें मना किया जाता है तो कहते हैं कि जनता की इसमें रुचि है, हम क्या करें ? हम नहीं समझते कि ऐसे चित्र जनता के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं। अब बताइए, इन्हें किस तरह समझाया जाए कि हानिप्रद सिद्ध हो ही नहीं सकते, हो रहे हैं। ये फ़िल्मकार नहीं समझते कि वे जाति, राष्ट्र एवं भारतीय संस्कृति के साथ कितना बड़ा अन्याय कर रहे हैं ?

सिनेमा के कारण आज के सैकड़ों नवयुवक और नवयुवतियाँ इश्क के मरीज़ हैं। हर एक सिनेमा के अश्लील प्यार का लोहा मान गया है। किसी वर्ष के 'देश दूत' में श्री अशोक कुमार जी ने लिखा था कि 'मेरे पास प्रतिदिन कॉलेज की लड़कियों के इतने पत्र आते हैं कि उनका उत्तर देना कठिन ही नहीं, असंभव है। वे सभी सिनेमा- जगत् में आने की इच्छुक होती हैं।'

और हमारे युवकों की तो पूछिए मत, निन्यानबे प्रतिशत सिनेमा-जगत् में जाने को तुले बैठे हैं। वो तो कहिए कि उन्हें साधन उपलब्ध नहीं, वरना अधिकांश युवक सीधे सिने-क्षेत्र में दिखाई देते। इस पर भी कुछ युवक साहस करके जाते हैं और थोड़े दिनों अभिनेत्रियों की साड़ियों की तह करके या अभिनेताओं के जूतों पर पॉलिश करने के बाद उदास मुख लिए लौट आते हैं।

ज़रा अभिनेताओं से और अभिनेत्रियों से पूछिए कि आपने इस क्षेत्र में आने का कष्ट क्यों उठाया तो अधिकांश से यह उत्तर मिलेगा, 'केवल कला के लिए'। प्रसिद्ध अभिनेता श्री प्रेम अदीब ने भाई कुमुद जी के यही प्रश्न पूछने पर कहा था, "बंधु, मैं तो पैसे के लिए इस क्षेत्र में आया था। सोचा था, काफ़ी पैसे मिलेंगे। सोने की अँगूठियों से लद जाऊँगा। जो अन्य कोई सिनेमा क्षेत्र में आने का कारण बताते हैं, वे बकवास करते हैं।"

किसी पत्रिका में श्री निर्झर जी ने लिखा था—'इस सिनेमा-जगत् ने साहित्य पर भी एक भयानक कुठाराघात किया है। शब्दों को मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़कर, व्याकरण की सीमाओं को कुचलकर, आह-ऊह उत्पन्न कर अर्थ-अर्जन करना यही सिनेमा का एकमात्र उद्देश्य है। धन का अपव्यय और स्वेच्छाचार का प्रदर्शन सिनेमा-जगत् के दो अंग हैं। वासनात्मक भावों के उद्दीपन में जो चित्र जितना आगे बढ़ा है, वह सफलता के उतना ही निकट समझा जाता है।

बेढंगे अश्लील संवाद तथा दूषित गीत-परिपूर्ण चित्रों पर सरकार को प्रतिबंध लगाना चाहिए और सेंसर विभाग को भी ऐसे चित्र पास न करने चाहिए।

परिस्थिति एवं काल के अनुसार ही स्वयं को परिवर्तित करते रहना बुद्धिमत्ता है। किंतु ये फ़िल्म-निर्माता अभी तक काल एवं परिस्थिति के अनुसार नहीं बदले। इन्हें काल और परिस्थिति का बोध है। उससे अच्छी प्रकार भिज्ञ, किंतु फिर भी अनभिज्ञ बनने का प्रयत्न कर रहे हैं। बनें, हमें इससे क्या ? जो करेगा, वह भरेगा। चेतना के काल में मूर्च्छना का आना अच्छा नहीं। हम तो केवल इन्हें यह बता देना चाहते हैं कि शीघ्र अपनी आँखें खोल लें, अन्यथा समाज की लातें पड़ने पर तो करवट बदलनी पड़ेगी ही।

(प्रथम उपलब्ध, छात्र जीवन में लिखा गया विचारोत्तेजक निबंध 1949-50, चदौसी काल)

विश्व के नेताओं को एक पत्र, प्रजा का

दोस्तो,

मैं जो एकदम बेघरबार-सा इंसान हूँ, एक निहायत अदना-सा इंसान--यानी पढ़े-लिखों के समाज में सबसे कम पढ़ा-लिखा और शोषितों के समाज में सर्वाधिक शोषित--आज तुम्हें यह ख़त लिख रहा हूँ। हालाँकि मैं जानता हूँ कि मुझसे पहले भी ऐसे ख़त लिखे गए हैं, मुझसे पहले भी ऐसी आवाज़ें उठी हैं और कुचली जा चुकी हैं, मगर एक व्यक्ति का अहम् ही तो है कि मैं एक बार फिर कंठ की पूरी शक्ति से चिल्ला पड़ना चाहता हूँ, ताकि मेरी आवाज़ें यहाँ से वहाँ, यानी रूस से अमेरिका, अमेरिका से इंग्लैंड और इंग्लैंड से फ्रांस तक, सभी देशों में अनुगूँज जगाती हुई तुम्हारे मर्म तक पहुँचें। इसीलिए एक बार फिर यह कोशिश कर रहा हूँ कि तुम लोगों के जिस्म की विचित्र बनावट में किसी प्रकार हृदय नामक स्थान खोजकर ठीक वहीं, लक्ष्य-बेधी भाषा में कोई स्वर-बाण फेंक मारूँ। कोई ऐसा बाण, जो एक पल के लिए सही, तुम्हें यह सोचने के लिए विवश कर दे कि तुम शासक ही नहीं, इंसान भी हो। और कि तुम इंसान हो, इसलिए दुनिया के सारे इंसानों से तुम्हारा कोई रिश्ता भी है। ओर उस रिश्ते के नाते तुम्हें कोई हक़ नहीं है कि तुम अपनी साम्राज्य-लिप्सा या सिद्धांत-लिप्सा या अधिकार-लिप्सा की पूर्ति के लिए इंसान और इंसानियत को युद्ध की महाज्वाला में झोंक दो। तुम्हें या किसी को भी यह हक़ नहीं पहुँचता कि वह मानव-अस्तित्व के लहलहाते हुए खेतो से होकर टैंकों तथा तोपों के जाने के मार्ग बनाए और फ़सलें बरबाद करे।

दोस्तो, इंसान अंततः इंसान है। वह भी जो करोड़ों की संख्या में सैनिक शक्ति संचित कर रहा है और वह भी जो हाइड्रोजन बमों तथा रॉकेटों के प्रयोग कर रहा है--एक ही ख़ून के रिश्ते में बँधे हैं। इस रिश्ते से, वह जो विजय का मुकुट पहनता है और वह जो उन बम-विस्फोटों का अभिशाप भोगता है--आपस में एक-दूसरे के कुछ लगते हैं। और इसी रिश्ते से पाबंद होकर जब यूगोस्लाविया में भूकंप आता है, तो हिंदुस्तान की जनता के दिल दहल उठते हैं, जब कोसी में बाढ़ आती है, तो इंग्लैंड की जनता की आँखों से पानी के पनाले बह निकलते हैं और जब फ्रांस या रूस में कोई विमान-दुर्घटना होती है, तो दुनिया के और मुल्कों के लोग मातमपुर्सी करते हैं। तो यह कोई मामूली रिश्ता नहीं है कि कांगो में रक्तपात हो और सारी दुनिया की आत्मा ज़ख़्मी हो जाए।

लगता है, इस रिश्ते की डोरी में सब बँधे हैं—वह भी जो लाखों-करोड़ों की संपत्ति पर अनिश्चय की नींद सोता है और वह भी जो गलियों-बाज़ारों में पेट को बजाता और भूख-भूख चिल्लाता घूमता है। और इसी रिश्ते के औचित्य पर मैं, जो किसी देश का प्रधानमंत्री नहीं, किसी राष्ट्र का राष्ट्रपति नहीं, किसी राजनीतिक पार्टी का नेता नहीं और किसी अंतर्राष्ट्रीय संगठन का प्रधान नहीं, तुम्हें यह पत्र लिखने का दुस्साहस कर रहा हूँ।

हालाँकि मैं यह भी जानता हूँ कि यह रिश्ता केवल प्रजा में चलता है, शासकों में नहीं। मगर यह भी सोचता हूँ कि शासकों का इतिहास अंततः प्रजा द्वारा ही रचा जाता है और हो सकता है, तुम्हें इस तथ्य का बोध हो गया हो। तुमने इतिहास उठाकर देखा हो कि अब से पहले भी बहुत ख़ूँख़ार और बहुत नृशंस शासक हुए, जिन्होंने प्रजा को अपनी लिप्सा, अपनी आकांक्षा और अपनी सनक की पूर्ति का माध्यम बनाया और चले गए और प्रजा अब तक उनके नाम पर थू-थू करती है। क्योंकि प्रजा मनुष्य है—चाहे वह किसी देश, किसी रंग और किसी भूखंड की हो।

तुम लोग, जो विश्व की राजनीति और सत्ता के चारों छोर दबाए हुए, युद्ध की निर्धूम-अग्नि में यदा-कदा आहुतियाँ डाल देते हो—प्रजा को भूल जाते हो। भूल जाते हो कि हम जो जीवन को एड़ियाँ रगड़-रगड़कर जीते हैं और उसे दोनों हाथों मज़बूती से थाम रखने की कोशिश में बार-बार हार जाते हैं, किसी युद्ध के लिए तैयार नहीं हैं। हमारे बच्चे, जो अख़बारों के फटे-पुराने टुकड़ों से फूलों और फलों की तस्वीरें काटकर भविष्य की कल्पनाएँ करते हुए स्कूलों में विश्व-बंधुत्व का सबक़ सीख रहे हैं, अपने सपनों को बिखरने देना नहीं चाहते। हमारे बुज़ुर्ग, जो पिछले महायुद्ध से थककर घर के दरवाज़ों पर बैठे, आने-जाने वाले लोगों के चेहरों पर शांति और सुकून की लिखावट देखते हुए, पिछली विभीषिका से धीरे-धीरे मुक्त हो रहे हैं, फिर यह पसंद नहीं करते कि क़ब्र में पाँव लटकाते समय उनके कानों में बम-वर्षक विमानों की घड़घड़ाहट और विस्फोटों का नाद गूँजे। हमारी औरतें, जो क्रोशिए से छोटे-छोटे फ्रॉकों पर कढ़ाई कर रही हैं, दस्ताने या मोज़े बुन रही हैं और एक बेहतर ज़िंदगी लाने के प्रयत्नों में योगदान दे रही हैं—हरगिज़-हरगिज़ यह नहीं चाहतीं कि उनके पति-पुत्र या भाई उनसे बिछुड़ जाएँ। हम केवल प्रजा हैं—चाहे अमीर हों या ग़रीब; और हम, यानी कोई प्रजा यह नहीं चाहती कि उसे ख़ाली हाथों, बेक़सूर, युद्ध की आग में झोंक दिया जाए। उसे ख़ून देने और ख़ून पीने के लिए मजबूर किया जाए। उससे कहा जाए कि तुम लड़ो और इंसानी ज़िंदगी की सारी क़द्रों को बिसरा दो। दरअसल, यह युद्ध और इसका भय भी एक सूत्र है, जो आज एक देश को दूसरे देश और दूसरे को तीसरे देश और तीसरे देश को चौथे देश से बाँधे है।

मैं भारत देश का एक साधारण-सा इंसान हूँ, जिसके पेट को पूरा भोजन और शरीर को पूरे कपड़े मुहैया नहीं होते। स्वीकार करता हूँ कि मेरा देश एक गरीब देश है। लेकिन क्या तुम्हारे देश में कोई ग़रीब नहीं है ? क्या वहाँ लौकिक अभावों का मारा ऐसा समाज नहीं है, जिसे दो जून रोटी पाने की लालसा हो ? जिसके सपने और बेहतर संदर्भों के लिए छटपटा रहे हों ? जो और सुखद भविष्य की प्रतीक्षा कर रहा हो ? इसका नकारात्मक उत्तर हो ही नहीं सकता दोस्तो ! क्योंकि कितना ही स्वयंपूर्ण देश क्यों न हो—मुझे मालूम है, जनता और अच्छे भोजन, और बढ़िया कपड़े तथा बेहतर ज़िंदगी की कल्पना करती ही है। पता नहीं, तुम जनता की आकांक्षाएँ समझते हो या नहीं ? पर अगर समझना चाहो तो तुम्हें अपने ही देश में शांति के लिए तड़पती और बेहतर भविष्य के लिए सुदूर अनागत में झाँकती हुई ऐसी करोड़ों दृष्टियाँ मिल जाएँगी, जिनमें मेरे प्रश्न का उत्तर लिखा होगा। तब तुम समझोगे कि जितना रुपया युद्ध की तैयारी में ख़र्च किया जा रहा है, उतने से पूरी मानव-जाति का इतिहास बदला जा सकता है।

दोस्तो, भूल करना उतना बुरा नहीं है, जितना बुरा भूल को पालना है। इसलिए कोशिश करो तो अब भी समझ सकते हो कि एक आदमी की क़ीमत कई विमानों की क़ीमत से ज़्यादा होती है, कि किसी पोत का डूब जाना और किसी व्यक्ति का अकाल काल-कवलित हो जाना एक जैसा नहीं होता।

मगर तुम शायद इस सत्य को नहीं समझते। और तब तक समझोगे भी नहीं, जब तक अस्तित्व के इस संकट को उसी स्तर पर न भोगो, जिस पर मैं भोगता हूँ या वह आदमी भोगता है जो सुबह से शाम तक काम करने के बाद 'इवनिंग न्यूज़' में युद्ध के मँडराते बादलों और उनके कारण आसमान चूमती हुई क़ीमतों के बारे में पढ़ता है।

शासको ! एक क्षण के लिए कल्पना करो एक बच्चे की, जिसे दूध नहीं मिलेगा, एक मरीज़ की, जिसे फल नहीं मिलेंगे, एक औरत की, जिसे सुहाग नहीं मिलेगा। मैं तो कल्पना मात्र से सिहर उठता हूँ। पता नहीं, तुम्हें ये कल्पनाएँ क्यों नहीं झिझोड़तीं ? तुम्हारे अंतर में यह ज्वार-भाटा क्यों नहीं उठता ? तुमने तो मुझसे अधिक युद्ध देखे हैं न !

पिछले महायुद्ध की मुझे हलकी-सी याद है। हाँ, एक छोटा-सा युद्ध, जो अभी हमारी सीमाओं पर अपनी साम्राज्य-लिप्सा की पूर्ति के लिए चीन ने छेड़ दिया था, ज़ख़्म की तरह मेरी स्मृति में ताज़ा है। मैं, जो सीमा से हज़ारों मील दूर था, अभी तक उसके अभिशाप से मुक्त नहीं हुआ। दिन ब दिन बढ़ती हुई क़ीमतें, बिखरते हुए मूल्य और उभरता हुआ संशय और चरमराकर टूटते हुए सपनों की मीनारें—सब कुछ ताज़ी लाशों की तरह मेरे सामने पड़ा है ! और समूचा दृश्य तेज़ नुकीली कीलों की तरह मेरी आँखों

और मेरे दिमाग़ में चुभ रहा है। मैं सोचता हूँ, तुम्हारे देशवासियों ने भी युद्ध देखा है—बल्कि भोगा है, फिर ये कैसे संभव है कि उनमें ये भावनाएँ न उठती हों, वे इन प्रश्नों से न जूझते हों और तुम तक उनकी आवाज़ें न पहुँचती हों ?

मगर हाँ, तुम लोग शासक हो। और राजनीति की भाषा सर्वसाधारण की भाषा से अलग होती है। इसीलिए संभव है, तुम उनकी बात नहीं समझते। संभव है, उनके प्रश्न तुम्हारे कानों से टकराकर लौट जाते हों। संभव है, तुम्हारा मर्म अनबिंधा और अनछुआ रह जाता हो। क्योंकि तुम मनुष्य ही नहीं हो, शासक भी हो। और प्रजा ने हमेशा शासक की भूलों का उत्तरदायित्व वहन किया है। प्रजा, प्रजा है। उसे क्या हक़ है कि वह तर्क-वितर्क करे, शासकीय मामलों में हस्तक्षेप करे और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा बुलंद करे ! आख़िर सारी ज़िम्मेदारी तो तुम शासकों पर है। अगर युद्ध छिड़ता भी है और थोड़ा-बहुत रक्तपात भी हो जाता है, तो इतिहास गवाह है कि देश के लिए हज़ारों-लाखों लोग हँसते-हँसते बलिदान हो जाते हैं।

...मगर आह ! कितना बड़ा कवच है यह शब्द—देश या देश-प्रेम ! कितने शासकों ने इसके तले पनाह पाई है ! मैं सोचता हूँ, अगर यह शब्द न होता तो जनता युद्ध सुलगाने वाले शासकों को जीवित जला डालती।

मगर दोस्तो ! तुम लोग पिछले शासकों से ज़्यादा समझदार हो। क्योंकि तुम उस युग में जी रहे हो, जहाँ गति की सीमा और विनाश की पराकाष्ठा देखी जा सकती है, इसीलिए तुम इंसानी ज़िंदगी का मूल्य पिछले शासकों से अधिक समझते हो। इसीलिए मुझे विश्वास है कि तुम भी समझोगे कि आज जो अरबों-खरबों रुपया युद्ध की तैयारी पर लगाया जा रहा है—उससे पूरी मानवता का भविष्य बदल सकता है। इति।

एक विश्वास के साथ—

सविनय
एक प्रजा

('ज्ञानोदय', नवंबर, 1963 में प्रकाशित)

अख़बार आपके दरवाज़े पर

सुबह उठते ही मुझे चाय के साथ अख़बार की तलब होती है। मेरे और भी बहुत-से दोस्त इस आदत के शिकार हैं। दरअसल, अधिकतर पढ़े-लिखे लोगों के साथ यह सच होगा, क्योंकि आज अख़बार हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी का ज़रूरी हिस्सा बन गया है।

यदि हॉकर अख़बार देर से लाता है तो बेचैनी से इंतज़ार रहता है और जिस दिन अख़बार नहीं आता, उस दिन एक कमी खटकती रहती है। पर क्या कभी आपने सोचा है कि एक रात में सारे देश और दुनिया की ख़बरें इकट्ठी करके यह अख़बार सिर्फ़ पच्चीस-तीस या पैंतीस पैसे में आपके दरवाज़े तक कैसे पहुँच जाता है ?

इस तरह समझिए कि अगर आज की महँगाई के ज़माने में आप किसी आदमी को पच्चीस पैसे देकर उससे कहें कि भाई, ज़रा यह सामान फलाँ मुहल्ले में फलाँ क्वार्टर नंबर तक पहुँचा देना, तो क्या वह इन चंद पैसों के लिए आपका सामान पहुँचाना मंज़ूर कर लेगा ? मेरा ख़याल है नहीं, शायद वह आपसे कहेगा कि जनाब, पच्चीस पैसे में आजकल होता क्या है ? दूसरे शब्दों में आप यदि चाहें भी तो पच्चीस पैसे की मज़दूरी. पर कोई आदमी पत्र पहुँचाने के लिए नसीब नहीं होगा। मगर वही पच्चीस पैसे और दिल्ली में छपा आपका अख़बार भोपाल में आपके हाथ में यानी घर बैठे देश-विदेश की ख़बरें—यह सब कैसे और क्यों ?

समाचार-पत्र का अर्थशास्त्र इतना दिलचस्प है कि आप हैरत में पड़ जाएँगे। अख़बार पच्चीस पैसे में आपको मिलता है। अगर उतनी ही सामग्री को आप अपने काग़ज़ पर किसी प्रेस में छपाएँ तो उसकी छपाई और काग़ज़ की लागत ही शायद 25 रुपए है। प्रेस वाला उस मैटर को छापकर देने के लिए तीन दिन माँगेगा और उस पर भी अख़बार की तुलना में आपको लगेगा कि वह आपको लूट रहा है।

लेकिन दरअसल, ऐसा करके न प्रेस वाला आपको लूटता है और न अख़बार वाले आप पर इनायत करते हैं। इस पहेली को समझने से पहले आप यह समझ लीजिए कि अख़बार एक साथ दो चीज़ें बेचता है—एक अख़बार की प्रति, जिसके आप पच्चीस या पैंतीस पैसे देते हैं और दूसरे, स्पेस यानी स्थान। अगर कोई अख़बार स्थान न बेचे यानी उसमें विज्ञापन न हों, सिर्फ़ समाचार हों तो अख़बार का मूल्य शायद एक रुपया रखना पड़े।

आप ताज्जुब करेंगे कि जो अख़बार आप पच्चीस या पैंतीस पैसे में ख़रीदकर पढ़ते हैं, उसमें केवल काग़ज़ की ही कीमत पच्चीस-तीस पैसे होती है। अगर विज्ञापन न हों तो अख़बार इतने सस्ते दामों में सुलभ नहीं कराया जा सकता। और विज्ञापन ज़्यादा हों तो यह भी संभव है कि अख़बार आपको मुफ़्त पहुँचाया जाए और तब भी अख़बार को मुनाफ़ा रहे। अधिकतर अख़बार बीच का रास्ता अपनाते हैं। हमारे देश में कुछ अख़बारों की क़ीमत दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत कम है। यह विज्ञापन अधिक रखकर ही संभव है। परंतु अकसर लोग कारण न समझकर शिकायत करते हैं कि अख़बार विज्ञापन से भरे रहते हैं।

यह निष्कर्ष निकालना बहुत ग़लत होगा कि अख़बार का प्रोडक्शन कोई सस्ता या आसान काम है। सच बात तो यह है कि वह एक बहुत पेचीदा, खर्चीला और श्रमसाध्य काम है, जहाँ आदमी को हर वक़्त मुस्तैद रहना पड़ता है। अगर आप कभी किसी बड़े दैनिक अख़बार के दफ़्तर में जाएँ तो वहाँ उनका केस-रूम ज़रूर देखें, जहाँ छपने के लिए पृष्ठों का मेकअप होता है। आपको वहाँ हर आदमी जल्दबाज़ी में नज़र आएगा। हर बात में ऐसी फुर्ती और तेज़ी नज़र आएगी, जैसी युद्ध के मैदान में दिखाई देती है।

लेकिन केस-रूम तक पहुँचने से पहले अख़बार में कई सीढ़ियाँ होती हैं। घर में बैठकर चाय की चुस्कियाँ लेते हुए जब हम अख़बार पढ़ते हैं तो हमें बहुत कम इस बात का ख़याल आता है जो घटना यहाँ से हज़ारों मील दूर आधी रात को घटी है और जिससे शायद उस शहर के लोग भी अभी परिचित न हुए होंगे, वह सुबह उठते ही हम तक कैसे पहुँच गई ? या फिर दुनिया-भर में जो भी कुछ महत्त्वपूर्ण घटित होता है, वह अख़बार के ज़रिए हम तक कैसे पहुँच जाता है ? यही नहीं, कभी-कभी तो किसी महत्त्वपूर्ण घटना के फोटोग्राफ्स तक हमारे सामने होते हैं।

अख़बार जहाँ अपने संवाददाताओं और रिपोर्टरों द्वारा स्वयं समाचार संकलित करते हैं, वहाँ समाचार ख़रीदते भी हैं। बड़ी-बड़ी समाचार एजेंसियाँ देश-भर में अपने प्रतिनिधियों द्वारा समाचार एकत्रित करके उन्हें विभिन्न अख़बारों को वितरित करती हैं। और बहुत-से छोटे अख़बार बहुत हद तक इन्हीं एजेंसियों के समाचारों से अपना काम चलाते हैं। लेकिन जो बड़े अख़बार हैं, वे प्रमुख स्थानों में अपने प्रतिनिधि या संवाददाता रखते हैं जो तार या टेलीप्रिंटर द्वारा अपने अख़बार को समाचार भेजते हैं। आप जानते ही होंगे टेलीप्रिंटर का आविष्कार अख़बारों के लिए एक वरदान है, जिसमें सैकड़ों मील की दूरी पर हाथों-हाथ समाचार मिलता है। होता सिर्फ़ यह है कि भोपाल का प्रतिनिधि टेलीप्रिंटर पर बैठे हुए आदमी को कोई समाचार देता है, वह आदमी उसे टाइप करता है और दिल्ली की टेलीप्रिंटर मशीन पर वह टाइप समाचार ज्यों का त्यों निकलता रहता है।

आप सोचेंगे कि यह तो बहुत आसान है। समाचार आ गए, प्रेस को दे दिए, छप गए और अख़बार बन गया। जी नहीं, इतना आसान नहीं है। एक स्टैंडर्ड साइज़ के अख़बार में एक पेज पर औसतन पाँच हज़ार शब्द होते हैं। अगर आठ पेज का अख़बार हुआ तो चालीस हज़ार शब्द होंगे। इसमें से आधा स्थान विज्ञापनों के लिए छोड़ दिया जाए तो केवल बीस हज़ार शब्द उस अख़बार को छापने होंगे। अब आप सोचिए कि जिस अख़बार के पास प्रतिदिन एक लाख शब्दों की सामग्री आती है, उसे उन एक लाख शब्दों में से बीस हज़ार शब्दों का चयन करना पड़ता है—संपादन करना पड़ता है। कभी-कभी उन्हें फिर से लिखना पड़ता है और साथ ही यह भी देखना पड़ता है कि कहीं कोई महत्त्वपूर्ण समाचार या कोई उल्लेखनीय तथ्य छूट न जाए। शब्द कोई तोलने की चीज़ होती तो ज़रूरत के अनुसार दस-पाँच किलो सामग्री तोलकर अलग निकाल लेते। वहाँ तो निर्णय लेना होता है कि किस शब्द का क्या महत्त्व होगा और किसे रखना चाहिए ?

विशेष बात यह कि इस सारे काम के लिए सिर्फ़ कुछ घंटों का समय होता है। रात में दो बजे होने वाली किसी घटना की ख़बर सुबह-सुबह पाँच बजे आपके हाथ में पहुँच सकती है। मुझे याद है कि हमारे प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री के देहांत का दुःखद समाचार शायद तीन बजे के आसपास अख़बारों को मिला था। कई समाचार पत्रों की हज़ारों छपी हुई प्रतियाँ रद्द करके अख़बार फिर से छपे और लाखों पाठकों के हाथ में सुबह समय पर पहुँच गए।

फिर इससे भी महत्त्वपूर्ण सवाल खड़ा होता है—चुनी हुई सामग्री के प्रदर्शन व मुद्रण का और वह भी एक-दो पाठकों के लिए नहीं, बल्कि लाखों पाठकों के लिए। उसमें रोटरी छपाई मशीनें हमारी मदद करती हैं, जो एक मिनट में एक हज़ार प्रतियाँ छापकर और फोल्ड करके निकालती हैं। इस रोटरी की क़ीमत एक करोड़ तक भी होती है और हमारे देश में कई अख़बारों के पास ऐसी मशीनें हैं। आज जब एक अख़बार पाँच-पाँच संस्करण निकालते हैं और लाखों प्रतियाँ छपती हैं, तो बिना ऐसी तेज़ मशीनों के किसी अख़बार का काम चल ही नहीं सकता।

आमतौर पर किसी अख़बार का नाम आते ही औसत पाठक के ज़ेहन में सिवाय उसके संपादक के कोई छवि नहीं उभरती। और यह सच भी है कि किसी अख़बार को एक व्यक्तित्व प्रदान करने में उसके संपादक का बहुत बड़ा हाथ होता है, क्योंकि कोई भी अख़बार अपनी क़ीमत से नहीं, अपनी सामग्री, अपनी संपादकीय दृष्टि और अपनी नीतियों से अपनी पहचान बनाता है और उसके लिए अंततः उसका संपादक ही ज़िम्मेदार होता है। पर संपादकीय महत्त्व के साथ ये बातें भी कोई कम महत्त्व नहीं रखतीं कि अख़बार सुंदर ढंग से छपा हो, उसकी क़ीमत कम हो और उसका गेटअप

आकर्षक और मुद्रण सुरुचिपूर्ण हो। वस्तुतः यह सब अख़बार की आंतरिक व्यवस्था का फल होता है। इसलिए कहा भी गया है कि अख़बार की विशेषता उसके संपादन में होती है और उसकी सफलता उसकी व्यवस्था में।

छापने के बाद कम से कम समय में अख़बार का विरतण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अख़बार जितनी जल्दी बासी होता है, उतनी जल्दी शायद फल-फूल भी नहीं होते। जाड़ों की रात में उन लोगों की मुसीबत समझिए, जो प्रातः चार बजे साइकिल पर घर-घर अख़बार पहुँचाते हैं। शहर में वितरण के अलावा अख़बार मुद्रण-स्थान से सैकड़ों मील दूर मोटर, लॉरी, हवाई जहाज़ से पहुँचाया जाता है। इस ट्रांसपोर्ट का ख़र्च कभी-कभी अख़बार के मूल्य से भी अधिक पड़ता है। दिल्ली के अख़बार असम में दिन के दिन बिकते हैं। हर समाचार-पत्र अपनी प्रतिष्ठा और अपने पाठकों की सेवा की भावना से यह ख़र्च वहन करता है।

बात चाय और अख़बार से शुरू हुई थी। और उसी से ख़त्म करना चाहूँगा। चाय के एक सादे प्याले की क़ीमत और उसी के साथ हर सुबह आपको दुनिया-भर की ख़बरों के साथ अख़बार पहुँचने की यही संक्षिप्त कहानी है।

(आकाशवाणी, भोपाल के सौजन्य से
जनवरी-फ़रवरी, 1966)

‘धर्मयुग’ में प्रकाशित कुछ लतीफ़े

विद्वान् मगर शरीफ़ !

कमलेश्वर के सम्मान में भोपाल में एक आयोजन किया गया था। मैं, धनंजय वर्मा और कमलेश्वर के साथ ज़रा विलंब से सभा-स्थल पर पहुँचा। गैलरी में दाख़िल हुए तो एक स्वयंसेवक ने हमें रोक दिया।

कमलेश्वर ने गंभीर आवाज़ में कहा, “मैं कमलेश्वर हूँ।”

स्वयंसेवक ने कहा, “होंगे, पर यह रास्ता सिर्फ़ विद्वानों के लिए है।” इस पर धनंजय वर्मा बिगड़ गए। बोले, “विद्वान् और कैसे होते हैं ? वे क्या पहनते हैं ? कैसे चलते-फिरते हैं ? कैसा आचरण करते हैं ? और हमें क्या करना चाहिए कि आप हमें विद्वान् समझें ?”

स्वयंसेवक उनकी ओजस्वी वक्तृत्व कला से बहुत प्रभावित हुआ और बोला, “माफ़ कीजिएगा, आपकी बातचीत से लगता है कि आप ज़रूर विद्वान् होंगे, मगर बात दरअसल ये है कि उधर कुछ महिलाएँ बैठी हैं।”

कमलेश्वर ने वाक्य पूरा किया, “इसलिए विद्वान् होने के साथ शरीफ़ होना भी ज़रूरी है।”

स्वयंसेवक ने मुस्कराकर कहा, “जी हाँ, यही समझ लीजिए।”

कमलेश्वर ने आगे जोड़ा, “तो देखिए, जहाँ तक मेरी और दुष्यंत कुमार की बात है, हम दोनों विद्वान् भी हैं और शरीफ़ भी, मगर डॉ० धनंजय वर्मा विद्वान् हैं और बहुत बड़े विद्वान् हैं और मैं सिर्फ़ इनकी विद्वत्ता की ही गारंटी ले सकता हूँ, शराफ़त की नहीं।”

एक बातचीत

हरिशंकर परसाई : और इधर क्या लिख-पढ़ रहे हो ?

मैं : तुम्हारे ऊपर एक लेख लिखने की सोच रहा हूँ।

परसाई : थोड़े दिनों ठहर जाओ, अभी मुझे फ़ुरसत नहीं है।

मैं : तुम्हारी फ़ुरसत का मेरे लेखन से क्या संबंध ?

परसाई : वाह ! कैसे नहीं है ? तुम मेरे ऊपर लेख लिखोगे तो फिर एक लेख मुझे

तुम्हारे लेख के ऊपर भी तो लिखना पड़ेगा।

'धर्मयुग' की नीति

उन दिनों मध्य प्रदेश में संविद सरकार का राज था। एक मंत्री महोदय ने एक सुबह टेलीफ़ोन करके चाय का निमंत्रण दिया। चाय पर हुई बातचीत यों थी :

मंत्री : त्यागी जी, हमने 'धर्मयुग' में आपका लेख और फ़ोटो देखा था।

मैं : जी, धन्यवाद ! लेख पं० नंददुलारे वाजपेयी का था। मेरा तो सिर्फ़ फ़ोटो था।

मंत्री : वाह ! यह तो 'धर्मयुग' की बहुत अच्छी नीति है। अब आप ऐसा करें कि अगली बार अपनी कविता के साथ हमारी फ़ोटो भेज दें।

(1967)

बस्तर : अविश्वास का स्रोत

आज बस्तर की घटना मध्य प्रदेश में लावे की तरह उबल रही है। पिछले एक सप्ताह से प्रादेशिक अख़बारों के पृष्ठ बस्तर-समाचारों से रँगे पड़े हैं। समस्त छोटे-बड़े शहरों, बसों-ट्रेनों और चायघरों में चर्चा का यही एक विषय है। और इसकी प्रतिक्रिया का हाल यह है कि न केवल मध्य प्रदेश, बल्कि समूचे भारत में इसकी अनुगूँज सुनाई पड़ती है। चाहे वह दिल्ली हो या मद्रास, कलकत्ता हो या हैदराबाद, मध्य प्रदेश के किसी भी नवागंतुक से एक प्रश्न बड़ी दिलचस्पी के साथ पूछा जाता है, "प्रवीरचंद्र भंजदेव की मृत्यु का रहस्य क्या है ?"

कहा नहीं जा सकता कि इस देशव्यापी अविश्वास की परिणति क्या होगी, पर इतना स्पष्ट है कि संशय का वातावरण सारे देश में उभर रहा है। समाचार-पत्रों के असाधारण संयम के बावजूद अधिकांश प्रबुद्ध नागरिक ऐसा महसूस करते हैं कि बस्तर में चली एक-एक गोली प्रजातंत्र के सीने पर लगी है और मृत्यु का लक्ष्य प्रवीरचंद्र भंजदेव नहीं, बल्कि शासन का विरोध करने वाली वह दो टूक वाणी बनी है, जिसने सत्ता से समझौता नहीं किया।

हो सकता है, इस भावना में अतिशयता हो और मुर्दे को पैगंबर कहने वाले लोगों ने इसे सान पर चढ़ाया हो, परंतु प्रवीरचंद्र भंजदेव के व्यक्तित्व की तेजस्विता से इंकार नहीं किया जा सकता। सन् 1953 से '66 तक शासन के साथ भंजदेव का संघर्ष और उस बीच बस्तर में घटी एक-एक घटना अपनी कहानी आप कहती है। प्रवीरचंद्र को पागल करार देकर अपदस्थ किया जाना और उनके समर्थन में लोहारीकुंडा में आदिवासी विद्रोह और गोलीकांड और फिर शासन एवं विशेष रूप से उनके ज़िला एवं संभागीय अधिकारियों का भंजदेव के प्रति उत्तरोत्तर असहिष्णु होते जाना—ऐसी प्रकट सच्चाइयाँ हैं जो तथ्यों को एक दूसरे संदर्भ में देखने की माँग करती हैं।

यह सच है कि प्रवीरचंद्र भंजदेव—'मैं प्रवीर, आदिवासी भगवान्' का लेखक—इधर शासन के विरुद्ध एक निर्णायक संघर्ष छेड़ देने के लिए अत्यंत व्यग्र दिखलाई देता था। वह अंतिम रूप से यह सिद्ध कर दिखाना चाहता था कि सरकार भले ही उसके स्थान पर किसी को भी बस्तर का शासक नियुक्त कर दे, पर आदिवासी उसी को अपना नियंता मानते हैं। साथ ही, उधर विधि एवं व्यवस्था को किसी भी क़ीमत पर बनाए

रखने के लिए प्रतिबद्ध मिश्र जी की सरकार इस बात पर तुली थी कि यह चुनौती की कोई भी आवाज़ बरदाश्त नहीं करेगी। दूरियाँ ज़्यादा थीं—भौगोलिक भी और मानसिक भी। मिश्र जी और भंजदेव, विचार और विश्वास दोनों दृष्टियों से इतने फ़ासले के साथ दो विभिन्न धरातलों पर खड़े थे कि संघर्ष अनिवार्य था। फिर भी यह आशा नहीं थी कि उसकी परिणति इतनी अकल्पनीय होगी।

मौतें कहाँ नहीं होतीं, पर इतनी आशंकाएँ कहाँ जागती हैं ? देश के लिए गोलीकांड कोई अनपेक्षित या नई घटना नहीं है। गोलियाँ पंजाब में भी चली हैं और बंगाल में भी। मौतें कलकत्ता में भी हुई हैं और त्रिवेंद्रम में भी। पर इन हत्याओं को प्रजातंत्र की मृत्यु से कहीं नहीं जोड़ा गया। इतना संशय कहीं और कभी नहीं जागा। न काकोडकर के ग़ायब होने पर और न ही कैरों की हत्या पर।

आज मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री इन आशंकाओं और अविश्वासों को चुनाव-पूर्व का राजनीतिक स्टंट कहकर उड़ा सकते हैं। वे कह सकते हैं, 'जनसंघ सत्रहवीं शताब्दी में जीता है। कम्युनिस्टों ने मार्क्स के बाद सोचना बंद कर दिया और रामराज्य परिषद् प्रागैतिहासिक युग में साँस ले रही है।' पर इससे जनता की आशंकाओं का समाधान नहीं हो सकता। अगर वे ऐसा सोचते हैं कि जनता राजनीतिक दलों द्वारा बहका दी गई है, तो यह एक भोला विश्वास है।

वस्तुस्थिति यह है कि मध्य प्रदेश में जनता नहीं, कांग्रेस बहकी है। इसका संपर्क सर्वसाधारण से टूट गया है। उसका नेतृत्व विधायकों में अपनी गोटें जमाने और दल में अपनी स्थिति मज़बूत करने के फेर में रहता है। शासन जनता की तरफ़ से उदासीन हे और जनता अपनी तकलीफ़ों के लिए विरोधी दलों के प्रतिनिधियों और उसमें भी विशेष रूप से संप्रदायवादी जनसंघ विधायकों के पास जाती है जो उसकी ज़िंदगी में गहरे उतरते जा रहे हैं। बस्तर एक तो यों भी मध्य प्रदेश का सीमांतवर्ती ज़िला है, दूसरे भाषा, वेशभूषा और रहन-सहन की दृष्टि से वह शेष प्रदेश से इतना भिन्न और कटा-सा है कि वहाँ की दुर्घटना भोपाल जाते-जाते मात्र घटना रह जाती है।

सबसे दुःखद बात ये है कि मध्य प्रदेश शासन ने इस तथ्य पर कभी ग़ौर ही नहीं किया कि विस्तार में केरल से भी बड़े और पिछड़ेपन में दुनिया के किसी भी भाग से मुक़ाबला करने वाले इस प्रदेश को एक मामूली ज़िले से कुछ ज़्यादा समझने की ज़रूरत है। फलस्वरूप इस वर्ष जब वहाँ खाद्यान्न की कमी हुई और स्व० श्री प्रवीरचंद भंजदेव ने चावल के लिए आवाज़ उठाई तो उस आवाज़ की ईमानदारी को पहचानने के बजाय शासन के अफसरों ने उसे अपदस्थ राजा की शरारत-भरी चाल समझा। इससे भी आगे जब अपने में देवता की तरह अंध श्रद्धा रखने वाली आदिवासी जनता को भंजदेव ने व्यक्तिगत स्तर पर जगाना शुरू किया तो उसे विद्रोह का बीजारोपण माना गया और

अंततः चैतपूजा के अवसर पर, जब वही श्रद्धालु समाज राजा के दर्शनार्थ एकत्र हुआ तो उस भीड़ को क्रांतिकारियों की भीड़ की संज्ञा दी गई। और इस बात का ख़याल किए बिना कि व्यक्ति और भीड़ की मनःस्थिति में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ होता है, पुलिस ने जगदलपुर की सड़कों पर अपने इतिहास का एक नया ख़ूनी अध्याय लिखा।

मध्य प्रदेश विधानसभा में विधायक श्री ज्वालाप्रसाद उपाध्याय ने 22 मार्च को, यानी दुर्घटना से ठीक तीन दिन पहले एक स्थगन प्रस्ताव में बस्तर में पुलिस के अत्याचारों की तथा वहाँ विस्फोटक स्थिति के लिए उत्तरदायी तत्त्वों की ओर शासन और अध्यक्ष का ध्यान आकृष्ट किया था। किंतु अध्यक्ष महोदय आज तक भी उस प्रस्ताव पर अंतिम निर्णय नहीं ले सके हैं। और विधानसभा में इसी प्रश्न पर चर्चा की अनुमति के लिए एक सप्ताह से रोज़ाना मेज़ें पीटी जाती हैं, सदन में हल्ला-गुल्ला होता है, माइक्रोफ़ोन्स की गर्दन मरोड़ी जाती है और सदन की कार्यवाहियाँ स्थगित कर दी जाती हैं। अध्यक्ष से अटपटे प्रश्न पूछे जाते हैं और अध्यक्ष महोदय न्यायिक जाँच की शरण लेकर उनसे भी अटपटे उत्तर उन्हें देते हैं। जनता आश्चर्य करती है कि बारंबार लोकसभा के आदर्शों की दुहाई देने वाले अध्यक्ष विधानसभा में उस बस्तर कांड पर बहस की अनुमति क्यों नहीं दे रहे, जिस पर लोकसभा में बहस की तारीख़ भी पास आ चुकी है। ओर अविश्वास है कि आग की तरह फैलता जाता है। संशय की छोटी से छोटी बात घास-फूस की तरह उसकी उग्रता में योग दे रही है। विरोधी दल ख़तरे की घंटियाँ बजा रहा है। केंद्र और प्रदेश में आवाज़ें उठ रही हैं कि हत्या के साक्ष्य मिटाए जा रहे हैं। माँग की जा रही हे कि वस्तर का प्रशासन केंद्र सरकार अपने हाथ में ले ले, किंतु कांग्रेस कानों में तेल डाले बैठी है। वहाँ यह धारणा बद्धमूल हो चुकी है कि श्री द्वारका मिश्र लौह-पुरुष हैं और धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा।

पर धीरे-धीरे सब ग़लत होता जा रहा है। मामले को जितना दबाने की कोशिश की जा रही है, वह उतनी ही तेज़ी से सामने आ रहा है। न केवल मिश्र मंत्रिमंडल पर, वल्कि सरकार के मुख्य सचिव और न्यायिक आयोग के अध्यक्ष पर भी संदेह व्यक्त किया जाने लगा है। रात-दिन हर समस्या पर असमान और उलटे दृष्टिकोणों से सोचने और झगड़ने वाले सारे विरोधी दल इस प्रश्न के मामले में आश्चर्यजनक रूप से एक मंच पर आ खड़े हुए हैं। एक ही स्तर से अनेक सवाल उठते हैं, प्रवीरचंद्र भंजदेव की लाश का पोस्टमार्टम अस्पताल में क्यों नहीं हुआ ? ख़ून के निशान क्यों मिटाए गए ? पंचनामे के समय भंजदेव के भाई को उपस्थित क्यों नहीं होने दिया गया ? लाश की अंत्येष्टि क्रिया में असाधारण जल्दबाज़ी क्यों बरती गई ? मुख्य सचिव और प्रवीरचंद्र के व्यक्तिगत संबंध कैसे थे ? आदि-आदि।

अध्यक्ष कहते हैं, "वक्तव्य दीजिए।" मुख्यमंत्री कहते हैं, "मैं वक्तव्य नहीं दूँगा।"

अध्यक्ष तत्काल करवट बदल लेते हैं। विधानसभा में विरोध की आँधी तेज़ हो जाती है। स्थानीय समाचार-पत्रों में संदेह के कई-कई क़िस्से मोटे शब्दों में प्रकाशित होते हैं। बस्तर में हताहतों की संख्या पर केंद्र और राज्य के मतभेद को लेकर अफ़वाहों का बाज़ार गर्म हो उठता है। अनेक विधायकों का दावा है कि बस्तर में हताहतों की संख्या एक हज़ार तक है। कुछ का कहना है किं लाशों को ठिकाने लगाने के लिए बहुत-सी पेट्रोल की ख़रीद की गई थी। दूसरे कुछ लोगों का विश्वास है कि उस रात जगदलपुर में बिजली इसीलिए बंद रखी गई थी कि लाशों से भरे हुए पुलिस के ट्रक अँधेरे में बेरोक-टोक इधर से उधर आ-जा सकें और संशय की यह आग इतनी तेज़ हो गई है कि इसकी आँच के सामने मध्य प्रदेश और उसकी विधानसभा की पिछली सारी घटनाएँ अपनी गरमी खो बैठी हैं।

संयुक्त समाजवादी दल से लेकर जनसंघ, प्रजा समाजवादी और निर्दलीय तक हर दल के प्रतिनिधि स्वयं घटनास्थल पर जा चुके हैं, पर मंत्रिमंडल के किसी सदस्य ने वहाँ जाने की ज़हमत नहीं उठाई। और तो और, आदिम जाति कल्याण विभाग के मंत्री और स्वयं आदिवासी राजा नरेशचंद्र सिंह भी इस परिस्थिति से कतरा गए और बस्तर में सरकार का प्रतिनिधित्व जिस व्यक्ति ने किया, वह पुलिस के महानिरीक्षक श्री शुक्ल थे। किंतु यह अपने आप में कितनी बड़ी विडंबना है कि जब विरोधी दल दुर्घटना की स्वयं जाँच कर रहा हो, तब भी सरकार सारी स्थिति को अपने अफसरों के चश्मे से देखने की कोशिश करे ! शायद इसी मनोवृत्ति का परिणाम है कि मध्य प्रदेश विधानसभा में विरोधी दलों के प्रतिनिधि जिस आत्मानुभूति से व्यथित होकर बोलते हैं, उसकी समुचित प्रतिक्रिया सत्तारूढ़ दल में नहीं होती। उलटे होता यह है कि अध्यक्ष विरोधी दलों के माइक्रोफ़ोन-कनेक्शन कटवा देते हैं और उस आवाज़ को दबाने की कोशिश की जाती है जो जनता की आवाज़ है।

यह सच है कि मध्य प्रदेश में कांग्रेस और शासन में अब जनता मध्यस्थ नहीं रह गई है। कांग्रेस उस भाषा को भूलती जा रही है, जिसमें जनता सोचती है और शासन केवल सत्ता और अधिकार की भाषा बोलता है, विश्वास और आत्मीयता की नहीं। सत्ता सोचती है कि कोई उपद्रव करेगा तो उसे कुचल दिया जाएगा। विधानसभा में हंगामा उठेगा तो पुलिस के दो और दस्ते खड़े कर दिए जाएँगे। विरोधी सीमा का अतिक्रमण करेंगे तो उन्हें सदन की सदस्यता से बर्ख़ास्त कर दिया जाएगा। पर कोई नहीं सोचता कि सदन, सत्ता और विरोधी सदस्यों के अलावा एक और वर्ग भी है, जिसे जनता कहते हैं और जो बस्तर के पंद्रह हज़ार इक्यानबे वर्गमील दुर्गम पर्वतीय इलाक़ों में पशुओं से भी बदतर ज़िंदगी से गुज़ार रहा है, जिसके सामने न सदन है, न सत्ता, न अतीत है, न भविष्य, केवल क्षुब्ध आदिवासी समाज और उसका आहत वर्तमान है

और उसके आँगन में तड़पती उसके महाप्रभु की क्षत-विक्षत लाश है, जो कुछ माँग रही है। वह चाहे प्यार हो या घृणा, विनाश हो या बलिदान, पर कुछ है जिसे समर्पित कर आदिवासी प्रभु-ऋण के भार से मुक्त हो जाना चाहते हैं। वे अनपढ़ हैं, आदिमयुगीन हैं। वे नहीं जानते, वे क्या चाहते हैं। पर शासन को जानना चाहिए कि सवाल थोड़े-से विश्वास का है और अब भी समय है।

(संभावित रचनाकाल : 1966-67)

असाधारण धरातल

हिंदी फ़िल्मों की एकरसता से ऊबे हुए दर्शक को 'आख़िरी ख़त' से थोड़ी राहत मिलती है। कृत्रिम अभिनय की बंबइया परंपराओं के स्थान पर स्वाभाविक सहजता, प्रेम और विरह की लंबी और ठंडी साँसों के स्थान पर दुःख की निश्छल अभिव्यक्ति दर्शक को एक अजीब-सी ताज़गी और पुलक से भर देती है।

चेतन आनंद की शैली की एक विशेषता है कि वे जीवन की किसी साधारण-सी स्थिति को उठाकर उसे विस्तार देते हैं और अंततः दर्शक को एक ऐसी जगह ला खड़ा करते हैं, जहाँ वह अपने आप से नंगा, निहत्था या बेनक़ाब अनुभव करता है। यह पकड़ या यह प्रवृत्ति समसामयिकता के गहरे बोध से उत्पन्न होती है और चेतन आनंद में यह बोध पूरा-पूरा है।

'आख़िरी ख़त' में पंद्रह महीने का बच्चा बंटी बंबई जैसे महानगर में तीन दिन तक सड़कों पर रोता हुआ भटकता रहता है और एक भी ऐसा आदमी नहीं मिलता जो उसे उठाकर दुलराए, पुचकारे और घर ले जाए। दूसरे शब्दों में, फ़िल्म का एक अध्याय महानगर की व्यस्त व्यावसायिकता और तेज़ रफ़्तार ज़िंदगी पर रोशनी डालता है तो दूसरा संवेदनशीलता, परदुःखकातरता और मानवीय मूल्यों के ह्रास की गाथा कहता है। फ़िल्म का मार्मिक बिंदु उसका वह अंतिम दृश्य है, जहाँ बंटी अनायास अपनी माँ की पत्थर की मूर्ति के पास पहुँचकर बोलता है—'उठो', और 'मम्मा दुद्दू' और सहज ही उससे प्यार और सहानुभूति पाने की आशा रखता है। यही प्रतीक पत्थर या जड़ विद्यमान समाज की संवेदनहीनता पर करारी चोट करता है और कथा को एक नई अर्थवत्ता प्रदान करता है।

कहानी में बंबई की इश्किया फिल्मों के सारे लटके-खटके और नाच-गानों की पूरी-पूरी गुंजाइश मौजूद थी। मगर निर्देशक ने अधिकांशतः कैमरे को बच्चे पर केंद्रित करके न केवल उन सारे ख़तरों से अपने आपको बचा लिया, बल्कि पहाड़ी प्रेम के निहायत घिसे-पिटे फ़ार्मूले में भी थोड़ी-सी जान डाल दी। चूँकि ढाई घंटे तक केवल एक बच्चे पर केंद्रित नहीं किया जा सकता, इसलिए फ़्लैशबैक की तकनीक बहुत उपयुक्त सिद्ध हुई। लेकिन सवाल उठता है कि क्या चेतन आनंद इस घिसी-पिटी पहाड़ी प्रेमकथा के स्थान पर कोई दूसरी कथा-स्थिति नहीं चुन सकते थे ?

एक बंटी को छोड़कर जो अभिनय करता ही नहीं, और सबके अभिनय साधारण हैं। यही साधारणता कहानी, संवाद और संपादन में भी है। लेकिन निर्देशक की उद्देश्यपरक दृष्टि इस समस्त साधारणता को असाधारण धरातल पर प्रतिष्ठित करती है और यह फ़िल्म की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

('माधुरी', 30 जून, 1967)

एक दूसरी दुनिया के लोगों में

बस्तर ज़िले के धुर दक्षिण में लगभग 1500 वर्गमील का एक क्षेत्र है—अबूझमाड़। इस दुनिया के भीतर एक दूसरी दुनिया। जहाँ न सड़कें हैं, न मोटर; न थियेटर हैं, न बाज़ार; न होटल हैं, न पक्की इमारतें; न स्टेशन हैं, न रेल; न डाकख़ाना है, न थाना। फिर भी जहाँ एक सुखी और संतुष्ट समाज रहता है।

उस अबूझमाड़ में मैंने एक सबसे विपन्न दिखने वाले नवयुवक से पूछा :

"मेरे साथ भोपाल चलोगे ?"

"काहे ?"

"वहाँ तुम सुख से रहोगे।"

"मुझे यहाँ भी सुख है।"

"वहाँ तुम्हें रहने को मकान मिलेगा, अच्छी-सी नौकरी मिलेगी और तुम मोटर पर घूमोगे।"

"हमें यहाँ दो सूरी चावल मिल जाता है।"

"हम तुम्हें दस सूरी चावल देंगे और ढेर-से रुपए देंगे। फिर जब तुम चाहो, आ-जा सकते हो।"

"नहीं बाबू, हम जाएँगे नहीं, क्योंकि हम माड़िया हैं, माड़ से नहीं जा सकते हैं।"

यही सवाल मैंने कई जगह कई व्यक्तियों से पूछे, परंतु सबके उत्तर कमोबेश एक जैसे ही थे—दो टूक और साफ़, जिसमें ऊँची इमारतों में रहने, मोटरों पर घूमने या धन इकट्ठा करने की लेशमात्र भावना नहीं थी। फिर जिन ऐश्वर्य की चीज़ों को वे जानते नहीं, उनके प्रति लोभ या ललक हो भी कैसे सकती है ?

जगदीश वाजपेयी, डॉ० कैलाश वाजपेयी का छोटा भाई होने के नाते मुझे भी बड़े भाई की तरह मानता है। वह बस्तर में अरसे से मंडल संयोजक (आदिम जाति कल्याण विभाग) है। इस दौरे में मैंने उसे भी साथ ले लिया है। कभी-कभी वह भी दुभाषिए का काम कर जाता है।

जगदीश एक युवक से पूछता है :

"आज काम पर नहीं जाओगे ?"

"सोचूँगा।"

"सुना आपने," जगदीश बताता है, "भाई साहब ! अबूझमाड़ के आदिवासी की यह विशेषता है कि यदि उसके घर पर एक दिन के खाने का इंतज़ाम हो जाए तो वह पूरा-पूरा दिन एक चूहा पकड़ने में बरबाद कर देगा, पर काम नहीं करेगा।"

मुझे आश्चर्य होता है कि खुले वक्षस्थल वाली अधनंगी लड़कियाँ और सिर्फ़ लँगोटीनुमा धोती पहने नग्नप्राय पुरुष हमारे कपड़ों से ईर्ष्या नहीं करते। मुझे ज़रूर उनके नंगेपन से ईर्ष्या होती है और उनके साथ फोटो खिंचवाते समय उन्हें ज़्यादा से ज़्यादा ढकने की कोशिश करता हूँ।

मैंने जगदीश की बात जाँचने के लिए एक युवक से बातचीत शुरू की। वह कई घंटों से एक पेड़ के नीचे निरर्थक, निरुद्देश्य भाव से बैठा था।

"तुम आज हमारे साथ काम करो। तुम्हें हम मजूरी देंगे।"

"सोचूँगा।"

"हम तुम्हें रोज़ दुगनी मजूरी देंगे।"

"सोचूँगा, जाऊँ कि न जाऊँ ?"

"इतने पैसे तुम्हें कभी न मिले होंगे।"

"अच्छा, तो कल चलूँगा।"

"आज क्यों नहीं ?"

"आज तो हाँडी में पेज होगा।"

पेज यानी चावल को पानी में उबालकर बनाई गई लपसी, जिसमें थोड़े-से चावलों से पूरा कुनबा पेट भर लेता है। यही आमतौर पर उनका भोजन है।

अबूझमाड़ में एक व्यक्ति अपनी आवश्यकता की सारी चीज़ें खुद जुटाता है। उनकी ज़रूरत की चीज़ें कितनी होती हैं—इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि वे पाँच मिनट में गाँव का गाँव ख़ाली कर जाते हैं। माता के प्रकोप (जिसमें शेर का आतंक भी आ जाता है) के कारण ख़ाली हुए ऐसे अनेक गाँव अब भी वहाँ हैं, जिन्हें देखकर वीरानगी का अर्थ समझ में आता है।

रौनक सिर्फ़ वहाँ रात को घोटुल में या दिन को किसी साप्ताहिक बाज़ार में देखने को मिलती है। घवड़ई के बाज़ार में दूर-दूर के आदिवासी आते हैं।

"कहाँ से आ रहे हो ?"

"वडेर।"

"कहाँ है ये वडेर ?"

"दूर है।"

"कितनी दूर ?"

वह कोई उत्तर नहीं दे पाता तो मैं पास खड़े व्यक्ति से पूछता हूँ। वह बीस मील

बताता है। मुझे विश्वास नहीं होता।

"कब चले थे घर से ?"

"सुबह-सुबह।"

"थके नहीं ?"

"नहीं थके।"

"क्यों नहीं थके ?"

"थकने से कैसे वापस जाएँगे ?"

"क्या ख़रीदने आए हैं ?"

"नमक।"

"कितना नमक ले जाओगे ?"

"एक किलो।"

"ओह !" मेरे मुँह से बेसाख़्ता आश्चर्य या दुःख जैसा कुछ व्यक्त होता है। अगर यह दूरी अतिरंजित भी हो तो भी एक किलो नमक के लिए तेज़ चिलचिलाती धूप में पहाड़ियाँ चढता-उतरता स्त्री-पुरुषों का काफ़िला मेरी कल्पना के फ्रेम में नहीं समाता।

कैसा है ये अबूझमाड़ ! हर गाँव के बाद एक पहाड़ी और हर पहाड़ी के बाद एक गॉव। हर गाँव में पाँच से लेकर पच्चीस तक घर और तीस से लेकर तीन सौ तक की आबादी। रात होते ही गाँव के लड़के-लड़कियाँ एक सार्वजनिक स्थान पर जमा होते हैं, जिसे वे घोटुल कहते हैं। युवक-युवतियों के नृत्य-संगीत, मनोरंजन और अभिसार का केंद्र। धीरे-धीरे नृत्य की गति तेज़ होती जाती है और एक-दूसरे की कमर में पड़े हाथ खिसकने लगते हैं।

"तेरी शादी हो गई ?" मैंने एक लड़की से पूछा और अपने साथी आकाशवाणी के इंजीनियर को टेप-रिकॉर्ड ऑन करने का संकेत दिया। दुभाषिए ने मेरी बात समझाई।

"नहीं बताते।"

"क्यों ?"

"तुम हमारी आवाज़ कैद कर लोगे।" पास के लोग इस बात पर हँस दिए। मैंने उनकी बातचीत और हँसी को 'प्लेबैक' करके सुनवाया, तो वह भी हँस दी। फिर उस हँसी को भी रिकॉर्ड करके सुनवाया, बीड़ी पिलाई और दोस्ती कर ली।

"अपन कल मिलेंगे ?" उसने धीरे से कहा।

"क्या ?" मैंने पूछा।

"काल्ह।" उसने कल पर ग़ुस्से से ज़ोर दिया।

नीचे के घोटुलों में लड़के-लड़कियाँ एक साथ सोते हैं। एक गाँव में हम लोग

घोटुल में ही ठहरे थे। बाहर हम खुले में पड़े थे और युवक-युवतियाँ ज़रा अँधेरे में। जगदीश ने यह दृश्य हमें दिखलाया और बीड़ी पिलाते-पिलाते उन्हीं के पास पहुँच गया।

"मैंने भी एक युवक से दोस्ती की है। वह शहर तक हो आया है। घोटुल का मुखिया रहा है। हिंदी बोल लेता है।"

"तुम्हें किसी लड़की से प्रेम हुआ है ?"

"सबसे हुआ है।"

"मेरा मतलब है, किसी लड़की से ज़्यादा लगाव महसूस किया है ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"प्रेम क्यों करेगा—शादी करेगा।"

"क्या शादी से पहले किसी के साथ सोए नहीं।"

"कई के साथ सोए हैं।"

"फिर ?"

"फिर क्या, मुखिया चाहे किसी लड़की के साथ सोए, यह उसे हक़ है।"

"अच्छा मुखिया, इतनी सारी लड़कियों में तुम्हें कोई लड़की बहुत अच्छी भी तो लगती होगी ?"

"हाँ, वेलोसा लगती थी।"

"अब भी याद आती है उसकी ?"

"अब तो उसकी शादी हो गई।"

"अब याद नहीं आती ?"

"अब क्यों आएगी !"

कितनी सीधी-सादी बात है। न आहें हैं, न उच्छासें; न औपचारिकताएँ हैं, न आडंवर। लेकिन प्रेम है। अबूझमाड़ में अलबत्ता शादी के प्रसंग में माँ-बाप की स्वीकृति की रस्म अकसर निभाई जाती है। ये लोग सच्चाइयों से नहीं, परंपराओं से डरते हैं—उन्हें पूजते हैं, माथा झुकाते हैं।

बस्तर के कलक्टर डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा ने मेड़बंदी के लिए उन्हें रुपया देना चाहा, तो उन्होंने आपत्ति की :

"खेत हमारा, तुम रुपया क्यों देते हो ?"

"इसलिए कि सरकार दे रही है।"

"ना बाबा, हम सरकार का कोई अहसान नहीं लेंगे। हम खालपाटी में मज़दूरी कर लेंगे, पर सरकार का रुपया नहीं लेंगे।"

वहाँ का आदिवासी इतना अविश्वासी है कि उसकी चले तो सरकारी कुएँ का

पानी तक न पिए। पता नहीं, इसके लिए कब दबना पड़े ! बाबा ने महाजन से रुपया लेकर कभी उसका अहसान लिया होगा—क़र्ज़ पोता चुका रहा है और शायद उसका लड़का भी चुकाता रहेगा।

इधर प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी स्वयं अबूझमाड़ गई और उन्होंने आदिवासियों के शोषण के ख़िलाफ़ आवाज़ भी उठाई थी। पर वे क्या जानें, कौन आया और उसने क्या कहा !

"तुम नहीं गए वहाँ ?"

"गए थे।"

"जानते हो, वे कौन थीं ?"

"हम क्या जानें ?"

"फिर गए क्यों थे ?"

"सरकारी लोगों ने कहा, इसी से।"

"वे देश की सबसे बड़ी नेता हैं।"

"राजा हैं कि रानी ?"

"उससे भी बड़ी।"

"ऐसा नहीं हो सकता।"

"क्यों ?"

"वे तो हमारे घर आई थीं।"

"तो क्या हुआ ? वे बड़ी दयावान हैं।"

"हाँ, हैं तो।"

"तुम्हें कैसी लगीं ?"

"सुंदर। नाक तो आँखों से भी सुंदर है।"

"क्या कहा उन्होंने भाषण में ?"

"पता नहीं।"

"फिर तुम क्यों गए थे ?"

"हम क्या, सभी गए थे। सबने उन्हें देखा। सबने कहा, बड़ी अच्छी हैं। हम भी कहते हैं।"

मैं आकाशवाणी के ख़र्च पर अबूझमाड़ घूमने गया था। पहले आदिम जाति कल्याण विभाग में अनुसंधान अधिकारी, भाषा एवं संस्कृति के पद पर भी कुछ दिनों रहा। पर फ़ाइलों से और सहायक अधिकारियों से कभी इस बात का अनुमान नहीं लगा पाया कि मध्य प्रदेश में प्रागैतिहासिक संस्कृति अभी भी अपने प्राकृत रूप में जीवित है।

फ़ाइलों में यह कहीं नहीं लिखा था कि अबूझमाड़ के लोग इतने मासूम भी हैं।

उनके व्यवहार और चरित्र के अध्ययन के मामले में डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा तो विशेषज्ञ हैं ही, पर श्री महेंद्र कुमार दीक्षित के संस्मरण भी बड़े दिलचस्प हैं :

"तुम गाय को हल में जोतते हो ?"

"जोतते हैं।"

"मगर क्यों ?"

"इसलिए कि आदमी-औरत (गाय-बैल) दोनों काम करते हैं। हम भी करते हैं।"

"पर गाय तो दूध देती है।"

"अपने बच्चे को देती है।"

"तुम नहीं निकालते उसका दूध ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"कहीं लात मार दे तो !"

इस 'तो' से आदिवासी बहुत घबराता है।

"तुम हमसे क्यों डरते हो ?"

"हम तुम लोगों की बोली नहीं जानते।"

"उससे क्या होता है ?"

"कहीं कोई गाली दे दे तो ?"

मेरे पास उनकी इस शंकित मनोवृत्ति के कई संस्मरण हैं। वह वक्त जाने कब आएगा, जब ये लोग मनुष्य मात्र को अपनी बिरादरी का आदमी समझेंगे। पर इस शंकित मनोवृत्ति के लिए दोषी कौन है ? क्या अबूझमाड़ का आदिवासी ?

(डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा जी जब वहाँ के कलक्टर थे, वह सन् 1968-69 था।)

प्रशासन और पीत पत्रकारिता

तब राजा विक्रमादित्य ने बैताल से पूछा, "बैताल, प्रशासन के रास्ते में कौन-सी बाधाएँ सबसे भयंकर होती हैं ?"

बैताल पेड़ से नीचे उतर आया और विक्रमादित्य की ओर देखकर बोला, "राजन्, तेरे भीतर भी स्वच्छ प्रशासन की बड़ी तड़प है, पर तुझे भी एक-दो भ्रष्ट पत्रकार उसी तरह गुमराह करने में लगे हैं, जैसे प्रकाशचंद्र सेठी को।"

राजा ने पूछा, "बैताल, ये प्रकाशचंद्र सेठी कौन है ? और यह पत्रकार कौन है ?"

"राजन् ! अगर तू अपने राज्य में स्वच्छ प्रशासन चाहता है तो पहले प्रकाशचंद्र सेठी और एक पत्रकार का क़िस्सा सुन। सेठी एक ऐसे प्यारे और साफ़-सुथरे इंसान का नाम है जो राजनीति की कीचड़-भरी पगडंडी भी धुले हुए पाँवों से तय करना चाहता है। जम्बूदीप के भरत खंड में मध्य प्रदेश का मुख्यमंत्री होने के बाद उसने भ्रष्टाचारी हलकों में हलकी ही सही, एक खलबली पैदा ज़रूर की है। इसलिए पुराने हरामी अब नए मुखौटे लगाकर सामने आ रहे हैं और उन्हें गुमराह करने के साथ मुख्यमंत्री और राज्यपाल के बीच एक दरार भी डालना चाहते हैं।"

"ये लोग कौन हैं बैताल, और सेठी ने इनका क्या बिगाड़ा है जो ये उन्हें बिगाड़ने पर तुले हैं ?"

"ये अनेक लोग हैं, पर इनमें एक पत्रकार इनका नेता है राजन् ! तुम उसे वास्तविक पत्रकार मत समझ बैठना। वह पत्रकार सिर्फ़ इसलिए है कि एक अख़बार निकालता है। अख़बार इसलिए निकालता है, क्योंकि उसके पास करने को कोई और धंधा नहीं है। पहले सरकारी नौकरी में था, वहाँ से भ्रष्ट कारगुज़ारियों के लिए निकाला गया तो पत्रकार हो गया।"

"बैताल, ऐसे आदमी का नाम तो बताओ ?"

"नहीं राजन् ! आज की पत्रकारिता में नाम नहीं लिखे जाते, सिर्फ़ इशारे किए जाते हैं। मैं एक इशारा करता हूँ, तुम किसी से बूझ लेना, कोई भी तुम्हें नाम बता देगा। कुछ वर्ष पहले म०प्र० शासन के एक कार्यालय में मेढक की शक्ल का एक केरली क्लर्क काम करता था। उसने अपनी हरामख़ोरी, जालसाज़ी और बेईमानी की जन्मजात ख़ूबियों के बल पर हज़ारों रुपयों का गोलमाल किया और जेब नोटों से भर ली। जब शासन की आँख खुली तो वह पकड़ा गया। सुना है, हथकड़ी डालकर जूते मारते हुए उसे हवालात ले

जाया गया। सरकारी पैसा उगलवाने के लिए सिपाहियों ने उसके मुँह में पेशाब किया। पर उसने पैसा नहीं लौटाया, पेशाब पी लिया। आखिर वह जेल चला गया। तीन साल जेल में रहा और वहाँ से लौटकर उसी पैसे के बल पर एक अख़बार निकालने लगा।"

"वह किस तरह का अख़बार है बैताल ?" विक्रमादित्य ने उत्सुकता से पूछा।

"राजन् !" बैताल ने गंभीरता से जवाब दिया, "उसकी अदा है—पीत पत्रकारिता, यानी राज्य के छोटे-छोटे कर्मचारियों और अधिकारियों के ख़िलाफ़ लिखकर उन्हें डरा-धमकाकर उनसे रकमें ऐंठना और केरली लड़कियों को नौकरी दिलवाना, परंतु इससे पहले उनकी इज़्ज़त और अस्मत से खेलना। इधर वह एक ऐसे नवयुवक उद्योगपति के पीछे पड़ा हुआ है, जिसके सहारे उसने पहले अपनी दुकानदारी शुरू की थी और जिसकी छपाई के बिलों का पेमेंट अभी भी उसे करना है।"

"बैताल, वह पाजी, मित्र के साथ ऐसा क्यों कर रहा है ?"

"राजन्, उसकी नज़रों में मित्र नहीं, बल्कि अपने मित्र की वह प्रेमिका हरदम घूमती रहती है, जिसको प्राप्त करने के लिए यह पत्रकार मेढक की तरह पिछले दस वर्षों से फुदक रहा है। सारे फाँसे बेकार होने के बाद अब इसने उसके और उसके प्रेमी के ख़िलाफ़ लिखना शुरू किया है।"

"वह क्या कोई सुंदर लड़की है ?"

"हाँ राजन् ! वह एक ख़ूबसूरत मगर ग़रीब लड़की है। एक सरकारी दफ़्तर में क्लर्क है। कुल डेढ़ सौ या दो सौ तनख़्वाह पाती है। परिवार के संस्कारो से मजबूर है, इसलिए एकाध मोटी चिड़िया को फाँसे रखती है, ताकि घर का ख़र्चा चलता रहे।"

"सुना है, वह शासन में वड़े से बड़े काम करा सकती है, इसीलिए उसे क्रिस्टीना की तरह का नाम दिया गया है ?"

"यह नाम देने वाले उसे अपनी गोद में लाना चाहते हैं। अभी वह कॉन्ट्रेक्ट बेसिस पर चलती है। ये लोग उसे डेली वेज़ेज़ पर करना चाहते हैं। अगर वह शासन में प्रभाव रखती तो सबसे पहले हम्माली करने वाले अपने सगे भाई को कहीं चपरासी रखवाती और यह भी न करती तो कम से कम ख़ुद को निम्न श्रेणी लिपिक से उच्च श्रेणी लिपिक ज़रूर बनवा लेती।"

"बैताल, हम भी उस लड़की की बातों में उलझ गए, बात सेठी जी की हो रही थी ?"

"हाँ राजन् ! वह लड़की है भी उलझाने वाली, पर मेरे या तुम्हारे नहीं, उस पत्रकार के उलझाए ही वह उलझेगी। अभी उसका और सेठ का कॉन्ट्रेक्ट चल रहा है। जब कॉन्ट्रेक्ट की अवधि ख़त्म हो जाएगी, तब यह पत्रकार कोशिश करेगा, क्योंकि इसके पास ग़बन किया हुआ काफ़ी पैसा है। पत्रकार चाहता है कि सेठ कॉन्ट्रेक्ट तोड़ दे। सेठ तोड़ नहीं रहा, यही असल झगड़ा है।"

"बात सेठी जी की चल रही थी बैताल !"

"हाँ राजन्, मैं बहक गया था। इस पत्रकार ने उस लड़की के पास अपने एक चमचे को भेजा था और वादा किया था कि सेठी जी से कहकर उसका प्रमोशन करा देगा। इसीलिए सेठी जी के ख़िलाफ़ लिखते-लिखते इसने सहसा एक करवट बदली और उनकी प्रशंसा के गीत गाने लगा। मगर तभी लड़की ने मुँह फेर लिया, क्योंकि सेठ उसे चार सौ रुपया महीना देने लगा।"

"बैताल, तुम फिर लड़की पर आ गए ?"

"राजन्, क्षमा करना। यह लड़की-युग है। मगर सेठी जी को इससे ख़तरा नहीं, क्योंकि वे इस चक्कर से बहुत दूर हैं। वे ही पत्रकार की असलियत समझते हैं और सबसे प्यार से बातें करते हैं।"

"क्या उन्हें मालूम है कि यह पत्रकार जेलयाफ़्ता क्लर्क यानी पुराना सेवक है।"

"उन्हें हर शख़्स की हक़ीक़त मालूम है राजन् ! उन्हें मालूम है, कौन भ्रष्ट है, कौन जेलयात्रा कर आया है और कौन अफ़वाहों को किस ढंग से उछालता है ? कौन किस साउथ इंडियन अफ़सर का चमचा है ?"

"तो इससे क्या शिक्षा मिलती है बैताल ? तुमने ये कहानी मुझे क्यों सुनाई ?"

"राजन्, इस कहानी से यह शिक्षा मिलती है कि छोटे-मोटे अख़बारों की बातों पर ध्यान मत दो, लेकिन उनके संपादकों से प्यार-भरी बातें करो। ये अख़बार जिन अफ़सरों की तारीफ़ करें, समझ लो, खाया है। तुम्हें मालूम नहीं, इस मध्य प्रदेश के सबसे बड़े भ्रष्टाचारी एक साहित्य परिषद के सचिव ने अभी अपने पक्ष में जबलपुर, इंदौर और उज्जैन के बीसों व्यक्तियों से हस्ताक्षर कराके मुख्यमंत्री को ज्ञापन भिजवाए और लेख लिखवाए, मगर सेठी जी उन्हें चुपचाप पी गए। यहाँ तक कि एक कुलपति ने जब सेठी जी से उसे बचाने की बात की तो सेठी जी ने सिर्फ़ इतना आश्वासन दिया बताते हैं, 'मैं जो नियम-संगत होगा, वही करूँगा।' इसीलिए लोगों में यह धारणा पक्की हो गई है कि घटिया अख़बार जिस सरकारी कर्मचारी का समर्थन करें, उसने ज़रूर रिश्वत दी है और जिसकी बुराई करें, उससे रिश्वत माँगी जा रही है।"

"सेठी जी को ये बातें मालूम नहीं हैं क्या ?"

"सेठी जी को सब कुछ मालूम है। पर सेठी जी इन छोटी-छोटी बातों पर ध्यान नहीं देते। जब भ्रष्टाचारी और ग़बनख़ोर भ्रष्टाचार-उन्मूलन और नैतिकता की बात करता है तो हँसी आती है। आशा है, इस प्रश्नोत्तर से उस पत्रकार का पित्त शीतल हो जाएगा और तुम्हें प्रशासन का वह सूत्र मिल जाएगा, जिसके सहारे तुम प्रकाशचंद्र सेठी की लोकप्रियता की व्याख्या कर सको।"

इतना कहकर बैताल फिर पेड़ पर चढ़कर उलटा लटक गया।

एक व्यंग्य-चित्र

समारोह से पहले कमलेश्वर का वक्तव्य

पंजाब सरकार द्वारा मोहन राकेश को सम्मानित और पुरस्कृत करने का फ़ैसला किया गया है। यह भी निर्णय किया गया है कि इस अवसर पर उन्हें मानपत्र, एक हज़ार एक सौ रुपए, एक दुशाला, एक पगड़ी और एक दाढ़ी भेंट की जाएगी।

समारोह में मोहन राकेश का भाषण

मुझे सम्मानित किया गया और समारोह में भी वही सब हुआ, जो कि ऐसे अवसरों पर प्रायः होता है। मुझे समारोह की यह पुनरावृत्ति अच्छी नहीं लगी। अतः मैंने फ़ैसला किया कि कम से कम मैं अपनी तरफ़ से ऐसा कुछ करूँगा या कहूँगा नहीं, जो पहले कहा या किया जा चुका हो। आपको याद होगा, डॉ० मदान ने पिछले साल उन्हें मिली रकम हाथ के हाथ वापस कर दी थीं। लिहाज़ा, मैंने सोचा कि इस वर्ष रुपए वापस करने के स्थान पर पगड़ी वापस करूँगा। लीजिए, ये पगड़ी हाज़िर है।

समारोह के बाद वार्तालाप का अंश

दिल्ली आकर राकेश ने कुछ दोस्तों को खाने पर बुलाया—मन्नू भंडारी, राजेंद्र यादव, दुष्यन्त कुमार, जवाहर चौधरी और अनीता। यादव सबसे ज़्यादा उत्साहित थे। बार-बार पूछते, "बोल बे, क्या मिला ?"

सहसा टेलीफ़ोन की घटी बज उठी। राकेश को उठकर दूसरे कमरे में जाना पड़ा।

"किसका टेलीफ़ोन था ?" लौटने पर लगभग सभी के चेहरों पर जिज्ञासा उभरी।

"पटना से कमलेश्वर ने फोन किया था।" राकेश ने कहा, "यही पूछ रहा था कि क्या-क्या मिला, क्या हुआ ?"

"तूने क्या बताया ?" जवाहर ने पूछा।

"वही, मैंने बताया, एक दुशाला, एक मानपत्र, एक हज़ार एक सौ रुपए, एक पगड़ी और एक दाढ़ी मिली थी। रुपए दुष्यन्त आकर ख़र्च कराए दे रहा है, दुशाला अम्मा को दे दिया है। मानपत्र मदान को दे आया हूँ और पगड़ी सरकार को। अब केवल तेरी बताई हुई दाढ़ी बची है।"

एक ठहाके से कमरा गूँज उठा।

"तुमने क्या कहा ?" यादव ने पूछा।

"मैं क्या कहता," राकेश ने उत्तर दिया, "कमलेश्वर ने ही सुझाया है कि दाढ़ी यादव को लगाकर दे दी जाए और उसे यह सिद्ध करने के लिए चंडीगढ़ भेज दिया जाए कि हिंदी का असल पंजाबी लेखक वह है।"

अधूरी *(1970 के आसपास की रचना)*

मेरी सबसे मनोरंजक भूल

बिना टिकट सफ़र

उसे देखते ही मेरे हाथों के तोते उड़ गए। मैंने सोचा भी नहीं था कि स्टेशन की भीड़-भाड़ से दूर आधी रात को इस एकांत और निर्जन रास्ते में कोई टिकट-चेकर मुझसे टिकट दिखाने को कहेगा।

मैं लखनऊ से बिना टिकट चला था। मुरादाबाद तक का सफ़र धड़कते हुए दिल से तय किया था। यद्यपि जेब में पैसे थे, पर पहले तो वक़्त की तंगी और फिर आलस्य के कारण टिकट नहीं बनवा पाया। ज्यों-ज्यों मुरादाबाद पास आता गया—लगा, अब तो घर आ ही गया है, ज़रा-सा घूमकर चुपचाप निकल जाएँगे।

लेकिन चुपचाप उस टिकट-चेकर ने मोर्चेबंदी कर ली और बड़ी श्रद्धा से मेरी बाँह पकड़ते हुए बोला, "ऐसी भी क्या जल्दी है ? चाय-वाय पीकर जाना।"

मैं उस रेलवे कर्मचारी की विनम्रता का आज भी कायल हूँ। उसने पुल के ऊपर से मुझे देखा और सिर्फ़ इस ख़याल से कि मैं ठंड में कुड़कुड़ा रहा हूँ, वह अपनी गेट की ड्यूटी छोड़कर मुझे चाय पिलाने के लिए वहाँ तक भागा आया, यह सोचकर मुझे ख़ुशी होनी चाहिए थी। लेकिन दुर्भाग्य से मैं इस भाषा से परिचित था। अब इसके अलावा कोई विकल्प नहीं था कि चुपचाप उसके साथ हो लूँ। वह मुझे पुल के ऊपर गेट के पास ले आया। दो-तीन कॉलेज के लड़के मेरी ओर बड़ी अर्थवान, किंतु निष्करुण दृष्टि फेंकते हुए निकल गए। मगर वह सज्जन निर्लिप्त-से व्यस्त बने रहे। काफ़ी देर के बाद उसने पूछा, "लखनऊ से आ रहे हो ?"

"जी हाँ," मैंने गर्दन हिलाकर सहमति दी।

"हूँ," उसने एक लंबी साँस छोड़कर कहा, "सत्ताईस रुपए दस आने निकालिए।"

"जी !" मैंने मुख-मुद्रा पर आश्चर्य का भाव विस्तीर्ण करते हुए कहा और फ़िर चुपचाप जेब से एक रुपए का नोट निकालकर उसके हाथ पर रख दिया।

इस पर उसने बड़ी गहरी पीडा से मेरी आँखों में आँखें डालकर कहा, "क्या मज़ाक़ करते हो बड़े भाई !" और फिर मेरे नोट पर दो रुपए का नोट रखकर लौटाते हुए बोला, "जाओ, मेरी तरफ़ से कहीं चाय पी लेना।"

यह मेरे लिए एक अवसर भी था और चुनौती भी। लिहाज़ा मैंने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया, "बड़े भाई, एक रुपया ही ले लीजिए।"

वे बोले, "नहीं, दस।

मैंने कहा, "अच्छा, सवा ले लीजिए।"

वे बोले, "नहीं, दस।"

मैंने कहा, "चलिए, दो सही।"

वे बोले, "पैसा कम नहीं होगा।"

मैंने कहा, "बड़े भाई, ढाई पर मान जाइए, विद्यार्थी हूँ। इससे ज़्यादा नहीं दे सकता।"

वे बोले, "अच्छा, जेब दिखाओ।"

इस संवाद के क्रम में स्थिति यहाँ तक आ गई थी कि मैं अपराधी से अभिनेता के स्तर तक उठ गया था और बड़ी सहज, नाटकीय विनम्रता के साथ उससे सौदा कर रहा था और वह एक दुकानदार की स्थिति में पहुँच गया था। पर संयोग से मेरी जेब में पैसे थे। अतः जेब दिखाने की बात पर मैंने फ़ौरन पतलून की ख़ाली जेब उसके सामने उलट दी और बड़ी मासूमियत से पूछा, "अब कौन-सी जेब दिखाऊँ ?"

"अश···श !" उन्होंने मेरे दाएँ हाथ को, जिसमें तीन रुपए थे, मेरी ओर धकेलते हुए एकदम ख़ामोश हो जाने का संकेत किया और ख़ुद अटेंशन की मुद्रा में खड़े हो गए। मैंने देखा, पुल के दूसरे कोने से एक मोटे-ताज़े रेलवे कर्मचारी सिगरेट का धुआँ उगलते हुए झूमते-झामते चले आ रहे हैं। बाद में पता चला, वे मोटे-ताज़े सज्जन हेड टिकट-कलक्टर या एक्ज़ामिनर थे। मुँह से सिगरेट का धुआँ उगलते हुए उन्होंने पहला सवाल यों किया, "कहो, मुर्गी या मुर्गा !"

उनके इस प्रश्न पर हमारे टिकट-चेकर जो वस्तुतः टिकट-कलक्टर थे, बहुत संकुचित और विनम्र हो उठे। बोले, "जी नहीं, ममेरा भाई है, इसी गाड़ी से आया है। घरू बातचीत में देर हो गई।"

"हत्तेरे की !" मोटे-ताज़े सज्जन ने खो-खोकर हँसते हुए कुछ कहने की भूमिका बाँधी, पर उनसे पहले ही मैंने अपना सूटकेस उठा लिया और कहा, "अच्छा तो भाई साहब, मैं चलता हूँ। आप तो जानते ही हैं, दो बजे के बाद फिर फाटक नहीं खुलेगा।"

"अरे, चाय-वाय···" उन्होंने अधिकारपूर्वक कुछ कहना चाहा, लेकिन मैंने उनकी बात काटकर उसी नम्रता से कहा, "जी, अभी इच्छा नहीं है। वैसे आपके दिए दो रुपए मेरे पास हैं, इच्छा हुई तो रास्ते में पी लूँगा।" और मैं नमस्कार करके चला आया।

(अगस्त, 1971)

दूसरा सदन क्यों ?

मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री प्रकाशचंद्र सेठी की घोषणा के अनुसार मध्य प्रदेश में विधान परिषद् की स्थापना की जाएगी। इस संबंध में उन्होंने शीघ्र ही औपचारिक कार्यवाहियाँ पूरी करने का संकेत दिया है।

इसके पूर्व मध्य प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने भी अपने मुख्यमंत्रित्व काल में ऐसा निर्णय लिया था। कुछ प्रारंभिक तैयारियाँ भी हो चुकी थीं, परंतु तभी मध्य प्रदेश में सत्ता-परिवर्तन हो गया। कांग्रेस के स्थान पर संविद शासन आया और विधान परिषद् की स्थापना का निर्णय रद्द कर दिया गया। मध्य प्रदेश में विधान परिषद् बनते-बनते रह गई।

अब फिर मध्य प्रदेश में विधान परिषद् की स्थापना की घोषणा के साथ ही कुछ स्वर विरोध में उठने लगे हैं। कहा गया है कि यह एक पिछड़े राज्य पर अनावश्यक वित्तीय भार है, कि यह असंतुष्ट राजनीतिज्ञों को संतुष्ट करने का राजनीतिक हथकंडा है, कि यह वर्तमान प्रजातांत्रिक प्रणाली का एक अनावश्यक विधान है।

राजनीति का प्रारंभिक छात्र भी इस तथ्य से भली भाँति परिचित है कि प्रतिनिधि शासन से संबंधित सभी सिद्धांतों में से दो सदनों के प्रश्न को लेकर काफ़ी विवाद हुआ है। अतः मध्य प्रदेश में द्वितीय सदन अथवा विधान परिषद् को लेकर जो विरोधी स्वर सुनाई पड़ता है, उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं है। देखने-परखने की बात तो यह है कि वस्तुतः राज्य में इस द्वितीय सदन की आवश्यकता है भी कि नहीं ? या यह केवल कुछ राजनीतिक असंतुष्टों को संतुष्ट करने की युक्ति मात्र ही है ?

आइए, हम यहाँ राजनीति के कुछ मान्य सिद्धांतों के आधार पर मध्य प्रदेश में इसकी उपयोगिता को परखें। प्रतिनिधि शासन में द्वितीय सदन की आवश्यकता को लेकर प्रायः कहा जाता है कि :

1. शक्ति के अनन्य प्रयोग से अथवा नीति-निर्धारण के क्षेत्र में अकेले होने से आडंबर उत्पन्न होता है (चाहे वह एक व्यक्ति हो या एक समुदाय या एक निकाय)।

2. विधानमंडल में एक ही सदन होने से यह हो सकता है कि सदन का बहुमत स्थायी बन जाए और यह बहुमत ऐसे व्यक्तियों द्वारा निर्मित हो जो सामूहिक रूप से एक ही प्रकार के कार्य करने के अभ्यस्त हों, जिनको सदन में अपनी सफलता का पूरा

विश्वास हो और दूसरे सदन के द्वारा अपने प्रत्येक कार्य की स्वीकृति की अपेक्षा से युक्त होने के कारण वे मनमानी करने लगें।

3. व्यावहारिक राजनीति में और विशेषकर लोकतंत्रीय संस्थाओं के संचालन में समझौता करने की मनःस्थिति एवं समझौते की इच्छा और तत्परता एक अनिवार्य आवश्यकता है। इसका अर्थ यह है किं विरोधियों की कुछ बातें मानकर ऐसी उत्तम विधियों का निर्माण करने के लिए तैयार रहा जाए, जो विरोधी पक्ष को थोड़ा संतुष्ट या कम से कम असंतुष्ट और रुष्ट करे। इस उत्कृष्ट प्रवृत्ति का पोषण विधानमंडल के दोनों सदनों के मध्य समझौतों के द्वारा होता है।

4. प्रत्येक राज्य में शासन का एक ऐसा अंग या उपांग भी होना चाहिए, जो संवैधानिक शक्ति के प्रधान केंद्र पर रोक लगा सके।

5. राज्य की बहुसंख्य जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले विधानमंडल के बहुमत के द्वारा अपने पूर्ण आधिप का प्रयोग करने की स्वतंत्रता की स्थिति में यदि पूरी तरह लोकतंत्रीय सिद्धांतों के ़ धार पर अल्पमत को अपने समान अधिकारों का प्रयोग करने की अनुमति दी जाती है और उनको सही प्रतिनिधित्व मिलता है तो इससे यह होगा कि कुछ श्रेष्ठ बुद्धि वाले या लोकतंत्रीय आधार पर निर्वाचित सदस्य सामने आएँगे, जो बिना किसी दलबंदी के और बिना वैमनस्य उत्पन्न करने वाले विशिष्ट अधिकारों के, अपने प्रभाव से उनकी संख्या के अनुपात से कहीं अधिक, एक बहुत ही प्रभावकारी नैतिक नियंत्रण लगा सकेंगे।

6. द्वितीय सदन ऐसे योग्य व्यक्तियों के लिए स्थान होता है, जो परिस्थितिवश अथवा प्रदर्शन की भावना से बचने के कारण प्रत्यक्ष निर्वाचन में भाग लेने के अनिच्छुक रहते हैं।

प्रतिनिधि शासन में द्वितीय सदन की आवश्यकता के संबंध में उपर्युक्त तर्कों का अपना महत्त्व है, किंतु मध्य प्रदेश के संदर्भ में हम इस विषय पर एक अन्य दृष्टिकोण से भी सोच सकते हैं। प्रायः कहा जाता है कि जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले एक लोकतंत्रीय सदन की कमियाँ वास्तव में जनता में स्वयं में पाई जाने वाली कमियाँ होती हैं और ये कमियाँ ज्ञान और प्रशिक्षण के अभाव से होती हैं। इस अभाव की पूर्ति उसके साथ एक ऐसे सदन को जोड़कर की जा सकती है, जिसकी विशेषताएँ ज्ञान और विशिष्ट प्रशिक्षण हों।

जब हम मध्य प्रदेश के संदर्भ में इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो दूसरे सदन की आवश्यकता बड़ी स्पष्टता के साथ उजागर होती है। हमारा राज्य एक अल्पविकसित राज्य है। शिक्षा के क्षेत्र में भी यह अखिल भारतीय स्तर से बहुत पीछे है। 1971 की जनगणना के अनुसार इसकी 1/3 जनसंख्या पिछड़े वर्ग की है। अनुसूचित आदिम

जातियों की संख्या 23.87 लाख अर्थात् 20.17 प्रतिशत, अनुसूचित जातियों की संख्या 54.54 लाख अर्थात् 13.09 प्रतिशत, अनुसूचित आदिम जातियों की संख्या 3.50 लाख अर्थात् 0.86 प्रतिशत है। सन् '65-66 के अनुसार मध्य प्रदेश में औसत प्रतिव्यक्ति आय 533.6 रुपए है, जबकि आदिवासी औसत केवल 181.35 रुपए ही है। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से अल्पविकसित और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए राज्य का प्रतिनिधि सदन ऐसी ही जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करेगा। इसके साथ ज्ञान की दृष्टि से संपन्न, अनुभवी, राजनीतिक पूर्वाग्रह से मुक्त और सेवा के क्षेत्र में परखे हुए लोगों से संपन्न एक और सदन को संयुक्त करके निश्चय ही अत्यंत संतुलित प्रतिनिधिक वैधानिक व्यवस्था की जा सकेगी। इस दृष्टि से यह निर्णय मध्य प्रदेश के विशेष संदर्भ में स्तुत्य ही कहा जाएगा। कदाचित् इसीलिए राज्य पुनर्गठन आयोग ने भी मध्य प्रदेश के लिए द्विसदनात्मक संसदीय प्रणाली की सिफ़ारिश की थी।

फिर जैसा कि उसने पूर्व में कहा है, एक सदन होने से यह हो सकता है कि नए सदन का बहुमत स्थायी बन जाए और यह बहुमत एक ही प्रकार से कार्य करने वाले व्यक्तियों का हो, जो अपनी सफलता के प्रति आश्वस्त होने के कारण मनमानी करने लगें। पिछले आम चुनावों में केंद्र तथा राज्यों में और मध्य प्रदेश राज्य में भी, इंदिरा गांधी के नेतृत्व में एक ही दल को जो बहुमत मिला है, उससे हमारी इस आशंका को काफ़ी बल मिलता है। ऐसे बहुमत वाले दल द्वारा अपने आप पर ही अंकुश लगाने का यह संकल्प वस्तुतः एक नैतिक और साहसिक क़दम है और प्रजातंत्र की सुनिश्चित परंपराओं के प्रति गहरी आस्था का परिचायक है।

हम आशा करें कि मध्य प्रदेश में स्थापित होने वाला यह हमारा सदन ऐसा योग्य और निष्पक्ष सिद्ध हो कि अधिकार के साथ बहुमत की निर्बलताओं और भूलों के विरुद्ध आवाज़ उठा सके। यह केवल नियंत्रक ही नहीं, अपितु एक प्रभावशाली प्रेरक शक्ति भी हो। इसमें जनता के परखे हुए ऐसे बुद्धिजीवी, लेखक, कलाकार, खिलाड़ी और समाजसेवी, राजनीतिज्ञ हों, जो उनकी आशा-आकांक्षाओं को अधिक सक्षमता, योग्यता, परिपक्वता और सूझ-बूझ के साथ मूर्त रूप दे सकें।

इसलिए मैं सोचता हूँ कि अब हमें मध्य प्रदेश में इस दूसरे सदन के निर्माण की घोषणा का विरोध नहीं, स्वागत करना चाहिए—यही लोकतंत्र का तकाज़ा और यही परिस्थितियों की माँग है।

(1972 के बाद)

मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद् में पुरस्कारों की राजनीति : घोषणा-पूर्व घोषणाएँ

मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद् प्रतिवर्ष साहित्य की विभिन्न विधाओं की श्रेष्ठ पुस्तकों पर पुरस्कार देती है। परिषद् के नए सचिव श्री गुलशेर खाँ शानी ने डॉ० शुकदेव दुबे से परिषद् का कार्य सँभालते ही राजनीतिज्ञों की मुद्रा में उन्हें सार्वजनिक रूप से कोसा और 'नई दुनिया' तथा 'नवभारत' में दो ऐसे लेख छपवाए, जिनमें विस्तार से पुराने सचिव के साहित्य-बोध, पुरातनपंथ की भर्त्सना करते हुए परिषद् को साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों से जोड़ने की घोषणा की। यों एक कनिष्ठ अधिकारी द्वारा अपने वरिष्ठ अधिकारी की आलोचना लोगों को अच्छी तो नहीं लगी, पर यह जानकर अवश्य संतोष का अनुभव हुआ कि अब परिषद् में नई प्रवृत्तियों का उदय होगा और उसे सही दिशा मिलेगी।

किंतु इधर पुरस्कारों की सूचना से लेकर निर्णायकों की नियुक्ति तक जो घटना-चक्र घूमा है, उसने लेखकों की सारी आशाओं पर तुषारापात कर दिया है। अभी तक निर्णायकों की नियुक्ति जनरल मीटिंग में की जाती थी, ताकि–1. सचिव मनमानी करके अपने आदमियों को निर्णायक के रूप में न भर सके तथा 2. निर्णायकों को सारे सदस्यों का विश्वास और समर्थन प्राप्त हो।

परंतु नए सचिव ने शासन तंत्र के एक बडे अफ़सर को बीच में डालकर सारे निर्णायकों के नाम ऊपर ही ऊपर मुख्यमंत्री से तय करा लिए और इनमें ऐसे लोगों को भर दिया, जो उनके अपने आदमी थे। प्रतिष्ठित पुराने समीक्षकों को हटा दिया।

देश और प्रदेश के वे कवि, लेखक तथा आलोचक जिन्होंने अपने अथक श्रम और साधना द्वारा रची हुई पुस्तकों को इसलिए पुरस्कार हेतु भेजा था कि उनकी प्रतिभा का सही-सही मूल्यांकन होगा, सचिव की घोषणाओं के सहारे आश्वस्त रहे और उधर सचिव श्री शानी ने अपने पूर्वाग्रहों, रुचियों और अरुचियों का ताना-बाना बुनना शुरू कर दिया। फलस्वरूप निष्पक्ष और तटस्थ मूल्यांकन तो दूर, एक ऐसी कुनबापरस्ती उभरकर सामने आई, जैसी परिषद् में आज तक कभी नहीं आई थी।

अब तक कभी भी निर्णायक और निर्णय तो दूर, पुस्तकों तक के नाम भी किसी को पता नहीं चले थे, पर आज अखिल भारतीय स्तर के पुरस्कारों से लेकर प्रादेशिक

पुरस्कारों तक के नाम और निर्णय लोगों की ज़बान पर हैं। यहाँ तक कि एक निर्णायक श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपनी स्वीकृति देने के बाद भी एक पत्र में सचिव को कड़ी फटकार लगाते हुए निर्णायक होने से फिर इंकार कर दिया, क्योंकि उनके पास पुस्तकों से पहले सिफ़ारिशें पहुँचनी शुरू हो गई थीं। परिषद् के इतिहास में शायद पहली बार ऐसा हुआ है कि गोपनीयता भंग होने के आधार पर किसी निर्णायक ने निर्णायक बनने से इंकार किया हो। क्या पता अज्ञेय, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश तथा जगदीशचंद्र माथुर सरीखे विद्वानों ने भी इसीलिए निर्णायक बनने से इंकार किया हो।

अब तनिक इस बार दिए जाने वाले पुरस्कारों के गणित पर भी विचार करें। सबसे बड़ा पुरस्कार तीन हज़ार रुपए का नाटक पर है। सचिव की स्वाभाविक इच्छा होगी कि इस पुरस्कार के द्वारा वह देश के किसी बड़े साहित्यकार से अपने संबंध सुदृढ़ करे और इसके लिए वह किसी ऐसे लेखक की खोज में था, जो लेखक भी हो और प्रभावशाली व्यक्ति भी, जैसे कि जगदीशचंद्र माथुर। किंतु दुर्भाग्य से मोहन राकेश का 'आधे-अधूरे' जैसा प्रसिद्ध नाटक उनकी इस इच्छा को पूरा होने नहीं दे रहा। सुना है कि उन्होंने पत्र भी लिखे कि राकेश के नाटक पर विचार ही न हो, पर निर्णायक डॉ० सुरेश अवस्थी अब भी इससे सहमत नहीं हो पाए और 'आधे-अधूरे' को प्रथम पुरस्कार मिलेगा ही। हाँ, 'नई कविता' पर ढाई हज़ार रुपए के पुरस्कार में उन्हें अपनी यह इच्छा पूरी करने का अवसर मिल सकता है।

पर अखिल भारतीय पुरस्कारों के निर्णयों और निर्णायकों में सचिव की रुचि कम ही है, क्योंकि वे प्रादेशिक स्तर के लेखक हैं। क्षेत्रीय लेखक होने के नाते उनकी रुचि और राजनीति भी प्रादेशिक पुरस्कारों तक सीमित है। जैसे नई कविता के 'ठाकुर पुरस्कार' में सचिव श्री शानी की दिलचस्पी इसलिए अत्यधिक है, क्योंकि वे अपने अनन्य मित्र श्री अनिल कुमार का भला करना चाहेंगे। क्योंकि अनिल कुमार की किताब में कवि सर्वेश्वर के ऊपर एक कविता छपी है, अतः उन्होंने एक निर्णायक तो सर्वेश्वर को रखा होगा और दूसरा निर्णायक भी उन्होंने ऐसी जगह से चुना होगा, जो सर्वेश्वर या अनिल कुमार के प्रभाव का हो। क्योंकि वे अकसर कहते सुने गए हैं कि अनिल कुमार का दूसरा निर्णायक पहले निर्णायक से बात करके ही कोई राय देगा। यानी दोनों मित्र होने चाहिए या एक जगह काम करते होने चाहिए। इस तर्क से दूसरा निर्णायक उसके ही किसी व्यक्ति को होना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि अनिल कुमार के लिए इतनी खींचतान क्यों की गई कि एक ही गाँव या दफ़्तर के दो साहित्यकारों को एक ही पुरस्कार का निर्णायक बनाया गया ? कहीं इसलिए तो नहीं कि अनिल कुमार ने एकांकी पुरस्कार के लिए भी अपनी पुस्तकें परिषद् में भेजी थीं, परंतु उसमें कृष्णकिशोर श्रीवास्तव जैसे मँजे हुए नाटककार की पुस्तक

आ जाने से अनिल कुमार के चांस ख़त्म हो गए। उधर एकांकी पुरस्कार के निर्णायक ने गोपनीयता भंग करने पर सचिव को एक बहुत फटकार-भरा ख़त लिखा। ऐसी स्थिति में अनिल कुमार को कम से कम एक पुरस्कार दिलाने की दृष्टि से ही तो सचिव ने यह तोड़-जोड़ की। पर इसमें ग़लती से अगर् दूसरे निर्णायक ने पहले की राय से सहमति न दी तो विवश होकर पुरस्कार दो लेखकों को देने पड़ेंगे।

सचिव की राजनीति का दूसरा दिलचस्प क्षेत्र हो सकता है 'महाराजा विश्वनाथ सिंह पुरस्कार'। बताया जाता है कि इसमें उन्होंने इतनी ख़ूबसूरती से ताना-बाना बुना कि उन्हें उँगली पकड़कर आदिम जाति विभाग से भाषा विभाग में लाने वाले दुष्यन्त कुमार त्यागी का पूरा ऋण उतर जाता। इसके लिए ज़रूर ऐसे निर्णायक रखे गए होंगे जो उनके मित्र हों, जैसे श्री कमलेश्वर और दूसरे धनंजय वर्मा। कमलेश्वर और दुष्यन्त कुमार की दोस्ती 'नई कहानियाँ', 'सारिका' तथा 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' जैसे अख़बारों के पृष्ठों तक पर छप चुकी है। उधर धनंजय वर्मा ने भी अपनी किताब 'आस्वाद के धरातल' में उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया पर एक लेख दिया है कि वह कैसे शानी और दुष्यन्त कुमार के मित्र होने के कारण उन दोनों लेखकों के उपन्यासों की रचना के अनुभवों के सहभोक्ता भी रहे हैं। मगर धनंजय वर्मा मूलतः शानी के मित्र हैं और बाल्यकाल के मित्र हैं। इसलिए अब मेज़ पलटा खाएगी। सुनते हैं कि इधर विभागीय अफ़सरों के साथ दुष्यन्त कुमार भी शानी के विरोध में आ गए हैं। और यदि दुष्यन्त कुमार और शानी की बिगड़ गई तो स्वाभाविक है कि सचिव अपने इरादे को बदलेगा। यानी कोशिश करेगा कि पुरस्कार दुष्यन्त कुमार को न जाकर परसाई को जाए, जिसने जबलपुर से उसके समर्थन में पाँच-छह व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराके एक पत्र राज्यपाल और मुख्यमंत्री को हाल ही में भिजवाया है। क्योंकि कमलेश्वर से तो कहा नहीं जा सकता, एक यही उपाय बच रहता है कि धनंजय वर्मा से कहा जाए कि वह दुष्यन्त कुमार को तीसरे-चौथे नंबर पर डाल दें। इस प्रकार जीवाजी और जबलपुर विश्वविद्यालयों में कोर्स में लगी हुई टेक्स्ट बुक 'रानी नागफनी की कहानी' को पुरस्कार मिलना ही चाहिए, यद्यपि टेक्स्ट बुक पर पुरस्कार देने का नियम नहीं है। अब कौन कहे कि परसाई और दुष्यन्त कुमार ही कब से उपन्यासकार हैं ? एक व्यंग्यकार है और एक कवि ! पर इस आपाधापी में, जो वास्तव में प्रतिभाशाली उपन्यासकार हैं, वे ज़रूर घाटे में रहेंगे।

इसी तरह 'आचार्य नंददुलारे वाजपेयी पुरस्कार' आलोचना पर है। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है—धनंजय वर्मा सचिव के मित्र हैं, अतः पुरस्कार उन्हें मिलना ही चाहिए। इस हिसाब से निर्णायक रखे जाने चाहिए। एक तो प्रेमशंकर, जो धनंजय वर्मा के अध्यापक भी रहे हैं और गहरे दोस्त भी हैं। दूसरा, एक बाहर का ऐसा आदमी होना चाहिए, जिसके लेखक से या सचिव से निजी संबंध हों। अतः यह पुरस्कार धनंजय वर्मा

को गया समझिए।

रही कहानी, सो उसका पुरस्कार दिलाने में सचिव की दिलचस्पी विलास गुप्ते में होनी चाहिए जो श्री शानी के साथी हैं, पुराने साथी। जब तीन वर्ष पूर्व ये सचिव महोदय आदिम जाति कल्याण विभाग में मास्टर थे, तब विलास गुप्ते वहाँ लेक्चरर थे। अब क्योंकि विलास गुप्ते की किताब की भूमिका कमलेश्वर ने लिखी है, इसलिए एक निर्णायक तो ज़रूर कमलेश्वर होंगे ही। हाँ, दूसरे निर्णायक के रूप में उन्हें फिर ऐसे आदमी की शरण में जाना पड़ेगा, जो उनका विश्वस्त आदमी हो। और वह श्रीकांत वर्मा ही हो सकते हैं, जो सचिव की भाँति छत्तीसगढ़ के निवासी हैं और उनके पुराने मित्र हैं।

'ईसुरी पुरस्कार', जो साहित्य पर है, वह डॉ० भगवती शुक्ल, अध्यक्ष हिंदी विभाग, भोपाल को मिलना चाहिए। क्योंकि पिछली बार सचिव ने अपनी एक पुस्तक यूनिवर्सिटी में भेजी थी और वह शुक्ल जी के कारण नहीं लग पाई थी। अब डॉ० शुक्ल को साधने के लिए उन्हें पुरस्कार दिलाना ज़रूरी है, ताकि अगली बार पुस्तक कोर्स में लग सके। इस दृष्टि से एक निर्णायक सत्यव्रत सिन्हा होना ही चाहिए।

'कविता पुरस्कार' में सचिव की दिलचस्पी पहले बैरागी जी में थी। तब उन्होंने एक तो डॉ० सुमन को निश्चय ही निर्णायक रखा होगा और दूसरे किसी ऐसे प्रोफ़ेसर को रखा होगा जो उनका मित्र हो। पर अनुरागी कवि के रूप में काफ़ी भारी कवि हैं। यह बात अलग है कि सचिव उन्हें नापसंद करते हैं।

'मित्र पुरस्कार' संस्कृत या पाली से अनुवाद पर दिया जाता है। यह पुरस्कार व्यावहारिक दृष्टि से डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री को जाना चाहिए, क्योंकि वे ग्रंथ अकादमी के संचालक भी हैं और संस्कृत के विद्वान् भी। पर इधर सचिव उनसे काफ़ी खिन्न नज़र आते हैं। यहाँ तक सुना गया है कि उन्होंने उज्जैन के एक निर्णायक के काफ़ी कान भरे हैं। अतः यह बात क़रीब-क़रीब पक्की हो गई है कि उज्जैन के भगवतीशरण उपाध्याय यह पुरस्कार अग्निहोत्री जी को नहीं देंगे, भले ही रेवा प्रसाद द्विवेदी को दे दें।

बाक़ी रहे 'पद्माकर' और 'रसानिधि पुरस्कार'। वे बच्चों के पुरस्कार हैं। इनमें सचिव की दिलचस्पी अधिक से अधिक इतनी है कि ये डॉ० शुकदेव दुबे के किसी परिचित को (विशेष रूप से डॉ० देवसरे को) न मिल जाए। इसके लिए उन्होंने एक निर्णायक तो ऐसा लिया, जो उसका घनिष्ठ मित्र है और जिसे वे अपनी एक किताब भी समर्पित कर चुके हैं, यानी डॉ० कांति कुमार और दूसरे में एक निर्णायक ऐसा चुना, जिसे वे परिषद् से छपाई का काम देते रहते हैं और वह आए-दिन भुगतान लेने के बहाने उनके पास बैठा रहता है और भोपाल में उसका प्रेस है, अर्थात् गौरीशंकर लहरी। इसमें

सचिव यदि अपने प्रकाशक और संरक्षक 'लोकचेतना' के नर्मदाप्रसाद खरे को उपकृत कर दें तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। वैसे संबंध उनके श्रीमती चौहान और मनहर चौहान से भी अच्छे ही हैं।

अब बच रहता है, नाटक। अगर डॉ० अग्निहोत्री से डॉ० शानी नाराज़ हैं तो भी, और नहीं हैं तो भी, यह पुरस्कार डॉ० शंकर शेष को जाना ही चाहिए, क्योंकि श्री शानी भी कहीं तो ईमानदार और निष्पक्ष बने रहना चाहेंगे।

यहाँ हमने शासन साहित्य परिषद् के सचिव की वैयक्तिक रुचियों के संदर्भ में प्रादेशिक साहित्यिक राजनीति का एक तटस्थ विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आशा है, सुधी पाठक हमारे निष्कर्षों को घोषित पुरस्कारों से मिलाकर यह देखने की कृपा करेंगे कि यह विश्लेषण कहाँ तक सार्थक है ? यदि यह सच निकला तो शायद हिंदी का हर पाठक यही कहेगा कि ऐसे महत्त्वपूर्ण पद पर किसी गंभीर और अनुभवी व्यक्ति को बिठाया जाना चाहिए, जो साहित्य और संस्कृति का मर्म चाहे न समझता हो, पर प्रशासन और गोपनीयता का अर्थ ज़रूर जानता हो और वाचालता ओर बड़बोलेपन से ऊपर हो।

यह आलेख छद्म नाम डी०के०टी० यानी दुष्यन्त कुमार त्यागी द्वारा उस वर्ष लिखा गया जब चर्चित उपन्यास 'काला जल' के कथाकार शानी म०प्र० शासन साहित्य परिषद् के सचिव नियुक्त हुए। 'आधे-अधूरे' नाटक इससे पूर्व प्रकाशित हो चुका था।

मध्य प्रदेश के चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश
ग़लत-सही रास्ते

चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश की समस्या राज्य के लिए शुरू से ही उलझनें और परेशानियाँ पैदा करती आई है। इसी प्रश्न को लेकर पिछले मुख्यमंत्री को गंभीर विवादों, प्रवादों और आलोचनाओं से गुज़रना पड़ा और इसी को लेकर जन-सामान्य के असंतोष की चर्चा बहुत दिनों तक अख़बारों की सुर्ख़ियों का विषय बनी रही। यहाँ तक कि मुख्यमंत्री के पतन पर टिप्पणी करते हुए हिंदी के एक प्रसिद्ध पत्र ने चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश को भी उनके पतन का एक कारण बताया।

वस्तुस्थिति जो भी हो, परंतु यह सच है। चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश को लेकर राज्य शासन को विधानसभा से लेकर न्यायालय तक में सफ़ाई देनी पड़ी है। और अभी भी एक ऐसा मुक़दमा सरकार के विरुद्ध चल रहा है, जिसमें एक स्वतंत्रता सेनानी ने मुख्यमंत्री द्वारा विशेषाधिकार के उपयोग को कानूनी चुनौती दी है।

संविद् शासन में और उससे भी पहले जब प्राप्तांकों के आधार पर चिकित्सा महाविद्यालयों में दाख़िले होते थे, ये बातें कुछ दबी और ढकी रहती थीं। परंतु ज्यों-ज्यों प्रवेश की अनियमितताएँ बढ़ती गई और ज्यों-ज्यों मुख्यमंत्री द्वारा अपने विशेषाधिकार का प्रयोग बढ़ता गया, त्यों-त्यों लोग शासन की निष्पक्षता पर शक करते गए। अतः सन् 1960 से चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए प्रतियोगी परीक्षा प्रारंभ की गई। दरअसल कई कारणों से भी प्रवेश-परीक्षा का आयोजन ज़रूरी हो गया था। पहले दाख़िले इंटरमीडिएट और बी०एस-सी० प्रथम भाग की परीक्षा में प्राप्त अंकों के आधार पर होते थे। परंतु, चूँकि ये दोनों परीक्षाएँ दो अलग-अलग संस्थाओं अर्थात् विश्वविद्यालय और बोर्ड द्वारा संचालित होती थीं, अतः उनमें प्रतिमान-भेद रहता था। फिर विभिन्न विश्वविद्यालयों की परीक्षा-प्रणाली एक होने के बावजूद उनके परीक्षण-पैटर्न अथवा मार्किंग-स्टैंडर्ड अलग-अलग होते थे। तीसरे, अन्य राज्यों की तरह म०प्र० में प्रतियोगी परीक्षा न होने के कारण उन मेधावी छात्रों को जो किसी कारणवश परीक्षा में अच्छे नंबर नहीं ला पाते थे, यह शिकायत बनी रहती थी कि उन्हें अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाने का अवसर नहीं मिला। इसके अलावा भी प्रतिस्पर्द्धा की स्वस्थ भावना के विकास और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रशासन के प्रति जन-सामान्य में आस्था पैदा करने के लिए यह

बड़ा शुभ क़दम था। और इसका आमतौर पर स्वागत किया गया।

परंतु आम जनता में इस विश्वास का बोध ज़्यादा दिनों तक नहीं रह सका। जैसा कि सब लोग जानते हैं, राज्य के महाविद्यालयों की कुल क्षमता 720 है और उसमें— 15% अनुसूचित जातियों, 15% अनुसूचित जनजातियों, 3% स्वतंत्रता सेनानियों, 3% सैनिकों और 3% भारत सरकार के प्रत्याशियों के लिए सुरक्षित सीटें हैं। यानी इस प्रकार कुल 40% के लगभग सुरक्षित सीटें निकल जाने के बाद शेष सीटों के लिए सामान्य वर्ग के प्रत्याशियों में बड़ी स्पर्धा होती है और इसमें छात्रों से भी अधिक दिलचस्पी उनके अभिभावक लेते हैं। अतः स्वाभाविक ही है कि वे यह अपेक्षा करें कि चिकित्सा महाविद्यालयों की इन गिनी-चुनी सीटों के लिए जो भी छात्र चुने जाएँ, वे सर्वथा योग्य और निर्विवाद हों।

परंतु सन् 1970 में शासन ने स्वतंत्रता सेनानियों, सैनिकों और जनजाति क्षेत्रों को उनके लिए आरक्षित 3 प्रतिशत कोटे अर्थात् 21-21 सीटों के स्थान पर 25-25 सीटें मिलीं, फलस्वरूप सामान्य सीटों की संख्या में भारी कमी हुई। इस कमी की भरपाई के लिए 117 सीटें और बढ़ा दी गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि 720 के स्थान पर 837 छात्रों को प्रवेश देना पड़ा, जो महाविद्यालयों की प्रवेश-क्षमता से कहीं अधिक था।

इस प्रकार एक ग़लती को रोकने के लिए दूसरी और दूसरी को रोकने के लिए तीसरी ग़लती की गई और ये ग़लतियाँ जन-सामान्य की दृष्टि से छिपी न रह सकीं। सबसे ज़्यादा आलोचना उन तीन प्रतिशत सीटों को लेकर हुई, जो आदिम जाति क्षेत्रों के लिए सुरक्षित थीं, पर जिनमें सामान्य नागरिकों के बच्चों को भर दिया गया था।

ग़लती करके उसे सुधार लिया जाता नो भी शायद वह निभ जाती, परंतु 1970 के बाद 1971 में फिर वही ग़लती दुहराई गई और म०प्र० से अधिक अन्य राज्यों के और विशेष रूप से उत्तर प्रदेश के छात्रों को चिकित्सा महाविद्यालयों में भरा गया, यानी कुल मिलकार 55 छात्र दूसरे राज्यों के लिए गए। इसी प्रकार स्वतंत्रता सेनानियों को भी 3 प्रतिशत के बजाय 6 प्रतिशत सीटें दी गई, जिससे सामान्य व्यक्ति का असंतोष वढ़ता गया। पत्रकारों ने इसे नेता को संतुष्ट कर जनता में असंतोष फैलाने की नीति कहा, जिसका वही परिणाम हुआ, जो होना चाहिए था।

शासन ने 15 अगस्त, 1970 के पुनीत दिवस पर एक आदेश पारित किया, जिसके द्वारा कुछ वर्गों के लिए न्यूनतम अंक-सीमा 30 प्रतिशत और कुछ के लिए 20 प्रतिशत कर दी गई। इसी आदेश के अंतर्गत ऐसे वर्गों के लिए, चाहे वे प्रत्येक विषय में पास न हुए हों या किसी एक विषय में उन्हें एक भी अंक क्यों न प्राप्त हुआ हो, परीक्षा और प्रतियोगिता की सारी औपचारिकता उठा ली गई। परिणामस्वरूप पूरी पूर्व चिकित्सा परीक्षा प्रणाली एक मज़ाक़ बनकर रह गई।

लोग आश्चर्य में पड़ गए कि जब केवल 333 छात्रों ने प्राप्तांकों के आधार पर प्रवेश की अर्हता प्राप्त की, तब 837 छात्रों को प्रवेश कैसे दिया गया ? परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित 333 छात्रों के अलावा ये 504 छात्र और कहाँ से आ गए ?

इस प्रकार जनता में संशय और अविश्वास की जड़ें, जो पहले से ही विद्यमान थीं, और गहरी होती गईं और बहुत ज़ोरों से यह माँग उठने लगी कि चिकित्सा महाविद्यालयों में यह धाँधली और पक्षपात बंद किया जाए। लेकिन शासन इस या उस बहाने इस माँग की उपेक्षा करता रहा है।

अब शायद पहली बार नए मुख्यमंत्री श्री प्रकाशचंद्र सेठी ने इस प्रश्न की सार्थकता और औचित्य को स्वीकार किया है और कुछ साहसपूर्ण निर्णय लिए हैं। उदाहरणार्थ, पहला तो यह कि श्री सेठी ने अपने अधिकार की वे तीन प्रतिशत अर्थात् 21 सीटें, जिनको अब तक मुख्यमंत्री के संकेत पर भरा जाता था, पी०एम०टी० बोर्ड को सौंप दीं और यह निर्देश दिए कि इन सीटों को स्वतंत्रता सेनानियों के बालकों में से मेरिट या श्रेष्ठता के आधार पर भरा जाए। दूसरा यह कि श्री सेठी ने आदिम जाति क्षेत्रों के लिए आरक्षित उन तीन प्रतिशत सीटों को मनमाने ढंग से भरने का अधिकार भी स्वेच्छापूर्वक त्याग दिया, जो आज तक आलोचना और विवाद का विषय रहा है। नियम क्र० 6 (4) के अंतर्गत तीसरा यह कि श्री सेठी ने मुख्यमंत्री की हैसियत से प्रवेश के मामले में अपने अधिकार का दुरुपयोग तो दूर, उपयोग तक करने से इंकार कर दिया और बोर्ड के मामले में हस्तक्षेप की नीति सिरे से बंद कर बोर्ड के लिए एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया, जिससे कि छात्र, अधिकारी और कर्मचारी सभी एक आदर्श में बँधकर रह गए।

इसी का परिणाम है कि चिकित्सा महाविद्यालयों में सन् 1972 का चयन सैद्धांतिक आधार पर हुआ है और लोगों को अभी तक सेठी जी की ईमानदारी और निष्पक्षता की तरफ़ उँगली उठाने का मौक़ा नहीं मिला है। अतः यह आशा करना अच्छा लगता है कि श्री सेठी के प्रति जनता में जो विश्वास जाग्रत हुआ है, वह इस बार खंडित नहीं होगा।

(1972-73 में)

भ्रष्टाचार का हाथी और एक छोटा-सा अंकुश

सुबह का अख़बार उठाते ही नज़रें एक शीर्षक पर अटक जाती हैं—'प्रसूतिगृह का नवनिर्मित भवन उद्घाटन के पूर्व ही गिर गया।' सहसा मन जाने कैसी कड़वाहट से भर उठता है। आगे पढ़ने की इच्छा नहीं होती। फिर भी एक उचटती हुई-सी नज़र उस समाचार पर पड़ती है तो यह जानकर और तकलीफ़ होती है कि इस भवन के निर्माण के लिए उस गाँव की एक महिला ने अपनी संचित पूँजी में से पाँच हज़ार रुपए दिए थे।

सोचता हूँ तो लगता है कि यह तथा आए-दिन घटने वाली ऐसी अन्य हज़ारों घटनाएँ लोक निर्माण विभाग का चरित्र बन चुकी हैं। दरअसल अब इन पर आश्चर्य नहीं होता। आश्चर्य तब होता है, जब किसी कार्य से लोक निर्माण विभाग की कर्तव्यपरायणता या दक्षता सिद्ध होती है। परंतु दुर्भाग्य से ऐसे अवसर ज़्यादा नहीं होते।

उधर जन-सामान्य में यह धारणा बद्धमूल हो चली है कि लोक निर्माण विभाग भ्रष्टाचार का पर्याय है। उसके कर्मचारियों की दक्षता और ईमानदारी संदिग्ध है। उनमें ज़िम्मेदारी और निष्ठा का अभाव है और उनका नैतिक विवेक कुंठित हो गया है। यहाँ तक कि अन्य विभागों के शासकीय कर्मचारी भी लोक निर्माण विभाग के कर्मचारियों को कुबेर का वंशज मानते हैं और उन्हें अपने से ऊँचे और विशिष्ट आय-वर्ग का प्राणी समझते हैं।

ठेकेदारों और इंजीनियरों की साँठ-गाँठ और उनके परिणामस्वरूप निर्माण-कार्यों में होने वाली क्षति के संबंध में जनता में बहुत-से प्रवाद प्रचलित हैं, लेकिन एक तकनीकी हौवे के कारण जनता और उसके प्रतिनिधि बहुत खुलकर ज़्यादा कुछ नहीं बोल पाते। फिर भी विधानसभा से लेकर मंत्रिमंडल तक की बैठकों में यह प्रश्न बार-बार उठा है कि लोक निर्माण विभाग की 'इमेज' बिगड़ती जा रही है और यांत्रिक तथा निर्माण-कार्यों की गति और प्रगति से आम जनता संतुष्ट नहीं है।

जबकि सरकार को इस प्रश्न पर सोचना चाहिए था। सरकार विधायकों का मुँह बंद करने में लगी रही और प्रश्न समाधान का मुहताज बना रहा। भ्रष्टाचार की कहानियाँ अमर बेल की तरह बढ़ती रहीं। अफ़सरशाही फलती-फूलती रही। जनता का

पैसा ठेकेदारों की जेब में जाता रहा और सारे विचार-विमर्श और बहस-मुबाहसे के बावजूद समस्या ज्यों की त्यों बनी रही।

इसी बीच प्रादेशिक सभा में श्री प्रकाशचंद सेठी का प्रवेश हुआ और अपनी खुली आँखों और साफ़ दृष्टि से उन्होंने देखा कि भ्रष्टाचार की लताएँ वल्लभ भवन की आख़िरी मंज़िल तक चढ़ आई हैं और उनकी शाखाएँ और प्रशाखाएँ दूर-दूर तक फैली हुई हैं।

चाहते तो और मुख्यमंत्रियों की तरह श्री सेठी भी इस प्रश्न से कतराकर निकल सकते थे, लेकिन समस्याओं से सीधे जूझने के अभ्यस्त श्री सेठी ने इस भ्रष्टाचार को अपने लिए एक चुनौती माना। इसलिए उन्होंने इस समस्या के समाधान के लिए किसी आयोग की स्थापना नहीं की, न कोई कमेटी बनाई। बस, अपने साथियों से औपचारिक विचार-विमर्श किया और शासन के एक वरिष्ठ और अनुभवी सचिव को प्रशासनिक सुधार और सतर्कता का सचिव नियुक्त कर यह ज़िम्मेदारी सौंप दी कि वह निर्माण और यांत्रिक कार्यो में गुणात्मक सुधार करने के साथ ही भ्रष्टाचार दूर करने की दिशा में भी रचनात्मक सुझाव दे।

फलस्वरूप प्रशासनिक सतर्कता के अधीन मुख्य तकनीकी परीक्षक का सतर्कता कोष्ठ अस्तित्व में आया। चूँकि शासन और जनता दोनों ही बहुत दिनों से यह महसूस कर रहे थे कि इंजीनियरी कार्यो जैसे बाँध, सड़कें, पुल, भवन आदि के निर्माण में गुणात्मक दृष्टि से गिरावट आती जा रही है और प्रशासनिक स्तर पर उनमें बहुत घपले हो रहे हैं, अतः मुख्य तकनीकी परीक्षक को एक ओर जहाँ तकनीकी ऑडिट का कार्य दिया गया, वहीं स्थल-निरीक्षण द्वारा क्वालिटी कंट्रोल अर्थात् गुणवत्ता नियत्रण का महत्त्वपूर्ण दायित्व भी सौंप दिया गया। जनता में एक सामान्य धारणा यह थी कि भ्रष्टाचार नीचे से लेकर ऊपर के काफ़ी वरिष्ठ अधिकारियों तक व्याप्त है, इसलिए चीफ़ इंजीनियर के पद पर कार्यरत श्री के०एस० बंसल सरीखे वरिष्ठ और निर्विवाद व्यक्ति को मुख्य तकनीकी परीक्षक के पद पर नियुक्त किया गया, ताकि वे बड़े से बड़े भ्रष्ट अधिकारी पर सक्षम और प्रभावशाली ढंग से प्रहार कर सकें। और लोक निर्माण विभाग के अलावा सिंचाई तथा लोक स्वास्थ्य विभाग भी इस सतर्कता कोष्ठ के सेवाधिकार में दे दिए गए। परिणामस्वरूप इन विभागों पर नज़र रखने के लिए कार्यपालक इंजीनियर तथा अधीनस्थ तकनीकी कर्मचारियों के साथ एक-एक अधीक्षक स्तर का अधिकारी भी मुख्य तकनीकी परीक्षक से संवद्ध किया गया, जो उनके निर्देशानुसार अपने विभाग के कार्यकलापों का सूक्ष्मावलोकन और तकनीकी परीक्षण कर सके।

अभी इस कोष्ठ की स्थापना हुए ज़्यादा समय नहीं हुआ। इसकी स्थापना शायद जुलाई-अगस्त में सामान्य प्रशासन विभाग के अंतर्गत हुई थी और अभी भी लोक

स्वास्थ्य विभाग से एक अधीक्षण यंत्री की प्रतिनियुक्ति शेष होना बाकी है, इसलिए इस लेख में उसका मूल्यांकन मेरा उद्देश्य नहीं है, परंतु इसके अलावा ठेकेदारों और तकनीकी इलाकों में इसका जो आतंक फैलना शुरू हुआ है, वह ज़रूर एक दिलचस्प घटना है। इसकी पुष्टि कुछ ही दिन पूर्व ईंटों के एक ठेकेदार से हुई। थोड़ी आत्मीयता के नाते धीरे-धीरे उसने बताया कि सारे अफ़सर पटे-पटाए थे। ईंटें बिक रही थीं, पेमेंट हो रहे थे, पर क्या करें, बीच ही में सी०टी०ई० मुख्य तकनीकी परीक्षक ने रेड़ मार दी।

मुझे फ़ौरन अहसास हुआ कि समाचार-पत्रों में इस तरह के समाचार नहीं छपते। छपते होते तो शायद इसका शीर्षक होता—'शासन की सतर्कता से भ्रष्ट ठेकेदार पीड़ित' या 'मुख्य तकनीकी परीक्षक द्वारा घटिया किस्म की ईंटों पर आपत्ति'। ख़ैर, समाचार छपे या न छपे, यह ज़रूर ख़ुशी की बात है कि अब निर्माण-कार्यों में भ्रष्टाचार पर किसी की नज़र है।

यही नहीं, इस छोटे-से विभाग ने इस थोड़ी-सी अवधि में उज्जैन, भोपाल, देवास, गयसेन, सागर, दमोह, जबलपुर, सिवनी, छिंदवाड़ा, बैतूल और होशंगाबाद आदि स्थानों के अनेक भवनों का निरीक्षण किया। जिसके परिणामस्वरूप अधीक्षण इंजीनियर से लेकर सहायक इंजीनियर तक के स्तर के चार अधिकारी निलंबित हो चुके हैं और जाने कितने ऐसे आदेशों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिन्होंने उज्जैन के नवनिर्मित भवनों की तकनीकी दृष्टि से निरीक्षण किया है, वे बताते हैं कि वहाँ 'हनीकॉम्बिंग' और 'वर्कमेनशिप' की ग़लतियाँ पाई गई हैं, फलस्वरूप वहाँ के कार्यपालक इंजीनियर को निलंबित कर दिया गया है।

लेकिन निलंबन हर अपराध की सज़ा नहीं है। अभी सुनने में आया है कि तवा सिंचाई परियोजना के बाँध में जिसे 'रैप एराउंड' कहते हैं, ख़ासी बड़ी दरार पड़ गई है और उसका कुछ हिस्सा बह गया है। जानकारों का अनुमान है कि इससे शासन को लगभग चार लाख रुपए की क्षति हुई है, परंतु वर्षा ऋतु से पहले यदि बाढ़ के पानी के निकास का उचित प्रबंध किया जाता तो यह क्षति रोकी जा सकती थी।

सतर्कता कोष्ठ के युवा अधीक्षण इंजीनियर श्री हीरानंद ने इसका निरीक्षण कर अपनी रिपोर्ट शासन को दे दी है और आशा तथा अपेक्षा की जाती है कि शासन शीघ्र ही उस पर निर्णय लेगा, क्योंकि देश की समूची प्रगति के संदर्भ में हमारा राज्य आज जिस जगह है, वहाँ से यदि एक लंबी छलाँग शीघ्र न लगाई गई तो यह तय है कि हम अन्य राज्यों की तुलना में बहुत पीछे रह जाएँगे। नवनिर्मित इमारतें गिरती रहेंगी और जनता का मनोबल टूटता जाएगा।

अभी शहडोल में जिस पचास फुट लंबे पुल पर स्लैब पड़ा था, वह मय सैंटरिंग के नीचे आ गिरा। परिणामस्वरूप तीन व्यक्तियों की जानें गईं और छह व्यक्ति घायल

हुए। शासन का हज़ारों-लाखों रुपयों का नुकसान हुआ और फिर से पुल बनाने में जो लागत और समय नष्ट होगा, वह अलग। मुख्य तकनीकी परीक्षक की रिपोर्ट पर कुछ अधिकारियों के विरुद्ध कार्यवाही की गई है और शायद कुछ और के विरुद्ध भी की जाए, परंतु यह प्रश्न अपनी जगह है कि आख़िर इन तकनीकी कर्मचारियों में दायित्व-बोध कब जागेगा ?

आप चाहें इसका कोई आशावादी उत्तर खोज लें, पर मैं समझता हूँ कि ये लोग सिर्फ़ भय की भाषा समझते हैं और जिस दिन सतर्कता-बोध अपनी पूरी सतर्कता और क्षमता से कार्य करने लगेगा, उस दिन ज़रूर इनमें दायित्व-बोध जाग्रत होगा और ये दुर्घटनाएँ विरल हो जाएँगी।

बधाई देना चाहते हैं फिलहाल हम श्री सेठी को कि उन्होंने प्रभावों और दबावों से ऊपर उठकर एक क़दम उठाया और सतर्कता कोष्ठ को आगाह करना चाहते हैं कि अब इस पर पैसे और प्रभावों का ज़ोर पड़ने ही वाला है। वैसे हम आश्वस्त हैं कि नेकनीयती के साथ उठाया हुआ अकेला क़दम भी कामयाब ज़रूर होता है। बक़ौल किसी शायर के :

हम अकेले ही चले थे जानिबे मंज़िल मगर
लोग साथ आते गए और कारवाँ बनता गया।

(सभावित रचनाकाल - 1972-73)

एक साहित्यिक प्रतिक्रिया

23 मार्च, 1975 के 'दिनमान' के अंक में प्रकाशित श्रीकांत वर्मा की रपट 'कला में राजनीतिक हस्तक्षेप' वस्तुतः कला में अफ़सरी हस्तक्षेप की हिमायत है। श्री श्रीकांत वर्मा सरकारी कला परिषद् के निमंत्रण पर कई बार भोपाल आ चुके हैं और 2500 रुपए की सम्मान राशि भी प्राप्त कर चुके हैं। स्वाभाविक है कि वे केवल उन्हीं ब्योरों से परिचित हैं, जो उन्हें उनके मित्र और कला परिषद् के सचिव श्री अशोक वाजपेयी (आई०ए०एस०) से प्राप्त हुए हैं। तस्वीर का दूसरा रुख़ जानने की उन्होंने कभी कोशिश ही नहीं की।

यदि श्रीकांत वर्मा पिछले दिनों राजधानी भोपाल के पत्रों में प्रकाशित विचारों को ही पढ़ लेते तो उनकी यह ग़लतफ़हमी दूर हो जाती कि अशोक वाजपेयी म०प्र० में कला के अकेले ठेकेदार हैं। श्रीकांत वर्मा अच्छी तरह जानते हैं कि उत्सव की सफलता के पीछे म०प्र० के सभी कलाकारों का सहयोग था, किंतु इस सफलता के बाद जो भारी बजट और अफ़सरी अधिकार वाजपेयी को प्राप्त हुए, उसी के अभिमान में अशोक निरंतर निरंकुश और स्वेच्छाचारी होते चले गए। यही कारण है कि आज उनके अतिरिक्त जो सरकारी नौकरी में फँसे हैं, अशोक वाजपेयी के साथ कोई नहीं है।

यह आकस्मिक नहीं है कि इसी संकीर्ण स्वेच्छाचारी मनोवृत्ति के तहत कला परिषद् के पिछले समस्त आयोजन साहित्यिक मित्रों और रिश्तेदारों को मदद पहुँचाने तथा समानांतर संस्थाओं, व्यक्तियों एवं कलाकारों को कुचल डालने के उद्देश्य से किए गए हैं। इसीलिए आज उनके समर्थकों की संरचना दिल्ली में हो सकती है, मगर मध्य प्रदेश में नहीं। अगर लोग यह कहते हैं कि अशोक ने म०प्र० की संस्कृति को दिल्ली में गिरवी रख दिया है तो ग़लत क्या है ? आख़िर कला परिषद् के इतने बड़े बजट का कितना प्रतिशत दिल्ली के निहित स्वार्थ वाले एक वर्ग में बँट रहा है !

श्री श्रीकांत वर्मा की यह टिप्पणी एक सरकारी विज्ञापन से अधिक कुछ नहीं है। विरोध के जो मुद्दे उन्होंने खड़े किए हैं, उन पर हमारी नज़र नहीं रही। हमारी नज़र तो म०प्र० की उस सांस्कृतिक नीति पर है, जो सचिव की व्यक्तिवादिता के कारण परिषद् के माध्यम से हो रही है।

(रचनाकाल : 1975)

लतीफ़े

दर्दे-सर

बंबई में महावीर अधिकारी दुष्यन्त कुमार को लेकर धर्मवीर भारती के घर पहुँचे और बोले, "यह तुमसे मिलने के लिए बहुत व्यग्र था, लो सँभालो अपने मेहमान को।"

"मगर तुम कहाँ चले ?" भारती ने पूछा।

"मेरे सर में अचानक दर्द उठ खड़ा हुआ है, मुझे जाकर एस्प्रो लेनी होगी।" अधिकारी गंभीर हो गए।

भारती ने उठकर दुष्यन्त को गले लगा लिया। बोले, "आज तक जिससे अधिकारी मिलते थे, उसके सर में दर्द होता सुना गया था। आज पहली बार तुम उनसे मिले और उनके सर में दर्द हो गया। मानते हैं तुम्हें।"

शिकायत का जवाब

कमलेश्वर की देखा-देखी उनकी बिटिया मानू भी अपनी अम्मा को गायत्री कहकर पुकारने लगी। यह बात गायत्री को नागवार गुज़री तो उन्होंने कमलेश्वर से शिकायत की, "देखिए, आप मुझे गायत्री-गायत्री कहते रहते हैं न, इसलिए मानू भी मुझे गायत्री ही कहने लगी है।"

"तो गायत्री, मानू के कारण मैं तुम्हें मम्मी तो कहने से रहा।" कमलेश्वर ने निहायत संजीदगी से उत्तर दिया।

सही उत्तर

मन्नू भंडारी दिल्ली विश्वविद्यालय में अपने इंटरव्यू की बातें बता रही थीं, "मुझसे पूछा गया, आखिर मोहन राकेश की कहानियों में ऐसी क्या बात है, जिसके कारण वे जीवित रहेंगी ?"

राकेश ने बात पकड़ ली और फौरन राजेन्द्र यादव पर छींटाकशी शुरू कर दी, "देखा प्यारे, अब हम मास्टर्स की श्रेणी में पहुँच गए। यूनिवर्सिटीज़ तक में हम पर प्रश्न पूछे जाने लगे हैं। और तुम, तुम ही रहे..."

"यार, बात तो पूरी हो जाने दे।" राजेन्द्र ने झुँझलाकर कहा और मन्नू से पूछा, "हाँ जी, तुमने क्या उत्तर दिया ?"

"मैंने कहा, ऐसी कोई बात नहीं है।" मन्नू बोलीं और एक ज़ोरदार ठहाके से क़मरा गूँज उठा।

(10 अक्तूबर, 1965 के 'धर्मयुग' साप्ताहिक मे प्रकाशित)

प्रतिक्रिया

मध्य प्रदेश का एक साप्ताहिक पंडित द्वारिकाप्रसाद मिश्र की बहुत आलोचना किया करता था, किंतु मिश्र जी ने अपने स्वभाव के अनुसार कभी उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। आख़िर प्रतिक्रिया जानने की उत्सुकता से उसके संपादक एक दिन एक परिचित सज्जन के साथ मिश्र जी के पास जा पहुँचे। मिश्र जी ने उनके अख़बार के विपय में एक शब्द भी न कहा। आख़िर जब बातचीत ख़त्म करके उठने को हुए तो सपादक महोदय से न रहा गया और उन्होंने पूछ ही लिया, "पंडित जी, आप मेरा साप्ताहिक तो देखते ही होंगे ! कोई सुझाव···?"

मिश्र जी गंभीरतापूर्वक बोले, "आप उसे दैनिक कर दीजिए।"

आलोचना का कार्य

धनंजय वर्मा गंभीरतापूर्वक मेरी पत्नी को भाषण दे रहे थे, "लोगों ने साहित्य को मजाक बना रखा है। आलोचना के क्षेत्र में तो यह अराजकता सबसे अधिक है। हर आदमी एक लेख लिखकर आलोचक बन जाता है। मगर मैं कहता हूँ भाभी जी, कि आलोचना का कार्य कोई हँसी-खेल नहीं है।"

"यही तो मैं आपसे कई वार कह चुकी हूँ।" श्रीमती जी का उत्तर था।

दूरअंदेशी

श्री मुमताजुद्दीन (भू०पू० सेक्रेटरी, बोर्ड ऑफ सेकेंडरी एजूकेशन) एक बार मोटर से कहीं जा रहे थे कि रास्ते में एक गॉव के पास उनकी मोटर खराब हो गई। श्री मुमताजुद्दीन बहुत परेशान हुए। गाड़ी को बहुत धकेला, मगर वह स्टार्ट न हुई। उसी समय गॉव का एक बुज़ुर्ग आदमी अपनी पत्नी के साथ उधर आ निकला और उसने वडी सहानुभृति से अपनी भापा में पूछा, "क्या हुआ वाबूजी ?"

"गाडी चलती नहीं।" मुमताजुद्दीन साहब ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

"कितने की हे ये गाड़ी ?" किसान ने अगला प्रश्न किया।

"पंद्रह-सोलह हज़ार की।" मुमताजुद्दीन साहव ने जवाब दिया।

किसान ने आश्चर्य से आँख फाड़कर पहले गाड़ी की ओर, फिर अपनी पत्नी की ओर देखा और बड़ी गंभीरता से बोला, "कैसे-कैसे अनाड़ी लोग हैं इस दुनिया में भी ? अरे, जहॉ पंद्रह हज़ार की गाड़ी खरीदी थी, वहाँ पॉच सौ रुपए के बैल भी खरीद लेते, तो आज ये दिन काहे को देखना पड़ता ?"

सरकारी कानून

एक बार हरिशंकर परसाई भोपाल आए तो मैंने उन्हें अपने घर सुबह के भोजन पर बुलाया। खाने के बाद परसाई ने कहा, "अब मैं चलूँगा, फिर तुम्हें भी दफ़्तर जाना है।"

"तुम्हें क्या काम है, तुम भी साथ चलो।"

"नहीं, मैं ज़रा आराम करूँगा।"

"तो क्या हुआ," मैंने सुझाव दिया, "वहीं आरामकुर्सी पर लोट लगाना।"

परसाई गंभीर हो गए। बोले, "लगता है तुम्हें सरकारी नौकरी के क़ायदे-कानून मालूम नहीं हैं। पार्टनर, सरकार में सोने की बेशक मुमानियत नहीं है, मगर दफ़्तर में वही सो सकता है, जिसे सरकार से तनख़्वाह मिलती हो। मैं कोई सरकारी कर्मचारी थोड़े ही हूँ।"

(17 अप्रैल, 1966 के 'धर्मयुग' साप्ताहिक मे प्रकाशित)

रूपक

प्रॉमिज़ पक्का

[प्रारंभिक संगीत पर टेलीफ़ोन की घंटी बजती है।]

अधीर : जी, मैं प्रस्तुत हूँ।

नारी-स्वर : नहीं-नहीं, प्रस्तुत जी से नहीं, अधीर जी से बातें करना है। उनका फ़ोन नंबर है 313—यही है न ?

अधीर : जी, ये शत-प्रतिशत त्रियोदश त्रय ही है। अर्थात् मातृभाषा विस्तार कार्यालय, योग्य सेवा हेतु प्रस्तुत हूँ।

नारी-स्वर : ओफ़ फोह···प्रस्तुत Again, अरे, अधीर जी से बातें करना है। अधीर, The editor, the Poet यानी कवि, कवि।

अधीर : सेवक उपस्थित है।

नारी-स्वर : No servant, अपने मालिक को बुलाओ। कहा ना कि अधीर जी से बातें करना माँगता है।

अधीर : देवि, मैं अधीर ही ध्वनि संलाप हेतु प्रस्तुत हूँ।

नारी-स्वर : ओह, फिर प्रस्तुत। प्रस्तुत जी को भगाइए।

अधीर : देवि, आप संभवतः भ्रमित हुई हैं। मेरा तात्पर्य था कि मैं ही अधीर हूँ···कवि अधीर 'मातृभाषा विस्तार' का संपादक···

नारी-स्वर : ओह, Very sorry. माफ़ कीजिए, मैंने नहीं पहचाना था। मैं यानी I, I am your fan यानी मैं आपकी कविताओं की तारीफ़···तारीफ़ I mean praise.

अधीर : भावनाएँ स्वयं संचारित होती हैं देवि ! मौन की भी एक भाषा है—आपके स्वर का एक-एक गत्यावरोध आपकी भावनाओं को मुझ तक प्रेषित कर रहा है···मैंने आपका आशय ग्रहण किया···मेरी रचनाओं ने···मेरी गहन पीड़ित अनुभूतियों के क्षण शिशुओं ने आपके मर्म को स्पर्श किया···यही मेरे कवि जीवन की चरम सार्थकता है···आपको वे रुचिकर लगीं···

नारी-स्वर : ओह, No, रुचिकर नहीं···No रुचिकर, पसंद आई···बहोत पसंद आई··· तुम बोत fine poet है। Excuse me आप बहुत Fine poet हैं।

अधीर : ''मेरा अहो भाग्य, किसी नारी ने आज मेरी प्रशंसा की''मेरा तो यह सदैव से निश्चित मत रहा है कि नारी में शृंगार के अतिरिक्त काव्य के अन्य रसों की भावक शक्ति ही नहीं होती। मैं तो देवि''जीवन का कवि''जीवन रस का कवि हूँ। क्लांत एवं पराजित हृदयों का प्रेरणास्रोत हूँ''वसुंधरा के प्रत्येक परिपार्श्व ने इस तुच्छ अधीर की प्रशंसा की, किंतु समाज का दुर्भाग्य''कि उनमें नारी नाममात्र को भी न थी, आज अपने प्रशंसकों की सूची में आप सदृश परम विदुषी एवं मेधावी नारी का नाम अंकित कर मैं कृतकृत्य हुआ''एवं नारी मात्र के प्रति विद्वेष की एक जटिलतम ग्रंथि को पुष्ट करते-करते रह गया। आज मुझे विश्वास हुआ कि भारतीय समाज में गार्गी, अनुसूया, लीलावती एवं शन्नो जैसी परम तपस्विनी महिलाओं की परंपरा को अक्षुण्ण रखने वाली नारियाँ अभी भी विद्यमान हैं।

नारी-स्वर : What do you mean Mr. Adheer, मैं समझी नहीं।

अधीर : नहीं-नहीं''प्रशंसा नहीं''आत्मश्लाघा भी नहीं। यह मेरे अंतस के उद्‌गार हैं। देवि''मैं धन्य हुआ। क्या मैं आपका शुभ नाम ज्ञात करने की दृष्टता कर सकता हूँ ?

नारी-स्वर : दुष्टता ! किस माफ़िक की दुष्टता ?

अधीर : दुष्टता नहीं देवि''दृष्टता''उद्दंडता''मुझे इतना अधिकार तो प्रदान करोगी न कि मैं आपके शुभ नाम से परिचित हो सकूँ''

नारी-स्वर : आपके नहीं मिस्टर अधीर''तुम्हारे, After all I am your fan, please Mr. Adheer, मुझे आप मत कहिए।

अधीर : ऐंह'''(ख़ुशी के स्वर में) नहीं''नहीं''कदापि नहीं, तुम्हारी भावनाओं के मूल्य का आकलन कवि नहीं करेगा तो और कौन करेगा देवि। मैं तुम्हारे अंतस के स्पंदन को इस निर्जीव ध्वनि यंत्र पर भी स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ। तुम्हारा निवेदन मुझे स्वीकार है''किंतु''किंतु देवि, तुम्हें भी अपने इस प्रिय कवि को 'तुम' ही कहकर संबोधित करना पड़ेगा, बोलो, स्वीकार है ?

नारी-स्वर : ओह, Poet Adheer, सच। मैं कितनी Lucky हूँ। Dear, My Sweet heart, तुम''तुम कितने अच्छे हो''

अधीर : आह ! कितना सुख''कितनी शांति''एक-एक शब्द में कैसा प्रेम, कैसा मोह''कैसी तंद्रा''लगता ही नहीं कि हमारा मिलन अभी चार क्षण पूर्व हुआ है। प्रतीत होता है कि विधि ने अपने अदृश्य करों से युग-युगांतरों

पूर्व हमें इसी प्रकार संयुक्त कर दिया था, जिस प्रकार इस निर्जीव यंत्र के ध्वनि विस्तारक तार।

नारी-स्वर : ओह, Poet, मैं पागल हो जाऊँगी। मैं सच कहती हूँ, मैं पागल हो जाऊँगी। Really I will go mad.

अधीर : पागल, उन्मत्त-विक्षिप्त···तुम नहीं, मैं हो गया देवि···मैं हो गया।

नारी-स्वर : Please Mr. Adheer, पापा Coming, अच्छा, फिर मिलूँगी, Good bye.

[टेलीफ़ोन रखने की ध्वनि]

अधीर : आह···चली गई···कभी-कभी जाने ऐसा क्यों होता है कि एक क्षण का परिचय एक युग की पहचान प्रतीत होने लगता है—

[गुनगुनाने लगता है]

क्षण-भर की पहचान तुम्हारी
जीवन का वरदान बन गई।
तुम तो न थीं
मात्र आती थी
ध्वनि इन विस्तारक तारों पर,
क्षण-भर की पहचान
रख गई मेरा जीवन अंगारों पर,
मेरी नौका
मेरी धारा
मुझको ही तूफ़ान बन गई।
क्षण-भर की पहचान तुम्हारी
जीवन का वरदान बन गई।

[पृष्ठ संगीत उभरकर Fadeout]

अधीर : अरे भाई रणवीर···ओ रणवीर !

चपरासी : संपादक जी, मैंने कितनी बार कहा, मेरा नाम रणवीर नहीं, जंग बहादुर है।

अधीर : अरे भाई, एक ही बात है—उर्दू का जंग हिंदी में रण हो जाता है और बहादुर वीर—तो तुम्हारा नाम हो गया रणवीर···जाओ। एक प्याला चाय और कुछ धूम्र शलाकाएँ ले आओ।

चपरासी : जी, सिगरेट ?

अधीर : हाँ-हाँ, वही।

[परिवर्तनसूचक संगीत]

मनोहर : सरला ! ओ सरला बहन···

सरला : क्या है मनोहर भैया ?

मनोहर : मिठाई खिलाओ, दीदी !

सरला : मिठाई ! किस बात की मिठाई···आखिर मुझे मालूम तो हो ?

मनोहर : भूल गई—तुमसे शर्त बदी थी न दीदी, कि जीजा जी के सिर से इस क्लिष्ट भाषा का भूत उतार दूँगा।

सरला : हाँ-हाँ, याद है।

मनोहर : बस तो समझ लो कि आधा किला जीत लिया।

सरला : सच मनोहर ! क्या हुआ ? बताओ तो···(स्वर-परिवर्तन) उनकी भाषा के मारे तो नाकों दम है। उन्होंने तो क़सम ले रखी है कि किसी और भाषा का शब्द भी नहीं बोलेंगे, और नतीजा यह होता है कि अकसर उनकी आधी बात भी पल्ले नहीं पड़ती। हर वक़्त घर में चख़-चख़ लगी रहती है। सच भैया, यदि तुम उनकी यह आदत छुड़वा दो तो मुझ पर ही नहीं, सारे परिवार पर, नौकरों-चाकरों पर और यहाँ तक कि मुहल्ले वालों पर भी बड़ा अहसान होगा।

मनोहर : तुम बेफ़िक्र रहो दीदी ! बस मिठाई मँगा रखो और काम हुआ ही समझो। हाँ, एक शर्त है—जैसे-जैसे मैं कहूँगा वैसे ही करना होगा।

सरला : वैसा ही करूँगी भैया ! मंज़ूर है।

(दृश्य-परिवर्तन)

[टेलीफ़ोन की घंटी बजती है]

अधीर : ओह ! तुम हो देवि ! हर क्षण, हर पल, और हर निमिष मैं इस निर्जीव यंत्र के टिनटिना उठने की प्रतीक्षा कर रहा था। एक बार पुनः मेरे हृदतंत्री के तार झंकृत हो उठे हैं देवि···

नारी-स्वर : देवि नहीं, Dear, तुम मुझे सिर्फ़ लिजी कहो।

अधीर : लि···नहीं···हाँ···मातृभाषा में क्या कहेंगे ? (सोचता है)···चंपाकली अहा, कितना सुंदर नाम है।

नारी-स्वर : चंपाकली, I no, No, I hate it. मुझे यह गँवारू नाम पसंद नहीं आया, अधीर Dear !

अधीर : तुम्हें किस भाँति समझाऊँ रूपसी ! कि फूलों में गंध, रूप और रस– प्रत्येक दृष्टि से चंपाकली ही सर्वश्रेष्ठ है।

नारी-स्वर : देखो अधीर Dear, मुझे तुम्हारी कविताएँ जहाँ पसंद हैं वहाँ इस लैंग्वेज़ से बहोत परेशानी होती है। कभी-कभी बिलकुल Understand नहीं कर पाती···जाने तुम क्या कहते हो। सोचती हूँ, जब तुमसे मिलूँगी तो कैसे बात करूँगी ?

अधीर : मिलन ! सुखद मिलन ! कब आएगी वह शुभ घड़ी, सुंदरी ! जब मैं तुम्हारी रेशम-सी कोमल सघन केशराशि के तिमिराहत घन में देदीप्यमान शशिमुख और उस पर हीरक मणियों-सी चित्रित दो झील-सी अनंत गहराइयों वाली आँखों को देखकर अपनी युग-युगांतरों की तृष्णा शांत करूँगा···अब नहीं सहन होती प्रतीक्षा की यह दुस्सह घड़ियाँ···हृदतंत्री के तारों में से केवल एक ही राग फूट रहा है–मिलन···मिलन···मिलन।

नारी-स्वर : अधीर डियर, जाने तुम क्या कह गया ? हम तो कुछ नहीं समझा भई !

अधीर : भाई ?···यह तुम संबंधों को किस दिशा में मोड़ रही हो सुंदरी ?

नारी-स्वर : मैं टेलीफ़ोन रखती हूँ, Dear. मेरी समझ में कुछ नहीं आया। इतना Difficult तो तुम्हारा Poem भी नहीं होता जितना Prose होता है।

अधीर : अरे···रे···! ऐसा अनर्थ मत करना। मेरी लि···चंपाकली, मेरी चंपाकली ! अन्यथा मेरी हृदयगति यहीं रुक जाएगी तथा 'मातृभाषा विस्तार' का जो महती दायित्व मेरे दुर्बल स्कंधों पर है वह अपूर्ण रह जाएगा।

नारी-स्वर : तो फिर कहो Lilly (लिली)।

अधीर : अच्छा-अच्छा, लिली ही सही, किंतु अब तो मेरे भाग्य का निर्णय कर दो देवि ! मिलन की वह शुभ घड़ी कब आएगी ?

नारी-स्वर : Dear, वह घड़ी आज भी आ सकती है, लेकिन तुम इस माफ़िक बोलेगा तो हम तुमसे बात नहीं करेगा, हम लौट जाएगा। अपने पापा को बुला लेगा···वादा करो कि हमसे इस माफ़िक नहीं बात करेगा।

अधीर : स्वीकार देवि ! सब स्वीकार···मिलन की उत्कंठा से मृत्यु भी स्वीकार··· प्रकाश की आशा में अंधकार भी ग्राह्य। तुम्हारे लिए जीवन के संचित पुण्यों का विसर्जन भी वरेण्य। समय और स्थान बताओ। आज, अभी, इसी क्षण–शीघ्र, अति शीघ्र।

नारी-स्वर : तो Promise (प्रॉमिज़) पक्का। अच्छा Dear, रात को आठ बजे···मेरी विला, फाइव एल्फिन्सटन रोड पर ज़रूर आ जाना···मैं ड्राइंगरूम में अकेली रहूँगी।

(दृश्य-परिवर्तन)

[रात का सन्नाटा—सामने समुद्र-लहरों की ध्वनि]

अधीर : अहा ! मिलन के लिए कितना निभृत, कितना एकांत और कितना आदर्श स्थान है यह ! सामने सागर अपनी विशाल क्रोड़ में असंख्य लहरियों के साथ प्रणय का रास रचा रहा है। गगन में चंद्रमा तारिकाओं के मधुर हास्य पर मुग्ध होकर उन्हें किरणों के पाश में आबद्ध कर रहा है और अपनी प्रेयसी के द्वार पर मैं अपनी मिलनातुर बाँहें पसारे क्षण प्रति क्षण उस भुवन मोहिनी की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जिसके स्वप्न विचुंबित अधर अक्षत कौमार्य के पुण्य को अर्पित कर देना चाहते हैं।

नारी-स्वर : Dear, come in. Come in Dear Adheer.

अधीर : कौन ? क्या सचमुच किसी ने मुझे पुकारा ?

नारी-स्वर : चले आओ''चले आओ Dear, मैं कब से तुम्हारी Wait कर रही हूँ।

अधीर : आह ! अंततोगत्वा वह घड़ी आ ही गई, जिसकी प्रतीक्षा में एक-एक पल एक-एक कल्प के समान बीता (चलता है) अरे''!

इस तिमिराच्छल कक्ष में प्रकाश की ज्योति की एक भी किरण प्रज्वलित नहीं प्राणप्रिय ! सो क्या इस हेतु कि जब तुम अपने मुख का आवरण हटाओ तो यह कक्ष स्वतः रूप के प्रखर आलोक से देदीप्यमान हो उठे (अंतराल)।

तुमने कोई उत्तर नहीं दिया हृदयेश्वरी !

नारी-स्वर : क्या उत्तर दें Mr. Adheer, I am really fedup with your language.

तुम भूल गए, तुमने प्रॉमिज़ किया था न कि तुम मुझसे इस माफ़िक बातें नहीं करोगे—मैं जाती हूँ, And Mr. Adheer, तुमसे भी Request हे कि तुम वापस जाओ।

अधीर : नहीं-नहीं, मेरी चंपाकली !

नारी-स्वर : ऐं ?

अधीर : नहीं-नहीं''मेरी Lilly, मेरी Darling, जैसे तुम कहोगी वैसे ही बोलूँगा। मेरे हृदय स्पंदन, sorry''मेरे दिल की धड़कनें जिस घड़ी की प्रतीक्षा कर रही थीं उसे किसी भी कीमत पर व्यर्थ नहीं जाने दूँगा। आओ Lilly darling, प्रकाश कर दो ताकि मैं तुम्हारे सुंदर मुख की एक झलक पा सकूँ। देखो, अब तो मैं ठीक बोल रहा हूँ न ?

नारी-स्वर : हाँ, अब कुछ ठीक है, लेकिन Dear, हमें शर्म लगता है, हम रोशनी नहीं करेंगे।

अधीर : ठीक है। शर्म लगती है तो यूँ ही सही, मगर तुम कहाँ हो··मेरे पास तो आओ··मेरे पास आओ Lilly··देखो तो मेरी दो बाँहें तुम्हें अपने अंक में समेट लेने के लिए कितनी बेचैन हो रही हैं (दो पदचापों की ध्वनि) (स्विच की आवाज़)

(Effect)

आह ! ख़ुद ही रोशनी हो गई। मेरी कल्पना साकार हो उठी। वही रेशम से घने लहरे बाल—वही चाँद-सा शीतल गोरा रंग—वही-वही Lilly, अपना मुख तो ऊपर उठाओ Darling, इस मोहब्बत के परवाने को अपने रूप की शमा पर डालकर राख हो जाने दो। उठाओ मेरी Lilly, मुख ऊपर उठाओ। शर्माती हो तो लो, हम ख़ुद ही उठाए देते हैं।

[तेज़ी के साथ कोई वाद्य ध्वनि]

ऐं··सरला··सरला, तुम !

सरला : हाँ, मैं। शर्म तो नहीं आती होगी इस उम्र में··।

मनोहर : दीदी ! देखो, यह नहीं चलेगा। हमने तुमसे पहले तय कर लिया था कि जीजा जी से कुछ नहीं कहा जाएगा।

(लिली के स्वर में) अब तो बहन जी, मिठाई मँगवाकर हमें और Poet Adheer को खिलवाओ। देखो, इन्होंने आज बरसों की प्रतिज्ञा तोड़ दी, हमारे प्रेम के यानी Love के लिए। (फिर उसी स्वाभाविक स्वर में) देखो दीदी, अब क्लिष्ट भाषा का भूत इनके सिर से उतर गया है और ये कभी भी ऐसी भाषा का इस्तेमाल नहीं करेंगे, जो इनके, तुम्हारे और मुहल्ले के बीच दीवार की तरह खड़ी थी। (लिली के स्वर में) क्यों अधीर Dear, ठीक है न ?

मन के कोण

[कवि कमल—कविता लिखने के मूड में]

कमल : मैं किसी की कल्पनाओं का क्षितिज हूँ,
छू दिया तुमने कि मेरी ज़िंदगी में ज्वार आया
प्राण ! जाने किसलिए तुम पर बहुत-सा प्यार आया···

सतीश : मैंने कहा—कविवर कमल ! ओ कविराज···!

कमल : (चौंककर) कौन···सतीश ! तुम हमेशा बेवक़्त दिन-भर लाइब्रेरी में मक्खियाँ मारते रहोगे···और जहाँ मेरा कुछ लिखने-पढ़ने का मूड आया···और मैंने कोई अच्छी-सी कल्पना उठाई···कि तुम हाज़िर।

सतीश : च च च···। बड़ा अफ़सोस है भई, पर मैं तो संवेदना प्रगट करने के लिए आया था। मैंने सुना कि कल टाउन हॉल के कवि-सम्मेलन में तुम्हारी ऐसी ही किसी कल्पना पर मुग्ध होकर जनता-जनार्दन ने सड़े हुए अडो और टमाटरों से तुम्हारा स्वागत किया।

कमल : क्या बकवास करते हो ? कल का कवि-सम्मेलन मेरे जीवन का सबसे सफल कवि-सम्मेलन था।

सतीश : हो सकता हे तुम्हारी बात सही हो ओर यह भी हो सकता है कि जनता को बाज़ार में अच्छे अडे न प्राप्त हो सके हों, इसीलिए···

कमल : कभी तो गंभीरता से बात करा कर कमल ! एक तरफ़ तुम—आई०ए०एस० और बड़ी ऊँची सर्विसेज़ के ख़्वाब देखते हो, दूसरी तरफ़ चपड़कनातियो वाली बात करते हो। तुम्हारी इन बेहूदी हालतों पर भला कौन तुम्हे किसी जिम्मेदार पद पर भेज सकता है ?

सतीश : तुम्हारे मुँह मे घी-शक्कर कविराज ! अरे, इतनी बात अगर पहले कह दी होती तो अब तक अपाइंटमेट भी हो गया होता।
देखो न, तुमने आज ये बद्दुआ दी तो आज ही मेरा रिज़ल्ट भी आ गया।

कमल : सच ? क्या आई०ए०एस० हो गए तुम ?

सतीश : आई०ए०एस० कैसे हो सकता था—कवि की बद्दुआओं का कुछ तो असर होता, लिहाज़ा आई०ए०एस० प्रोपर में तो नहीं, हाँ, इनकम टैक्स में

अलबत्ता मेरा सलेक्शन हो गया है।

कमल : मुबारक हो ! भई, बहुत ख़ुशी की बात है सतीश ! अच्छा चलो, तो इसी बात पर चाय हो जाए।

सतीश : एक ख़ुशख़बरी अभी और है प्यारे भाई !

कमल : वो क्या ?

सतीश : तेरी वो है न (धीरे से)···अरे वही···क्या कहते हो तुम उसे हिंदी में··प्रेमिका ···अपर्णा···उसका रिश्ता भी तय हो गया है···आज लाइब्रेरी में बड़ी गर्म ख़बर थी···

कमल : क्या ख़बर थी ?

सतीश : यही लोग कह रहे थे कि सेठ-कन्या सेठ के साथ ही जाती थी। अफ़सोस, बेचारा कवि कल्पनाओं के दायरे में ही घूमता रह गया। कुछ लोगों का यह भी ख़याल था कि अब तुम्हारी कविताओं में अनुभूति की गहराई आएगी और तुम्हारे कवि-जीवन का एक नया अध्याय शुरू होगा। तुम्हारा क्या ख़याल है ?

कमल : मेरा ख़याल ये है कि इनकम टैक्स ऑफ़िसर होने की ख़ुशी से तुम्हारा दिमाग़ अभी से ख़राब हो गया है। वो दोहा है न—प्यादे से फर्जी भयो टेढ़ो-टेढ़ो जाय···

सतीश : कमल ! दिमाग़ मेरा नहीं, दिमाग़ तुम्हारा ख़राब हुआ है। जो आदमी अपनी ज़िम्मेदारियों को नहीं पहचानता, अपनी शक्ति और अपनी सीमाओं को नहीं जानता, मैं उसे साबुत दिमाग़ नहीं कह सकता।

कमल : क्या तुम गंभीरता से बात कर रहे हो ?

सतीश : मैंने गंभीर मसलों पर हमेशा गंभीरता से बात की है। तुमने सालों से कोर्स की किताबें उठाकर नहीं देखीं। दो साल से बी०ए० में बराबर फेल हो रहे हो और ख़्वाब देखते हो प्रसाद और निराला बनने के ! कभी तुमने यह भी सोचा है कि तुम्हारे पीछे एक परिवार है, तुम्हारी बूढ़ी माँ और बीमार बाप है, जो तुम्हें बुलाने के लिए दो-दो तार और कई पत्र भेज चुके हैं और तुम्हारी इन्हीं हरक़तों से तंग आकर तुम्हारे बड़े भाई तुम्हें ख़र्च भेजना बंद करने ही वाले हैं।

कमल : घर तो मैं जा ही रहा हूँ—यह तय है।

सतीश : तुम्हें जाना ही चाहिए कमल, तुम्हारे पिता बीमार हैं।

कमल : मैं पैसे को महत्त्व ही कब देता हूँ। मैं चाहूँ तो आज, अभी, इसी वक़्त टेलीफ़ोन पर हज़ार रुपए मँगवा सकता हूँ···और तुम्हें याद होगा कि विहान

प्रकाशन वाले कई बार मुझे अपने पत्र का संपादक बनाने की इच्छा प्रकट कर चुके हैं।

सतीश : और तुमने उसे ठुकरा दिया, यही न ? मैं कहता हूँ कि ये मिथ्या अहम् तुम्हारी सबसे वड़ी भूल है ? वो दिन दूर नहीं है जब दो सौ रुपए की नौकरी के लिए तुम दरवाज़े-दरवाज़े पर चक्कर लगाते घूमोगे और तुम्हें कोई दो कौड़ी का भी नहीं पूछेगा। आजकल इंटर पास की कद्र भी क्या है ? ज़्यादा से ज़्यादा 80-90 रुपए की क्लर्की, और वो भी तुम्हारे बस की नहीं। और जिस टेलीफ़ोन के बल पर तुम कूदते हो वो महीने-भर के बाद तुम्हें पहचानेगी भी नहीं।

कमल : सतीश ! बहस में मैं तुम्हारे साथ आज तक कभी नहीं पड़ा, क्योंकि तुम्हारे और मेरे सोचने-विचारने का धरातल ही अलग है। तुम चीज़ों को जितने व्यावहारिक स्तर पर लेते हो और हर चीज़ को जिस भौतिक दृष्टिकोण से देखते हो उसे जाने क्यों, मैं नहीं पचा पाता। मैं तो यह मानता हूँ कि इतनी सारी आर्थिक विषमताओं के बावजूद अब भी लोगों की शिराओं में रक्त प्रवाहित होता है और उनके शरीर में दिल है जो धड़कता है और...

सतीश : और इसीलिए वो तुम्हें नहीं भूलेगी, तुम्हें जीवन-भर याद रखेगी, मन-मंदिर में तुम्हारी प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा किया करेगी।

कमल : पूजा चाहे न करे, लेकिन मुझे विश्वास है कि वह मुझे भूल नहीं सकती। मन के कोण इतनी आसानी से नहीं बदलते सतीश ! भावनाएँ सोने-चाँदी का भाव नहीं होतीं, जो बाज़ार में उतरती-चढ़ती रहें। उनका सामान्य स्तर एक होता है, प्रतिक्रियाएँ चाहें बदलती रहें।

सतीश : ये बात जितनी सच है उससे ज़्यादा झूठ भी है। मेंने भी इसे वहुत जगह पढ़ा है और बहुतों से सुना है, लेकिन जिस क्लास की लड़की का तुम ज़िक्र कर रहे हो, उसमें भावनाओं की ये ईमानदारी हो ही नहीं सकती। मैं एक बार को तुम्हें ईमानदार मान सकता हूँ, मैं यह मान सकता हूँ कि तुम जीवन-भर उसके लिए वफ़ादार रहोगे, लेकिन वो भी ऐसी ही रहे, इसमें मुझे शक है।

कमल : तुम बात-बात में जो क्लास और वर्गों की बात उठाते हो, तो मैं यह पूछता हूँ कि किसी भी वर्ग के आदमी में क्या हृदय नहीं होता? क्या वह सामान्य आदमियों के हृदय की तरह नहीं धड़कता ? क्या हर्ष, शोक और चिंताओं की प्रतीति उसे नहीं होती ?

सतीश : सुख-दुःख की बात छोड़ो...मैं प्रेम और प्यार की बात कर रहा हूँ...अव्वल

तो जिसे वो प्रेम कहती है, वह महज़ आकर्षण है, जो शायद तुमसे अधिक तुम्हारी कविता के प्रति है, क्योंकि उसमें भी उसके अहम् की तुष्टि होती है कि कोई उसके लिए कविता लिखता है। दूसरे, प्रेम आजकल फैशन या वक़्त गुज़ारने के लिए शगल के तौर पर भी चलता है।

[दरवाज़े पर दस्तक]

पो०मै० : पोस्टमैन।

सतीश : ख़ैर, छोड़ो ! देखो, तुम्हारा कोई ख़त आया है शायद···

कमल : (दूर से) एक तो ये पत्रिका है, जिसमें मेरी वही कविता छपी है जो अपर्णा को बहुत पसंद है।

सतीश : और ये लिफ़ाफ़ा किसका है ?

कमल : लिफ़ाफ़ा उसी का है। **(फाड़ता है)**

सतीश : क्या लिखा है ?

कमल : मेरी कल्पनाओं के क्षितिज···

अपर्णा : क्या लिखूँ और कैसे लिखूँ···समझ में नहीं आता। दो-तीन दिन से मन बहुत उदास है। लगता है, कहीं भाग जाऊँ। दिन-भर इतनी झुँझलाहट रहती है कि ज़रा-सी बात भी बुरी लगती है। बोलो कमल, ऐसा क्यों होता है ? क्यों मन नहीं लगता ? क्यों रोने की तबीयत करती है ? क्यों भाग जाने की इच्छा होती है ? मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता। तुम्हें कुछ हल समझ में आता हो तो कृपया मुझे भी बता दो न ताकि इस स्थिति से छुटकारा पा सकूँ ? जानते हो, इस मनःस्थिति का कारण क्या है ? मेरे घरवालों ने मेरा रिश्ता तय कर दिया है। हफ़्ते-दो हफ़्ते में शायद विवाह भी हो जाए। हमारे समाज में लड़की की सहमति की ज़रूरत ही कौन समझता है। मन में विद्रोह की चिनगारियाँ उठती हैं और बुझ जाती हैं। तुम तो मेरे प्राण ! मेरा जीवन बन चुके हो, मेरी मनःस्थिति को तुमसे अधिक कौन समझेगा—तन से दुनिया वाले मुझे तुमसे कितना ही दूर कर लें, पर क्या मन से भी दूर कर सकते हैं ! तुम में और मुझ में अब अंतर ही कहाँ रहा है ! कभी-कभी सोचती हूँ कि मैंने ज़रूर पिछले जनम में कुछ पाप किए होंगे जो सब कुछ पाकर भी कुछ नहीं पा सकी। मुझे याद आती है, तुमने एक बार अपने एक मित्र की कविता सुनाई थी—

तन की दूरी क्या कर लेगी
मन के पास रहो तुम मेरे

मेरे प्रिय, मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि मैं हमेशा-हमेशा तुम्हारे मन के पास रहूँगी। तुमसे कभी दूर नहीं हो सकती।

तुम्हारी याद में

तुम्हारी

अपर्णा

सतीश : तुम्हारे संपर्क का इतना असर तो आया कि पत्र अच्छा लिख लेती है। नाटक वह अच्छा करती है यह तो मालूम था, लेकिन पत्र भी वो इतना अच्छा लिख सकती है, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी।

कमल : हृदय की भावनाओं का उफ़ान अपनी अभिव्यक्ति के लिए ख़ुद क़लम की नोक पर आ जाता है सतीश, उसके लिए सोचना-विचारना नहीं पड़ता, अब तुम कहो कि ये भावनाएँ भी कृत्रिम हैं ? ये भी नाटक है और इस क्लास की लड़कियाँ ऐसे नाटक आए दिन करती रहती हैं।

सतीश : मैं नहीं, ये बात वक़्त ख़ुद ही कहेगा। तुम कल को घर हो आओ, तब तक शायद उसकी शादी भी हो जाएगी और तभी तुम्हें अपने सवाल का जवाब भी मिल जाएगा।

(दृश्य-परिवर्तन)

कमल : भाभी, प्रणाम !

भाभी : अरे लाला, तुम ! कब आए ? आने की कोई चिट्ठी-पत्री भी नहीं डाली। हम लोग तो निराश हो चुके थे। जब दो-दो तारों का भी तुमने कोई जवाब नहीं दिया तो हमने तो सोच लिया था कि घरवालों से माया-ममता तुमने तोड़ ली है।

माँ : (दूर से) कौन आया है बहू ? कमल आया है क्या ?

कमल : हाँ, माँ ! मैं ही हूँ।

माँ : जीते रहो मेरे लाल ! देख तो कितना दुबला हो गया ! क्यों रे, तुझे वहाँ खाने को नहीं मिलता था ?

कमल : नहीं, माँ ! देखो तो कितना मोटा हो रहा हूँ ! मेरा तो दो सेर वज़न बढ़ गया है ! पिताजी की तबीयत कैसी है ?

माँ : बस, आते ही होंगे। बाज़ार तक गए हैं।

कमल : मुझे तो आप लोगों ने लिखा था, उनकी तबीयत सख़्त ख़राब है–

भाभी : वैसे लाला, तुम कहाँ आते...अब तुम्हारी नाक में नकेल डालनी है न ! ऐसी बहू ढूँढ़ी है तुम्हारे लिए कि सारी उम्र अपनी भाभी के गुण गाओगे।

माँ : हाँ रे, ऐसी गुलाब के फूल जैसी लड़की है ! बटुआ जैसा मुँह है ! घर में आएगी तो ऐसी सजेगी कि मेरी तो आँखें सुफल हो जाएँगी।

कमल : माँ, मैं अभी शादी नहीं करूँगा।

पिताजी : आ गए बरखुरदार ! बाप की बीमारी की इतनी फ़िक्र है आपको ! इम्तहान ख़त्म हुए अर्सा गुज़र गया। मैं पूछ सकता हूँ जनाब ! अब तक क्या कर रहे थे ?

कमल : मैं साहित्य-रत्न की तैयारी कर रहा था पिताजी !

पिताजी : साहित्य-रत्न की तैयारी कर रहे थे या बाप के पैसे पर गुलछर्रे उड़ा रहे थे।

माँ : लड़का थका हुआ आया है और तुमने आते ही डाँटना शुरू कर दिया। कुछ तो ख़याल किया होता, लड़का बराबर का हो गया है।

पिताजी : लड़का बड़ा ख़याल करता है न हमारा ! अभी क्या कह रहा था, शादी नहीं करूँगा। मैं जान सकता हूँ साहबज़ादे कि आपको शादी से इतनी नफ़रत क्यों हो गई ?

कमल : पिताजी, मैं जब तक अपने पाँव पर खड़ा नहीं हो जाता…।

पिताजी : अपने पाँव पर तो तुम ज़िंदगी-भर खड़े नही हो सकते, बल्कि हमें भी अपने पाँव पर खड़ा नहीं रहने दोगे। मैं पूछता हूँ, जब हम बहू की सारी ज़िम्मेदारियाँ सँभालने को तैयार हैं तो तुम्हें क्या एतराज़ है ?

कमल : इस प्रश्न का मैं कोई जवाब नहीं दे सकता पिताजी ! कुछ ऐसी ही बात है कि आपसे…

पिताजी : तो ये क्यो नहीं कहते कि माँ-बाप के दकियानूसी ख़यालात की बहू जनाब को पसद नहीं है, ख़ैर…अगर तुम कोई लड़की पसंद कर चुके हो तो अपनी माँ और भाभी को बता दो। लड़की का खानदान वग़ैरह अगर ठीक हुआ तो हमे कोई एतराज़ नहीं।

(संगीत का अंतराल)

कमल : उस दिन मेरा जन्मदिन था। अपर्णा अपनी एक सहेली के साथ मुझे बधाई देने आई थी। शाम के वक़्त घूमते हुए हम लोग पहाड़ी की ओर निकल गए। आसमान का रंग भी बदलता जा रहा था। घंटों इसी 'मूड' में हम एक पेड़ के नीचे बैठे हुए चुपचाप एक-दूसरे की ओर देखते रहे और जब होश आया तो मूसलाधार वर्षा शुरू हो चुकी थी। बस, ये मेरी उससे पहली भेंट थी, जिसने मेरे जीवन में एक तूफ़ान खड़ा कर दिया।

भाभी : बस, इतने से ही तूफ़ान खड़ा हो गया। हमने तो एक सनीमे में देखा था कि वो लड़की ऐसी बकर-बकर बोले थी कि मैं तो उसके मुँह की तरफ़ कू देखती रह गई।

कमल : सिनेमा जैसी बातचीत तो हमारी कभी नहीं हुई भाभी, उससे दूसरी भेंट ज़रूर कुछ सिनेमा जैसी ही थी। मैंने तब कविता लिखना शुरू ही किया था और उस दिन रात को हिंदी परिषद् के कवि-सम्मेलन में मैं भी भाग लेने गया था।

[दर्शकों का कोलाहल, जो कवि को हूट करता रहता है]

कमल : दुनिया पहले से समझाती
तो मैं कुछ वश में कर लेता,
लेकिन अब तो प्यार मनन या
चिंतन से आगे जा पहुँचा।

स्वर 1 : मजनू का खानदानी है बे !
दिन-भर सिर्फ़ तुम्हारी बातें, सारी रात तुम्हारे सपने।

स्वर 2 : अबे, कुछ पढ़ता-लिखता भी है
अब अपने कहलाने वाले क्षण भी कहाँ रहे हैं अपने
पहले आँसू और आहों से थोड़ी राहत मिल जाती थी
लेकिन अब तो दर्द, रुदन या क्रंदन से आगे जा पहुँचा।
इस साल भी गए काम से—
बंधन से आगे जा पहुँचा—दुनिया पहले से समझाती

[जनता की ताली-हँसी-हूटिंग—मजनू को बुलाओ]

कमल : मैं ऐसे अशिष्ट लोगों में कविता नहीं पढ़ सकता।
(मजनू को बुलाओ, मजनू को बुलाओ)
धीरे-धीरे

[कुछ क्षण बाद]

अपर्णा : आप यहाँ अकेले बैठे हैं ? **(कोई उत्तर नहीं)** आपने पूरी कविता क्यों नहीं सुनाई ?

कमल : वहाँ कविता का वातावरण था ? कहने को साहित्य परिषद् है, पर दुनिया-भर के लोफ़र वहाँ इकट्ठे हो गए हैं।

अपर्णा : मुझे आपकी कविता बहुत पसंद आई कमल जी ! मेरी और सहेलियाँ भी

उसकी बड़ी तारीफ़ कर रही थीं। सच, आपकी कविता सुनने के लिए ही मैं आपको ढूँढ़ती हुई यहाँ तक आई हूँ।

कमल : इस समय आप मुझे क्षमा करें, अपर्णा जी ! कल या फिर किसी दिन, जब भी आप कहेंगी, मुझे आपक़ो कविता सुनाने में प्रसन्नता ही होगी।

अपर्णा : तो फिर कल आप हमारे घर आइए ! शाम की चाय भी वहीं पीजिएगा। पापा को आपसे मिलकर बहुत ख़ुशी होगी। मैं गाड़ी भेज दूँगी।

कमल : गाड़ी की क्या ज़रूरत है, मैं ख़ुद ही आ जाऊँगा।

अपर्णा : वाह, मेरी ख़ातिर आप इतनी दूर से आएँगे और मैं गाड़ी भी न भेजूँ, यह कैसे हो सकता है ? पर सुनिए, मैं कविताएँ संदर्भ और व्याख्या सहित सुना करती हूँ।

कमल : मतलब ?

अपर्णा : मतलब ये कि मैं उनके बारे में भी कुछ जानना चाहूँगी जो आपको ऐसी सुंदर कविताओं की प्रेरणा देती हैं। कौन है वह ख़ुशनसीब ?

कमल : उसी की तो तलाश है अभी तक।

[सम्मिलित हँसी]

(फ़्लैशबैक समाप्त)

कमल : बस भाभी, इसी तरह की छोटी-छोटी बातों से वह छोटा-सा अँकुआ बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा पेड़ हो गया।

भाभी : तो उससे शादी क्यों नहीं कर लेते लाला ! घर-खानदान तो अच्छा है, पिताजी को कोई एतराज नहीं होगा। तुम्हारे भाई साहब को मैं मना लूँगी।

कमल : यही तो मजबूरी है भाभी ! काश कि ये समाज इतना संकीर्ण न होता ! अब तक तो उसकी शादी भी हो चुकी होगी···और चूँकि मैं उसे अपनी आँखों से जाते हुए नहीं देख सकता था इसी से यहाँ चला आया।

भाभी : यह तो वड़ा बुरा हुआ लाला ! कितना दुःख पहुँचा होगा तुम्हें ?

कमल : उसके सामने वहुत-सी मजबूरियाँ थीं भाभी ! इसीलिए विवश होकर उसे झुकना पड़ा। पर मेरे सामने तो कोई मजवूरी नहीं है, मैं क्यों झुकूँ ? उसने कहा, मैं जन्म-जन्मांतर तक तुम्हारी रहूँगी, तो मैं किसी और का कैसे हो सकता हूँ ? भाभी ! तुम इस रिश्ते को रुकवाने में मेरी मदद करो न !

भाभी : मैं तुम्हारे दुःख को समझती हूँ लाला ! कोशिश करूँगी कि ये बात कुछ दिन के लिए टल जाए। पर लाला, अब तुम क्या करोगे ?

कमल : ज़िंदगी तो जैसे-तैसे गुज़ारनी ही है। पढ़ाई तो छोड़ ही दी, सोचता हूँ, कल को शहर चला जाऊँ और वहाँ नौकरी कर लूँ।

भाभी : नौकरी मिल जाएगी ?

कमल : हाँ, एक प्रेस वाले ने संपादक बनाने का वादा किया है। कल पिताजी से भी बातें हुई थीं। वे भी चाहते हैं कि मैं अब कोई नौकरी कर लूँ।

(दृश्य-परिवर्तन)

कमल : मधुकर ! आज कौन-सा फ़र्मा प्रिंट हो रहा है ?

मधुकर : आठवाँ है। संपादक जी ! आपने तो इस पत्र की काया ही पलट दी। साल-भर में ही जितने ऑर्डर आए हैं, उतने तो पिछले कई सालों में भी नहीं आए थे।

कमल : वो तो सब ठीक है, लेकिन देखो, टाइप कोई टूटा हुआ न जाए। और वो अंतिम पृष्ठ पर अकिंचन जी की कविता ठीक आई है न ? अगर बॉर्डर में न आई हो तो बॉर्डर हटवा दो और किसी से कहना कि आज की डाक मेरे पास भेजता जाए।

मधुकर : अच्छा जी !

चपरासी : संपादक जी ! आज की डाक···

कमल : रख दो।
अरे, सतीश का पत्र ! देखूँ, क्या लिखा है कमबख़्त ने···(पत्र फाड़ता है)

सतीश : प्रिय कमल !
बहुत दिनों बाद तुम्हें आज ये पत्र लिख रहा हूँ। तुम्हे शिकायत तो ज़रूर होगी, पर मैं भी कह सकता हूँ कि तुमने ही कौन-से पत्रों के ढेर लगा दिए। हाँ, तुम्हारी अपर्णा के इस शहर में मुझे तुम्हारी बड़ी याद आती है। तुम्हारी पिछली बातें याद करता हूँ तो अपने साथियों से कहा करता हूँ कि कवि सचमुच आधे पागल होते है। पर नहीं, अब तो तुम एक अच्छे मासिक पत्र के ज़िम्मेदार संपादक हो और अगर झूठ-मूठ की प्रशंसा न समझो तो ये भी कहूँगा कि तुम्हारे संपादन में पत्र का स्तर उठा है। और इसका सबसे बड़ा आकर्षण है तुम्हारी वे कविताएँ जो शायद तुमने अपर्णा के विवाह के बाद लिखी हैं।

कमल : (बीच में) हाँ, सतीश ! दर्द ही तो रह गया है जीवन में।

सतीश : तुम्हारे जीवन का विष तुम्हारे काम के लिए चाहे जितना बड़ा वरदान सिद्ध हुआ हो, लेकिन मैं जानता हूँ कि तुम्हारा अपना व्यक्तित्व कितना टूट-फूट

गया होगा। इसीलिए एक बार फिर मैं यही कहूँगा कि तुम उसे भूल जाओ, क्योंकि इन इकतरफ़ा सबकों का कोई अर्थ नहीं है। विश्वास करो कि वह तुम्हें भूल चुकी होगी, क्योंकि उसके पास सिवाय इसके और कोई चारा ही नहीं है। मैं जानता हूँ कि इतने दिनों में उसने तुम्हें एक भी पत्र नहीं डाला होगा, क्योंकि स्त्री एक वक़्त में एक के ही प्रति वफ़ादार रह सकती है।

ख़ैर, यह बताओ कि तुम यहाँ कब आ रहे हो ? तुमसे मिलने की प्रबल इच्छा है। मुझसे न सही, अपनी अपर्णा से मिलने की ख़ातिर ही यहाँ चले आओ।

इंतज़ार करूँगा।

सस्नेह तुम्हारा
सतीश

कमल : (स्वयं से) आऊँगा सतीश ! एक बार, वो चाहे अंतिम बार ही क्यों न हो, अपर्णा से मिलने ज़रूर आऊँगा और देखूँगा कि मेरे और तुम्हारे विश्वासों में कौन ज़्यादा ठोस ज़मीन रखता है।

(दृश्य-परिवर्तन)

[रुकती गाड़ी का हॉर्न]

सतीश : ओ हो, कविराज कमल है ! जहे किस्मत···जहे नसीब
वो आए हमारे घर ये ख़ुदा की कुदरत,
कभी हम उनको कभी अपने घर को देखते हैं
कहो बे, ये गाड़ी किसकी मार दी ?

कमल : सेठ मनोहर लाल झुनझुनवाला···

सतीश : अच्छा-अच्छा, तो ये कहिए, अपर्णा से मिलकर आ रहे हैं आप ! गले में कोई हार तो पड़ा ही नहीं आपके। अबे ग़ैरतमंद, पहले तुझे यहाँ आना चाहिए था। अच्छा अब बता, क्या-क्या बातें हुई ?

कमल : यार, क्या बताऊँ, बात कुछ हुई भी और नहीं भी हुई। कुछ तो परिस्थितियों की विवशता और कुछ वातावरण के दबाव के कारण खुलकर बातें हो नहीं पाई। हाँ, मगर ख़ातिर-तवज्जुह बहुत की।

सतीश : निष्कर्ष मैं अपने आप निकाल लूँगा, आप शराफ़त के साथ पूरी बात मुझे बता डालिए।

कमल : भई, हुआ यह कि सामान वेटिंग रूम में रखकर सीधा मैं उसके यहाँ गया,

ताकि यहाँ आकर पहली बार जब तुमसे मिलूँ तो तुम्हें ये ख़ुशख़बरी दे सकूँ कि अपर्णा बदली नहीं। उनके घर पहुँचा तो सबसे पहले उसके पति सेठ मनोहर लाल से ही मुलाक़ात हुई।

(फ़्लैशबैक)

सेठ : अच्छा मिस्टर कमल ! बैठिए ! मेरा ख़याल है कि मैंने 'व्यापार' मासिक की जिस पोस्ट के लिए विज्ञापन दिया था उसी के लिए आप आए हैं।

कमल : जी नहीं···मैं तो अपने एक काम के सिलसिले में यहाँ आया था, सोचा, अपर्णा जी और आपके भी दर्शन करता चलूँ।

सेठ : अच्छा-अच्छा ! आप अपर्णा जी से मिलने के लिए आए हैं। द्वारका···ओ द्वारका !

द्वारिका : (दूर से) जी साहब !

सेठ : ज़रा बीबी जी को तो भेजना।
हूँ, तो मिस्टर कमल, आप कहाँ से जानते हैं अपर्णा को ?

कमल : जी, कानपुर से ही। बस यों ही कुछ कविता लिखने का शौक़ है। कुछ इसी से जान-पहचान हो गई। उन्हें कुछ कविताएँ पसंद आईं।

सेठ : अपर्णा को ?

कमल : जी हाँ ! उन्हें यों भी कविताओं में बहुत रुचि है। लेकिन सौभाग्य से मेरी तो कई कविताएँ उन्हें याद भी हैं।

अपर्णा : (आते हुए) आपने बुलाया था ?

सेठ : डार्लिंग, ये क्या सुन रहा हूँ मैं ? तुम्हें कविताओं में दिलचस्पी है, ये तो तुमने कभी नहीं बताया। मैं समझता था, तुम्हारी रुचि साड़ियों और फूलों तक ही है और अभी तुम उस दिन कह भी रहीं थी कि कविताएँ···।

अपर्णा : पर मैंने इसमें ग़लत क्या कहा ?

सेठ : ये तो बताना ही भूल गया। देखो तो ये कौन बैठे हैं, मि० कमल, तुमसे मिलने के लिए आए हैं।

अपर्णा : ओह आप ! **(सँभलकर)** नमस्ते !

कमल : नमस्ते !

सेठ : ये कह रहे थे कि तुम्हें कविताओं में बड़ी दिलचस्पी है और इनकी कई कविताएँ याद हैं, पर तुमने कभी बताया भी नहीं।

अपर्णा : **(हँसकर) बताती तो तब जब दिलचस्पी कायम रहे। हाँ, कभी याद थीं कुछ कविताएँ, पर अब तो मैं भी सब भूल-भाल गई।**

सेठ : अच्छा, तो तुम कविराज जी की ख़ातिर-तवज्जुह करो। मैंने वकील साहब को बुलवा रखा है। मैं ज़रा उनसे वो इनकम टैक्स का केस डिसकस कर आऊँ।

[कुछ क्षण के बाद]

कमल : बहुत बदल गई हो अपर्णा ! अब पहले से अधिक अच्छी लगने लगी हो।

अपर्णा : आपका 'विहान' कैसा चल रहा है ?

कमल : तुम नहीं पढ़ती ?

अपर्णा : कहाँ पढ़ पाती हूँ। घर के काम-काज से फ़ुरसत ही नहीं मिलती।

कमल : अगर तुम पढ़ती तो तुम्हें पता चलता कि मैंने इधर क्या-क्या लिखा है ? किन-किन परिस्थितियों से गुज़रा हूँ तुम्हारे जाने के बाद ? ज़िंदगी के ये दिन कैसे बीते हैं ?

अपर्णा : द्वारिका ! ओ द्वारिका !

द्वारिका : जी, बीबी जी !

अपर्णा : सोना से चाय के लिए बोल देना। जल्दी।

द्वारिका : अच्छा, बीबी जी ! (जाता है)

कमल : तब से अब तक 'विहान' के हर अंक में मैंने अपनी कविता प्रकाशित की है। सिर्फ़ इसलिए कि तुम इसे ज़रूर पढ़ोगी और तब तुम्हें मालूम होगा कि तुम मुझे कैसे रेगिस्तान में छोड़कर चली आई हो।

अपर्णा : द्वारिका ! चाय के साथ कुछ नमकीन और मिठाई भी लेते आना।

द्वारिका : (दूर से) अच्छा बहू जी !

कमल : तुम कहा करती थी न कि तुम्हारी ज़िंदगी को मैं रेगिस्तान नहीं होने दूँगी। तुमने जो स्थान अनायास ले लिया है, अब वह तुम्हारा है, केवल तुम्हारा।

अपर्णा : आपकी कविताओं का कोई संग्रह निकला या नहीं ? आप सोच रहे थे !

कमल : हाँ, सोच रहा था कि तुम्हारी शादी के अवसर पर छपाकर तुम्हें वही संग्रह समर्पित कर दूँगा, पर कुछ तो साधनों की सीमा और कुछ परिस्थितियाँ। हमेशा वो कहाँ होता है अपर्णा, जो आदमी सोचता है। तुमने मेरी कविता पढ़ी थी या नहीं ?

अपर्णा : कौन-सी कविता ?

कमल : वही 'बिवश विदाई', जो मैंने तुम्हारी विदाई के अवसर पर लिखी थी। सोचता रहा कि उसकी एक प्रति तुम्हें भेजूँगा। मगर तुमने तो अपना पता तक नहीं दिया। क्या एक बार भी तुम्हें मेरा ध्यान नहीं आया अपर्णा ? क्या एक बार

भी तुमने ये नहीं सोचा कि तुम्हारे अतिरिक्त भी कोई व्यक्ति है, जो तुम्हारे लिए उतना ही सोचता है ?

अपर्णा : (ज़ोर से) द्वारिका, कितनी देर लगा दी।

द्वारिका : (दूर से ही) जी, अभी लाया।

कमल : चाय रहने दो अपर्णा ! मैं तुमसे बातें करने के लिए, तुम्हें देखने के लिए आया हूँ। मेरा मन नहीं माना। तुम्हारे आने के बाद से एक-एक दिन कैसा गुज़रा है, कह नहीं सकता। तुमने भी कभी ये बेचैनी महसूस की है ?

अपर्णा : लीजिए, चाय आ गई। (द्वारिका से) अरे, दो ही प्याले लाया, जा, जल्दी से एक प्याला और ले आ ! और सुन, बाहर सेठ जी से कह दे कि अंदर चाय पर इंतज़ार हो रहा है।

[ट्रे रखने की आवाज़]

द्वारिका : जी, बहू जी !

अपर्णा : आप कितनी शकर लेंगे ?

कमल : अब ये भी बताना पड़ेगा ?

अपर्णा : यूँ ही पूछा। आप तो एक चम्मच लेंगे न ?

कमल : आज तुम कैसी बातें कर रही हो अपर्णा ! भला तुम्हारे हाथ की चाय में···

अपर्णा : मैंने सोचा शायद अब···।

कमल : अब भी आदत नहीं बदली है। मैं शकर नहीं लूँगा।

सेठ : (प्रवेश करते हुए) अरे, आप शकर लेते ही नहीं ?

कमल : (हकलाकर) जी, जी, वो कभी-कभी नहीं लेता।

सेठ : ये कभी-कभी वाली बात खूब है। कोई आदमी हमेशा फीकी चाय लेता है या नहीं लेता—ये बात समझ में आती है, पर ये कभी-कभी वाली बात कुछ अजीब है। है न अपर्णा !

अपर्णा : जी हाँ।

सेठ : तुम आज बहुत सुस्त नज़र आ रही हो। क्या बात है ?

अपर्णा : यूँ ही ज़रा सिर भारी-सा है।

सेठ : तो डॉक्टर को फ़ोन किया होता। बड़ी बुरी बात है डार्लिंग ! तुम अपना बिलकुल ख़याल नहीं रखतीं। अरे, जितना मेरा ख़याल रखती हो, उससे चौथाई भी अपना रखो तो कभी कोई गड़बड़ न हो। हाँ तो मि० निर्मल बाबू ! आप कुछ नहीं खा रहे हैं !

कमल : जी नहीं, खूब खाया। इन्होंने…

सेठ : ये इनका खास गुण है कि जब तक दूसरे को ठूँस-ठूँस कर नहीं खिला देतीं, इन्हें संतोष नहीं होता।

अपर्णा : आप कब तक हैं कमल बाबू ?

सेठ : जी, मैं अभी दो-चार दिन तो हूँ।

अपर्णा : तब एक दिन खाने पर ज़रूर आइए।

कमल : नहीं-नहीं, इसकी क्या ज़रूरत है। वैसे मैं अभी यहाँ हूँ कुछ दिनों।

सेठ : आप कहाँ ठहरे हैं ?

कमल : जी, एक दोस्त हैं सतीश कुमार जायसवाल, इनकम टैक्स ऑफ़िसर—उन्हीं के साथ ठहरा हूँ।

सेठ : ओह ! कुमार साहब के यहाँ ?

कमल : जी हाँ। अच्छा तो मुझे आज्ञा दीजिए, फिर किसी दिन दर्शन करूँगा।

सेठ : अरे साहब, ऐसे कैसे जा सकते हैं ? बड़ा नाज़ुक रिश्ता है आपका-हमारा तो। ड्राइवर ! साहब को कुमार साहब की कोठी पर छोड़ आओ। अच्छा कमल जी ! फिर ज़रूर आइएगा—हम दोनों को इंतज़ार रहेगा। नमस्कार।

कमल : नमस्कार।

(फ्लैशबैक समाप्त)

सतीश : भई कमल, सच्ची बात तो ये है कि तुम्हारे इन डायलॉग्स से मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि वो तुम्हें टालने के चक्कर में थीं और इसमें कोई बुराई भी नहीं है। आख़िर तुम्हीं सोचो कि शादी के बाद उसकी तुम्हारे प्रति सिंसियरिटी क्या अपने पति के प्रति विश्वासघात नहीं होता ! इसलिए मैं तो इसके लिए अपर्णा या किसी एक लड़की को दोष नहीं देता। इस समस्या का सिवाय इसके कोई हल ही नहीं कि वह तुम्हें भूल जाए।

कमल : मगर तुमने यह कैसे मान लिया कि वह मुझे भूल गई है ?

सतीश : शरत् के उपन्यासों की पात्र और आज की नारियाँ दो अलग चीज़ें हैं कमल ! ज़िंदगी को कविता में नहीं ज़मीन पर रखकर देखो। मैं अपर्णा के व्यक्तित्व या चरित्र को कमज़ोर नहीं ठहराता, क्योंकि ये युग की एक सहज क्रिया है, जिसमें एक व्यक्ति ही नहीं बल्कि पूरे समाज का मन और मस्तिष्क ढल रहा है। वैसे मैंने तुम्हारी खामख़याली को दूर करने का इंतज़ाम कर दिया है और एक-दो दिन में तुम्हें ख़ुद ही पता लग जाएगा।

कमल : वकीलों की तरह से तर्क देकर मेरे मन में संदेह क्यों पैदा कर रहे हो ? मैं

विश्वासों पर जीना चाहता हूँ।

सतीश : दोस्त ! मैं तुम्हें ज़मीन पर रखना चाहता हूँ ताकि तुम कल्पनाओं के आसमान में बहुत ऊँचे न उड़ सको—और ताकि कल अगर तुम्हारा यह भ्रम टूटे तो तुम ज़्यादा ऊँचाई से पृथ्वी पर न गिरो।

(दृश्य-परिवर्तन)

[टेलीफ़ोन की घंटी]

स्टेनो : सर, कमल साहब का टेलीफ़ोन है।

सतीश : पूछो, कौन साहब हैं और क्या चाहते हैं ?

स्टेनो : साहब, सेठ मनोहर लाल का टेलीफोन है। वे आपको और कमल बाबू को शाम के खाने पर निमंत्रित करना चाहते हैं।

सतीश : क्या मनोहर लाल पर वे 'ऑर्डर्स' 'सर्व' हो गए जो परसों मैंने तुम्हें डिक्टेट कराए थे ?

स्टेनो : जी हाँ, उनकी तो परसों तारीख़ भी है।

सतीश : तो सेठ जी से कह दो कि कमल साहब आज शाम की गाड़ी से घर जा रहे हैं और साहब उन्हें छोड़ने स्टेशन जाएँगे, इसलिए माफ़ करें।

कमल : मगर मैं तो आज नहीं जा रहा और इतने प्रेम से कोई बुलाता है तो मना नहीं करना...

सतीश : तुम चुपचाप बैठे देखते रहो कमल !

स्टेनो : कह दिया सर !

सतीश : अब तुम जा सकते हो और इस केस की फाइल मेरी मेज़ पर रखते जाना।

स्टेनो : ओ०के० सर !

सतीश : प्यारे भाई, तुम सोचते होगे—अच्छा दोस्त है, आज शाम को ही टालने लगा, मगर वो भाई, ऐसी बात नहीं है। अच्छा ख़ैर, ये बताओ, चाय लोगे या कॉफी ?

कमल : कुछ भी।

सतीश : जब तक कॉफी आए तब तक अपना वह गीत सुना दो।

कमल : कौन-सा ?

सतीश : वही—मुझ तक सीमित नहीं रहेगी ये बेचैनी, ये लाचारी—थोड़े दिन पश्चात् तुम्हें भी वातावरण लगेगा भारी।

कमल : यार सतीश, मन सचमुच बहुत भारी है। अगर अन्यथा न लो तो थोड़ी देर

चुपचाप बैठे रहो

चपरासी : साहब !

सतीश : क्या है ? चाय, यहीं ले आओ और ये लिफ़ाफ़ा ?

चपरासी : जी, सेठ साहब का ड्राइवर दे गया है।

कमल : अपर्णा का होगा, देखूँ।

सतीश : हाँ, अपर्णा का ही है, देखो !

कमल : नहीं, तुम्हीं सुनाओ—तुम कहते थे न, मन के कोण चार दिन में बदल जाते हैं।

सतीश : मुझे मालूम है इस लिफ़ाफ़े का मज़मून क्या है, इसलिए तुम्हीं पढ़ो।

(13.12.1963 को 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित)

अबूझमाड़

[ओपनिंग म्यूज़िक]

[आज मैं फिर अबूझमाड़ की यात्रा पर निकला हूँ। पैदल, एकाकी, निरुद्देश्य। वर्षों पहले एक बार और यहाँ आया था। और वे स्मृतियाँ इस यात्रा में बराबर मेरे साथ हैं। पाँव आगे बढ़ते जा रहे हैं और मन अतीत में भटक रहा है। अबूझमाड़ के बारे में देखी-सुनी और पढ़ी हुई अनेक बातें कानों में गूँज रही हैं।]

स्वर 1 : अबूझमाड़ मध्य प्रदेश के सबसे पिछड़े हुए बस्तर ज़िले का सबसे पिछड़ा हुआ क्षेत्र है।

स्वर 2 : अबूझमाड़ बस्तर ज़िले की वह इकाई है, जहाँ आज भी लोग आदिम अवस्था में रहते हैं।

स्वर 3 : अबूझमाड़ उस क्षेत्र का नाम है जहाँ न डाकघर है, न थाना; न बिजली है, न बाज़ार; न पानी के कुएँ हैं, न सड़कें; यहाँ तक कि सबसे पास का रेलवे स्टेशन भी वहाँ से दो सौ मील दूर है।

आज मैं फिर उसी अबूझमाड़ में हूँ। वही जंगल, वही वादियाँ, वही वातावरण और वही रोशनी की तरह स्मृतियों के कुहासे में भटकती हुई एक आवाज़...यहीं इसी मुकाम पर मैंने अपने साथी से पूछा था—अबूझमाड़ कहाँ से शुरू होता है ?

(कट)

अबूझमाड़। अबूझमाड़ वहाँ से शुरू होता है, जहाँ से हवा में खुनकी और वातावरण में सरसता आ जाए। जहाँ से लोगों की आँखों में आत्मीयता और ईमानदारी झलकने लगे। जहाँ से पहाड़ियों का एक कभी न ख़त्म होने वाला सिलसिला संगीत के आरोह और अवरोह की तरह उठता-गिरता चला जाए।

और सचमुच अबूझमाड़ की सीमाओं में घुसते ही ऐसा लग रहा है जैसे मैं एक दूसरी दुनिया में प्रवेश कर रहा हूँ। हिरनियों की तरह

कुलाँचे भरती माडिन की लहरें, मंडप की तरह हरियालियों में लिपटे छोटे-छोटे गाँव, फ़रिश्तों की तरह मासूम, सीधे-सादे लोग और मंत्रों की तरह फ़िज़ा में गूँजते हुए गीत और वाद्यों के स्वर।

(कट)

पता नहीं शाल-वनों और पहाड़ियों के द्वीप समूह को यह नाम किसने दिया था। अबूझमाड़ यानी अपरिचित और अनजान जंगल। मेरा मन होता है, इसे एक और नाम दूँ। एक ऐसा नाम जिसमें संगीत और नृत्य की सारी परंपराएँ साकार हो उठें। मुझे जंगल से डर लगता है। ये सन्नाटा एहसास के स्तरों को चीरता हुआ दूर तक मेरे भीतर उतर जाता है।

मेरी दिलचस्पी लोगों में है। उन लोगों में, जिनकी स्मृतियाँ मैंने एक धरोहर की तरह सँजोकर रखी हैं···वे काले-साँवले और ताँबिया रंग के लोग, वे नंगे-अधनंगे गरीब, लेकिन संतुष्ट लोग। वे गाते-नाचते और अठखेलियाँ करते हुए लोग।

(कट)

इस हँसी में यह स्वर मलियारों का है और इस स्वर को मैं हज़ारों में पहचान सकता हूँ। कंगन की तरह खनकती हुई आवाज़ जैसे सन्नाटे में पूजा की घंटियाँ बज उठी हों, जैसे किसी ने हरसिंगार की शाख़ पकड़कर झटक दी हो और सैकड़ों फूल एक साथ आवाज़ करते हुए ज़मीन पर गिर पड़े हों। पहली बार इस हँसी को मैंने घबड़ई के बाज़ार में सुना था।

(बाज़ार पर हँसी)

आज फिर उसी घबड़ई के साप्ताहिक बाज़ार की ओर मेरे कदम मुड़ गए हैं। एक मित्र के शब्द रह-रहकर मेरे कानों में गूँज रहे हैं···

(कट)

ओरछा जाते हुए घबड़ई ज़रूर रुकिएगा। आधा अबूझमाड़ आपको वहीं दिखाई दे जाएगा। माडिया चाहे गरीब हो या अमीर, बाज़ार ज़रूर जाता है, जो उनके लिए अख़बार, क्लब सभा, सोसायटी और मनोरंजन केंद्रों का विकल्प बन चुका है।

शायद इसीलिए मैं एक बार घबड़ई के बाज़ार में हूँ।

(कट)

देखता हूँ कि इन चार वर्षो में कुछ भी नहीं बदला, सिर्फ़ शक्लें बदल गई हैं। कोई पहचाना-सा चेहरा नज़र नहीं आता। मगर अदाएँ जानी-पहचानी हैं। वेशभूषा और विचार परिचित हैं।

(कट)

मैं सारे बाज़ार में एक उचटती-सी नज़र डालता हूँ। लड़के आज ख़ामोश हैं। लड़कियॉ रंग-बिरंगी तितलियों की तरह फुदक रही हैं। कोई नाभि से ऊपर सिर तक निर्वसन है तो कोई जाँघों तक चटख रंग की साड़ी में लिपटी है। निर्वसना युवती की निगाह बार-बार आभूषणों की उस दुकान पर जा टिकती है, जहॉ नकली पत्थरों की माला और गिलट के गहने और झुमके झिलमिला रहे हैं और वस्त्रों वाली लड़की बड़ी हसरत से उस दर्जी की ओर देख रही है जो एक पैडस्टूल मशीन लिए हाथो-हाथ सिलाई करके दे रहा है।

(कट—सिलाई मशीन)

यह बाज़ार आदिवासी सभ्यता और संस्कृति का दर्पण है, कॉधे में पेज या मल्फी की हॉड़ी लटकाए दूर-दूर से आदिवासियों की टोलियॉ यहॉ आ रही हे। तपती और चिलचिलाती हुई धूप में पहाड़ियॉ चढ़ते और उतरते हुए लोग, जिनमें माडिया भी हैं और मुडिया भी, हल्वे भी हैं और गोड भी, पता नहीं वह कौन था ?

(कट)

प्रश्न : कहॉ से आ रहे हो पटेल ?

उत्तर : वडेर।

प्रश्न : कहॉ है ये वडेर ?

उत्तर : दूर है।

प्रश्न : कितनी दूर ?

उत्तर : बोत दूर साब !

प्रश्न : (एक अन्य काम्त से) तुम वता सकते हो, इसका गॉव यहॉ से कितनी दूर है ?

दूसरा व्यक्ति : दस मील होगा साहेब !

प्रश्न : दस मील ! माई गुडनेस ! कब चले थे घर से ?

उत्तर सुबह।
प्रश्न कितने बजे ?
उत्तर : सुबह-सुबह।
प्रश्न कब आए यहाँ···अभी ?
उत्तर हाँ, अभी।
प्रश्न थके नहीं।
उत्तर नहीं थके। थकने से जाएँगे कैसे ?
प्रश्न ओह! क्या ख़रीदना चाहते हो ?
उत्तर नमक।
प्रश्न कितना ?
उत्तर एक सेर।

[बाज़ार का प्रभाव उभरकर समाप्त होता है]

यह बात अपने आपमें कितनी तकलीफ़देह है कि सेर-भर नमक या एक हाँड़ी के लिए एक आदमी को दस या बीस मील पैदल चलना पड़े। लेकिन बस्तर के कलेक्टर डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा इस प्रश्न को दूसरे ही नज़रिए से देखते हैं।

(कट)

मैं यही सब सोचता हुआ आश्चर्य और कौतुकवश लोगों से उनका बाज़ार में आने का प्रयोजन और गंतव्य पूछता फिर रहा हूँ।

(कट—इंटरव्यू वृद्ध)

घबड़ई नारायणपुर के पास है। इसलिए शायद लोग हिंदी समझते हैं, पर अंतरवर्ती क्षेत्रों में कोई मेरी भाषा नहीं समझेगा। सोचता हूँ, पाँवों में पंख उग आएँ और जल्दी से ओरछा पहुँच जाऊँ। ओरछा···अबूझमाड़ का प्रवेश-द्वार, अबूझमाड़ का एक महत्त्वपूर्ण गाँव। अबूझमाड़ की राजधानी। इस गाँव में मैं प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के दौरे के समय आया था···उनके भाषण की अनुगूँज जैसे अभी तक यहाँ के वातावरण में छाई हुई है।

(कट)

प्रधानमंत्री के जाने के बाद ओरछा की वह शाम कितनी उदास हो गई

थी। सूरज ढलते तक चारों ओर सन्नाटा छा गया था। सारा गाँव सई साँझ से बेहोश हो गया था। और आज···आज फिर वैसी ही ख़ामोशी है···वैसा ही सन्नाटा है···वैसा ही अकेलापन। लगता है जैसे यह कोई अभिशापित नगर है।

(सन्नाटे का प्रभाव)

मन होता है, कहीं से कोई तड़पकर आवाज़ दे, कोई ज़ोर से चीख़े—बच्चा, बूढ़ा, औरत, मर्द—कोई तो बोले—आख़िर इस गाँव को क्या हो गया है···**(पाज़)**

[दूर से घोटुल के गीत के स्वर]

ओह ! मैंने इस वक़्त कुछ और माँगा होता तो वह भी मिल जाता, पर मैंने तो सन्नाटे में कुछ स्वर माँगे थे···**(गीत उभरता है)**

इस गीत की धुन आज तक मेरे कानों में बसी है। थोड़ी ही देर बाद में फिर इसी घोटुल में होऊँगा।···इन्हीं लोगों के बीच जिनकी यादें मुझे फिर यहाँ खींच लाई हैं। शायद मलियारो मिले—पर नहीं, उसकी शादी हो गई होगी···उसने कहा था न।

(कट)

जाने क्यों शादी की बात सोचते ही मुझे अपने उस माडिया शिक्षक की याद आने लगती है जो पिछली यात्रा में मेरे साथ था।

(कट)

साहब, क्या बताऊँ ? शादी होने वाली थी, पर वो गाँव छोड़कर चली गई। साब, सभी लोग चले गए। गाँव पर देवी माँ का कोप हो गया था। दो आदमियों को शेर उठाकर ले गया था।

गाँव में महामारी फैले या जंगली जानवरों का उत्पात हो, आदिवासी उसे देवी माँ का प्रकोप समझता है और गाँव छोड़ जाता है। इसीलिए 177 गाँवों में से आज 138 गाँव आबाद हैं। ओरछा में ऐसी कोई घटना नहीं घटी। वह जो रोशनी सामने दिखाई दे रही है···ज़रूर वह घोटुल की रोशनी है···मेरे क़दम सहसा उसी ओर तेज़ हो जाते हैं और परिचित गीत की धुन वातावरण में उभरकर मुझे आश्वस्त कर जाती है कि मैं ओरछा में हूँ···घोटुल में···

(गीत रिस-रिस किरीलो)

यह वही घोटुल है। मनोरंजन और अभिसार का वही केंद्र, जहाँ दूर-दूर तक यौन कुंठाओं का नाम नहीं, वर्जनाओं के लिए कोई जगह नहीं। जहाँ सिर्फ़ यौवन का उन्मुक्त उल्लास है, पहाड़ी निर्झर की तरह छलछलाती हुई ख़ुशियाँ हैं। खुले हुए वक्षस्थल हैं और धड़कते हुए दिल।

(हँसी)

रात के साए गहरे होते ही माडिया युवक और युवतियाँ घरों से निकलकर घोटुल की ओर चल देते हैं। उस छोटे-से झोंपड़े की ओर, जो गाँव के एक सिरे पर ही शाम से आदिवासी युवक-युवतियों के रंग-बिरंगे सपनों का ताना-बाना बुनने लगता है। गाँव के मान्य अतिथि भी कभी-कभी यहीं ठहराए जाते हैं। इसलिए मैं सीधे वहीं पहुँचकर अपना टेप रिकॉर्डर चालू कर देता हूँ। और स्थानीय माडिया शिक्षक से इस गीत का अर्थ पूछने लगता हूँ।

(कट)

ठीक से अर्थ नहीं समझ पाता, लेकिन मैं जानता हूँ, लड़कियाँ विदाई दे रही हैं···कह रही हैं, हम हमेशा के लिए यहाँ से चली जाएँगी। हमारा देखा हुआ यह प्रिय पक्षी कपे हमें फिर देखने को नहीं मिलेगा। पर हमारी यही कामना है कि हमारे इस देश में कभी कोई कमी न पड़े।

मैं गीत का अर्थ समझ रहा हूँ कि उन्होंने एक और गीत शुरू कर दिया है।

(कपे से मिला हुआ गीत)

पिछली बार मैंने एक माडिया मित्र से उनके एक गीत का अर्थ पूछा था। वह गीत एक जीवंत चित्र की तरह आज तक मेरी चेतना पर छाया हुआ है।

[गीत के स्वर पर बाँसुरी उभरती है]

लड़की ; ऐ मेरे मीत ! इस सुनसान पहाड़ी की लंबी-लंबी घास के बीच तुम अकेले बैठे हुए क्या कर रहे हो ?

लड़का : यह बालिगा बाँस की बाँसुरी मेरी अपनी संगिनी है। इसे ही छेड़कर जी

हलका कर रहा हूँ।

लड़की : भगवान् के लिए इसे बंद कर दो। मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ। तुम्हारी बाँसुरी की तान में मैं अपने आपको भूलती जा रही हूँ।

लड़का : बेलोसा···यह झूठ मत बोलो। अगर तुम्हारा मन सचमुच मुझमें लगा होता तो अब तक कभी की मेरे पास भाग आई होती।

लड़की : हाय रे···मुझे अव तक यह बात क्यों नहीं सूझी। दुश्मन, तूने मुझे पहले क्यों नहीं बताया ? मैं सब कुछ छोड़कर तेरे पास चली आती।

लड़का : तो अब आजा ना !

लड़की : अब कैसे आऊँ ? अब तो लोग मेरी मँगनी की शराब लेकर आ गए हैं देखो···वे लोग पी भी रहे हैं।

[गीत के बोल उभरकर डूब जाते हैं]

उस शाम मैं कीचू के साथ घोटुल जाने की तैयारी कर रहा था कि सहसा मेरी नज़र सामने की पहाड़ी पर पड़ी और भीतर से घुमड़ती आवाज़ मेरे गले में फँसकर रह गई। बड़ी मुश्किल से मैंने कीचू को पुकारा।

(कट)

मैं : कीचू-कीचू···आग···आग।

कीचू : आग···कहाँ है साहेब ?

मैं : वह देखो, वो नदी में उस पार पहाड़ों में आग लग गई है। दावानल ऐसा लगता है जैसे कोई फौज हाथों में मशालें लिए इसी गॉव की तरफ़ बढ़ी चली आ रही है।

कीचू : (उन्मुक्त हँसी)

मैं : हँसते हो, वुझाए न बुझेगी। जानते हो, जंगल की आग है।

कीचू : ऐसी आग यहॉ रोज़ लगती है साहेब ! ये आग नहीं है, गॉव के लोग पेंदा की तेयारी कर रहे हैं। जव जंगल जलकर राख हो जाएगा तो बारिश के दिनों में इसमें कोसरा बो दिया जाएगा।

मैं : कोसरा ?

कीचू : हाँ, साहेब, कोसरा या कुटकी।

मैं : इसे जोतेंगे नहीं ?

कीचू : नहीं साहेब, धरती माँ को जोतते नहीं हैं। फावड़े से थोड़ी मिट्टी इधर-उधर कर देते हैं।

अबूझमाड़ की वह यात्रा मेरे लिए विस्मय और कौतूहल का विषय

थी। लेकिन अब अचरज नहीं होता। इनकी अलग परंपराएँ हैं, विचित्र विश्वास है और अजीब रीति-रिवाज। अबूझमाडिया सिर्फ़ वर्तमान में जीता है, भूत और भविष्य के बारे में नहीं सोचता।

घोटुल से लौटकर बहुत रात तक मेरे भीतर तरह-तरह की बातें घुमड़ती रहती हैं। (आदिम जाति कल्याण विभाग के प्रभारी संचालक महेन्द्र कुमार दीक्षित की बातें)

(कट—दीक्षित)

मंडल संयोजक जगदीश वाजपेयी की बातें।

(कट—वाजपेयी)

बस्तर के भूतपूर्व कलक्टर डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा की बातें।

(कट—ब्रह्मदेव शर्मा)

सोच रहा हूँ, ये सारी विभिन्नताएँ, ये सारी समस्याएँ, ये सारी विचित्रताएँ मुझे इस तरह आंदोलित क्यों करती हैं ? क्या इनका कोई हल नहीं ? फिर वहाँ के विकास सहायक के०पी० मिश्रा की बातों ने तो मुझे और भी हिला दिया था।

(कट—के०पी० मिश्रा)

और आदिम जाति कल्याण विभाग के विशेष सचिव श्री डी०जी० भावे इन समस्याओं को एक चुनौती की तरह स्वीकार करते हैं।

(भावे)

देर रात गए तक यही सब बातें मन में गूँजती रहीं। इसी बीच जाने कब नींद आ गई, पता भी नहीं चला। लेकिन सुबह ठीक वक़्त पर आँख अपने आप खुल गई।

[सुबह का प्रभाव]

अबूझमाड़ में सुबह नहीं बल्कि सुबह की एक तस्वीर होती है। कल्पना से भी अधिक रंगीन, संगीतमय और आकर्षक, सहसा ऊँचाइयों पर खड़े पेड़ों के पीछे से एक बड़ा-सा सुर्ख़ गोला उभरता है और पर्वत के शिखर पर आ बैठता है। फिर उसके साथ ही शुरू हो जाती है जीवन की

चहल-पहल, पक्षियों का कलरव और पशुओं का शोर।

[पक्षियों का कलरव और गाय-बछड़े के रँभाने के स्वर]

मैं सुबह से देख रहा हूँ, एक युवक सामने वाले पेड़ के नीचे बैठा है। बीच में थोड़ी देर के लिए वह नदी तक गया था। सुर्ख़ आँखें, मुस्कराने की कोशिश करते हुए ओठ और जुहार की मुद्रा में उठे हुए हाथ और लड़खड़ाते हुए क़दम। मुझे देखकर वह एक बार सकपकाया और हँस दिया। मैंने मिश्रा जी के साथी से पूछा तो उत्तर मिला—यह तो इसके लिए एक मामूली बात है साहेब ! हो सकता है, आज यह दिन-भर यहीं बैठा रहे। यह एक चूहे के चक्कर में है और जब तक उसे पकड़ नहीं लेगा तब तक यहाँ से जाएगा नहीं। साहेब ! आदिवासी चूहे के मांस का बड़ा शौक़ीन होता है। और कभी-कभी तो पूरा दिन वह एक ही चूहे के पीछे बरबाद कर देता है।

सोचता हूँ, जाते-जाते मलियारो से मिल लूँ। पता चलता है कि वह किसी लड़के के साथ भाग गई थी। अब उसी से शादी हो गई है। वर-पक्ष के पास विवाह का ख़र्च उठाने की सामर्थ्य नहीं थी, इसलिए लड़के को उसके बाप के यहाँ दो वर्ष तक नौकर की हैसियत से हाट जंगल का काम करना पड़ा। बेचारा कहाँ से लाता मुरगों, बकरों और शराब का ख़र्च और इनके बिना अबूझमाड़ में किसी विवाह और तीज-त्योहार की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

(कट—के०पी० मिश्रा की वार्ता)

अबूझमाड़ में सब शराब लेते हैं। यहाँ तक कि वैद्य और हकीम भी अपनी दवा की फीस के बदले एक बोतल माँगते हैं। अचानक म०प्र० के मुख्य सचिव श्री आर०सी० बी०पी० नरोन्हा की अपनी डायरी की याद हो जाती है, जिसमें उन्होंने एक ऐसी दिलचस्प घटना का वर्णन किया है।

(कट)

मैं जब उस गाँव में पहुँचा तो गाँव के मुखिया की गाय के कान में तकलीफ़ थी। फौरन मुझे बुलाया। मैंने देखा कि मेरे वहाँ पहुँचने से गाँव के गायता को कुछ ईर्ष्या हुई, क्योंकि गायता गाँव का पुजारी भी होता है और हकीम भी, इसलिए मैंने मुखिया से कहा कि पहले वह

गायता का इलाज कराए। मुखिया ने बताया कि गायता के इलाज से कोई फायदा नहीं हुआ और वह हर बार एक बोतल शराब माँगता है। इस पर मैंने बिगड़कर कहा कि हम वैद्य लोग क्या इस लायक भी नहीं ? इसके बाद मैं गाय के पास गया। सबसे पहले मैंने जेब से एक रुपए का सिक्का निकाला, फिर उसे सबको दिखाते हुए सबसे कहा कि अब मैं जादू के ज़ोर से यह रुपया गायब करता हूँ, रुपए को गायब करके मैंने चिल्लाना शुरू किया—हे रुपए ! वहीं से निकलना जहाँ गाय के तकलीफ़ हो। और ऐसा कहते-कहते मैं गाय के सारे अंगों के पास अपना हाथ ले गया और जब मेरा हाथ कान के पास आया तो रुपया मेरी मुट्ठियों में था। फिर मैंने सबको रुपया दिखाकर घोषित किया कि तकलीफ़ गाय के कान में है और लोग इस बात पर मुग्ध हो गए। फिर अपनी शीशी में से कुछ बूँद गाय के कान में डालकर मैं वहाँ से चला आया। सुबह गाँव छोड़ते समय मुखिया ने बताया कि गाय को बहुत फायदा हुआ है और उसने थोड़ी दवाई और माँगी।

श्री नरोन्हा उन दिनों बस्तर के कलक्टर थे। उनकी डायरी पढ़कर पहले बड़ा अटपटा-सा लगा। पर आज सोचता हूँ कि श्री नरोन्हा ने जो कुछ किया वो उनका विश्वास जीतने के लिए किया। उनसे दूरी रखकर आप कुछ नहीं कर सकते। उनके रंग में रँगकर ही उनके लिए कुछ किया जा सकता है। इसीलिए मुझे श्री भावे की ये बात बहुत पसंद आई।

(कट)

अचानक मुझे सूचना मिलती है कि केरिलापाल में आदिवासी एक उत्सव मना रहे हैं। पिछली बार ओरछा से नारायणपुर होते हुए मैं सीधे केरिलापाल चला गया था, जहाँ उनका एक विशाल यात्रा पर्व चल रहा था। क्योंकि यही उनके लिए सबसे बड़ी ख़ुशी का अवसर होता है। बच्चे का जन्म या विवाह उनके लिए विशेष महत्त्व नहीं रखते।

(कट)

दसियों गाँव के युवक-युवतियों की नृत्य-मंडलियाँ वहाँ उपस्थित थीं। हर गाँव का अलग ध्वज है। हर टोली की अलग सज्जा। कोई पाँच सौ युवक-युवतियाँ एक साथ नाच रहे थे। (डांस)
आज मैं फिर उस यात्रा के बीच एक दर्शक की तरह खड़ा हुआ हूँ।

(अफेक्ट)

अजीब समाँ है। हर आदमी अपनी धुन में मस्त है। सारी रात नाचने के वाद भी किसी के चेहरे पर थकन नहीं। बस एक धुन, एक लगन। एक सम्मोहन-सा है, जिसकी परिधि में पूरे केरिला का वातावरण घूम रहा है। लगभग डेढ़ सौ ढोल और विविध वाद्य यंत्र एक साथ बज रहे हैं।

(अफेक्ट)
(कट)

इस भीड़ मे, जहॉ हर व्यक्ति मंत्रमुग्ध है, हर युवक और हर युवती नाच रही हे। पूरा परिवेश वाद्यों की गमक से झनझना रहा है। इस मेले के बारे में किससे पूछें। किसी को मेरी तरफ़ ध्यान देने की फ़ुर्सत नहीं हे। शायद ये वूढ़ा बावा कुछ बता सके। सुनो बाबा, ये सब क्या हो रहा है, कुछ बताओ न ?

(इंटरव्यू)

अजीब बात है कि इन तथाकथित असभ्य लोगों के बीच अपने सभ्य होने का दंभ टूटता नजर आता है। इनके नैतिक, सामाजिक और धार्मिक मूल्यों से अपने मूल्यों की तुलना करता हूँ तो लगता है कि आधुनिकता के नाम पर हम सिर्फ़ अपने आपको ढकते गए हैं। अपने व्यक्तित्व को विचारों और विकारों के लबादों में लपेटते गए हैं। इसीलिए पहली नज़र में हमारी असलियत दिखाई नहीं देती। मगर ये नंगे और अधनंगे लोग पहली ही नज़र में बाहर से भीतर तक साफ़ दिखाई देते हैं।

(कट)

आज इनके बीच बैठकर ऐसा लग रहा है जैसे यहाँ समय की रफ़्तार रुक गई है। एक अजीव किस्म की तंद्रा मेरे मन और मस्तिष्क पर फैलती जा रही है। ये कोलाहल मुझे प्रिय लग रहा है। ये लोग मुझे अपने नज़र आ रहे हैं। ये गीत, जिनका मैं अर्थ नहीं जानता, मेरे लिए खुलते जा रहे हैं। मुझे पता नहीं ये कौन-सा सम्मोहन है।

(आदिवासी गीत पर क्लोज़िंग म्यूज़िक)

गांधी सागर बाँध

[Opening Music पर Super imposed लोकगीत]

वाचक : रोज़ शाम के साए ढलते ही रामपुरा की बस्ती से संगीत के कुछ स्वर उँभरते हैं जो चंबल की लहरों से टकराते हुए बीहड़ घाटियों में दूर-दूर तक फैल जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे समूचा चंबल क्षेत्र निर्माण की ज्योति से जगमगा उठा है। अब वहाँ श्रम की पूजा होती है। लोगों की आँखों में भविष्य के स्वप्न हैं, हृदय में निर्माण के संकल्प हैं और वे अपनी आँखों के सामने धरती को करवट बदलते हुए देख रहे हैं।

वाचिका : और यह सारा चमत्कार इसी गांधी सागर बाँध का है। इसी गांधी सागर बाँध ने चंबल की निरंकुश लहरों को पालतू बना दिया है।

वाचक : वे लहरें जो तकलीफ़ और तबाही लाती थीं आज सुख और समृद्धि का कारण बन गई हैं। इसी गांधी सागर बाँध से 14 लाख एकड़ भूमि की सिंचाई और 2 से 3 लाख किलोवाट विद्युत् शक्ति पैदा होगी, जो उज्जैन, नागदा, रतलाम, इंदौर, भोपाल, नीमच और कोटा तक को बिजली की पूर्ति करेगी।

वाचिका : चंबल घाटी विकास परियोजना के तत्त्वावधान में निर्मित गांधी सागर बाँध, आज उस क्षेत्र की जनता में नव आशा और उत्साह का प्रतीक बन गया है।

वाचक : आज चंबल के बीहड़ों में गांधी सागर बाँध के कारण नई ज़िंदगी लौट आई है। वहाँ के लोग आभार की भाषा में गांधी सागर बाँध की चर्चा करते हैं। क्षेत्र के एक किसान ने हमारे प्रतिनिधि से कहा—(इंटरव्यू) 'बस साहब, हम तो ये सोचते हैं कि यह गांधी सागर बाँध गांधी जी के सपनों को पूरा कर रहा है। हम लोग तो भगवान् के भरोसे खेती करते थे। वक़्त पर बारिश हो गई तो चार दाने मिल गए, नहीं हुई तो बीज भी वापस नहीं लौटता था। पर अब ऐसा लगता है जैसे एक दूसरी दुनिया पैदा हो रही है···पानी अपने हाथ में, बिजली अपने हाथ में, जितनी मेहनत करो, उतना पाओ। अब तो साहब, सच पूछो तो मेहनत

करने में भी मज़ा आता है। मज़दूर का और किसान का हौसला बढ़ा दिया है इस गांधी सागर बाँध ने।'

(पानी का Effect)

वाचक : गांधी सागर बाँध अपने आप में कोई क्रांति नहीं, क्रांति का पहला चरण है। निर्माण की अनवरत प्रक्रिया है। चंबल को बाँधने की कोशिश मे गांधी सागर बाँध के बाद राणा प्रताप सागर बाँध निर्माण-कार्य का दूसरा चरण है और तीसरा चरण है कोटा बाँध।

वाचिका : इन तीनों चरणों का निर्माण-कार्य पूरा होते ही राजस्थान और मध्य प्रदेश के इन पिछड़े हुए इलाक़ों में ख़ुशहाली छा जाएगी—लोगों का कायाकल्प हो जाएगा।

वाचक : गांधी सागर बाँध पर 92 हज़ार किलोवाट की स्थापित क्षमता का विद्युत् स्टेशन बनाया गया है, राणा प्रताप सागर पर 1 लाख, 25 हज़ार किलोवाट की स्थापित क्षमता होगी और कोटा-डोम पर 78 हज़ार की। और तीनों बाँध चंबल के किनारे-किनारे जैसे एक शृंखला में स्थापित होंगे। और वह दिन दूर नहीं जब इनसे अभिशप्त चंबल का प्रवाह बदल जाएगा।

वाचिका : यही मत एक प्रवृद्ध पर्यटक का भी था, जिसने अपने मित्रों के बीच अनौपचारिक बातचीत में कहा—(इंटरव्यू)

'मैंने देखा, चौरासीगढ़ के क़रीब पाँच मील नीचे गांधी सागर बाँध एक चमत्कार है। यद्यपि 1685 फुट की लंबाई और नदी तल से 204 फुट की ऊँचाई कोई विशेष चौंकाने वाली बात नहीं है, दुनिया में इससे बड़े-बड़े अनेक बाँध हैं, परंतु चंबल को बाँधने की यह परिकल्पना अपने आप में इतनी ख़ूबसूरत है कि इसका कोई जवाब नहीं। बाँध से रामपुरा को जोड़ने वाले पुल-मार्ग का सौंदर्य अनायास नज़रों को बाँध लेता है। रामपुरा के मेहनतकश मज़दूरों और उनके बच्चों को देखकर लगता है कि संकल्प के साथ एक पीढ़ी निर्माण में लगी हुई है और एक दूसरी पीढ़ी निर्माण के संकल्पों में पल रही है।'

वाचक : विध्वंस के ऊपर निर्माण की प्रक्रिया शुरू होती है। गांधी सागर बाँध को बनाने के लिए उस इलाक़े के पचास हज़ार से भी ज़्यादा लोगों को बेघर-बार होना पड़ा।

वाचिका : इनके पुनर्वास, प्रतिपूर्ति तथा उनके लिए समुचित सुविधाएँ उपलब्ध

कराने पर 2-5 लाख रुपए ख़र्च हुए।

वाचक : यही कारण है कि आज उन लोगों के चेहरों पर शिकन नहीं''घर से बेघर हो जाने का दर्द नहीं, बल्कि वे गांधी सागर बॉध के निर्माण में अपने योगदान को एक पुनीत पुण्य समझते हैं।

[किसी बुंदेलखंडी भाषा से इंटरव्यू]

वाचिका : आज इस क्षेत्र में गांधी सागर बॉध की कहानियॉ घर-घर में प्रचलित हैं। बच्चों और बड़ों के बीच गांधी सागर बॉध कहानियों का मज़मून बनता जा रहा है। एक परिवार में हमें गांधी सागर बॉध की यह आंतरिक कहानी भी सुनने को मिली।

(ड्रामा)

बच्चा : बाबा-बाबा, हमें गांधी सागर की कहानी सुनाओ न !

बाबा (बूढ़ा) : सुनाएँगे बेटे, ज़रा हुक्के में दो दम तो लगा लेने दो।

बच्चा : मैं आपको हुक़्क़ा नहीं पीने दूँगा। पहले मुझे कहानी सुनाइए।

बाबा : अच्छा बेटे''सुनो''बरसों पहले की बात हे, जब यहॉ होल्कर राज्य की हुकूमत चलती थी।

बच्चा : होल्कर राज्य किसका था बाबा ?

बाबा : तुम नहीं समझोगे बेटे, पहले हमारे देश पर अंग्रज़ो ने कब्ज़ा कर रखा था ओर देश छोटे-छोटे राज्यों और रियासतों में बॅटा था''होल्कर राज्य भी उन्ही में से एक था। हम लोग उसी राज्य मे आते थे।

बच्चा : तो यह गांधी सागर बाँध होल्कर रियासत ने बनवाया था।

बूढ़ा : नही बेटे, होल्कर राज्य में इसे बनाने की बात सोची ज़रूर गई थी। दरअसल यह विचार होल्कर राज्य के एक अधिकारी का ही था। फिर उस ज़माने के मशहूर इंजीनियर श्री एम० विश्वेश्वरैया ने भी इस स्थान को देखा-भाला था।

बच्चा : उनका नाम तो मैंने पढ़ा है बाबा ! उनकी तस्वीर भी मैंने देखी है।

बूढ़ा : हॉ बेटे, वहुत बड़े इंजीनियर थे वे। उन्होने जगह पसंद की तो कोटा ओर उदयपुर की रियासतों ने भी चवल के किनारे दो जगहें विद्युत् केंद्र खोलने के लिए पसंद कर लीं।

बच्चा : ये रियासतें पानी से बिजली वनाना चाहती थीं ?

बूढ़ा : हाँ बेटे, बिजली बनाना ही असल मक़सद था। पर आज़ादी के बाद जब

यह योजना भारत सरकार के हाथ में आई तो उसने इस पर क़ायदे के साथ काम किया। पहले रियासतों में परस्पर सहयोग की भावना नहीं थी, भारत सरकार ने राजस्थान और मध्य प्रदेश राज्य की सरकारों को इसमें शामिल किया। और उनसे भी सलाह-मशवरा किया।

बच्चा : बाबा, कोई सम्मेलन हुआ होगा ?

बूढ़ा : (हँसकर) हाँ बेटे, एक सम्मेलन भी हुआ था, जिसमें दोनों राज्यों के प्रतिनिधि श्री एन०बी० गाडगिल की अध्यक्षता में मिले। गाडगिल साहब उन दिनों केंद्र में बिजली और निर्माण-कार्यों के मंत्री थे। तभी इस सारी योजना को अंतिम रूप दिया गया।

बच्चा : और ये चंबल विकास योजना क्या है ?

बूढ़ा : चंबल विकास योजना नहीं, चंबल घाटी विकास योजना। इसी के अंतर्गत तो सारे विकास कार्यों की रूपरेखा तैयार की गई है कि किस प्रकार तीन बाँध बनाए जाएँगे और उनसे न केवल बिजली पैदा की जाएगी, बल्कि पूरे प्रदेश को सिंचाई सुविधाओं से भर दिया जाएगा, ताकि देश में अन्न की पैदावार बढ़ाई जा सके।

बच्चा : क्यों बावा, जैसे दो आदमी जब मिलकर कोई काम करते हैं या कोई व्यापार करते हैं तो उनमें कभी-कभी झगड़ा भी हो जाता है। ऐसे ही मध्य प्रदेश और राजस्थान राज्य में भी पानी या बिजली को लेकर कोई झगड़ा भी तो होता होगा ?

बूढ़ा : वहुत चंट हो गए हो वच्चू''पर याद है, तुम और गोपाल परसों ज़ोरों से लड़ पड़े थे''याद है ?

बच्चा : हाँ, याद है।

बूढ़ा : तव तुम दोनों के कान पकड़कर मैंने दोनों को अलग कर दिया था। सुलह-सफ़ाई करा दी थी—याद है ?

बच्चा : हाँ बावा !

बूढ़ा : वस, इसीलिए भारत सरकार ने इन दोनों राज्यों की सलाह से चंवल कंट्रोल बोर्ड की स्थापना की है, जिसके अध्यक्ष केंद्रीय उपमंत्री हैं और जो सारे विवादों को निपटाने के लिए सक्षम हैं। अव नियुक्तियों से लेकर परियोजना की प्रगति के प्रत्येक पहलू के लिए यही बोर्ड ज़िम्मेदार है ! इस बोर्ड की दृष्टि हर समय चंबल के विकास पर लगी रहती है।

वाचिका : चंबल के उपेक्षित क्षेत्र की समृद्धि के द्वार खुल गए हैं।

वाचक : लेकिन देश बहुत बड़ा है। अभी जाने कितने क्षेत्रों में ऐसे निर्माण-कार्य किए जाने हैं जो प्रगति और समृद्धि के सपनों को साकार करेंगे।

वाचिका : गांधी सागर बाँध का उद्घाटन करते हुए जननायक पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—.

वाचक : 1961 में हम एक पड़ाव पर पहुँचे हैं, लेकिन जैसे ही हम इस पर पहुँचे हमें ध्यान आता है कि हमें दूसरे पड़ाव पर जाना है। हमारे पास आराम करने के लिए समय नहीं है। एक पड़ाव पर पहुँचते ही हमें अगले पड़ाव के लिए चल देना है। आदमी आते हैं और जाते हैं। देश चलता ही रहता है। उसका कभी अंत नहीं होता।

वाचिका : नेहरू जी ने यह भी कहा था—भारत चलता ही जाएगा, आगे बढ़ता ही जाएगा। अगर हमने समय पर अपने कर्तव्य का पालन किया और हमने अपने परिश्रम से भारत की इस बड़ी यात्रा में कुछ मदद की तो देश के साथ हमारा जीवन भी सफल होगा।

वाचक : नेहरू जी के शब्द आज हक़ीक़त बन चुके हैं। आज चंबल में जन और जीवन की दिशा बदल चुकी है। एक बेहतर और सुखद भविष्य उस क्षेत्र के दरवाज़े पर दस्तक दे रहा है और लोग हँसकर-गाकर उस नए भविष्य का स्वागत कर रहे हैं।

(किसी लोकगीत के साथ समाप्ति)

हमपेशा

(स्थान : एक पार्क की पृष्ठभूमि)

खद्दरधारी : (निश्वास छोड़कर) दुनिया बड़ी अजीब है। (सोहन की ओर से कोई उत्तर न पाकर) आपने भी महसूस किया होगा साहब कि दुनिया बड़ी अजीब है।

सोहन : होगी। पर जहाँ तक मेरी बात है, ज़िंदगी के इन छत्तीस वर्षों में मेरे लिए तो दुनिया कुछ ऐसी अजीब नहीं रह गई है।

खद्दरधारी : लेकिन मैं आपको ऐसी हज़ार मिसालें देकर साबित कर सकता हूँ कि दुनिया वाकई अजीब है। आप शायद उन पर विश्वास न करें मगर वे ऐसी घटनाएँ हैं जो मेरी ही ज़िंदगी में मुझ पर घटित हुई हैं और अपने में बेहद दिलचस्प हैं।

सोहन : हो सकता है, मगर आजकल ऐसी घटनाओं को कौन पूछता है ? सच्ची बात तो यह है कि उपन्यास और कहानी लिखने वालों ने ऐसी सच्ची घटनाओं का महत्त्व ही ख़त्म कर दिया है, क्योंकि वे जो कुछ भी लिखते हैं, वह चाहे काल्पनिक ही क्यों न हो, मगर अवास्तविक नहीं लगता। इसलिए निश्चय ही सभी व्यक्ति भूत-प्रेत संबंधी किस्से या अपने किसी मित्र की बोरिंग प्रेम कहानी सुनने की बजाय शरत् का कोई उपन्यास पढ़ना ज़्यादा पसंद करते हैं। ठीक कह रहा हूँ न ?

खद्दरधारी : (कुछ उलझन के स्वर में) जी हाँ, आपकी बात काफ़ी हद तक ठीक है⋯मेरा ख़याल है आप ब्राह्मण हैं ?

सोहन : जी नहीं⋯मैं मुसलमान हूँ।

खद्दरधारी : मुसलमान ? मगर आपका कुरता-पाजामा देखकर तो सहज ही आपके हिंदू होने का भ्रम होने लगता है। मगर क्या हिंदू ओर क्या मुसलमान, आज की सरकार की नीति ही ऐसी है कि धर्म नाम की कोई चीज़ ही नहीं रह जाएगी। फिर सब इंसानियत के नाते मिला करेंगे। आप करते क्या हैं ?

सोहन : मैं पटना मुस्लिम लीग का सेक्रेटरी हूँ।

खद्दरधारी : ओह ! लेकिन मैं तो सोच भी नहीं सका। आप दरअसल बिहारी-से लगते ही नहीं।

सोहन : जी हाँ। लेकिन मैं बिहार का हूँ भी कहाँ। वात दरअसल ये है कि मद्रास में इंडियन मुस्लिम लीग का हैड ऑफ़िस है। वहाँ हर प्रांत की लीग का पत्र-व्यवहार और अन्य कार्य देखने के लिए एक-एक क्लर्क नियत है। ये ही क्लर्क सेक्रेटरी कहलाते हैं।

खद्दरधारी : ओह ! तो ये कहिए कि आप मद्रासी हैं। वही तो मैं भी सोच रहा था कि आप बिहारी तो हो ही नहीं सकते, हाँ, आपको मद्रासी सहज ही समझा जा सकता है।

सोहन : लेकिन मैं मद्रासी कहाँ हूँ। मुझे तो आप राजस्थानी यानी जयपुर का रहने वाला समझिए। अलबत्ता मेरे वालिद ज़रूर मद्रासी थे।

खद्दरधारी : मैं समझा नहीं···

सोहन : साफ़-सी बात है। मेरे वालिद मद्रास में पैदा हुए और बाद में जयपुर चले गए। जयपुर, वही जयपुर···

ख़द्दरधारी : राजस्थान की सभ्यता और संस्कृति का जीता-जागता नमूना। भला जयपुर को कौन नहीं जानता। इतिहास में जयपुर सचमुच वेजोड़ है।

सोहन : इसमें क्या शक है ? वहाँ के ज़र्रे-ज़र्रे में एक इतिहास छिपा है। वहाँ के बच्चे-बच्चे को वहाँ के वहादुरों की कहानियाँ हिब्ज़ है। ख़ुद मैंने जब पहले पहल राणा प्रताप के संकटों की सच्ची और दर्दनाक कहानी सुनी तो मेरी भी आँखें गीली हो गई थीं।

खद्दरधारी : वह कहानी ही इतनी मार्मिक है कि कोई भी सहृदय व्यक्ति उसे सुनकर रोए बिना नहीं रह सकता।

सोहन : वो तो मैंने अपने वचपन की एक वात वताई। तव मैं बहुत छोटा था। अव अगर इतनी छोटी वातों पर रोने लगूँ तो हो चुकी ख़िदमत कौम की।

खद्दरधारी : ख़ैर, लेकिन इतना तो आप मानेंगे ही कि ज़िंदगी की बीज कहानियाँ बेहद दर्दनाक होती हैं। ख़ुद मेरी ही ज़िंदगी मे ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिन्हें अगर आपको सुनाने बैठूँ तो यक़ीनन आपकी आँखों में आँसू भर आएँगे।

सोहन : माफ़ कीजिए, आप मुझे थोड़ा ग़लत समझ रहे हैं। मैंने अर्ज़ किया न कि दिल नाम की कोई चीज़ अब मेरे पास है ही नहीं।

खद्दरधारी : जी हाँ, आपका फरमाना बिलकुल बजा है। मैं ख़ुद भी पहले ऐसा नहीं था जैसा कि आप मुझे देख रहे हैं। आज से सात साल पूर्व मैं बिलकुल ही भिन्न था, यानी मेरे हालात···

सोहन : (बात काटकर) हालात तो बदलते ही रहते हैं। ये बहुत स्वाभाविक है। बात दरअसल यह है कि वक़्त की गर्दिश में आदमी थोड़ा बहुत तो ज़रूर बदलता है। फिर सात साल का अरसा...

खद्दरधारी : आप समझे नहीं, मेरा मतलब दरअसल ये था कि मेरी हालत पहले ऐसी खस्ता नहीं थी कि तन पर साबित कपड़े भी न हों, और न मैं तब फटीचरों की तरह कुरता-पाजामा पहने इधर-उधर भटकता ही फिरता था।

सोहन : (तड़ककर) देखिए जनाब ! अगर आप ये कुरते-पाजामे वाला इशारा मेरी तरफ़ कर रहे हैं तो आपको अपने शब्द वापस लेने होंगे। आपको क़तई ये हक़ नहीं कि आप इस तरह एक भले आदमी की बेइज़्ज़ती कर सकें।

खद्दरधारी : (घबराहट के स्वर में) माफ़ कीजिए...मेरा मतलब यह नहीं था। मैं तो ख़ुद अपनी बदनसीबी का रोना रो रहा था कि आजकल मेरी माली हालत कितनी ख़राब है। जेब में एक पाई नहीं और न दो-चार दिन तक कहीं से मिलने की कोई आशा है। आप शायद यक़ीन नहीं करेंगे कि आजकल मेरी हालत कैसी ख़राब है, क्योंकि आप ख़ुद कभी इस दशा में नहीं रहे होंगे।

सोहन : (आश्चर्य से) अच्छा, ये बात है ? तब तो आप काफ़ी भाग्यवान हैं। देखिए, नाम तो मुझे ठीक से याद नहीं आ रहा, पर किसी बड़े भारी दार्शनिक ने कहा है कि मनुष्य को भगवान् की तीन देन सबसे बड़ी हैं। उनमें से दो को तो मैं भूल रहा हूँ, पर तीसरी है जेब का पैसों से एकदम ख़ाली होना। आजकल आप उसी स्थिति में हैं, इसलिए उसका शुक्र अदा कीजिए।

खद्दरधारी : लेकिन मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या उस दार्शनिक ने जो कुछ कहा है उस पर ख़ुद भी अमल किया है। या वह भी कभी ख़ाली जेब वाली स्थिति में रहा है।...मेरा दावा है कि नहीं...क्योंकि जो बातें कहने में सरल होती हैं व्यवहार में उतनी ही कठिन होती हैं।

सोहन : (आश्चर्य से) लीजिए...आप भी क्या फरमा रहे हैं ? उसने और ज़िंदगी-भर किया ही क्या ? वह तो वास्तव में अपने उसूलों को अमल में लाने के लिए ही प्रसिद्ध हैं।

खद्दरधारी : हो सकता है। तो फिर ऐसी दशा में उसे अपने दोस्तों से काफ़ी सहायता मिलती होगी।

सोहन : लीजिए, याद आया। उस दार्शनिक के नाम के बाद में आचार्य लगता था और वह जयपुर का ही कोई ब्राह्मण था।...हाँ। अभी आपने क्या फरमाया

"'दोस्तों की सहायता की बात न ! देखिए, जयपुर में इस तरह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वहाँ आदमी की सहायता करना आदमी अपना फ़र्ज़ समझते हैं। यह तो आपको आपका शहर मुबारक हो।

खद्दरधारी : चाहे वह बिलकुल अजनवी आदमी ही क्यों न हो ?

सोहन : जी हाँ।

खद्दरधारी : यानी फ़र्ज़ कीजिए कि मैं वहाँ पहुँचकर किसी मुसीबत में फँस जाऊँ और वहाँ के किसी नागरिक से दस-बीस दिन के लिए वतौर कर्ज़ कुछ रुपए माँगूँ तो क्या मुझे रुपए मिल जाएँगे"'

सोहन : फौरन"'उसी वक़्त"'इतना ही नहीं, बल्कि वह नागरिक आपके कष्टों को सुनकर आपको अपने साथ अपने घर ले जाएगा। उचित स्वागत-सत्कार करेगा"'खिलाएगा-पिलाएगा और तब कहीं रुपए देकर आपको जाने देगा।

खद्दरधारी : हद है शराफ़त की। लेकिन साहब ! अपवाद तो सब जगह होते हैं। यानी सभी लोग तो वहाँ भी एक जैसे नहीं होंगे।

सोहन : बेशक"'लोगों के स्वभाव अलग-अलग तरह के हो सकते हैं, परंतु ये मेहमाननवाजी तो वहाँ की एक रस्म ही है।

खद्दरधारी : लेकिन साहब, मेरा तो ये तजुरवा है कि ये रस्में बस अपने ही घर तक चलती हैं—घर से वाहर निकलते ही आदमी सारी रस्मों को भूल जाता है।

सोहन : "'मैं आपका मतलव नहीं समझा।

खद्दरधारी : मतलव यही कि जयपुर की सीमाओं से बाहर निकलकर तो कोई इन रास्तों का क्या पालन कर पाता होगा।

सोहन : यानी"'?

खद्दरधारी : (बात काटकर) यानी मिसाल के तौर पर मैं आप ही को लेता हूँ। बुरा मत मानिएगा। आप इधर अरसे से जयपुर के बाहर हैं तो अब आपमें वही सब आदतें थोड़ा रह गई होंगी। समझ और वातावरण के अनुसार आप काफ़ी वदले होंगे। शायद आपको स्वागत-सत्कार की वे उदार आदतें भी छूट गई हों"'ऐसा भी हो सकता है कि जयपुर से वाहर आप उन पर अमल ही न करते हों।

सोहन : **(हलकी हँसी के साथ)** ये आदत नहीं जनाब, संस्कार हैं, जो वहाँ की हिंदू संस्कृति की देन हैं और संस्कार तो आदमी चाहे दुनिया के किसी भी कोने में क्यों न चला जाए, वही के वही रहते हैं। अब आप ख़ुद समझ सकते हैं कि मैं बदला हूँगा या नहीं ?

खद्दरधारी : मुझे ये जानकर ख़ुशी हुई। इस सिलसिले में मैं आपसे एक निवेदन करना चाहूँगा कि आप मेरी हालत तो देख ही रहे हैं···और जैसा कि आपकी जेब से ज़ाहिर है, आपके पास काफ़ी रुपए भी हैं। मान लीजिए, अगर इस वक़्त मैं आपसे कुछ रुपयों की दरख़्वास्त करूँ···

सोहन : मुझे आपकी मदद कर बेहद ख़ुशी होती। मगर काश ! ये मौक़ा मुझे आपने किसी और दिन दिया होता। आप यक़ीन कीजिए, मैं सहर्ष अपना पर्स आपको भेंट कर देता···पर आज बुधवार है न···दरअसल ये दिन हमारे यहाँ ज्ञानार्जन और ज्ञानचर्या का माना जाता है। मैंने आपसे कहा न कि ये हिंदू-संस्कार है—और आप जानते हैं, हिंदुओं में ढकोसले बहुत चलते हैं। आज की ज्ञानचर्चा के दिन हमारे यहाँ लक्ष्मी यानी धन का आदान-प्रदान तो क्या, ज़िक्र तक बुरा समझा जाता है। वो तो कहिए, आपने ऐसा ज़िक्र छेड़ दिया वरना मुसलमान हूँ तो क्या, संस्कार तो संस्कार ही है।

खद्दरधारी : (हताश होते हुए) जी···(फिर अचानक उत्साह से) मगर आज तो मंगलवार है, बुध नहीं···

सोहन : (चौंककर) ऐं···(फिर सँभलते हुए इत्मीनान से) बात ये है कि हमारे यहाँ जयपुर में मंगल के बारह बजे से ही बुधवार शुरू माना जाता है। आप तो हिंदू हैं, इसका कारण जानते होंगे···मगर है कुछ ऐसा ही। अच्छा तो अब मैं चलूँगा, बड़ी देर हो गई···आदाब अर्ज···

खद्दरधारी : (थोड़ी देर बाद, स्वगत) झूठा कहीं का···पहले सिरे का मक्कार था। उसकी एक-एक बात झूठी थी। न वह राजस्थान का रहने वाला था, न मुस्लिम लीग का सेक्रेटरी। न वह मुसलमान था, न उसका बाप मद्रासी। मैं सब कुछ समझ गया था···सब कुछ, मगर लालचवश कह न सका। काश, उसके मुँह पर कह पाता···कमबख़्त सोचता होगा, अच्छा बेवकूफ़ बनाया। ठग कहीं का।···ऐ ठग ?—हाँ, ज़रूर वह कोई ठग रहा होगा···लोहा ही लोहे को काटता है—वह ज़रूर कोई ठग था।

चाभियों का गुच्छा

[सिलाई की मशीन की आवाज़...सहसा घड़ी से एक बार टन की ध्वनि होती है। अनुराधा गर्दन उठा घड़ी की ओर देखती है]

(स्वगत)

अनुराधा : ओह ! साढ़े पाँच बज गए...अब आते ही होंगे। **(जम्हाई लेती है)**

[तभी द्वार पर खटखटाहट और साइकिल की घंटी के बजने की आवाज़ होती है]

अनुराधा : **(हर्ष से)** आ गए।

[द्वार खुलने की आवाज़ से थोड़ा अंतराल]

रमेश : अन्नु, ऑफ़िस जाते समय न जाने कितनी बार तुमसे कहा था कि तैयार रहना, चाय पीकर सिनेमा चल देंगे, लेकिन तुम अभी तक मशीन का पीछा पकड़े थीं।

[फिर मशीन चलने लगती है]

रमेश कुछ मैंने भी कहा है—सुना ?

अनुराधा हूँ।

रमेश मशीन चलाते समय तो अच्छी-ख़ासी गृहिणी लगती हो। कौन कह सकता है कि तुम्हें इस घर में आए अभी चार दिन ही हुए हैं।

[मशीन की आवाज़ बंद हो जाती है। पाँवों में चप्पल पहनकर चार क़दम चलने-फिरने की आवाज़, सामान को इधर-उधर रखने की खड़खड़ाहट। ट्रंकों को खोलने, बंद करने की आवाज़]

रमेश : देवी जी ! पाँच बजकर चालीस मिनट हो गए हैं ! कुछ चलने-वलने का विचार भी है या नहीं ?

(अंतराल)

रमेश : माना कि आप नवेली दुल्हन हैं, आपका शर्मीलापन भी वाजिब है, मगर इसका यह मतलब तो नहीं कि हमारी बातों पर ध्यान भी न दिया जाए। यह मुझे भी तो मालूम हो कि आप इस क़दर गुमसुम क्यों हैं ? आख़िर कौन-सा रत्न गुम हो गया है ?

अनुराधा : (तेज़ी से) चाभियों का गुच्छा नहीं मिल रहा है। उसी को खोज रही हूँ।

रमेश : मगर भई, ऐसी भी क्या खोज ? आप डी०फिल० की डिग्री के लिए तो खोज नहीं कर रही हैं कि महीनों लग् जाएँ।

(अंतराल)

रमेश : बंसी, दो ठो सिगरेट देना भई ! और कहीं चुन्नीलाल तो नहीं दिखाई दिए ?

बंसी : सरकार, वे तो बहुत देर से आपकी इंतज़ार कर रहे थे। कई बार आकर पूछ चुके हैं।

रमेश : अच्छा···

[तभी दूर से चुन्नीलाल आवाज़ लगाता है]

चुन्नीलाल : भई, हद हो गई रमेश ! हम तो यहाँ आध घंटे से इंतज़ार करते-करते सूख गए और आप पान की गिलौरियाँ उड़ाने में मस्त हैं।

रमेश : गिलौरियाँ कहाँ, सिगरेट ली हैं दो। लो पियो। पर भाई, में तो तुमसे क्षमा माँगने आया हूँ। हुआ यह कि आज जव ऑफ़िस से लौटा तो पत्नी बुख़ार में सुर्ख़ पड़ी थी। देखते ही मेरे तो होश उड़ गए। फिर भी तुम्हें ख़वर देने चला आया कि कहीं तुम इंतज़ार ही न करते रहो। अव उसे अकेली छोड़कर मेरा तो यहाँ वैठना असंभव ही है।

चुन्नीलाल : (सहानुभूति के स्वर में) च-च ! भाभी जी की तवीयत ख़राव है। यार ! ये तो वुरी ख़वर सुनाई। कोई ऐसी ख़तरनाक···

रमेश : नहीं-नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं, मामूली वुख़ार-सा है वस···

चुन्नीलाल : शुक्र है ख़ुदा का ! मैं तो यार घबरा गया था, पर तुम भी वस बात को आसमान पर चढ़ाकर कहते हो।···पर रही ख़ूब। आज हमारी श्रीमती जी भी नहीं आ सकीं और जानते हो क्यों ?

[चुन्नीलाल की हँसी का स्वर]

रमेश : क्यों, क्या बात हो गई ?

चुन्नीलाल : नहीं, पुरानी आदत है औरतों की। अभी तो तुम्हारी नई-नई शादी हुई है। पर जल्दी ही तुम्हें भी इसका अनुभव होगा।

रमेश : मगर कैसा अनुभव ? क्या आदते हैं औरतों की ? कुछ बताओगे भी या पहेलियाँ ही बुझाते रहोगे ?

चुन्नीलाल : क्या बताऊँ—जब कहीं बाहर निकलने का प्रोग्राम होता है, तभी इनकी चाभियाँ गुम हो जाती हैं। आज भी यही हुआ। जब चलने को हुए तो श्रीमती जी की चाभियाँ ही गुम हो गई। आपकी खो गई, तैयार आप नहीं हो सकीं, और कहें हमें कि दफ़्तर से आने में देर हो गई। यह भी ख़ूब रही। आपको मालूम होना चाहिए कि हम दोनों दफ़्तर में साथ ही साथ काम करते हैं और दफ़्तर से मैं उसी के सामने उठा था। ख़ैर, कोई बात नहीं, कोई और बहाना सोचो। बहाना बनाने में तो काफ़ी चतुर जान पड़ती हो।

अनुराधा : आप तो देखिए···(नाराज़गी के स्वर में)।

रमेश : अहाँ ! हाँ ! हाँ ! अभियोग के विरुद्ध सत्याग्रह। (हँसी की आवाज़) बस, इतनी-सी बात पर नाराज़ हो गई। नाराज़ होने को तो सारा जीवन पड़ा है अन्नु, अभी से अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं। अब तो जल्दी से कोई उपाय बताओ कि चुन्नीलाल से जाकर क्या कहूँगा ?

[ख़ामोशी]

रमेश : अजी साहब ! कुछ फरमाइएगा भी !

अनुराधा : (धीमे स्वर में) उन्हें कह आइए कि तेयार होकर खड़े थे पर ताँगा ही न मिला। सवा छह बज गए तो मजबूरन साइकिल पर सूचना देने आया हूँ।

रमेश : ऊहूँ ! इससे भी काम नहीं चलेगा। वह कहेगा कि चार क़दम पैदल चलने में क्या आपकी श्रीमती जी के पाँवों की मेहँदी छुट जाती। नहीं, यह भी नहीं जमेगी। ओर अक़्ल लड़ाओ।

अनुराधा : (मान के स्वर में) आप ही लड़ाइए न अक़्ल, बड़े अक़्लमंद बनते हैं तो।

रमेश : हूँ···(कुछ ठहरकर) लो, सूझ गई। उससे कहूँगा, भई चुन्नीलाल, गज़ब हो गया। आज में जब ऑफ़िस से लोटा तो देखा कि पत्नी को बड़ा तेज़ बुख़ार है। चेहरा बुरी तरह से दहक रहा है। मैं तो भाई घबरा रहा हूँ। अब उसे अकेला छोड़कर मेरा यहाँ सिनेमा देखना बड़ा मुश्किल है। और घर में कोई है नहीं। सो क्षमा करो। तुम कहीं इंतज़ार ही न करते रहो इसलिए सूचना देने चला आया··कहो, कैसा रहेगा ?

अनुराधा : बहुत ठीक।

रमेश : अच्छा, तो मैं अब चला।

[साइकिल निकालने की, पाँवों की आहट की तथा दरवाज़ा बंद होने की आवाज़]

रमेश : (ज़ोर का ठहाका लगाते हुए) हा ! हा ! हा ! भई, बहुत अच्छे, बहुत ख़ूब''हा ! हा ! हा !

चुन्नीलाल : मगर इसमें हँसने की क्या बात है ? वो कहावत है न कि 'जिजमान जिजमान बाल आगे कू' सो तुम्हें भी जल्दी ही इन रास्तों से गुज़रना पड़ेगा और प्यारे, तुम्हारी श्रीमती जी की चाबियाँ भी इसी तरह खो जाया करेंगी।

रमेश : एक्सीडेंट चुन्नीलाल, एक्सीडेंट ! एक्सीडेंट तो इसी को कहते हैं कि खो जाया करेंगी नहीं, बल्कि खो गई हैं। यानी हमारी श्रीमती जी भी आज इसी कारण नहीं आ सकीं कि उनकी भी चाबियाँ खो गई थीं।

चुन्नीलाल : (ठहाका लगाते हुए) हा ! हा ! हा ! तो यूँ कहो न कि भाभी जी को चाबियाँ गुम होने का ही बुख़ार है। तब तो शुक्र है। मैं तो यार चिंतित हो उठा था। मगर तुम भी पूरे बुद्धू हो जो मुझे इतनी देर इंतज़ार में रखा। अरे, फौरन आकर बता जाते तो मुझे इतनी इंतज़ार तो न करनी पड़ती।

रमेश : बताता कैसे ? चाबियों को ढूँढ़ने में देरी जो हो गई।

चुन्नीलाल : ये और भी बड़ी मूर्खता की बात है कि तुम उन्हें ढूँढ़ते रहे। अरे भाई, इनकी खोई हुई चाबियाँ कभी दो घंटे से पहले नहीं मिलतीं, क्योंकि वे किसी स्थान विशेष पर तो होती नहीं। होंगी कहाँ, या तो किसी साड़ी के पल्लू में या मशीन के खोल-वोल में।

रमेश : वाह चुन्नीलाल, वाह ! तजुरबे की बताई है दोस्त ! चलो, आज इसी के सिले में तुम्हारी दावत रही। मगर चाबियाँ ढुँढ़वानी पड़ेंगी।

चुन्नीलाल : ज़रूर-ज़रूर''हा ! हा ! हा !

(दोनों की सम्मिलित हँसी)

दर्द और धुआँ

[प्रारंभिक संगीत उभरकर टूटता है]

कमल — तुम मेरे साथ ज़्यादती कर रहे हो राजेन्द्र ! तुम मेरे इतने नज़दीकी दोस्त होकर भी क्या मुझसे यह कहना चाहते हो कि मैंने अपनी ज़िम्मेदारियों को निभाने में कोताही की है या मैंने विमला को वह सब नहीं दिया जो एक पति अपनी पत्नी को दे सकता है।

[एक पल रुककर]

प्यार, मान, इज़्ज़त···, दौलत···बताओ मैंने उसे क्या नहीं दिया ? और उसने···उसने मुझे क्या दिया ? छल, फरेब, ढोंग और प्यार का घिसा-पिटा नाटक···यही न ?

राजेन्द्र — तुम्हारी बातें हमेशा समझ से परे होती हैं। मैं तो कभी-कभी यह सोचकर हैरत में पड़ जाता हूँ कि कोई आदमी एक साथ इतने अंतर्विरोधों में कैसे जी सकता है ? कमल, अगर तुम्हारी याददाश्त ख़त्म नहीं हो गई हो तो मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूँ कि इन्हीं विमला भाभी को लेकर तुम्हारे पाँव कभी ज़मीन पर नहीं पड़ते थे। और उनके इसी घिसे-पिटे नाटक को···

कमल — हाँ, इस घिसे-पिटे नाटक को मैं कभी बहुत पसंद करता था, बहुत पसंद। मगर तब तक जब तक मेरी आँखों पर भ्रम का परदा पड़ा हुआ था, मगर जिस दिन मेरी आँखें खुलीं और मैंने देखा कि मुझे मुसलसल चार साल से धोखे में रखा गया है और विमला दरअसल मुझे नहीं···बल्कि···बल्कि किसी और को चाहती है, उस दिन मैं वास्तविकताओं के सामने खड़ा हो गया और मैंने अपने आपको दुनिया में सबसे ज़्यादा अकेला व बेसहारा महसूस किया।

राजेन्द्र — कमल !

कमल — मैं सच कह रहा हूँ राजेन्द्र, और इसलिए कह रहा हूँ कि मैं केवल तुम्हीं से कह सकता हूँ। महीनों से इस दर्द को सीने में छिपाए जी रहा हूँ।

उस दिन अचानक दफ़्तर से जल्दी घर लौट आया था। देखा कि विमला एक तस्वीर के पीछे कुछ छिपाकर रख रही है। मन हुआ कि पूछूँ, क्या है ? मगर फिर चुप ही रहा। थोड़ी देर बाद वह घर के काम-काज में लग गई।

और मैं यों ही कौतूहलवश वहाँ गया और यह लिफ़ाफ़ा निकाल लाया (मेज़ पर लिफ़ाफ़ा फेंककर) लो, पढ़ो इसे।

राजेन्द्र : देखूँ। (पढ़ता है) :

प्यारी विमला,

कितना अरसा हो गया है तुम्हें देखे। इस बीच न जाने कितने परिवर्तन हुए, कितने उतार-चढ़ाव जीवन में आए। कितनी परेशानियों, चिंताओं और उलझनों से मैं गुज़रा···लेकिन उन सबके बीच तुम्हारी याद का गुलाब मुझे बराबर अपनी ख़ुशबू से ताज़ा किए रहा।

सच विमला—मेरा तो विश्वास हो गया है कि सच्चा प्रेम एक ऐसा गुलाब है जो कभी मुरझाता नहीं। जिसकी ख़ुशबू युग-युगांतरों तक हमारे जीवन को महकाती और प्रेरणा देती रहती है। अब यही तो—तुम चली गई मुझसे दूर, बहुत दूर। लौकिक रूप से मेरा तुम पर कोई अधिकार भी नहीं। सुनता हूँ, अब तुम दो बच्चों की माँ हो और तुम्हारा भरा-पूरा सुंदर-सा परिवार है, पर फिर भी मुझे लगता है कि तुम बिलकुल मेरे पास हो। इतनी पास कि मैं तुम्हारे शरीर से निकलने वाली गुलाब की सुगंध को सूँघ सकता हूँ···और···और तुम्हें छू भी सकता हूँ। हालाँकि तुम जानती हो कि मैंने तुम्हें कभी छुआ नहीं।

हाँ, जब भी तुम्हारा पत्र मिलता है तो ऐसा अवश्य लगता है कि दूरियाँ कम हो गई हैं और तुम मेरे बिलकुल निकट आ बैठी हो। तुम्हारे इस पत्र को पाकर भी एकदम ऐसा ही लगा। देखो, संभव है, यह हमारे मिलन का संकेत हो, क्योंकि दफ़्तर के काम से मुझे अगले महीने शायद तुम्हारे नगर में आना पड़े।

सदैव तुम्हारा
राकेश

कमल : देखा ?

राजेन्द्र : हूँ, देख लिया। बात काफ़ी दूर तक बढ़ी हुई लगती है। हालाँकि मैं तो समझता था कि भाभी···

कमल : मैं भी पहले यही समझता था राजेन्द्र कि विमला जैसी एकनिष्ठ पत्नी पाकर मेरा जीवन सफल हो गया है। अब मुझे कुछ पाना शेष नहीं रहा है। मगर मैं कितने बड़े धोखे में था। कैसी भयंकर प्रवंचना की ज़िंदगी जी रहा था। मैं सोचता हूँ तो तन के रोम-रोम में सुइयाँ-सी चुभने लगती हैं।

राजेन्द्र : मगर यह ख़त तो शायद काफ़ी पिछली तारीख़ का है।

कमल : हाँ, तीन महीने पहले का है।

राजेन्द्र : तीन महीने यानी अपर्णा की शादी के भी चार महीने बाद का। (रुककर) अरे हाँ। बाई दि वे··तुम्हारी अपर्णा के क्या हाल हैं ?

कमल : ठीक हैं।

राजेन्द्र : कोई चिट्ठी-विट्ठी आती है··या··शादी होते ही सारा प्रेम-व्रेम भूल गई। भई, अपर्णा जैसी इन मॉडर्न लड़कियों का कोई भरोसा नहीं होता। आँख ओझल कि पहाड़ ओझल।

कमल : नहीं राजेन्द्र ! सभी लड़कियाँ एक-सी नहीं होतीं।

राजेन्द्र : बस-बस, रहने दो यार ! तुम तो शुरू से ही उसकी वकालत करते आए हो। मगर मैं तो अब भी कहता हूँ कि इन लड़कियों के प्रेम की मियाद शादी या ज़्यादा से ज़्यादा उसके एक साल बाद तक की होती है। देखो न, छह महीने में ही गुलाब मुरझा गया··बक़ाया छह महीनों में रही-सही ख़ुशबू भी उड़ जाएगी।

कमल : कैसी ख़ुशबू ?

राजेन्द्र : अरे, प्रेम के गुलाब की ख़ुशबू। वो राकेश साहब ने विमला भाभी को लिखा है न कि सच्चा प्रेम एक गुलाब की तरह होता है। सो उनका प्रेम ऐसा होगा··मगर तुम्हारा और तुम्हारी अपर्णा जी का गुलाब तो सूख ही चला दीखता है।

कमल : (चीख़कर) राजेन्द्र ! मैंने यह नहीं सोचा था कि मैं किसी के पास जा रहा हूँ। अगर मुझे यह मालूम होता कि तुम मेरे व्यक्तिगत प्रसंगो को उपमाओं और प्रतीकों की तरह इस्तेमाल करोगे तो मैं अपनी समस्याओं को लेकर कभी तुम्हारे पास न आता।

राजेन्द्र : मैंने ऐसा तो कुछ नहीं कहा।

कमल : हॉं, कुछ नहीं कहा। मगर फिर भी मैं समझ गया हूँ कि वह राजेन्द्र बदल गया है जिसे मैं अपना दोस्त समझता था। जो मेरी छोटी से छोटी पीड़ा पर भी संवेदना से भर उठता था। जो मेरी तकलीफ़ और अपनी विमला भाभी के दर्द को अपना दर्द समझता था। वह दोस्त आज हमारी विडंवनाओं पर हॅस सकता है। उनसे निस्संग होकर सोच सकता है। चलो, यही तो होना था। जब सब कुछ बदल गया है, तुम कैसे न बदलते।

राजेन्द्र : भई, कमाल है यार ! बात को जाने कहाँ से कहाँ ले जाते हो। आख़िर मैं जान सकता हूँ कि जनाब ने यह नतीजा कैसे निकाल लिया कि भाभी की हर तकलीफ़ अब भी मेरी अपनी तकलीफ़ नहीं है और तुम्हारी हर पीड़ा का

मैं अब भी वैसा ही सहभागी नहीं हूँ ?

कमल : अगर ऐसा होता तो तुम विमला के ख़त की पंक्ति को अपर्णा के संदर्भ में जोड़कर यों हँसने का साहस न करते।

राजेन्द्र : मगर मैं हँसा तो नहीं। हॉ, भाभी के गुलाब वाले प्रसंग को मैंने ज़रूर उठाया और इसलिए कि मुझे उनके और अपर्णा के प्रेम में काफ़ी साम्य दिखाई दिया। तुम्हीं सोचो कि जो पीड़ा भाभी भोग रही हैं, क्या उसी पीड़ा को अपर्णा नहीं भोग रही होगी ?

हॉ, फिर भी मेरा इतना विश्वास ज़रूर है कि अपर्णा इस पीड़ा को या इस गुलाब की सुगंध को उतने दिनों तक अपने साथ नहीं रख सकती, जितने दिनों भाभी ने रखा है और शायद रखना भी नहीं चाहिए···क्योंकि इस सुगंध से किसी एक व्यक्ति को भले ही महक आ जाए, परिवार में तो इससे कड़वाहट ही फैलती है। गहरी कड़वाहट। ओर व्यक्ति केवल व्यक्ति ही तो नहीं, वह एक परिवार भी है···एक समाज जिसमें···

कमल : बस, इसीलिए राजेन्द्र ! मेरे जीवन में, मेरे परिवार मे धुऑ-सा भर गया है। ऐसा धुऑ जो कम होने की बजाय फैलता ही जा रहा है। एक कमरे से दूसरे कमरे में, दूसरे से तीसरे मे और फिर पूरे ऑगन मे और समूचे घर में···और इसमे मेरा दम घुट रहा है···

राजेन्द्र ! मैं तुम्हारे पास इसी घुटन को लेकर आया हूँ। मै इतनी दूर चलकर सिर्फ इसीलिए आया हूँ कि तुम इस धुएँ को मेरी ज़िंदगी से निकाल दो···।

राजेन्द्र : कमल, क्या तुमने कभी सोचा है कि यह धुआँ आख़िर कहॉ से आया ? अगर तुम मुझे ईमानदारी के साथ इन प्रश्नों का उत्तर दे सको तो तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कमल कि मैं तुम्हारे घर से इस घुटन को निकाल दूँगा। तुम जानते हो, विमला भाभी मेरी बात नहीं टाल सकतीं···

कमल : मै जानता हूँ राजेन्द्र, और इसीलिए तुम्हारे पास आया हूँ। तुम विमला के नाम राकेश का वह ख़त पढ़ चुके हो। उसके बाद एक ख़त राकेश का और आया, जो विमला के निमत्रण का उत्तर था। और उसके बाद एक दिन शाम को जब मैं घर पहुँचा तो ड्राइंगरूम में रेडियो बज रहा था।

(फ्लैशबैक)

[रेडियो पर धीरे-धीरे कोई रोमांटिक गीत बज रहा है, जिसके ऊपर एक युवक का स्वर उभरता है।

राकेश : मैं कहता हूँ, तोड़ दो इन दीवारों को। उतारकर फेंक दो यह सारा लवाज़मा, जो तुम्हारे व्यक्तित्व को दबाए हुए है। तुम्हें हँसने-मुस्कराने नहीं देता, तुम्हें आज़ादी से चलने-फिरने और जीने नहीं देता।
विमला ! मेरी मित्र, ज़िंदगी को वही भोगता है जो उसे बदलने की ताक़त रखता है।

विमला : काश ! मैं ऐसा कर सकती राकेश ! शायद हर चीज़ का एक वक़्त होता है और हर क़दम का एक मुक़ाम। अगर क़दम उसी निश्चित समय में उस निश्चित मुक़ाम पर नहीं पड़ते तो बहक जाते हैं। और आज मुझे यह मान लेने में कोई संकोच नहीं कि मेरे सामने ज़िंदगी बदलने का नहीं, उसे बरदाश्त करने का सवाल है। लगता है, मेरे क़दम बहके हुए हैं और मुझे एक ऐसे वियाबाँ में ले आए हैं जहाँ न रास्तों के निशान हैं, न क़दमों की आहट। न चलने की सूरत है, न रुकने की सुविधा—(तेज़ी से) और कोई रेलवे लाइन भी तो नहीं है, जिसके सामने पड़कर मैं अपनी इस बेगुनाह ज़िंदगी का…

राकेश : विमला ! ऐसा मत कहो विमला ! ज़िंदगी बहुत बड़ी न्यामत है। चाहे कितनी मजबूरियाँ, चाहे कितने दर्द और चाहे कितनी दीवारों से घिरी हो, ज़िंदगी हमें कुछ देती ही है…

विमला : क्या देती है ? देखने के लिए सूना-सूना आसमान, जिसमें रोशनी की एक किरण नहीं। जीने के लिए ऐसा मुर्दा माहौल, जिसमें कहीं साँसों की धड़कन नहीं और भोगने के लिए ऐसी भयंकर मनहूसियत, जिसमें कोई भी क्षण नहीं महकता, बल्कि ज़ख़्म की तरह टीस उठता है। बोलो राकेश, यह ज़िंदगी हमें क्या देती है ?

राकेश : अपनी बात तुम ज़्यादा बेहतर जानती हो विमला ! हर व्यक्ति जीवन को अपने दृष्टिकोण से देखता है। वही परिस्थिति, जो एक व्यक्ति को दर्द से पागल कर जाती है, दूसरे को हर्ष से भर सकती है। मगर वैयक्तिक अंतर की इस सचाई को मानने के बावजूद मैं यह कहूँगा कि आदमी को हर परिस्थिति से रस लेना चाहिए, चाहे वह कितनी भी कटु क्यों न हो ? और ख़ासकर तुम, जो परिस्थितियों के सामने घुटने टेक बैठी हो, जिसमें उठकर रवायतों से लड़ने और परंपराओं से विद्रोह करने की सामर्थ्य नहीं है…

विमला : सामर्थ्य सबमें होती है राकेश ! मुझमें भी है। मैं भी आज अपने चार-पाँच साल के वैवाहिक जीवन और सामाजिक प्रतिष्ठा को ठोकर मारकर तुम्हारे साथ चल सकती हूँ…मगर मेरे दोनों बच्चे…और मेरे पति का विश्वास एक ऐसी बाधा है जो मेरे पाँवों पर नहीं, मेरे संस्कारों पर चोट करता है। और

राकेश, सिर्फ़ पाँव ज़ख़्मी होते तो मैं घिसटकर भी तुम्हारे सहारे यह ज़िंदगी गुज़ार देती''मगर ज़ख़्मी संस्कार लेकर मैं तुम्हारी ज़िंदगी पर बोझ नहीं बनना चाहती।

राकेश : यह फिर तुम्हारी अपनी बात है विमला ! मैं तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ कि तुम किसी भी रूप में मुझ पर बोझ नहीं हो सकती। मगर फिर भी कोई निर्णय लेने से पहले तुम अपने आपको मुक्त कर सको तो ज़्यादा अच्छा होगा। विमला, सोचो तो, ज़िंदगी भी एक समझौता है और कुछ नहीं। और जो आदमी इससे जितना गहरा समझौता कर लेता है वह उतना ही सुखी रहता है। मुझे ही देखो, मैं सुखी हूँ, क्योंकि तुम चाहे दूर रहो या पास''मैं तो तुम्हारे प्रेम के गुलाब की ख़ुशबू बराबर अपने भीतर महसूस करता हूँ और मैंने इस स्थिति से समझौता कर लिया है।

विमला : तो फिर तुमने मेरे सामने यह प्रस्ताव क्यों रखा कि मैं इन दीवारों को तोड़ दूँ ? सामाजिक प्रतिष्ठा और मर्यादाओं के इस मिथ्या आवरण को उतारकर फेंक दूँ ?

राकेश : इसलिए कि मैं तुम्हें दुखी और पीड़ित नहीं देख सकता विमला ! जब मैंने देखा कि तुम अभी तक—यानी दो बच्चों की माँ बन जाने के बाद भी अपने अतीत से टूटकर वर्तमान से नहीं जुड़ सकी हो और ज़िंदगी से कोई समझौता नहीं कर पा रही हो''तो मैंने सोचा कि शायद तुम्हें मेरी ज़रूरत हो और संकोचवश तुम मुझसे न कह पा रही हो।

विमला : तुमसे और संकोच ? राकेश, तुम ज़रूर मुझे थोड़ी पराई समझने लगे हो।

राकेश : ग़लत मत समझो विमला ! मेरा मतलब सिर्फ़ इतना ही था कि मुझे लगा, तुम ज़िंदगी से कोई समझौता नहीं कर पा रही हो।

विमला : (साँस छोड़कर) हाँ, राकेश ! शायद यह सच है। मैं सचमुच ज़िंदगी से कोई समझौता नहीं कर सकी। मैंने अब तक पति से प्यार का जो नाटक किया, अगर उसका एक अंश भी मेरी ज़िंदगी में उतर जाता तो मैं शायद सुखी हो सकती थी। और अब तो मुझे लगता है कि मैं कुछ होने, न होने के बीच की स्थिति में लटक रही हूँ। मैं न इन लोगों के साथ जी सकती हूँ और न इन लोगों के बिना। न प्रेमिका के रूप में रह सकती हूँ, न माँ के रूप में। यानी न मेरा कोई रूप है, न आकार। न अस्तित्व है, न धारा। ज़रा सोचो तो राकेश, यह कितनी दर्दनाक स्थिति है कि न मैं उनकी हूँ और न तुम्हारी—और न मैं जी रही हूँ, न मर रही हूँ''

[सहसा एक काँच का गिलास या गमला मेज़ से गिरकर टूटता है]

राकेश : होश में आओ ! तुम बिलकुल होश में नहीं हो विमला !

विमला : मैं एकदम होश में हूँ राकेश ! हालाँकि मुझे होश में नहीं होना चाहिए था। अपनी समस्याओं पर सोचती हूँ तो मुझे आश्चर्य होता है कि मैं आख़िर वर्तमान के अंधकार को भविष्य के और गहरे अंधकार से जोड़ने के लिए क्यों ज़िंदगी को ढोती चली जा रही हूँ ?

राकेश : तुम्हें भविष्य में कोई आशा की किरण नहीं दिखती विमला ?

विमला : नहीं।

राकेश : क्यों ? ये बच्चे जो हैं।

विमला : मुझे इनसे कोई लगाव नहीं। इनके रक्त में मुझे अपनत्व का अहसास नहीं होता। **(सहसा सिसक उठती है)** इन्हें सीने से लगाकर मेरी नसों में मातृत्व नहीं उभरता। मुझे एक मिनट को ऐसा नहीं लगता कि मैं किसी बच्चे की माँ हूँ।

[तभी पृष्ठभूमि में छोटे बच्चों के रोने की आवाज़ आती है]

विमला : **(तेज़ी से फुसफुसाकर)** अरुण जाग उठा है। मैं जा रही हूँ।

राकेश : मगर थोड़ी-सी ही बातें तो रह गई हैं।

विमला : फिर हो जाएँगी कभी। आप जाइए अब। मैं बच्चों को अकेला नहीं छोड़ सकती।

[बच्चे को चुपाने का प्रयत्न, फिर कुछ देर की ख़ामोशी, जिसमें सितार पर अंतर्द्वंद्व-सूचक हलका संगीत बजता रहता है। फिर किसी नारी के निकट आने की पदचाप]

विमला : अरे, आप ?

कमल : हाँ।

विमला : **(घबराए स्वर में)** आप कब आए ? कब से बैठे हैं यहाँ ? मुझे आवाज़ क्यों नहीं दी ?

कमल : जब मैं आया उस समय तुम अपनी वास्तविक दुनिया में थीं, इसीलिए शायद तुम्हें भी आने का पता नहीं चला। वैसे मैंने छिपकर तुम्हें सुनने की कोशिश नहीं की विमला, लेकिन जो ख़ुद-ब-ख़ुद कानों को सुनाई दे गया, उसे अनसुना भी नहीं कर सका।

विमला : ओह ! तो तुम तब से यहीं थे ?

कमल : हाँ, यहीं था, क्योंकि और कहीं भी जाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं रह गई थी। अब तक भी ऐसा लगता है कि जैसे किसी ने मेरे पाँवों के नीचे से ज़मीन

का तख़्ता खींच लिया है और मैं गले में पड़ी हुई रस्सी के सहारे अधर में झूल रहा हूँ।

विमला : (दर्द से) ऐसा ही लगता है।

कमल : ऐसा लगता तो तुम मेरे साथ यह विश्वासघात न करतीं, तुम्हें इतने दिनों तक मेरे साथ प्यार का नाटक करने की ज़रूरत महसूस न होती। तुम सीधे मुझसे कह सकती थीं कि तुम किसी और को चाहती हो···

विमला : जैसे तुमने कह दिया था कि तुम अपर्णा को चाहते हो।

कमल : मेरी बात और है।

विमला : हाँ, तुम्हारी बात और है। तुम्हें यह हक़ है कि तुम घर में विवाहित पत्नी और दो-दो बच्चों के होते हुए रात के बारह-बारह बजे तक घर से बाहर रहो, प्रेमिका को चिट्ठियाँ लिखो। उसकी शादी पर महीनों कमरे में बंद होकर रोओ और घर-दफ़्तर की सारी ज़िम्मेदारियों को ताक पर रख दो···और मुझे यह भी हक़ नहीं कि मैं अपनी ज़िंदगी को साधारण तरीके से जी सकूँ ?

कमल : तुम अपर्णा को बीच में क्यों घसीटती हो विमला ? क्यों उससे ईर्ष्या करती हो ?

विमला : इसलिए कि ईर्ष्या मेरा अधिकार है। जब आप ईर्ष्या कर सकते हैं तो मैं भी कर सकती हूँ। और शायद मेरी ईर्ष्या आपसे ज़्यादा भयानक है। मैं भूल नहीं सकती कि उसकी शादी के दिन किस तरह तुम सारी रात उसका नाम ले-लेकर अपने कमरे में फफकते रहे ! और सुबह जब मैंने तुम्हारी सूजी हुई आँखें देखीं तो मुझे न सिर्फ़ अपर्णा से बल्कि तुमसे भी घृणा हो गई।

कमल : और उसी घृणा के आवेश में तुम अपनी ज़िम्मेदारियों और कर्तव्य को भुला बैठीं।

विमला : कर्तव्य और ज़िम्मेदारियाँ, ज़िम्मेदारियाँ और कर्तव्य—बस, यही तो है नारी। उसके कर्तव्य हज़ारों हैं, अधिकार एक नहीं।

कमल : मैं नहीं समझता था कि भारतीय नारी होकर···।

विमला : हाँ-हाँ, कहिए ना ! रुक क्यों गए ? भारतीय नारी का आदर्श, भारतीय नारी की गरिमा···भारतीय नारी की महिमा और उसका पातिव्रत्य धर्म···इनका बखान कीजिए, मगर मैं साफ़ कहे देती हूँ कि मुझ पर अब इनका प्रभाव नहीं पड़ेगा। इन सब छूछे-खोखले शब्दों की आवाज़ें मेरे लिए अर्थहीन हो चुकी हैं।

कमल : तो तुम प्रतिकार ले रही हो ?

विमला : (सिसककर) मैंने बहुत सहन किया। मैंने आज तक तुमसे तुम्हारी अपर्णा

को लेकर एक शब्द भी नहीं कहा। लेकिन जब मैंने देखा कि शादी के बाद भी उसी की पैशाचिक छाया मेरे परिवार की सुख और शांति को लील रही है तो मेरा धीरज डगमगा उठा।

कमल : तुम जानती हो, तुम किस रास्ते पर चल रही हो ?

विमला : मैं सिर्फ़ यह जानती हूँ कि मैं चल रही हूँ और मेरा रास्ता ग़लत नहीं है ? यह रास्ता कौन-सा है, यह जानने की न मुझे ज़रूरत है और न इच्छा।

कमल : तो तुम्हारा यही फ़ैसला है ?

विमला : फ़ैसला तुम्हें करना है, मुझे नहीं। तुम अपना फ़ैसला मुझे सुना देना और समझ लेना, वही मेरा भी फ़ैसला है।

(फ़्लैशबैक समाप्ति संगीत)

राजेन्द्र : (लंबी साँस छोड़कर) हूँ, बात यहाँ तक आ पहुँची है। अगर तुम बुरा न मानो कमल, तो मैं एक बात कहूँ ?

कमल : कहो !

राजेन्द्र : मुझे इस मामले में भाभी की बातें ज़्यादा वजनदार लगीं। हाँ, ये ज़रूर है कि उनका रुख़ बदला हुआ है और उसमें प्रतिक्रिया भरी है, मगर वे सचाई से एक़दम दूर नहीं हैं।

कमल : राजेन्द्र ! मै तुमसे न्याय-अन्याय या सही-ग़लत का निर्णय कराने नहीं आया, मे तुमसे उपचार पूछने आया हूँ। मैं तुमसे यह पूछने आया हूँ कि इस स्थिति मे तुम मेरी कुछ सहायता कर सकते हो या नही ? या तुम्हे तभी सतोप होगा जब हम दोनों अदालतों की ख़ाक छानते ओर मुहल्ले-मुहल्ले में अपनी वदनामी के चर्चे सुनते फिरेंगे।

राजेन्द्र : ऐसा कभी नहीं होगा दोस्त ! और मेरे रहते तो ऐसा हो ही नहीं सकता। लेकिन यह मत भूलो कि उपचार मर्ज़ की पहचान से ताल्लुक़ रखता है। केवल इच्छा करने से ही मर्ज़ का इलाज नही हो जाता। थोड़ी देर के लिए मान लो कि मैं भाभी से इस बारे में बात करूँ और कहूँ कि आपके और राकेश के सबंधों को लेकर कमल बहुत दुखी है तो क्या पलटकर वे यही उत्तर नहीं देंगी कि मैं भी तो कमल और अपर्णा के संवंधों को लेकर मन ही मन घुलती रही हूँ। तब इसका मेरे पास क्या जवाब होगा ?

कमल : इसका तुम मेरी ओर से कुछ भी जवाब दे सकते हो।

राजेन्द्र : मगर इसका जवाब क्या हो सकता है, सिवाय इसके कि तुम अपर्णा से सारे संबंध तोड़ लो और उसे भी एक सुखी और निष्कलुष जीवन बिताने दो। यह

सच है कमल, कभी-कभी शायद हम अपनी भावनाओं के सामने मजबूर होकर उन्हें किसी विशेष दिशा में बह जाने देते हैं, लेकिन एक समय ऐसा आता है जब हमें उन पर क़ाबू पा लेना चाहिए। जैसे कि अब—अपर्णा की शादी हो जाने के बाद—तुम यदि चाहो तो उस अतीत को भूल सकते हो जो तुम्हारे वर्तमान को बिगाड़ रहा है और भविष्य को प्रभावित कर रहा है। मगर तुम शायद ऐसा न कर पाओ।

कमल : नहीं राजेन्द्र ! मैं कुछ भी करने को तैयार हूँ। अपर्णा के जाने के बाद भी मेरे अंदर इतनी घुटन और इतना धुआँ नहीं भरा था, जितना विमला के इस प्रसंग से भर गया है। मैं जानता हूँ कि वह अभी मर्यादा से बाहर नहीं गई है··· लेकिन वह बदला लेने पर उतारू है और कुछ भी कर सकती है। इसलिए तुम मेरी मानसिक और पारिवारिक शांति के लिए, कोई भी सौदा, किसी भी क़ीमत पर कर सकते हो। विश्वास दिलाता हूँ राजेन्द्र कि मैं पीछे नहीं हटूँगा।

राजेन्द्र : मैं भी वादा करता हूँ कि इस धुएँ को तुम्हारे जीवन से निकाल दूँगा।

कमल : मगर कैसे ?

राजेन्द्र : यह मुझ पर छोड़ दो।

कमल : लेकिन कब ?

राजेन्द्र : बहुत शीघ्र। बस समझो कि अगले महीने जो तुम लोगों की शादी की वर्षगाँठ पड़ रही है न, उस अवसर पर मेरी ओर से तुम दोनों को यही उपहार मिलेगा।

[एक मोटर के रुकने का संकेत]
[साथ ही दरवाजे की कॉलबेल बजती है]

नौकर : (आते हुए) कौन साब हैं ? (हँसता है)

राजेन्द्र : जनाब बाहर तशरीफ़ लाएँ तो मैं अपना नाम, ग्राम वग़ैरह बतलाऊँ।

नौकर : (आकर) कौन साब हैं ? (फिर हँसता है)

राजेन्द्र : क्यों भाई ! किस बात पर ख़ुश हो रहे हो ? तुम्हारे साहब और मेमसाब घर पर हैं ?

नौकर : (फिर हँसता है)

राजेन्द्र : मुँह से बोलो भाई ! साहब लोग घर पर हैं ?

नौकर : (हँसते हुए) हैं, साब !

राजेन्द्र : अच्छा तो आप टैक्सी में से सामान उतारकर लाइए। मैं भीतर जाता हूँ।

[नौकर की हँसी। राजेन्द्र के जाने की पदचाप]
[फिर दरवाज़ा खुलने का संकेत]

राजेन्द्र : वल्लाह, आप लोग ज़िंदा हैं ?

कमल : अरे, राजेन्द्र !

विमला : राजेन्द्र भैया ! जाइए, हम नहीं बोलेंगे। आपने बहुत इंतज़ार कराया।

कमल : हाँ, राजेन्द्र ! तुम तो कल शाम आने वाले थे।

राजेन्द्र : भई, मैं बहुत शर्मिंदा हूँ। एक बहुत ज़रूरी काम के सबब कल नहीं आ सका। मगर अब सोचता हूँ कि यह भी अच्छा ही हुआ। कल आया होता तो अब तक अपना सामान बाँधकर लौट गया होता।

कमल : यह क्यों ?

राजेन्द्र : इसलिए कि इस मुहर्रमी वातावरण में, जहाँ दो आदमी, बल्कि एक आदमी और एक औरत यानी एक पति और एक पत्नी आमने-सामने एकदम ख़ामोश बैठे हों, वहाँ अपना गुज़ारा तो एक पल भी नहीं हो सकता।

[कमल और विमला की सम्मिलित हँसी]

क्यों भाई, बच्चों को भी तुमने ख़ामोशी की ट्रेनिंग दे रखी है क्या ? उनका बोल भी कहीं सुनाई नहीं पड़ता।

विमला : बच्चे आया के साथ गए हुए हैं।

नौकर : (प्रवेश करते हुए) सामान रखवा दिया साब ! हें हें हें।

कमल : ठीक है। जाओ, कॉफ़ी बना लाओ।

राजेन्द्र : मुझे तो लगता है कि तुम्हारे इस नौकर ने अपनी सारी मनहूसियत उतारकर तुम्हें दे दी है और तुम लोगों की हँसी ख़ुद पहन ली है। वल्लाह...(धीरे से) कौन-से अजायबघर से पकड़ लाए हो इसे ?

कमल : (मुस्कराकर) क्या बताऊँ। एक दिन गुस्से में मैंने इसे डाँट दिया था कि क्या हर वक़्त मनहूस-सी शक्ल बनाए रहते हो ? घर में आने वालों का हँसकर और मुस्कराकर स्वागत करना चाहिए। बस, उसी दिन से इसने अपने कर्तव्यों में हँसना भी शामिल कर लिया है, और चाहे कोई आए, ये अपनी अकारण हँसी से उसका स्वागत ज़रूर करता है।

राजेन्द्र : अच्छा, ख़ैर छोड़ो, ये बताओ, वो पार्टी किस वक़्त है ?

कमल : कैसी पार्टी ?

राजेन्द्र : अच्छा जी। यानी हमारा दिमाग़ ख़राब है जो चार सौ मील चलकर आ रहे हैं। और आप पूछते हैं कैसी पार्टी ? आज कौन-सी तारीख़ है भला ?

कमल : ओह, शादी की वर्षगाँठ ! तो इस बारे में साफ़ सुन लो राजेन्द्र ! मैं पार्टी-वार्टी कुछ नहीं करूँगा। अलबत्ता कहोगे तो चार-छह दोस्तों को खाने पर बुला लूँगा।

राजेन्द्र : चलिए, यही सही। मगर यह नेक काम भी अभी फ़ौरन कर डालिए। अभी

सुबह-सुबह का वक़्त है, सब लोग घर पर होंगे। मिल भी जाएँगे। शाम को क्या पता दफ़्तर से ही इधर-उधर खिसक जाएँ और पार्टी में हम तीन ही लोग दिखाई दें। हाँ, धीर और सुरेन्द्र को मेरी तरफ़ से भी कह देना। और हाँ, एक दोस्त मेरे साथ और आए हैं—रमेश खन्ना। बहुत बड़े नाटककार हैं। वे 'कैपिटल' में ठहरे हैं। उन्हें टेलीफ़ोन करके दोपहर के खाने पर बुला लेना अभी घंटे-आध घंटे के भीतर।

कमल : (जाते हुए) ठीक है।

राजेन्द्र : अरे यार ! कॉफ़ी तो पीते जाओ। वरना तुम्हारे हिस्से की प्याली बेकार जाएगी।

कमल : (दूर से) मेरा कोई हिस्सा इस घर में नहीं है।

राजेन्द्र : भाभी ! (चुटकी बजाकर) ओ भाभी ! मैं पूछता हूँ, सुना आपने यह क्या कह गया ?

विमला : राजेन्द्र भैया, अब बहुत हो गया। भगवान् के वास्ते अब इस नाटक को ख़त्म करो। मुझसे उनके चेहरे पर पीड़ा और दर्द की ऐसी परछाइयाँ नहीं देखी जातीं। देखते नहीं, आज हमारे विवाह की वर्षगाँठ है और मैं उनके साथ अजनबियों वाला व्यवहार कर रही हूँ˙˙˙मेरी आत्मा मुझे धिक्कार रही है। राजेन्द्र भैया, तुमने मुझे किस चक्कर में उलझा दिया ?

राजेन्द्र : अच्छा जी, बजाय मुँह मीठा कराने के अब आप हमें ही दोष देने लगीं। पहले तो कहती थीं कि किसी तरह इस अपर्णा नाम की चुड़ैल की छाया इनके सिर से उतार दो। वरना यह इन्हें और मुझे और हमारे साथ पूरे परिवार को डस लेगी। और अब जबकि अपने मंत्रों से हमने उस चुड़ैल को भस्म कर दिया है तो आप दयावान हो उठी हैं ?

विमला : दयावान होने की बात नहीं है राजेन्द्र भैया ! मैंने पिछले तीन-चार महीनों से बराबर वही नाटक किया है जो तुमने बताया था। इनके साथ बोली नहीं, इनके साथ खाना नहीं खाया, इनके साथ कहीं घूमने नहीं गई और एक तरह से इनसे अपने सारे संबंध तोड़ लिए˙˙˙मगर आज के दिन मुझसे नहीं रहा जा रहा। मैं तुमसे साफ़ कहे देती हूँ राजेन्द्र भैया कि वे आ जाएँगे तो मैं उनके पाँवों में गिर पड़ूँगी, उनसे माफ़ी माँग लूँगी, लेकिन मैं उन्हें और दुःख नहीं दे सकती।

राजेन्द्र : देखो भाभी, तुम सारा खेल चौपट कर रही हो। कहीं सचमुच तुम उस कमल से माफ़ी माँग बैठी न, तो यह राकेशवाद का झुनझुना ज़िंदगी-भर के लिए तुम्हारी गर्दन में पड़ जाएगा और मैं हाथ झाड़कर एक तरफ़ हो जाऊँगा।

विमला : (ख़ुशामद से) राजेन्द्र भैया, इसे आज ख़त्म करा दो न !

राजेन्द्र : अरे भई, इसीलिए तो आया हूँ। मगर देखो भाभी, तुमने अगर माफ़ी-वाफ़ी माँगी तो फिर मुझसे कुछ उम्मीद न करना।

विमला : (उल्लास से) तो तुम ख़त्म करा दोगे ? अभी, इसी समय।

राजेन्द्र : हाँ-हाँ, अभी, इसी समय। पर उसे आ तो जाने दो।

नौकर : (कॉफ़ी के दो प्याले लेकर आता है) हें-हें, काफ़ी साब !

राजेन्द्र : ठीक है। रख दो। वह लो, कमल भी आ रहा है। (नौकर से) सुनो, भागकर एक प्याला और ले आओ।

नौकर : लेकिन इस घर में साब···हें हें हें, साब लोग साथ-साथ नहीं खाता है साब !

राजेन्द्र : तुम पहले जाकर एक प्याला ले आओ, बाद में बकवास करना।

नौकर : हें हें हें, जाता है साब !

कमल : (आते हुए) नौकर को क्यों डाँटते हो राजेन्द्र ? यह तो आपकी भाभी जी का हुक्म है, इन्हीं से कहो न !

राजेन्द्र : इनसे कह चुका हूँ हुज़ूरआला ! और इन्हीं की इजाज़त से तय पाया है कि आज, बल्कि अभी, आप दोनों अपने-अपने दर्द मेरे हवाले कर देंगे और भविष्य में शरीफ़ पति-पत्नियों की तरह ज़िंदगी बिताएँगे।

कमल : यानी कि तुम···

राजेन्द्र : जी हाँ, मैं भाभी से सारी बातें कर चुका हूँ। अब आप जल्दी से अपनी अपर्णा जी के पत्रों का पुलिंदा मेरे हवाले कीजिए और भाभी जी, आप भी राकेश जी के फ़ोटो और प्रेम-पत्र वग़ैरह, जो कुछ आपके पास हों, ले आइए।

विमला : राजेन्द्र भैया ! क्या कह रहे हो ?

राजेन्द्र : ठीक ही तो कह रहा हूँ। जाइए न, जाइए आप !

[विमला के जाने की आहट]

कमल : लो, ये रहे उसके पत्र।

राजेन्द्र : लाओ।

नौकर : हें हें हें, कोई आया है साब !

राजेन्द्र : उन्हें दो मिनट बाद यहीं ले आना।

कमल : मगर देखूँ तो कौन है ?

राजेन्द्र : फिर देखा जाएगा। (आती हुई भाभी से) हाँ तो भाभी, आप कुछ लाईं ?

विमला : (मेज़ पर कॉपी पटखते हुए) ये लीजिए।

राजेन्द्र : (कॉपी उठाकर) इतनी बेक़द्री। देखिए भाभी, ये जो पैकेट मेरे बाएँ हाथ में आप देख रही हैं न, इसमें अपर्णा के पत्रों का ख़ज़ाना है। और भविष्य में यदि

कमल उससे कोई भी संबंध रखे तो आपको हक़ होगा कि आप इन पत्रों को रजिस्टर्ड डाक से उसके पति के पास भिजवा दें। क्यों कमल, मंज़ूर है ?

कमल : मुझे मंज़ूर है। मगर ये भी तो वादा करें।

विमला : मैं कैसा वादा करूँ ?

राजेन्द्र : आप चुप रहिए भाभी, मैं आपको बताता हूँ। ये कॉफी तुम अपने हाथ में लो कमल ! और भाभी, तुम वादा करो कि आज से इस कॉपी में से कोई डायलॉग नहीं बोलोगी।

विमला : (हँसते हुए) मैं वादा करती हूँ।

कमल : ये क्या मज़ाक़ है राजेन्द्र ! ये कॉपी किसकी है ?

रमेश : ये मेरे नाटक की पांडुलिपि है कमल साहब ! लाइए, इसे मुझे दीजिए।

कमल : आपकी तारीफ़ ?

रमेश : जी, असल नाम तो मेरा रमेश खन्ना है, मगर एक दिन के लिए मुझे इस नालायक दोस्त राजेन्द्र माथुर की ख़ातिर राकेश भी बनना पड़ा था। और आपके घर मे इस कॉपी से डायलॉग्स भी बोलने पड़े थे। आश्चर्य है, आप मेरी आवाज़ नहीं पहचान पा रहे। आप तो यहीं बैठे सुन रहे थे।

कमल : और वे ख़त ?

रमेश : कैसे ख़त ?

कमल : जो आप विमला को लिखते थे ?

रमेश : मै···?

राजेन्द्र : वो ख़त ये नही, बल्कि आपकी भाभी अर्थात् मेरी श्रीमती जी जयपुर यानी अपने मायके से लिखा करती हैं। अब आया आपकी अक़्ल में ?

कमल : ओफ़ ! मुझे भारी बेवकूफ़ बनाया है तुम लोगों ने।

राजेन्द्र : हमने नहीं, ईश्वर ने बनाया है।

[सब ज़ोर से हँसते हैं]

नौकर : हें हें हें, साब, कॉफ़ी···

राजेन्द्र : कॉफी नही, मिठाई लाओ। और सुनो, तुम इनसे अपनी पुरानी मनहूसियत वापस ले लो। समझे। आज से तुम हँसोगे नहीं। ये क्या हर वक़्त हें हें लगाए रहते हो ?

नौकर : हाँ, साब ! ठीक बोलता है साब ! हँसने में बहोत तकलीफ़ होता है। अब तो साब लोग हँसने लगा है, साब ! हम नहीं हँसेगा···थैंक्यू साहब ! थैंक्यू···

(सबकी हँसी)

चलती चक्की देखकै...

(कबीरदास के दार्शनिक पक्ष पर आधारित संगीत रूपक)

[पृष्ठभूमि में उदास संगीत तेज़ होकर फिर धीमा हो जाता है]

पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात,
देखत ही छिप जाएगा ज्यों तारा परभात।
आए हैं सो जाएँगे राजा रंक फ़कीर,
एक सिंहासन चढ़ि चले एक बँधे ज़ंजीर।
यह तन काँचा कुंभ है लिए फिरै था साथ,
टपका लागा फूटिया कछु नहिं आया हाथ।
हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी केस जरै ज्यों घास,
सब जग जरता देखकर भए कबीर उदास।।

वाचक का स्वर : जैसा पानी का बुदबुदा होता है वैसा ही हमारा यह जीवन है : अस्थिर और क्षणभंगुर। कच्चे घड़े के समान यह हमारा तन नश्वर है। हम राजा हों या रंक, हमें एक दिन काल का ग्रास होना ही है। चिता की लपटों में हमारी हड्डियाँ लकड़ी की तरह और हमारी सुंदर केश राशि घास की तरह जल उठेगी।

[पृष्ठभूमि का संगीत उभरकर धीरे-धीरे ख़त्म होता है]

पुरुष-स्वर : तुमने कबीर की ये साखियाँ सुनीं ?

नारी-स्वर : हाँ, सुनीं।

पुरुष-स्वर : आज उत्तर भारत के हर प्रदेश और हर नगर में इन साखियों का प्रचार है। जीवन की क्षणभंगुरता और निस्सारता को कितने सरल और सादे शब्दों में व्यक्त कर दिया गया है।

नारी-स्वर : होगा। पर आज के युग में इस दर्शन का हमारे लिए क्या उपयोग ?

पुरुष-स्वर : क्यों, क्या आज के युग में मानव नहीं रहते ?

नारी : रहते हैं, किंतु वे तत्त्व चिंतन नहीं, कर्म और निर्माण की बातें करते हैं। उनका संबंध पलायन से नहीं, प्रगति से है।

पुरुष : तो तुम्हारे विचार से कबीर पलायनवादी हुए।

नारी : और नहीं तो क्या, जीवन और जगत् को निस्सार बताने वाला प्रगति और कर्म का प्रेरक है ? आज हम और हमारा समाज एक ऐसा दृष्टिकोण विकसित कर चुके हैं, जिसमें अपने देश के साथ संसार को भी सौंदर्य से मंडित कर देने की भावना है। ऐसी स्थिति में यदि कबीर का संसार के प्रति जो दृष्टिकोण है, उसे स्वीकार कर लिया जाए तो इसका मतलब क्या ये नहीं होगा कि हम अपने निर्माण के सारे प्रयत्नों को मिथ्या मानते हैं।

पुरुष : (हँसकर) मुझे ये देखकर ख़ुशी हुई कि तुम सामाजिक प्रगति और निर्माण के प्रति इतनी जागरूक हो। पर तुम्हें भी शायद ये जानकर ख़ुशी होगी कि कबीर का दृष्टिकोण समाज के प्रति लगभग वैसा ही था जैसा महात्मा गांधी का। जीवन के प्रति जितनी स्वस्थ और रचनात्मक दृष्टि कबीर की थी उतनी किसी भी भारतीय कवि की नहीं रही···

नारी : हो सकता है उस समय की परिस्थितियों के लिए कबीर का महत्त्व हो, परंतु···

पुरुष : तुम्हारा कहना ठीक है। उस समय परिस्थितियाँ और थीं। मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो चुका था। हिंदुओं के मन मे असफलता का आतक ओर भय भरा हुआ था। इसलिए दोनों के संबंधों में अनायास दूरी बढती जा रही थी। कबीर ने इस स्थिति को समझा। वे कवि नहीं थे···वे बिलकुल अशिक्षित थे, छंदों और अलंकारों का भी उन्हें कोई ज्ञान नहीं था, फिर भी अपनी बात को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने छंद को ही माध्यम बनाया।

[पृष्ठभूमि में संगीत धीरे-धीरे उभरता है]

मैं सोचता हूँ कि यदि मनुष्य के पास सचमुच प्रखर अनुभूतियाँ हैं तो वह चाहे गद्य में व्यक्त हो चाहे पद्य में, जनता उन्हें चाव से ही ग्रहण करेगी। देखो तो, आज भी कबीर के पद हमारे समाज में कितने लोकप्रिय हैं !

[गीत उभरता है]

गीत

रहना नहीं देश बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ-पुलझ मर जाना है।।
रहना नहीं देश बिराना है।

[संगीत कुछ धीमा होता है]

नारी : मगर यह तो मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं है।

पुरुष : पहले गीत सुन लो।

[फिर गीत के बोल उभरते हैं]

यह संसार झाड़ औ' झंखार आग लगे बरि जाना है
कहत कबीर सुनो भाई साधो सतगुरु नाम ठिकाना है।

पुरुष : हाँ, तो क्या पूछ रही थीं तुम ?

नारी : मैं कहना चाह रही थी कि एक ओर तो कबीर संसार को असार बताते हैं जैसा कि इसी गीत से स्पष्ट है और दूसरी ओर जैसा आप कहते हैं, उनका दृष्टिकोण जीवन और समाज के प्रति रचनात्मक था, तो क्या ये दोनों बातें आपस में अंतर्विरोधी नहीं हैं ?

पुरुष : बिलकुल नहीं हैं। बताओ, यह गीत क्या आज भी लोगों की आध्यात्मिक भूल को तुष्टि नहीं देता। मैंने तुमसे कहा था न कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। इसीलिए किसी मौलिकता की बजाय उन्होंने समस्त अंतर्विरोधी धाराओं की विशेषताएँ एकत्र कर एक नए पंथ का सूत्रपात किया। जिनमें देश ही बिरना है और हिंदू-मुसलमान सब नश्वर हैं तो फिर झगड़ा कैसा ? उनका उद्देश्य मानव मात्र में एक-दूसरे के प्रति प्रेम भाव उत्पन्न करना था। इसलिए जिन छोटे-छोटे स्वार्थो के कारण मनुष्य एक-दूसरे से दूर होते जा रहे थे, उनके प्रति कबीर ने संसार को असार कहकर अपनी विरक्ति प्रदर्शित की।

नारी : तुम्हारा मतलब है कि कबीर ने उस स्वार्थपरता को असार कहा जिसके कारण लोगों में प्रेम और सद्भावना घट रही थी। नैतिक मूल्य और मान्यताएँ टूट रही थीं।

पुरुष : और लोग धर्म के नाम पर ईश्वर से दूर होते जा रहे थे। स्वार्थ-चिंतन

और आत्म-हित प्रमुख हो उठा था। ऐसे ही उलझन में कबीर ने गाया था।

[पृष्ठभूमि में उदास संगीत]

या जग अंधा मैं केहि समुझावौ
एक दुई होयं उन्हें समझावौ
सबहिं भुलाना पेट के धंधा। मैं केहि…

[गीत की पंक्तियाँ धीरे-धीरे फेड आउट होती हैं और स्वर उभरता है, संगीत चलता रहता है]

वाचक का स्वर : आत्महित की चिंता में लीन ये सारा जग अंधा है। मैं किसे-किसे समझाऊँ ? एक-दो हों तो कहूँ भी। सभी स्वार्थ में लीन हैं। इन्हें मालूम नहीं कि इस संसाररूपी वन में आग लगी है और ये सब भटकते फिर रहे हैं। इनकी स्थिति उस अंधे की-सी है जो दीया बालकर घर में रखी चीज़ ढूँढ़ता फिर रहा हो। पर बिना गुरु और ज्ञान के उद्धार कहाँ ?

[संगीत उभर आता है]

लागी आग सकल बन जरिगा
बिन गुरु ज्ञान भटुकिया बंदा
कहे कबीर सुनो भाई साधो
इक दिन जाय लँगोटी झार बंदा।

नारी : समाज की स्वार्थग्रस्त भावना का कैसा हृदयस्पर्शी चित्र है। सचमुच कबीर ने अपने समाज की बुराइयों को गहराई से महसूस किया था…

पुरुष : और केवल महसूस ही नहीं किया बल्कि उनका विश्लेपण कर उन्हें दूर करने का भी प्रयत्न किया। उन्होंने देखा कि तत्कालीन समाज में धर्म की जड़ें बहुत गहरी हैं, पर उसका बाह्य रूप विकृत और पाखंडपूर्ण है। एक ओर यदि वज्र यानी सिद्ध और नाथपंथी जनता को हठयोग और तंत्र-मंत्र के झूठे आकर्षण में फाँसे हैं तो दूसरी ओर सूफ़ी, पीर और पंडित कर्मकांड के जाल बिछाए बैठे हैं। बाह्य साधना के लुभावने आकर्षण और वास्तविक भक्ति के दार्शनिक सिद्धांतों में उलझी सीधी-सादी जनता पथभ्रष्ट हो रही है…

(म्यूज़िक)

[संगीत में ही धीरे-धीरे सारंगी के स्वर उभरते हैं]

अवधू रहिया हाटे-बाटे रूप विरष की छाया
तजिबा काम-क्रोध; लोभ-मोह संसार की माया।
अलख निरंजन

तीन-चार स्वर : अरे, योगीराज आ गए ! योगीराज आ गए ! आइए महाराज !

स्वर 1 : आइए, इधर विराजिए योगीराज !

स्वर 2 : महाराज, इधर आइए !

स्वर 1 स्त्री : आप खड़े क्यों हैं महाराज, विराजिए न ! खड़े-खड़े आपके चरण दुखने लगे होंगे।

योगी : (हँसकर) अलख निरंजन ! पुत्री ! जो साढ़े तीन वर्ष तक एक टाँग पर खड़ा होकर साधना कर सकता है, जो हिमालय की कंदराओं में निर्जल निर्वसन बर्फ़ पर अस्सी दिन की समाधि लगा सकता है, जिसे आठ योगनियाँ और चार प्रेत सिद्ध हैं···तुम्हें उसके पाँव दुखने की चिंता है···

[फुसफुसाहट के स्वर]

कुछ स्वर : बड़े पहुँचे हुए महात्मा हैं···बड़े सिद्ध पुरुष हैं···

स्त्री : अपराध क्षमा हो महाराज, कुछ जलपान तो ग्रहण कीजिए।

योगीराज : अब समय नहीं है पुत्री ! संध्या को हम तेरा आतिथ्य ग्रहण करेंगे। जय गुरु गोरखनाथ···जय गुरु मछिंदर नाथ···

[स्वर धीरे-धीरे दूर होते जाते हैं]

(पाँच सेकेंड का विराम)

स्वर 1 : बड़े पहुँचे हुए सिद्ध जान पड़ते थे।

स्वर 2 : सब पाखंडी हैं। परसों एक कनफटा जोगी आया था। वह भी बड़ी सिद्धियों की बात करता था। पर सुबह होते ही कंबल उठाकर चलता बना।

स्वर 1 : लेकिन सब एक-से नहीं होते भाई ! आज भी हमारे यहाँ ऐसे योगी हैं जो अपने मंत्र के बल से चाहें तो मुरदों को जिला दें और चाहे तो असंभव को भी संभव कर दिखाएँ।

स्वर 2 : (हँसकर) कैसी बातें कर रहे हो ? भला इनमें ऐसी शक्ति होती तो क्या हम इनके देखते-देखते इस प्रकार अपनी स्वतंत्रता खो बैठते ?

[दूर से चिमटा बजने की ध्वनि निकट आती है]

ये लो, एक और महात्मा आ रहे हैं।

महात्मा : याअली या बजरंगबली।

स्वर 2 : आइए महाराज !

महात्मा : अली-बजरंगबली, ईश्वर-खुदा, पीर-पैगंबर सब एक आदमी के भीतर (सीना ठोंककर) एक आदमी के भीतर।

[चिमटा खनकाता है]

स्वर 2 : विराजिए महाराज !

महात्मा : ख़ामोश, ख़ामोश ! देख तो, आवाज़ आ रही है। देख, वो ऊपर वाला क्या कह रहा है ? (सुनने का नाट्य करता है) आह ! आराम हराम है। हॉ, इस शरीर को निकम्मा रखकर नष्ट नहीं करना है।

[शरीर पर चिमटे मारता है]

स्वर 2 : महाराज, क्यों इस शरीर को इस प्रकार कष्ट दे रहे है। हमसे नही देखा जाता।

महात्मा : हमसे नहीं देखा जाता। नहीं देखा जाता तो ऑखें मूँद लो। अगर इस शरीर को मार-कूटकर कष्ट सहने की आदत नही डालेगे तो तप और साधना का दुर्गम पथ केसे पार होगा ?

स्वर 1 : धन्य हो महाराज ! धन्य हो !

महात्मा : याअली या बजरग बली !

[चला जाता है]

स्वर 1 : अहा ! कैसा दिव्य व्यक्तित्व था ! देखकर आत्मा तृप्त हो गई। न कुछ याचना, न आकांक्षा ! न हिंदू, न मुसलमान ! बस अपनी ही लगन है और उसी मे मस्त...

स्वर 2 : जानता हूँ, सब खाने-कमाने के ढंग हैं। ये महाराज अभी इस प्रदेश में नए-नए आए हैं, इसलिए शायद भूमिका बना रहे हैं। भक्तों का समूह इकट्ठा कर रहे हैं। कल से अपना धंधा शुरू कर देंगे।

स्वर 1 : तुम्हें तो हर साधु को अविश्वास से देखने की आदत है।

स्वर 2 : मगर हम कब तक विश्वास करें ? किस-किस पर विश्वास करें ? रोज़ाना ही दसियों साधु आते हैं। कोई सिद्ध है, कोई योगी; कोई सूफी है, कोई संत। सबके अलग-अलग रास्ते हैं और अलग-अलग उपदेश। पर हम किसे मानें ? कहाँ जाएँ ?

(संगीत)

पुरुष-स्वर : ऐसे भ्रम, अनिश्चय और अविश्वास की स्थिति में भारतीय समाज के रंगमंच पर महात्मा कबीरदास का उदय हुआ। उन्होंने सिद्धों से योग, वेदांतियों से राम और सूफ़ियों से प्रेम लेकर कबीर पंथ की नींव डाली।

नारी-स्वर : पर तुम तो कहते थे कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। फिर वे दार्शनिक सिद्धांतों के मर्म तक पहुँचकर अपने मतलब की बातें कैसे चुन सके ?

पुरुष : हाँ, यह एक प्रश्न ज़रूर है। परंतु कबीर के जीवन को जानने वालों के लिए इसका उत्तर कठिन नहीं है। वस्तुतः इसके लिए शब्द ज्ञान की नहीं, व्यवहार ज्ञान की आवश्यकता होती है और वह कबीर के पास था। दुनिया घूमकर उन्हें इतना अनुभव हो गया था कि वे समाज और संस्कृति की आवश्यकताओं को पहचानते थे। अतः उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता पर ज़ोर दिया। और इस एकता की राह में बाधक हर तत्त्व को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया, इसलिए कबीर ने धर्म पर भी व्यंग्य किए और समाज पर भी। और इस सारी स्थिति के लिए उन्होंने दोषी ठहराया उन साधुओं को, जो कपड़े तो रँग लेते हैं पर मन नहीं रँगते।

पद

मन न रँगाए रँगाए जोगी कपरा
आसन मारि मंदिर में बैठे नाम छाड़ि पूजन लागे पथरा
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौलैं, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होय गैले बकरा
मथवा मुड़ाए जोगी कपड़ा रँगौलैं गीता बाँचि के होइगैले लबरा
कहत कबीर सुनो भई साधो जम दरवजवाँ बाँधलजैवे पकरा

नारी : सचमुच इन पंक्तियों में कबीर ने ढोंगियों के आडंबर पर अत्यंत पैना और तीखा व्यंग्य किया है।

पुरुष : वास्तव में कबीर का कवि व्यक्तित्व एक विद्रोही का व्यक्तित्व है। जिसके काव्य की एक-एक पंक्ति, तत्कालीन समाज और उसकी परंपराओं को चुनौती है।

उन्होंने कर्मकांडी हिंदुओं और मुसलमानों को ललकारकर कहा...

अरे इत दोउन राह न पाई
हिंदू अपनी करै बड़ाई गागर कुवन न देई
वेस्या के पायन तर सोवै यह देखो हिंदुआई
मुसलमान के पीर औलिया मुरगा मुरगा खाई
खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहिं में करै सगाई
हिंदुन की हिंदुआई देखी तुरकत की तुरुकाई
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह है आई।

कबीर ने जिस एक बात पर सबसे ज़्यादा ज़ोर दिया—वह है प्रेम।

पुरुष : भारतीय विचारकों में प्रेम का यह सिद्धांत महात्मा कबीर की मोलिक देन है जो लौकिक और पारलौकिक संवंधों पर समान रूप से लागू होता है। जाति-पाँति, ऊँच-नीच और छोटे-बड़े के भेदभाव को कम करने में कबीर का सबसे बड़ा योगदान है। उत्तर भारत के छोटे-बडे नगरों मे गूँजने वाली उनकी साखियाँ प्रेम का चिरंतन सदेश देती हैं ..

नारी : परंतु कुछ लोगों ने कबीर पर जो ग्रह्य रहस्यवादी होने का आरोप लगाया है क्या उसमें कोई तथ्य नहीं ?

पुरुष : अवश्य है। कबीर की कविता में आध्यात्मिक शब्द ओर संकेत भरे पड़े हैं। परंतु तत्कालीन समाज की आध्यात्मिक सतुष्टि के लिए उनकी आवश्यकता थी। वेसे मूलतः कबीर का दृष्टिकोण समाज-सुधारक का दृष्टिकोण था, जो उनकी साखियों में स्पप्ट झलकता है...

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब
पल में परलै होयगी बहुरि करैगा कब

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय

कबीर संगत साधु की ज्यों गंधी का वास
जो कुछ गंधी दे नहीं तो भी बास सुबास।

दुख में सुमिरन सब करैं सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै तो दुख काहे को होय।।

वाचक : सुख और दुःख जीवन के साथ लगे हैं। यह संसार एक चलती चक्की है जिसका एक पाट जन्म-मरण का क्रम है तो दूसरा आर्थिक और सामाजिक विषमताएँ। संसाररूपी चक्की के इन्हीं दो पाटों में मनुष्य का सारा जीवन बीतता है। समाज के सुख-दुःख और मनुष्य का जीवन-मरण कबीरदास की कविता में इसी विषय का प्राधान्य है। उन्होंने ख़ुद कहा है…

चलती चक्की देखकै दिया कबीरा रोय
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।

(धीरे-धीरे म्यूज़िक फेड आउट)

साहब का कुत्ता

(दामोदर सदन की कहानी पर आधृत नाट्य रूपांतर)

[दफ़्तर का वातावरण, जिसमें सहसा कॉलबेल बजती है और एक चपरासी के दरवाज़ा खोलकर प्रवेश करने का संकेत]

श्रीवास्तव : ज़रा मुदलियार बाबू को भेजना।

चपरासी : बहुत अच्छा साहब !

[टेलीफ़ोन की घंटी बजती है]

श्रीवास्तव : हैलो, मैं श्रीवास्तव बोल रहा हूँ, सेक्रेटरी इंपोर्ट बिजनेस प्रमोशन कंपनी, अच्छा शर्मा साहब ! धन्यवाद ! हॉ, बस समझिए कि मिल ही गया। ···नहीं-नहीं, भई, मैंने कोई कोशिश सिफारिश नही की···और सच पूछो तो मुझे ख़ुद आश्चर्य है कि जहॉ इतने सारे लोगो के नाम थे वहॉ फेडरेशन ने स्टडी टूर के लिए मुझे ही क्यों चुना··हॉ, छह महीने के लिए जाऊँगा इंग्लैड, ऐ, क्या कहा··हॉ, अभी तक कोई व्यवस्था नहीं हो पाई है। पासपोर्ट वग़ैरह तो ख़ैर बन जाएगा। सामान दोस्तो के घर रखवा दूँगा। मगर एक समस्या है जैकी की··हॉ-हॉ, उसी अलसेशियन की।··एक साहब को बुलाया है··देखो, अगर हल न हुई तो तुम्हे तकलीफ दूँगा। धन्यवाद।

[मुदलियार का प्रवेश, दरवाज़ा खोलने की आवाज़]

मुदलियार आपने मुझे बुलाया था साहब !

श्रीवास्तव हॉ, बुलाया तो था। अरे, तुम खड़े क्यों हो, बैठ जाओ !

मुदलियार नहीं-नहीं साहब, मैं ठीक हूँ।

श्रीवास्तव : अरे भाई, बैठो भी ! तुम्हें मालूम है, मुझे छह महीने के लिए स्टडी टूर पर इंग्लैंड जाने का मौक़ा मिला है ?

मुदलियार : हाँ सर, सुना तो है और मुझे बड़ी ख़ुशी हुई। मैं तो बधाई देने के लिए घर आने वाला था··लेकिन··

श्रीवास्तव : अरे भाई, तुम्हीं लोगों की शुभकामनाओं से तो यह सब हो सका है, वरना

तुम देखते हो कि आजकल के ज़माने में ऐसे मौके किसे मिलते हैं। मगर मुदलियार, एक छोटी-सी ज़िम्मेदारी है जिसे मैं अपने किसी ख़ास आदमी को सौंपकर ही जाना चाहता हूँ।

मुदलियार : आप हुकुम दीजिए सर !

श्रीवास्तव : भई, बात यह है कि वह जैकी है न अपना…

मुदलियार : हाँ साहब, वह अलसेशियन कुत्ता। बहुत ही प्यारा जानवर है। हम लोग तो उसकी अकसर चर्चा किया करते हैं।

श्रीवास्तव : हॉ, उसी को लेकर थोड़ा परेशान हूँ। चाहता हूँ कि उसे किसी ऐसे आदमी को सौंप जाऊँ जो उसकी ज़िम्मेदारी के साथ परवरिश कर सके (और आत्मीयता से)…तुम जानते हो मुदलियार कि मेरे कोई बच्चा नहीं है और मैंने जैकी को अपने बच्चे की तरह पाला है। इसीलिए आज जब मेरे विदेश जाने की बात उठी है तो उसे किसी ऐसे-वैसे आदमी के पास छोड़ते हुए मुझे बेहद तकलीफ़ होती है।

मुदलियार : हाँ सर ! तकलीफ़ तो होगी ही। पता नहीं कोई उसे ठीक से रखेगा भी या नहीं ?

श्रीवास्तव : हॉ, यही तो सारी परेशानी है। कहने को तो अय्यर साहब, शर्मा जी, गाडगिल, सभी लोगों ने मुझसे कहा कि मैं जैकी को उनके पास छोड़ दूँ, मगर मुझे उन पर भरोसा नहीं होता।

मुदलियार : साहब, मैं भी आपसे यही प्रार्थना करूँगा कि जैकी को आप ऐसे आदमी के पास छोड़कर जाएँ जिस पर आपको पूरा भरोसा हो।

श्रीवास्तव : भई, इसमें भी कई दिक्कतें हैं। मुदलियार ! जैसे तुम हो, ज़ाहिर है कि मुझे तुम पर पूरा भरोसा है कि तुम जैकी की ठीक तरह से देखभाल कर सकोगे…लेकिन तुम ठहरे बाल-बच्चेदार आदमी। सोचता हूँ, ख़ामख़्वाह झंझट में पड़ जाओगे।

मुदलियार : (उत्साह से) नहीं सर ! यह आपने क्या कहा ? जैकी को अपने पास रखकर मुझे बेहद ख़ुशी होगी। मेरी पत्नी को जानवर पालने का इतना शौक़ है कि पहले जब मैं पिथौरागढ़ में था तो उसने एक कुत्ते और एक बिल्ली को ख़रीदकर पाला था। लेकिन सर, एक बात है…।

श्रीवास्तव : (मधुरता से) हाँ-हाँ, कहो मुदलियार !

मुदलियार : सर, आपके यहाँ तो जैकी मखमल के बिछौने पर सोया करता था और उसकी ख़िदमत के लिए दो-दो चपरासी तैनात थे। खाने में उसे सेर-दो सेर गोश्त और न जाने क्या-क्या मिलता रहा होगा। मगर मेरे यहाँ…

श्रीवास्तव : नहीं मुदलियार, उसकी कोई चिंता नहीं। मैं अपने जैकी को अच्छी तरह जानता हूँ। खाने के मामले में जैकी बिलकुल पेटू नहीं है। सेर-सेर दूध और चार-छह रोटियों से भी उसका काम चल सकता है। मगर प्यार का भूखा वह ज़रूर है।

मुदलियार : (गद्गद होकर) बस तो सर, आप बेफ़िक्र होकर उसे मेरे पास छोड़ जाइए। मैं तो ख़ैर दफ़्तर में रहूँगा, लेकिन इतना मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि मेरी पत्नी और बच्चे उसे पाकर बहुत खुश होंगे।

श्रीवास्तव : अच्छा भाई मुदलियार, जब तुम कह रहे हो तो मैं उसे तुम्हारे पास ही छोड जाऊँगा। तो फिर तुम ऐसा करना कि शाम को जब तुम दफ़्तर से जाओ, तो उसे अपने साथ ही लेते जाना।

मुदलियार : ठीक है सर !

[कुत्ते के भौंकने का स्वर]

मुदलियार : (दस्तक देते हुए) सीता···अरे भई सीता, दरवाज़ा तो खोलो।

सीता : खोलती हूँ···मैं तो समझी कि राम और राजेश फिर उस गंदे आवारा कुत्ते को पकड़ लाए हैं, इसीलिए दरवाज़ा नहीं खोला था।

मुदलियार : नहीं भाई, देखो तो सही, मैं क्या लाया हूँ तुम्हारे लिए।

सीता : (सिटकनी खोलते हुए) ओह, तो ये तोहफ़ा लाए हैं आप ! कहाँ से पकड़ लाए इस भेड़िए को ?

मुदलियार : अरे, क्या कहती हो, साहब का कुत्ता है···असली अलसेशियन है, अलसेशियन···साहब बताते थे कि इसका बाप ऑस्ट्रेलिया का था···इसके पूरे ख़ानदान का शजरा साहब के यहाँ है।

सीता : तो इसे उन्ही के ख़ानदान मे रहने दो···हमारे खानदान में यह शोभा नहीं देता।

मुदलियार : अरी भागवान, तू भी बात को समझती-बूझती तो हे नही और नोक-झोंक करने लगती हे। पता है तुझे, इसे लेकर आज दफ़्तर मे कितना तूफ़ान उठा ! शर्मा, गाडगिल, देशपांडे—सभी लोग इस कुत्ते को लेना चाहते थे, मगर साहब ने कहा, नहीं, मैं इसे अपने किसी भरोसे के आदमी को दूँगा।

सीता : अच्छा ! तव तो तुम्हारा साहब सचमुच तुम्हारा बड़ा ख़याल रखता है। क्यों जी, अगर कल हम इसे बेचने लगे तो सौ-दो सौ रुपए से कम तो क्या बिकेगा।

मुदालयार : सौ-दो सौ की क्या बात करती है···ऐसा कुत्ता तो आजकल पाँच सौ रुपयों

में भी नहीं मिलेगा। मगर साहब ने यह हमें बेचने के लिए थोड़े ही दिया है।

सीता : फिर ?

मुदलियार : साहब छह महीने के लिए इंग्लैड जा रहे हैं न, सो जैकी की देखभाल के लिए उन्हें किसी विश्वसनीय आदमी की जरूरत थी।

सीता : ओह ! अब समझी। तो आपके साहब को एक विश्वसनीय बेवकूफ़ की ज़रूरत थी और उन्होंने आपको चुन लिया ?

मुदलियार : क्या बक रही हो सीता ?

सीता : बक नहीं रही हूँ, ठीक कह रही हूँ। आजकल के जमाने में जबकि महँगाई ने सबकी कमर ताड़ दी हे···अपना ही पेट भरना मुश्किल है, ऊपर से तुम एक और बवाल जान को ले आए···बोलो, कैसे भरेगा इसका पेट···कहॉ से आएगा इसके लिए खाने को···मे तो तब जानती जब तुम्हारे साहब इसके छह महीने का खाने-पीने का भी इंतजाम कर जाते···

मुदलियार : देखो सीता ! प्राणी अपना भाग अपने साथ लेकर आता है। फिर तुम तो अन्नपूर्णा हो। मे जानता हूँ, तुम किसी न किसी तरह कतरब्योत करके इसका पेट भी भर दिया करोगी। फिर इसकी ख़ुराक ही क्या है ? चार-छह रोटी और सेर-भर दूध। मैने साहब से साफ कह दिया कि मै इसे मास-वांस नही खिला सकता।

सीता : खाक साफ कह दिया तुमने। अगर कहना ही था तुम्हे, तो कह देते कि मै अपने बच्चो तक को सेर-भर दूध मुहेया नही कर पाता, इसे कहॉ से दूँगा ?

मुदलियार : सेर-भर दूध की तूने भली कही सीता ! अरे, सेर-भर न सही, आधा सेर सही। आधा सेर उसमे पानी मिला दिया करेगे। कुत्ता कोन साहब से यह कहने जा रहा है कि मुझे पानी मिलाकर दूध देते थे।

सीता : लेकिन यह आधा सेर दूध भी कहॉ से आएगा ?

मुदलियार : सब आ जाएगा सीता, सब आ जाएगा। तू यह नही सोचती पगली कि हमारे जो हेड क्लर्क हे न, वे जल्दी ही रिटायर होने वाले हैं ओर साहब अगर चाहें तो उनकी जगह पर मेरा सीधा प्रमोशन कर सकते हैं। नक़द पचास रुपए महीने का फायदा होगा। बोल, निकल जाएँगे दूध के पैसे कि नही ?

राजेश : अरे पप्पू, कुत्ता है कुत्ता, पापा आज कुत्ता लेकर आए हैं, अम्मा, यह यहीं रहेगा ना ?

सीता : चलो, अब ले आए हो तो पड़ा रहेगा। और कुछ नहीं तो कम से कम बच्चों को एक काम ही मिल जाएगा।

[कुत्ता भौंकता है]

मुदलियार : लो देखो, उसने शुरू कर दिया।

सीता : (डाँटते हुए) ए राजेश, नहीं मानोगे''नया-नया कुत्ता है, अभी पहचानता तक नहीं, अभी से तुम उसके साथ छेड़ करने लगे'''

[कुत्ता फिर भौंकता है]

मुदलियार : भई, इसे कुछ खिला-पिला दो, मेरे ख़याल से यह भूखा है।

[ऑफ़िस का वातावरण, टाइपराइटरों की खटखट और लोगों की बातचीत]

चपरासी : मुदलियार बाबू, आपको छोटे साहब याद कर रहे हैं।

मुदलियार : असिस्टेंट सेक्रेटरी साहब कोन-से ? वर्मा साहब या खरे साहब ?

चपरासी : वर्मा साहब।

मुदलियार : आता हूँ।

चपरासी : फौरन बुलाया हे, साहव, जल्दी चलिए।

मुदलियार : (उठते हुए) चल भाई ! ऐसी कौन-सी गाड़ी छूटी जा रही है ! (चलते हुए) आजकल तो काम के मारे सिर उठाने तक की फ़ुरसत नही मिलती, फिर ऊपर से खुल्लर बाबू का काम भी मुझे ही सोंप दिया गया हे।

[दो क़दम चुपचाप चलकर दरवाज़ा खोलने का संकेत]

मुदलियार : आपने मुझे बुलाया था साव ?

वर्मा : हूँ''मिस्टर मुदलियार ! ये आप क्या करते रहते है आजकल ?

सुपरिंटेंडेंट : इनसे पूछिए साहब कि खुल्लर वाली कोई फाइल इन्होने निपटाई ? अपनी फेडरेशन वाली फाइल का इन्होने क्या किया ? और वो जो गवर्नमेंट को 'लेटर' जाना था, वो इन्होने पुटअप किया ?

वर्मा : सुना मि० मुदलियार, क्या कह रहे हे आपके सुपरिंटेंडेंट। आपके ख़िलाफ़ इधर बहुत शिकायतें आ रही हें। आप काम को इतना 'डिले' क्यों करते है ?

मुदलियार : सर, वो इन्होंने ही और यह काम दे दिए थे, जिनकी वजह से डिले हुई, वरना मैं तो'''

सुप० : मैने और काम दिया था तो क्या यह कह दिया था कि आप इन फाइलों

को पड़ा रहने दीजिएगा। लोग कई-कई काम एक साथ करते हैं, अब बताइए, कौन करेगा आपका काम ?

मुदलियार : सर, मुझे मेरे काम के अलावा खुल्लर बाबू का काम और दे दिया गया, जिसकी वजह से मुझे दुहरा काम करना पड़ रहा है और दिन-भर क़तई फ़ुरसत नहीं मिलती।

सुप० : जी हाँ ! आपको जैकी के संस्मरण सुनाने की तो फ़ुरसत मिल जाती है, मगर काम करने की फ़ुरसत नहीं मिलती। आप बताइए कि आपकी टेबल पर जो इतना सारा वर्क पेंडिंग है उसे कौन निबटाएगा ? आप या आपका जैकी ?

मुदलियार : देखिए सर ! ये बार-बार जैकी को लेकर मुझ पर छींटाकशी कर रहे हैं, मुझे यह बात पसंद नहीं है।

सुप० : तो मुझे भी यह बात पसंद नहीं है कि आप हर वक़्त दफ़्तर में जैकी का राग अलापते रहें। इससे दूसरे लोगों को भी कोफ़्त होती है और काम सफर करता है।

वर्मा : मि० मुदलियार, मैं आपसे साफ़-साफ़ कह देना चाहता हूँ कि आज से दफ़्तर में जैकी पुराण नहीं, काम की बातें होनी चाहिए। अगर साहब अपना कुत्ता आपको दे गए हैं तो इसका यह मतलब नहीं होता कि आप उसे लेकर दूसरों पर रोब ग़ालिब करें या उसके बहाने काम से जी चुराएँ।

मुदलियार : लेकिन सर, मैंने कब काम से जी चुराया है और कब रोब ग़ालिब किया है ?

सुप० : इसकी जॉच साहब ख़ुद कर चुके हैं।

वर्मा : फिलहाल मि० मुदलियार, मैं आपको 'वार्निंग' दे रहा हूँ कि आप आइंदा काम पर मुस्तैद रहें, लेकिन अगर दुबारा ऐसी गफ़लत देखने में आई तो मैं आपकी सर्विसेज़ ख़त्म कर दूँगा। देखिए, मैं इस संबंध में बड़े साहब को लिख चुका हूँ और उनका जवाब भी आ गया है।

मुदलियार : सर, ये मेरे साथ बड़ी ज़्यादती है।

वर्मा : मैं कुछ नहीं सुनना चाहता। आप जाकर अपना काम कीजिए और ख़याल रखिए कि आगे से किसी भी अर्जेंट फाइल में 'डिले' न हो जाए''जल्दी से वो फाइल निपटाइए।

मुदलियार : यस सर ! **(भारी क़दमों से जाने की आहट)**

[संगीत का क्षणिक अंतराल]

मुदलियार (साँस छोड़कर) क्या ज़माना आ गया है। आज लोग इस बात से भी जलते हैं कि साहब अपना कुत्ता मुझे न देकर इसे क्यों दे गए ? अब इन भागवानों से पूछे कौन कि कुत्ता क्या कोई दूध देने वाला जानवर है···अरे, अलसेशियन पालने का मतलब होता है, एक हाथी पालना। सेर-भर तो दूध पी जाता है रोज़ाना। है कोई माई का लाल दफ़्तर में जो उसका ख़र्च बरदाश्त कर ले और कोई हो तो सामने आए, ले जाए जैकी को ! पालकर देखे तब पता लगेगा।

चपरासी मुदलियार बाबू, आपको छोटे साहब ने याद किया है।

मुदलियार ऐं, छोटे साहब ने ! छोटे साहब के पास से तो मैं आ ही रहा हूँ।

चपरासी जी, वर्मा साहब ने नहीं, खरे साहब ने।

मुदलियार ओह ! तो उनके पास भी किसी ने शिकायत पहुँचाई है। चल भाई ! उनकी भी सह लें।

चपरासी नहीं मुदलियार बाबू, साहब इस वक़्त बड़े अच्छे मूड में हैं।

मुदलियार साहब लोगों को मूड बदलते कितनी देर लगती है भाई ! मूड तो एक-सा हमारा रहता है, सुनने का मूड।

मुदलियार क्या मैं अंदर आ सकता हूँ, सर !

खरे आओ मुदलियार, आओ !

मुदलियार सर वो आपने···

खरे हाँ, मैंने इसलिए बुलाया था कि आज इंग्लैंड से बड़े साहब की चिट्ठी आई है।

मुदलियार सर, मेरे बारे में कुछ लिखा है ? कैसे हैं साहब ?

खरे अच्छे हैं, मज़े में हैं। लिखा है कि अब जल्दी ही लौट आऊँगा और हाँ, मुदलियार, उन्होंने जैकी के हालचाल पूछे हैं। यों तो इससे पहले भी वे चिट्ठी में जैकी की पूछताछ करते रहे हैं। मगर मैंने उन्हें हमेशा यही लिखा है कि जैकी मज़े में है।

मुदलियार वो वाक़ई मज़े में है सर ! और पहले से मोटा भी हो गया है, आप देखेंगे तो···

खरे हाँ, वही मैं सोचता था कि इस बार जैकी को देखकर ही उन्हें लंबा ख़त लिखूँ। तो तुम ऐसा करना मुदलियार कि आज दफ़्तर के बाद जैकी को लेकर मेरे बँगले पर आ जाना···

मुदलियार ठीक है सर···!

खरे और सुनो मुदलियार ! चूँकि जैकी की देखभाल की सभी ज़िम्मेदारी साहब

ने मुझे ही सौंप दी है, इसलिए बेहतर ये होगा कि तुम हफ़्ते में कम से कम एक बार उसे बँगले पर लाकर मुझे दिखा दिया करो। ठीक है न ?

मुदलियार : जी सर !

खरे : तो देखना, भूलना मत। अब तुम जा सकते हो।

[कुत्ते का भौंकना और किसी के पाँवों की आहट सुनकर कूँ-कूँ करते हुए स्नेह प्रदर्शित करना और फिर भौंकना]

मुदलियार : सीता, ओ सीता ! बंद करो इस बकवास को। जब देखो तब भौं-भौं, भौं-भौं। इससे ज़्यादा मनहूस जानवर भी कोई हो सकता है। कमबख़्त...

सीता : क्या कह रहे हो, कुत्ता कहीं मनहूस जानवर होता है। कुत्ते को तो बड़ा भाग्यवान पशु माना गया है।

मुदलियार : सब बकवास है। कुत्ता एकदम फालतू जानवर है। इससे पिस्सू पैदा होते हैं जो प्लेग फैलाते हैं और वो क्या कहते हैं खुजली...खुजली इससे फैलती है। देखो, बच्चों को इसके पास मत जाने दिया करो।

सीता : क्या हो गया है जी तुम्हें ? कहीं कुछ पी-पा तो नहीं आए ?

मुदलियार : मैं पीता हूँ ? पीने के नाम पर कभी एक कटोरी दूध भी पिया है मैंने ?

सीता : दूध नहीं पिया तो मैंने कौन-सी मलाई खा ली ? मेरे बच्चे कौन रोज़ाना दूध पी रहे हैं ? आपने ये जो हाथी लाकर बांध दिया है, जब इससे बचे तब न एक बूँद किसी को मिले। कल जब मैंने पप्पू को कुत्ते का जूठा दूध उठाकर पीने की जुगत करते देखा तो सच्ची, मेरा दिल फटने को हो आया।

मुदलियार : तो भगा देती साले को। मैं इस चक्कर में नहीं पड़ता।

सीता : (सँभलकर) हाय, क्या कह रहे हो. साहब का कुत्ता है। कल आकर पूछेंगे तो क्या जवाब दोगे ?

मुदलियार : ठीक है, तो रहने दो, और कल से इसका दूध बंद कर दो। जैसी रूखी-सूखी हम खाते हैं वैसी ही यह खाएगा। आख़िर कुत्ते की क़ीमत आदमी से ज़्यादा नहीं हो सकती। तुम ठीक कहती हो, जब हमारे बच्चों को दूध नहीं मिलता तो कुत्ते को दूध पिलाना अपने साथ सरासर अन्याय है। अब मैं यह अन्याय सहन नहीं करूँगा।

सीता : मगर हुआ क्या ? आख़िर मैं भी तो जानूँ ?

मुदलियार : होता क्या। सब लोगों के ताने सुनो। सबकी ईर्ष्या के शिकार बनो। हर हफ़्ते इसे लेकर छोटे साहब के बँगले पर जाओ। उनका भाषण सुनो।

दफ़्तर में सुपरिंटेंडेंट की डाँट खाओ, वार्निंग लो और घर में बच्चों को दूध की एक-एक बूँद से तरसा दो। यह सब क्या कम है ? नहीं-नहीं, अब ये नहीं होगा, फौरन इसका दूध बंद कर दो।

सीता : देखो, इसीलिए कहती हूँ कि तुम्हारे मिजाज़ में गरमी बहुत है। ज़रा ठंडे दिल से विचार करो। थोड़े दिनों में तुम्हारे साहब आने वाले हैं। अब अगर हमने इसका दूध बंद किया तो इसकी देह पर जो रंगत आनी शुरू हुई है वह सब ख़त्म हो जाएगी। बताओ ज़रा, क्या सोचेंगे तुम्हारे साहब ? यही न कि तुम्हें एक छोटी-सी ज़िम्मेदारी सौंपकर गए थे और तुम उसे भी नहीं निभा पाए। क्या इज़्ज़त रह जाएगी तुम्हारी उनकी नज़रों में ?

मुदलियार : मगर लोग जो बकवास करते हैं।

सीता : लोगों को बकने दो। साहब के आते ही सबके मुँह बंद हो जाएँगे। फिर लोग तो चाहते हैं कि साहब किसी तरह तुमसे नाराज़ हो जाएँ तो ये लोग अपना उल्लू सीधा करें। (धीरे से) तुम यह क्यों भूल जाते हो कि तुम्हें हैड क्लर्क होना है।

मुदलियार : तुम बहुत समझदार हो सीता ! बस, इसीलिए तो मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ ! जैकी ! कम ऑन, कम ऑन जैकी !

[कुत्ते के भौंकने का संकेत]

[रेलवे स्टेशन का वातावरण]

[लोगों की भीड़, खोमचों की आवाज़ें]

खरे : मुदलियार, मैंने तुमसे पिछले हफ़्ते भी कहा था कि तुम जैकी को पशुओं के अस्पताल में दिखा लाओ और तुम नहीं गए। देखा, आज जैकी कितना उदास और थका-थका लग रहा है।

मुदलियार : सर, घर में यह बहुत मस्त रहता है। हर वक़्त बच्चों के साथ खेलता और शैतानी करता है, यही इसका काम है। पर पता नहीं क्यों, घर से बाहर आकर कुछ झिझक-सी महसूस करता है।

खरे : मगर भाई ! साहब इसी ट्रेन से आ रहे हैं, तो वे जैकी को प्लेटफॉर्म पर देखेंगे नहीं। अब बताओ, उन पर क्या इम्प्रेशन पड़ेगा ? क्या सोचेंगे मेरे बारे में और तुम हो कि इन बातों की फ़िक्र ही नहीं। यहाँ तक कि आज भी इसे नहला-धुलाकर नहीं लाए।

मुदलियार : नहीं सर, यह तो रोज़ाना साबुन से नहाता है और आज तो ख़ैर मैंने इसे ख़ुद अपने हाथों से नहलाया है।

खरे : ख़ाक नहलाया है तुमने। ये देखो ज़रा···पंजे देखो, सब पर कीचड़ और गंदगी जमी हुई है।

मुदलियार : सर, कुत्तों के पंजे तो ऐसे ही रहते हैं। उन्हें साबुन नहीं मलते तो वे थोड़ी देर बाद फिर वैसे ही हो जाते हैं।

खरे : वाह ! ये खूब तर्क है। इसका मतलब तो हुआ कि जो चीज़ें फिर गंदी हो जाती हैं उन्हें साफ़ ही न किया जाए। और ये देखो···ये क्या है चीचड़ी।

मुदलियार : नहीं सर, चीचड़ी नहीं, ये मक्खी है।

खरे : तो हटाओ इसे, और देखो, गाड़ी आने वाली है, तुम जल्दी से रूमाल लेकर इसकी मालिश कर डालो और पंजों को भी साफ़ कर दो, अगर साहब को देखकर उनके पास उनकी गोद में जाने को मचला तो उनके सारे कपड़े ख़राब हो जाएँगे।

मुदलियार : मैं करता हूँ सर···

खरे : हाँ, शाबाश···देखो, वो गाड़ी भी आ रही है।

मुदलियार : मगर सर···साहब को स्टेशन पर 'रिसीव' करने के लिए और कोई आया नहीं।

खरे : नहीं, साहब ने ख़ुद ही पसंद नहीं किया। पहले तो उन्होंने चिट्ठी में सिर्फ़ मुझे स्टेशन आने के लिए लिखा था, मगर फिर कुछ ख़याल आया तो लिखा कि हो सके तो जैकी को भी साथ लेते आना : इसीलिए तो मैंने शाम को ऑफ़िस की तरफ़ से साहब का रिसेप्शन रखा।

[गाड़ी के नज़दीक आते जाने और रुकने का संकेत]

मुदलियार : सर ! देखिए, गाड़ी आ गई और साहब वो खड़े हैं, सामने वाले डिब्बे में।

[कुली-कुली की आवाज़ें···शोर]

खरे गुड मॉर्निंग सर !

श्रीवास्तव मॉर्निंग मि० खरे ! कहिए, क्या हाल हैं ?

खरे ठीक हैं सर ! एकदम ठीक हैं। आपकी मेहरबानी है।

मुदलियार नमस्ते सर !

श्रीवास्तव नमस्ते ! हैलो जैकी···कम ऑन, कम ऑन !

खरे साहब, आपके हुक्म के अनुसार मैं हर हफ़्ते जैकी की ख़बर लेता रहा और इन्हें बराबर जैकी का ख़याल रखने और उसे अस्पताल ले जाने की हिदायतें देता रहा।

श्रीवास्तव : आई सी ! मगर मि० खरे ! जैकी कुछ···

खरे : जी हाँ सर ! मैंने लिखा था न कि कुछ पहले से ज़्यादा झेंपू हो गया है। और वो स्मार्टनेस नहीं रही। सर···आप देखिए कि वातावरण का बहुत बड़ा असर होता है। कहाँ एक क्लर्क का घर और कहाँ···

श्रीवास्तव : हाँ, वो तो है मि० खरे ! लेकिन मैं देख रहा हूँ कि बोलने-चालने में भी···

खरे : जी हाँ सर, बोलचाल पर तो फ़र्क़ पड़ना स्वाभाविक ही है। आपके धर और आपके पास-पड़ोस का यूरोपियन वातावरण, जहाँ आदमी तो आदमी कुत्ता तक अंग्रेज़ी समझने लगे। और फिर बेचारे मुदलियार की बस्ती, बाबुओं की बोलचाल, जहाँ जैकी को मोती, लालू के नाम से पुकारा जाता होगा। इसीलिए सर, वो आपके वाक्य 'कम ऑन जैकी' को समझ नहीं पाया। दूसरे, कुछ सुस्त-सा भी है।

श्रीवास्तव : हाँ, यही मेरा भी ख़याल है।

मुदलियार : वो ज़रा स्टेशन के कारण झिझक रहा है। सर, वैसे मैंने इसे पालने-पोसने में कोई कसर उठा नहीं रखी। सर···इसकी तंदुरुस्ती तो पहले भी···ख़राब नहीं हुई ?

श्रीवास्तव : वो तो सब ठीक है मि० मुदलियार···बट यू सी, ही हैज़ डेवलप्ड सम इंडियन हैबिट्स। क्या ख़याल है मि० खरे !

खरे : आपका फ़रमाना बिलकुल बजा है···देशी आदमियों की सोहबत में इसे देशी आदतें पड़ गई हैं। वो सब ठीक हो जाएँगी सर, सब ठीक हो जाएँगी। आइए, सामान पहुँच गया होगा।

भगवान् की न्यामत

[सिलाई की मशीन चलते-चलते रुक जाती है और पृष्ठभूमि में हलका-हलका आ रहा रेडियो सहसा बंद हो जाता है]

स्त्री : **(ज़ोर से)** अशोक !

अशोक : यस ममी !

स्त्री : ओह ! आलोक कहाँ है ?

आलोक : **(दूर से)** मैं ड्राइंगरूम में हूँ ममी !

स्त्री : **(ज़ोर से)** तुम वहाँ क्या कर रहे हो ?

आलोक : ममी, विलोक ने पापा के ट्रांजिस्टर का एरियल तोड़ दिया।

विलोक : **(5 वर्ष का) (दूर से ही)** नहीं, मैंने नहीं तोड़ा ममी, भैया ने ही तोड़ा है। ये ही बार-बार उस डंडी को निकालकर देख रहे थे।

स्त्री : (चिल्लाकर) ओफ़्फ़ोह, मैं पूछती हूँ, तुम दोनों वहाँ क्या कर रहे हो ? कितनी बार कहा है कि वहाँ न जाया करो। मगर तुम लोग बाज़ नहीं आते। मेरी समझ में नहीं आता कि जब तुम लोगों के अपने अलग कमरे हैं तो तुम्हें ड्राइंगरूम में जाने की क्या ज़रूरत पड़ जाती है ?

आलोक : **(पास आते हुए)** मैं तो अभी विलोक को देखने गया था ममी !

विलोक : और ममी ! मैं आलोक भैया को देखने गया था। ममी, जब तुम रसोई में होती हो न, तब भैया उस छोटे रेडियो पर बड़े अच्छे-अच्छे गाने सुनवाते हैं।

ममी : हाँ-हाँ, तभी तो एक महीने में चार बार मरम्मत के लिए जा चुका और अब पाँचवीं बार जाएगा। देखूँ ज़रा (रुककर) हाय ! ये तो तुमने सचमुच ही तोड़ दिया…

[सहसा बराबर के किचन से बहुत सारी प्लेटों के तड़ातड़ गिरने की आवाज़ सुनाई देती है]

ममी : **(ज़ोर से)** रीता, ये क्या हो रहा है ?

रीता : **(दूर से)** आई ममी !

ममी : मैं पूछती हूँ, ये क्या तोड़ डाल रही हो ? इतनी बड़ी हो गई, तुम्हें अभी तक प्लेट-प्याले पकड़ने का भी शऊर नहीं आया।

रीता : (डरते हुए) ममी, धोखे से उन सादी प्लेटों की ढेरी पर हाथ लग गया और वे फिसल पड़ीं। मैंने कोई जान-बूझकर थोड़े ही तोड़ी हैं।

ममी : हाँ, सादी प्लेटें तो मुफ़्त में आ जाती हैं। अरी, अगर तोड़ना था तो उस नए टी सेट को तोड़ा होता जो भीतर मेज़ पर रखा है।

विलोक : वह बेकार है ममी ?

ममी : मेरा तो इन लोगों के मारे नाम में दम आ गया है। मजाल है कि घर में कोई चीज़ साबुत बची रह जाए। जिसे देखो कोई न कोई चीज़ तोड़ने की फ़िक्र में रहता है। एक ने ट्रांजिस्टर का एरियल-रॉड तोड़ दिया, दूसरी ने प्लेटें साफ़ कर दीं। और वे दफ़्तर से आएँगे तो मुझ पर बिगड़ेंगे कि मैं इनकी देखभाल नहीं करती। हे भगवान् ! ऐसे बच्चे तू किसी को न दे।

[सहसा भीतर से टी-सेट के टूटने की आवाज़ आती है]

ममी : (चीख़कर) अरे, अब क्या तोड़ दिया ?

अशोक : (भागकर आते हुए) विलोक ने तोड़ा है ममी ! अभी-अभी यहाँ से चुपचाप गया और मेरे देखते-देखते ही पॉट को दोनों हाथों में उठाया और ऊँचा उठाकर ज़मीन पर पटक दिया। मैंने पूछा, यह क्या कर रहे हो तो बोला, ममी रीता से कह रही थी कि नए सेट को क्यों नहीं तोड़ा। मैंने सोचा, वे तो प्लेटें तोड़ ही चुकी है। इसे मैं ही तोड़कर देखूँ।

[हँसता है]

ममी : (एक झापड़ अशोक के गाल पर पड़ता है) तुम हँसते हो, तुम्हें शर्म नहीं आती। तुम्हारी आँखों के सामने नुकसान होता रहा और तुमसे मना भी नहीं किया गया।

अशोक : (रोने लगता है) कोई मैंने थोड़े ही किया है नुकसान। रीता ने इतनी सारी प्लेटें तोड़ दीं। आलोक ने पापा का ट्रांजिस्टर तोड़ दिया—उन्हें तो तुमने कुछ भी नहीं कहा और मुझे बिना बात ही थप्पड़ जड़ दिया।

[ज़ोर से रोता है]

ममी : ओफ़्फ़ोह !

[सहसा गुस्से में उठकर आलोक और रीता को भी दो-दो थप्पड़ जड़ देती है]

तुम लोग मुझे चारों तरफ़ से क्यों घेरे खड़े हो ? भागो ! चलो, अपने कमरे में जाकर मरो।

[ये दोनों भी रोने लगते हैं]

विलोक : (सबके रोने की आवाज़ सुनकर आता है) ममी, ये सब क्यों रो रहे हैं ?

ममी : (एक थप्पड़ उसके भी मारती है)

[थोड़ी देर तक चारों बच्चों के रोने की आवाज और फिर उस पर ममी के बार-बार ज़ोर से चिल्लाने और उन्हें चुप होने के लिए कहना]

ममी : ओफ़्फ़ोह, मेरा तो दिमाग़ ख़राब हो जाएगा। अरे, चुप हो जाओ, कमबख़्तो, मैं कहती हूँ, चुप भी हो जाओ।

[तभी पालने में सोया हुआ छोटा बच्चा भी जागकर रोने लगता है]

बस, इसी की कसर थी। अब तुम सब मिलकर रोओ। ख़ूब रोओ, पूरा घर सिर पर उठाओ।

[सहसा चार के घंटे बजते हैं और कोई कॉलबेल बजाता है]

ममी : (सहसा जैसे होश में आते हुए अपने आप से) अरे ! चार बज गए ! ज़रूर मिसेज़ भार्गव होंगी। साढ़े चार बजे तो क्लब की मीटिंग मे जाना था।(स्वर बदलकर पुचकारते हुए) अशोक बेटे, अशोक, चुप हो जाओ। देखो, मिसेज़ भार्गव आ रही हैं। क्या कहेगी ? और रीता, तुम तो बहुत समझदार हो। रानी बेटी ! बहुत समझदार हो। जाओ, जल्दी से ऑसू पोंछकर दरवाज़ा खोल दो। ज़रा सोचो तो, मिसेज़ भार्गव क्या कहेंगी कि इतने वडे बच्चे हैं और फिर भी रोते हैं।

अशोक : पिटने पर रोएँगे नही तो क्या हँसेंगे ?

ममी : अच्छा बेटे ! अब नही पीटेंगे। जाओ राजा बेटे, तुम आलोक और विलोक को अपने कमरे में ले जाओ। जल्दी करो।

[रोने-धोने की आवाज़ कुछ कम होती है और आलोक-विलोक को लेकर अशोक दूसरे कमरे में चला जाता है। रीता जाकर दरवाज़ा खोलती है]

मिसेज़ भार्गव : भई कमाल है मिसेज़ शर्मा ! आप अभी तक तैयार ही नहीं हुईं। भूल गईं क्या कि आज क्लब की मीटिंग है। मैं तो दरवाज़ा खुलने में देर होती देखकर समझी कि कहीं तुम अब तक चली न गई हों।

ममी : आओ बहन ! बैठो ! तुम तो जानती ही हो, घर-गृहस्थी के काम से इतनी जल्दी छुट्टी नहीं मिलती। चलते-चलते भी एक न एक काम निकलता ही रहता है।

मिसेज़ भार्गव : अरे लो, तुम तो ऐसे बोल रही हो जैसे हमारे घर-गृहस्थी ही न हो। अरे भाई, हमारी तो आज नौकरानी भी नहीं आई। वह दुपहर ही कह गई थी कि मुझे आज शाम को फ़ैमिली प्लानिंग सेंटर पर जाना है, मैं नहीं आ सकूँगी। इसलिए मुझे तो आज उसका भी सारा काम निपटाना पड़ा।

ममी : फ़ैमिली प्लानिंग सेंटर ?

मिसेज़ भार्गव : अरे हाँ भई, वही परिवार नियोजन केंद्र। अब इन नौकरानियों को तुम जानो, थोड़ी-सी तो आमदनी होती है, और उसमें भी बहुत सारे बच्चे हो जाएँ तो बताओ, बेचारी क्या ख़ुद खाएँ और क्या उन्हें खिलाएँ ? फिर इन्हें काम भी करना पड़ता है। इसलिए इसके लिए यह और भी ज़रूरी हो जाता कि ये परिवार-नियोजन के उसूलों पर अमल करें।

ममी : नहीं मिसेज़ भार्गव, कम आमदनी वालों के लिए नहीं बल्कि मैं तो समझती हूँ अधिक आमदनी वालों के लिए भी परिवार-नियोजन करना आवश्यक है। घर की सुख-शांति और व्यवस्था के लिए...

मिसेज़ भार्गव : अरे भई, आज ये सूरज किधर से निकल रहा है ! तुम तो मिसेज़ शर्मा परिवार-नियोजन के बहुत ख़िलाफ़ थीं। तुम तो कहा करती थीं कि बच्चे भगवान् की न्यामत हैं।

ममी : वही तो मेरी भूल थी मिसेज़ भार्गव ! भगवान् की उसी न्यामत के कारण तो आज मेरा स्वास्थ्य, मेरी पारिवारिक शांति और घर की सारी व्यवस्था चौपट हो रही है। अगर तब मैंने तुम्हारी वात मान ली होती तो आज यह नौबत न आती।

मिसेज़ भार्गव : मगर हुआ क्या ?

ममी : हुआ तो कुछ नहीं है मिसेज़ भार्गव, लेकिन हो सकता है। हो सकता है, मैं कल को पागल हो जाऊँ। मैं अकेली पाँच-पाँच बच्चों की देखभाल कर ही नहीं सकती। मैं इसे देखूँ कि उसे ? यह करूँ या वह ? आख़िर तंग होकर बच्चों को पीटती हूँ, जिससे मेरा मन तो दुखी होता

ही है, बच्चों के भी स्वस्थ विकास में बाधा पड़ती है।

मिसेज़ भार्गव, प्लीज़ ! आज क्लब का प्रोग्राम कैंसिल करके मुझे फैमिली प्लानिंग सेंटर ले चलो। कम से कम भविष्य के लिए तो मैं सचेत हो सकूँ।

[अंदर से बच्चों के सम्मिलित रूप से हँसने की आवाज़ आती है]

मम्मी : रीता ! तुम लोग क्यों सारे घर को सिर पर उठाए हो ?

रीता : (आकर) मम्मी, ये विलोक बहुत शैतान हो गया है। अशोक भैया की स्लेट पर तुम्हारी तस्वीर बनाकर उसमें एक सींग लगा दिया है। और जब हमने कहा, भई, ये क्या है, तो बोला, ये मम्मी की अकल है।

[मिसेज़ भार्गव और मम्मी दोनों इस बात पर हँसती हैं]

मम्मी : तो मिसेज़ भार्गव, मेरे साथ सेंटर चल रही हो न ?

मिसेज़ भार्गव : हाँ-हाँ, ज़रूर।

[भीतर से आलोक चिल्लाता है—आर्टिस्ट विलोक कुमार ज़िंदाबाद ! और उसकी नकल में छोटा विलोक भी चिल्लाता है—डीयर मम्मी ज़िंदाबाद ! और बच्चे भी साथ-साथ ज़िंदाबाद चिल्लाते हैं]

(समाप्त)

टाइपराइटरों की खटखट और कार्यालय का शोर

कमल : यार महेश, तुम बहुत कंजूस हो। राजेन्द्र, विकल, सुरेश सब शादी की पार्टी दे चुके, मगर तुमने अभी तक क़रवट ही नहीं बदली।

महेश : दोस्त, इस प्वाइंट पर एकदम लाचार हूँ। मेरी मेमसाहब इस मामले में इतनी सख़्त हैं कि एक धेला भी ख़र्च करने को तैयार नहीं।

कमल : यार, मेमसाहब तो सभी की ऐसी होती हैं, मगर तू ख़र्च करने को तैयार हो तो फिर उन्हें तो पटा लिया जाएगा।

महेश : मेरे तैयार होने न होने से क्या होता है दोस्त, पैसा तो उन्हीं के पास रहता है।

कमल : उसकी चिंता मत कर। उनसे पैसा निकालना हम जानते हैं।

महेश : मैं भी बहुत दिनों तक इस मुग़ालते में रहा हूँ, परंतु अंत में यही पाया कि उन तिलों में तेल नहीं है।

कमल : अच्छा, अगर हम उन तिलों से तेल निकाल लें तो तुम्हें एतराज़ तो नहीं ?

महेश : वाह ! भला मुझे एतराज़ क्यों होने लगा, भई, मुझे तो ख़ुशी ही होगी कि मैं एक ऋण से उऋण हो जाऊँगा। जोड़-जोड़कर पैसा बैंक में रखती जाती है और भलीमानुस न ख़ुद खाती है, न मुझे खाने देती है।

कमल : अच्छा तो फिर इसी दूसरे शनिवार और इतवार को चमत्कार देखना।

कांता : क्यों जी, आज अख़बार ही पढ़ते रहोगे ?

महेश : (चौंककर) ऐं, कुछ मुझसे कहा ?

कांता : जी नहीं, मैं तो दीवारों से बातचीत कर रही थी।

महेश : वही तो, मैं समझा, कुछ मुझसे कह रही हो।

कांता : देखो जी, अगर मुझे सताओगे तो मैं कहे देती हूँ कि मैं तुम्हारे इन अख़बारों को उठाकर चूल्हे में झोंक दूँगी। सुबह से उठकर जब देखो तब अख़बार।

महेश : तो फिर और क्या करूँ। सिनेमा के लिए एक पैसा देते हुए तुम्हारा दम निकलता है, होटल और क्लब में जाना तुम फिज़ूलख़र्ची समझती हो। दोस्तों में बैठता हूँ तो कहती हो, वक़्त बरबाद करता हूँ। तो बोलो,

छुट्टी के दिन अगर अख़बार भी न पढ़ूँ तो आख़िर करूँ क्या ?

कांता : देखो जी, मैं कहती हूँ, हर बात की कोई हद होती है।

महेश : यही बात मेरे दोस्त लोग कहते हैं।

कांता : कौन-सी बात ?

महेश : यही कि हर बात की कोई हद होती है।

कांता : लोगों की आड़ क्यों लेते हो ? सीधे-सीधे कहो न कि तुम ही अपने दोस्तों में बैठकर मेरी बुराई करते हो।

महेश : मैं और आपकी बुराई ! देवी जी···मेरी ज़बान तो आपका गुणगान करते नहीं थकती। इसीलिए तो यार लोग मुझे जोरू का ग़ुलाम कहते हैं।

कांता : फिर वही बात ! मैं कहती हूँ, इसी बात पर लड़ाई हो जाएगी आज। अच्छे आपके दोस्त हैं। हर छुट्टी को उनके लिए चाय बनाओ, पान मँगाओ, ख़िदमत करो और ऊपर से उनके ताने सुनो।

महेश : वो तो सब ठीक है मैडम, लेकिन कभी-कभी दोस्तों की ख़ातिर भी करनी पड़ती है। आख़िर मैं सबसे पिक्चर देख चुका हूँ, दावतें खा चुका हूँ तो क्या मेरा यह फर्ज़ नहीं कि कभी मैं भी उन्हें कोई पिक्चर दिखा दूँ या दावत खिला दूँ। तुम तो बस लड्डू खिलाकर शादी की दावत से उऋण हो गई।

कांता : तो मैं कब मना करती हूँ ! आप उन्हें पिक्चर के बजाय थिएटर और नौटंकी दिखलाइए—कलकत्ता, बंबई ले जाइए, बड़े-बड़े होटलों में दावतें कीजिए।

महेश : वही तो मैं चाहता हूँ मैडम कि शादी की दावत ज़रा शानदार हो, आख़िर पूरे एक साल बाद दावत कर रही हो तो निकालो पैसा।

कांता : पैसा···पैसा आपको देती तो हूँ। आख़िर तीस रुपए जो आप हर महीने जेब-ख़र्च के नाम पर ले लेते हैं, उनका करते क्या हैं ?

महेश : ओफ़्फ़ोह···इस तुम्हारे तीस रुपए ने मार डाला। दसियों बार समझा चुका हूँ कि 10 रुपए बस का पास, 15 रुपए पान-सिगरेट, हो गए पच्चीस। और 5 रुपए चाय के समझ लो। वो भी कहो, दोस्त अच्छे हैं जिनके साथ रोज़ाना चाय मिल जाती है वरना श्रीमती जी, कहीं 5 रुपए में चाय होती है महीने-भर की।

कांता : तो क्यों पीते हो चाय, और क्या ज़रूरत है पान और सिगरेट पर पंद्रह रुपए ख़र्च करने की। आख़िर हम भी तो हैं। हम तो न पान खाते हैं, न सिगरेट पीते हैं। हमारा भी तो चाय के बिना काम चलता ही है।

महेश : तुम्हारी बात और है मैडम ! तुम तो ग्रेट हो। तुम अगर दफ़्तर में नौकरी कर रही होती तो मुझे विश्वास है कि तुम्हारा काम बस के बिना भी चल जाता।

[बाहर से दो आदमियों के दरवाज़ा खटखटाने और पुकारने की आवाज़ें)

आवाज़ें : महेश, ओ महेश !

कांता : लीजिए, आपकी मित्र-मंडली आ गई।

महेश : **(वहीं से)** आ जाओ भाई, दरवाज़ा ख़ुला है।

[राजेन्द्र और कमल का प्रवेश]

राजेन्द्र-कमल : **(एक साथ)** भाभी जी, प्रणाम !

कांता : प्रणाम !

महेश : भई मैडम, ज़रा राजेन्द्र और कमल के लिए चाय-वाय तो बनवाओ।

राजेन्द्र : भई, माफ़ करना महेश ! मैंने तो चाय छोड़ दी है।

कमल : और मैंने भी !

कांता : **(प्रसन्न होकर)** अरे ! सच !! आप लोगों ने बिलकुल छोड़ दी !

राजेन्द्र : चाय ही नहीं भाभी जी, बल्कि पान और सिगरेट भी छोड़ चुके हैं !

कमल : बिलकुल भाभी जी, एकदम ! हम दोनों ने अपनी-अपनी श्रीमतियों के सामने कान पकड़कर क़सम खा ली है कि अगर हम इनमें से कोई भी चीज़ पिएँ तो जो चोर की सज़ा, सो हमारी !

कांता : सुन रहे हो जी !

महेश : जी नहीं, मैं तो बहरा हूँ।

कांता : लगता तो मुझे भी कुछ ऐसा ही है। एक आपके दोस्त हैं कि सारे ऐबों को छोड़ते जा रहे हैं और एक आप हैं···।

महेश : जी हाँ, एक मैं हूँ कि सारे ऐब मुझमें मूर्तिमान हो गए हैं। सिगरेट मैं पीता हूँ, सिनेमा मैं देखता हूँ, चाय मैं पीता हूँ, अख़बार मैं पढ़ता हूँ, दोस्तबाज़ी मैं करता हूँ···और और और बोलिए।

कांता : बस-बस, दोस्तों के बीच इसी तरह मुझे नीचा दिखाया कीजिए। आप में ऐब कहाँ हैं ? ऐब तो मुझमें हैं, बुरी तो मैं हूँ जो आपकी भलाई के लिए कभी-कभी कुछ कह देती हूँ।

राजेन्द्र : भई महेश, ये बड़ी ज़्यादती है तुम्हारी। आख़िर भाभी जी जो कुछ कहती हैं, तुम्हारे भले के लिए ही तो कहती हैं।

कमल : फिर सोचने की बात ये है कि आख़िर सिगरेट, चाय, सिनेमा वग़ैरह

में रखा क्या है ?

महेश : अबे जा-जा, भाभी के बच्चे ! सोचने की बात ये नहीं, ये है कि आख़िर शादी किसी बीवी से हुई है, उपदेशक से नहीं।

राजेन्द्र : कौन नहीं जानता कि ज़ब तक भाभी जी नहीं आई थीं, तू सारी की सारी तनख़्वाह टल्लेनवीसी में फूँक देता था। भाभी जी ने आकर घर को घर बना दिया। आज भगवान् की कृपा से दो-चार हज़ार रुपए बैंक में पड़े हैं और लोग तुझे शरीफ़ आदमी समझते हैं।

महेश : और शादी से पहले मैं शरीफ़ नहीं था।

कमल : शादी से पहले आप तो आप, आपके पिताजी भी शरीफ़ नहीं थे। शरीफ़ आदमियों के ये लक्षण नहीं होते कि जब देखो, होटलों में बैठे हैं या क्लब के चक्कर लगा रहे हैं।

महेश : तो इसका मतलब ये हुआ कि मैं घर में बैठा रहा करूँ ?

राजेन्द्र : हमारा ये मतलब नहीं है कि शरीफ़ आदमी घर से बाहर निकलते ही नहीं, बाहर जाओ, ज़रूर जाओ। मगर भले आदमियों के साथ और भले आदमियों की तरह।

महेश : मतलब ये कि तुम्हारे साथ ?

राजेन्द्र : इस बात का फ़ैसला भाभी जी ही करें तो ज़्यादा अच्छा होगा, क्योंकि तुम तो उन्हें शरीफ़ कहोगे जो सिगरेट पीते हैं, शराब पीते हैं, चाय पीते हैं और जुआ खेलते हैं।

कमल : जैसे नैयर, अब्बास, ठाकुर।

कांता : बस-बस, कमल भाई, इनका तो नाम भी मत लो ! मैंने तो सुना है, ये लोग मांस भी खाते हैं।

राजेन्द्र : मांस ! भाभी जी, वे लोग आदमी को खा जाएँ। आख़िर महेश का सारा जेब-ख़र्च जाता कहाँ है ?

कमल : भई, एक बात है राजेन्द्र ! भाभी जी आदमी को पहचानती ख़ूब हैं ! देखा, ठाकुर के बारे में यही राय हमारी श्रीमती जी की भी है।

महेश : वो तो ठीक है, मगर तुम लोग तो आज उसके साथ दावत और सिनेमा जाने वाले थे।

राजेन्द्र : वो ज़माने गए मिस्टर, जब खलील खाँ फाख़्ता उड़ाया करते थे।

कमल : जी हाँ, अब उसके साथ सिनेमा देखना तो दूर ख़ुद हम उसकी शक्ल तक नहीं देखेंगे। दूसरे, अगर हमें कोई प्रोग्राम ही रखना होगा तो तुम्हारे साथ रखेंगे, हम ठाकुर या…

कांता : मगर मैं तो यह कहती हूँ राजेन्द्र भाई कि जब आप लोग सिगरेट छोड़ सकते हैं तो ये क्यों नहीं छोड़ सकते ? आप क्यों नहीं कहते, ज़ोर दीजिए इन पर ! फिर देखिए...

राजेन्द्र : उससे कुछ नहीं होगा भाभी जी ! पुरानी आदतें बड़ी मुश्किल से छूटती हैं।

कांता : फिर आपने कैसे छोड़ी ?

राजेन्द्र : इसका श्रेय तो कमल की पत्नी को जाता है भाभी जी ! उन्हें जाने कहाँ से एक दवाई वाला टकरा गया। बस, उन्होंने दवाई ख़रीद ली और फिर दूध में घोलकर जो कमल को पिलाई तो सुबह उठते ही चार-चार सिगरेटें फूँकने वाला कमल सिगरेट से ऐसे घबराने लगा जैसे बिल्ली से चूहा ! और फिर उन्होंने उस दवाई वाले को हमारे यहाँ भेज दिया तो हमारी श्रीमती जी ने भी हमें बाँध दिया।

कमल : फिर हम दोनों ने सोचा भाभी जी कि जब सिगरेट ही छूट गई तो फिर पान और चाय में ही क्या रखा है। और अब तो भाभी जी, हालत ये है कि कोई चाय, पान या सिगरेट सामने कर दे तो उबकाई आने लगती है।

राजेन्द्र : मगर आश्चर्य है। वह दवाई वाला इधर नहीं आया। मेरी श्रीमती जी ने तो उसे ख़ास तौर पर यहाँ का पता दिया था।

कमल : (धीरे से) मगर ये भी अच्छा ही हुआ राजेन्द्र कि वह महेश की मौजूदगी में यहाँ नहीं आया, वरना तो बड़ी मुश्किल होती।

कांता : आप इन्हें यहाँ से ले जाइए कमल भाई ! और इस बीच जैसे भी हो उसे यहाँ ज़रूर भेज दीजिए। अब्बास के झाँसे में क्यों पड़े ?

महेश : मगर इस भरोसे मत रहना कि मैं पिक्चर दिखाऊँगा। मेरे पास एक पैसा नहीं है। श्रीमती जी ने साफ़ झंडी दिखा दी है।

राजेन्द्र : तौबा-तौबा ! भई, बहुत ही ज़लील आदमी है तू तो ! अबे, जो आदमी पान, सिगरेट और चाय तक छोड़ चुका है वह भला सिनेमा न छोड़ चुका होगा।

कांता : नहीं राजेन्द्र भाई, सिनेमा की बात नहीं है, ये तो मुझे नीचा दिखाने की बात है। ये आप लोगों को यह बताना चाहते हैं कि मैं इन्हें जेब-ख़र्च के लिए एक पैसा नहीं देती, जबकि हर महीने नकद 30 रुपए इनकी जेब में डाल देती हूँ।

[बाहर से आवाज़ें—महेश, ओ महेश]

महेश : आया भाई, आया ! कांता ! तुम ज़रा इनसे बातें करो, मैं अभी देखकर आया कि कौन है। (उठकर जाता है)

महेश : (आते हुए) किसे बुला रही हो मैडम !

कमल : (फुसफुसाकर) अच्छा तो भाभी जी, हम महेश को लेकर चलते हैं। आप ज़रा ख़याल रखना। ऐसा न हो कि वो दवाई वाला बेचारा दरवाज़े से ही लौट जाए।

राजेन्द्र : (दूर होते हुए) अच्छा, भाभी जी, नमस्ते !

कमल : अच्छा, नमस्ते भाभी जी ! हम महेश को साथ लिए जा रहे हैं। इसका खाने पर इंतज़ार मत कीजिएगा।

(दृश्य-परिवर्तन)

[द्वार पर दस्तक]

एक व्यक्ति : श्री महेश चंद्र जी शर्मा घर में हैं ?

कांता : (पास आते हुए) आप कौन साहब हैं ?

व्यक्ति : जी, मैं समाज सुधार औषधालय का प्रतिनिधि हूँ ओर मुझे श्रीमती राजेन्द्र वर्मा ने यहाँ भेजा है।

कांता : (ख़ुशी से) ओह ! तो आप सिगरेट छुड़ाने की दवा लेकर आए है।

व्यक्ति : जी हाँ, औषधियाँ तो मेरे पास एक से एक लाभकारी हैं किंतु इन दिनों सिगरेट-विरोधी औषधि की माँग ही अत्यधिक है।

कांता : तो लाइए, थोड़ी-सी मुझे भी दे दीजिए।

व्यक्ति : देखिए बहन जी, प्रारंभ में प्रचार की दृष्टि से हमने खुली हुई दवा अवश्य बेची थी, किंतु अब कंपनी ने वह प्रथा बंद कर दी है। अब हम पूरी शीशी ही बेचते है।

कांता : तो लाइए, शीशी ही दे दीजिए, लाइए ! (शीशी को लेकर पढ़ते हुए) सिगरेट-विरोधी टॉनिक। अच्छा, क्या क़ीमत हुई ?

व्यक्ति : सिर्फ़ पच्चीस रुपए !

कांता : ऐं, पच्चीस रुपए !

व्यक्ति : बहन जी, पच्चीस रुपए तो मात्र दवा का मूल्य है। पाँच रुपए मैं अभी टैक्सी का किराया और लूँगा, क्योंकि मुझे राजेन्द्र बाबू ने टैक्सी से यहाँ भेजा है। आप सोचिए, आपके पति वर्ष में जितने रुपयों की सिगरेट पी जाते हैं उसकी तुलना में यह रक़म कितनी कम है।

कांता : अच्छा-अच्छा, ये लो पच्चीस रुपए !

व्यक्ति : देखिए बहन जी, कृपया 5 रुपए और दीजिए।

कांता : अच्छा, ये लो 5 रुपए भी। अब तो जाओ।

व्यक्ति : धन्यवाद भाभी जी ! जी नहीं, माफ़ कीजिएगा बहन जी, बहुत-बहुत धन्यवाद। (जाते हुए दूर से) बहुत-बहुत धन्यवाद। देखिए, दवा को दूध में घोलकर दीजिएगा। अच्छा, नमस्ते !

(दृश्य-परिवर्तन)

महेश अरे भाई, दरवाज़ा खोलना !

कांता खोलती हूँ (दरवाज़ा खोलते हुए) बड़ी जल्दी आ गए। नौ बज गए थे। अब आपको फुर्सत मिली है ? आपका दूध रखा-रखा ठंडा हो गया। गरम कर लाऊँ क्या ?

महेश क्या करूँ, दावत कुछ इतनी शानदार हुई है कि पेट बुरी तरह भर गया और होटल से सीधे राजेन्द्र के यहाँ पहुँचकर बिस्तर पकड़ लिया।

कांता तो होटल में खाया था खाना ? ख़ैर, मगर उसके ऊपर दूध ज़रूर पीना चाहिए।

महेश और नहीं तो क्या किसी के घर में खाते। पर एक बात है मैडम, मजा आ गया। वो कहा है न किसी ने कि मूज़ी के माल का आनंद ही कुछ और होता है। लेकिन तुम्हें भी आज यारों ने इतनी दुआएँ दीं, इतनी दुआएँ दीं कि बस पूछो मत !

कांता : मुझे ?

महेश : हाँ, हाँ ! और मेरा दावा है कांता कि अपने दोस्तों में किसी साले ने इतनी शानदार पार्टी नहीं दी, जितनी तुमने दी है। नक़द 30 रुपए निकालकर दे दिए। सच, मुझे तो भरोसा नहीं था कि तुम...

कांता : (मुरझाई-सी आवाज़) तो...तो वो दवाई वाला नहीं था।

महेश : कौन दवाई वाला ?

कांता : वही, जिससे मैंने सिगरेट-विरोधी टॉनिक लिया था और तीस रुपए दिए थे। जो गोरा-गोरा, पतला-पतला-सा था और धोती-कुरता पहने था।

महेश : ओह ! तुम भी लुट गई ! अरे देवी जी, वही तो अब्बास है। उसी ने तो शर्त बदी कि मैं एक हफ़्ते के अंदर-अंदर तेरी बीवी से दावत के रुपए लाकर दिखा दूँगा। अब दो रुपए उसे शर्त हारने के और देने पड़ेंगे।

कांता : हाय-हाय ! कैसे गंदे दोस्तों से दोस्ती कर रखी है तुमने। मगर ख़ैर, लो, अब दूध तो पी लो।

महेश : लाओ। (दूध का सिप लेकर उलटी कर देता है और पानी के गरारे करता रहता है) तुम.भी बस बड़ी मासूम हो। खामखाँ दवाई के नाम पर सोडा वाटर मिलाकर एक गिलास दूध का भी नाश कर दिया। अरी भागवान, ये राजेन्द्र, कमल, ठाकुर और अब्बास सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं और आज तुम्हारे पास इसी नाटक के लिए रुपए निकालने आए थे। आ गई न उनके झाँसे में।

कांता : हाय, मेरे तीस रुपए।

महेश : मगर ख़ैर, लो, तुम घाटे में नहीं रहीं। मैंने आज से सिगरेट पीना छोड़ दिया है।

(समाप्ति म्यूज़िक)

और मसीहा मर गया

[प्रारंभिक संगीत पर स्कूल शुरू होने के घंटों की रेसेज़ की आवाज़ उभरती है]

लाला हरीचन्द : भय्यो ! बड़े अफ़सोस का मुकाम है। बारह बज गए, आप अब तक किसी फैसले पर नहीं पहुँचे। इत्ती देर में तो सुनते हैं अंग्रेजों ने पूरी जरमनी को फतह कर लिया था।

गनेशीलाल : मगर लाला जी ! फैसला तो आपकू ही करना है !

लाला जी : देखो, भय्यो, इसलियो मैं तो चला भट्टे पर, मेरी पचास हजार ईटों का चक्कर पड़ा है। ज़माना इत्ता खराब आ गया है कि क्या कहूँ ? एक-एक ईट का हिसाब रखना पड़ता है''पर हॉ, इत्ता मैं फिर भी कहूँगा कि इस मामले को आपस में बैठकर सुलझा लो। देखो भय्या गनेशीलाल, तुम हो इस कालिज के सेक्रेटरी और चौधरी साहब, आप हें उपाध्यक्ष। यानी आप दोनों इस कालिज की दो भुजाएं है। अगर दोनों भुजाएँ मिलकर काम नहीं करेंगी तो बताओ कैसे काम चलेगा ?

चौधरी साहब : लेकिन लाला जी ! अगर हम लोगो से मामला सुलझ सकता तो सलेक्शन कमेटी में हाथ उठवाने की नोबत क्यों आती ?

लाला जी : भय्यो, में सोच रहा था कि देख्खो !

गनेशीलाल : आप अब सोचना-विचारना छोड़ो लाला जी ! जल्दी से इस मामले को चित-पट कर दो। भगवान कसम, आज बजार का दिन है। दुकान सूनी छोड़ के आया हूँ।

लाला जी : तो भय्यो, आप लोग मानेंगे नहीं ?

गनेशीलाल : नहीं लाला जी, फैसला तो करना ही पड़ेगा।

लाला जी : अच्छा भय्यो ! जब ऐसी बात है तो आप लोग एक मिनट के लियो शांति से बैठ जाओ **(थोड़ा पाज़)** अहा ! अब देख्खो कित्ती शान्ती है। ऐसे में मन से विचार भी उपजता है। **(एक लंबी साँस छोड़कर)** तो भय्यो, जग जाहिर बात है कि दुनिया के हर स्कूल में मास्टरों के चुनाव में प्रिंसिपल ज़रूर रहवै है। इसलिए क्यों न अपने उत्तम चंद

को भी बुला लिया जाए।

चौधरी : लाला जी ! ये बेकार की बात है।

गनेशीलाल : लाला जी, आप कन्नी काट रये हैं मगर मैं कह रया हूँ फैसला आपकू करना है। आपकू करना पड़ैगा।

लाला जी : हूँ (**कुछ क्षण सोचते हुए**) अच्छा तो भय्या गनेशीलाल, पहले तुम ही बताओ, तुम्हें क्या कहना है ?

गनेशीलाल : लाला जी, आप तो जानै ही हैं—दसियों साल से कमिटी का मिम्बर हूँ। आज लो मैन्ने सदा इंसाफ की बात करी है।

लाला जी : देख्खो भय्या गनेशीलाल ! वक़्त बरबाद करने में कुछ फायदा नहीं। सीधे विषय पर जाओ।

गनेशीलाल : वोई बात तो मैं कै रया हूँ लाला जी ! आपने हिंदी के लैक्चरर के लिए पाठक कू चुना। मैंने चूँ-चकर करी ? भगवान जानै है, मेरे साले की चिट्ठी धरी है मेरी जेब में, उनने रोहतगी के लियो लिक्खा था। देखिए ! (**कागज़ को जेब से निकालने का प्रभाव**)

चौधरी : चिट्ठियाँ किसके पास नहीं आई गनेशीलाल जी ! वह तो वर्मा था, मेरे बड़े लड़के की बहू का सगा मुमेरा भाई है, बल्कि मेरे ही घर पर ठहरा है। जानता हूँ ससुराल में लड़के को नीचा देखना पड़ेगा। पर बहुमत लाला जी के साथ था, लिहाजा कायदे की बात पर झुकना पड़ा।

लाला जी : चिट्ठी-पत्री तो आवे ही हे भय्या, पर हमें तो न्याय करना हे। हमें तो ऐसा मास्टर लेना है जो हमारे बच्चों को चार अच्छी बाते सिखावे और आदमी बनावे। अब पाठक को ही लो, मेरा उससे क्या वास्ता ? वो बाम्हन, मैं बनिया। पर मुझे उसकी सिक्षा सुद्ध लगी।

गनेशीलाल : वही तो...लाला जी, वही तो मैं चौधरी साहब से कह रिया हूँ। ये खामखाँ उस मुसलमान छोकरे के पीछे पड़े हैं। अगर हिंदू इंटर कालिज नाम धर के आप यो चाहो कि इसमे मुसलमान भर दिए जावें तो कहाँ रया आपका धरम औ' कहाँ रही मरयादा ? (**रुककर धीरे से**) मैं जिसकू कह रया हूँ वो फिर भी सोती बच्चा है, बाम्हन है, अपने जिले का है। बीस-पच्चीस रुपए कम पर आ जावैगा। पर इनकी समझ में आवे तब ना ?

लाला : क्यों भाई चौधरी साब ! क्या हर्ज है ?

चौधरी : लाला जी, बात दरअसल हिंदू-मुसलमान की नहीं। बात असल ये

है कि इनके छोटे भाई सोहनलाल के पास आज बिजनौर से एक तार सोती वकील साहब ने दिया है। इसीलिए ये सोती की हिमायत कर रहे हैं। (रुककर सोचते हुए) क्यों गनेशीलाल जी, मैंने कुछ ग़लत कहा ?

गनेशीलाल : लाला जी, सुना आपने ? चौधरी साहब ने मेरे मूँ की बात छीन ली। भई, मैं ये कब कहूँ कि मेरे पास तार नईं आया। तार आया है, इसीलिए मैं सोती पर और ज़ोर भी दे रया हूँ। पर आपके पास तो कोई तार भी नईं आया। आप क्यूँ उस मुसलमान छोकरे के पीच्छे पड़े हैं ?

लाला जी : मुझे कुछ ध्यान नहीं आ रया भैया, ये मुसलमान छोरा कौन-सा था ?

गनेशीलाल : अजी वो ही···इकरार या इसरार क्या नाम था उसका ? वो ही जो भँडेलो वाला पैजामा पहने था।

चौधरी साहब : कोतवाल साहब का भानजा है लाला जी ! आपको खयाल नहीं रहा, आप ज़रा फिर से बुलाकर देखिए। तबीयत खुश हो जाएगी। बड़ा होनहार लड़का है।

लाला ली : हूँ, अच्छा भैया, ज़रा ये तो बताओ कि मास्टर की दूसरी पोस्ट के लिए भला कौन-सा नाम तय किया है हमने ?

चौधरी साहब : (सकपकाकर जल्दी से) जी, उसके लिए तो हम लोग एक राय होकर राजेश्वर ठाकुर को पहले ही चुन चुके हैं।

गनेशीलाल : वो ही, अपने मखले के ठाकुर साहब का लड़का ?

लाला जी : (संतोष की साँस लेते हुए) अच्छा···हाँ। तो भैया गनेशीलाल, दूसरे मास्टर के लिए तुम सोती का नाम ले रये हो और भैया चौधरी साहब, आप उसका—क्या नाम है कोतवाल साहब के भानजे का ? यही न···

चौधरी : जी हाँ।

लाला जी : तो भय्यो ! मेरी बात मानोगे ?

गनेशीलाल : जी हाँ।

चौधरी : ज़रूर मानेंगे।

(हलका पाज़)

लाला जी : भय्या गनेशीलाल, तुम्हारा वकील नाराज होवे है तो हो जाने दो और आप भी भय्या चौधरी साहब, कोतवाल को नाराज हो जाने दो। ज़्यादा

से ज़्यादा चार-छह महीने और कोतवाल रहेगा, लेकिन धरम की मरयादा, चाहे प्रान चले जावैं, रहनी चाहिए। (हलका पाज़) मुझे तो भय्यो, गुरुकुल का पढ़ा हुआ वो लड़का बड़ा अच्छा लगा। कैसी पवित्र आत्मा है उसकी...और कैसी भासा। फिर बी०ए० में फर्स्ट क्लास भी अकेले उसी की है। और संस्कीरत का विद्वान, पूरा हिंदू, वैसा ही जैसा भैया गनेशीलाल चाहवै हैं। क्यों चौधरी साहब, क्या राय है ?

चौधरी : (हिचकिचाते हुए) जी वो...ठीक तो है मगर कुछ जँचता नहीं।

लाला जी : और भय्या गनेशीलाल, तुम्हारा क्या विचार है ?

गनेशीलाल : (उसी हिचकिचाहट से) जी, मेरे विचार से तो उसकू एक बार फिर से बुलाके देखना पड़ैगा।

लाला जी : हाँ, हॉ, भय्यो, क्यों नहीं, क्यों नहीं ? बच्चों की बात है। कल कू जनता को सिकायत होवे, इसलिए ठोक-बजा के देखना अच्छा होवै।

[घंटी बजने की और दरवाज़ा खुलने की ध्वनि]

(चपरासी से) सुनो, प्रिंसिपल साहब से कहो--सत्यव्रत जी को फिर से भेजें। (रुककर चपरासी के दरवाज़ा बंद कर जाने पर) अब भय्यो, एक बात मैं और कहूँ कि इत्ती छोटी-छोटी बातों पर आपस में मनमुटाव नई करना चाहिए। मैं तो कहूँ हूँ इंसाफ के लिए लोगों ने कित्ते-कित्ते त्याग किए हैं। अब यही लो, पाठक के कारण तुम लोगों ने अपने-अपने रिश्तेदारों को नाराज़ कर लिया, तो वकील साहब या कोतवाल किस खेत की मूली हैं ? है न !

[दरवाज़ा खुलने की आवाज़]

आइए, माट साहब ! बैठिए। आपका नाम सत्यव्रत है न ?

सत्यव्रत : जी हॉ।

लाला जी : हाँ भय्या गनेसीलाल, अब पूछ लो जो कुछ पूछना हो ?

गनेशीलाल : (हुँकारा लेते हुए गंभीरता से) मास्टर जी, सुबह कै बजे उठते हो आप ?

सत्यव्रत : जी, आजकल गर्मियों में चार बजे।

गनेशीलाल : फिर क्या करते हो ?

सत्यव्रत : जी, नित्यकर्म से निवृत्त होने के बाद थोड़ा व्यायाम, फिर स्नान संध्या और आत्मचिंतन। रविवार के दिन यज्ञ और फिर स्वाध्याय !

गनेशीलाल : प्याज़ खाते हो ?

सत्यव्रत : जी नहीं।

गनेशीलाल : बहुत अच्छे ! चौधरी साहब, आप भी कुछ पूछना चाहवैं हैं ?

चौधरी : कुछ नहीं, मुझे सिर्फ़ दो सवाल पूछने हैं। मास्साब, आप बता सकते हैं कि एक अच्छे विद्यार्थी में क्या-क्या ख़ूबियाँ होनी चाहिए ?

सत्यव्रत : जी, मेरी दृष्टि में विद्यार्थी में चरित्र और अनुशासन अनिवार्यतः होना ही चाहिए। चरित्र में सत्यप्रियता, बड़ों की आज्ञा का पालन, दया और प्रेम आदि सभी बातें सम्मिलित हैं और अनुशासन में आत्मसंयम तथा अध्ययन।

चौधरी : शाबास ! मगर एक बात और है कि आज विद्यार्थियों में आपस में प्रेम नहीं रहा। मैं चाहता हूँ हमारे कालेज के विद्यार्थी भाई-भाई की तरह आपस में प्रेम करें। तुम्हारा क्या खयाल है ?

सत्यव्रत : जी···प्राचीन आश्रम पद्धति की यही सबसे बड़ी विशेषता थी जो आज लगभग लुप्त हो चुकी है···यदि आपने मुझे अवसर दिया तो मैं इस दिशा में प्रयत्न करूँगा।

चौधरी : शाबास ! लाला जी···मुझे और कुछ नहीं पूछना।

लाला जी : तो भय्या, पंचों का निर्णय सिर-माथे पर। भय्या सत्तेवरत, तुम समझो हमने तुम्हें ले ही लिया। पर भय्या, तुम अभी हो वच्चे···ओर तुम्हारे ऊपर तुमसे भी बहुत छौटे बच्चों की देख-रेख सौंपते हुए मेरा दिल धड़क रया हे। समझ लो, तुम्हें रास्ते में पड़े पत्थर के टुकड़ों को काट-छाँटकर मूर्तियों की सकल में ढालना हे। तब शिक्षक का कर्तव्य पूरा होता है !

बोलो भैय्या ! कर सकोगे ये सब ?

सत्यव्रत : (अभिभूत) जी, मैं अपनी ओर से पूरा प्रयत्न करूँगा।

लाला जी : तो भय्या जव जाओ तो एक काम करना। आज किसी वखत उत्तम चंद जी हैं न, तुम्हारे प्रिंसिपल, उनसे अपना नियुक्ति-पत्र जरूर ले लेना।

(दृश्य-परिवर्तन)

[छुट्टी के घंटों की आवाज़। क्लास रूम से लड़कों के निकलने का शोर, उस पर सुपर इंपोज़्ड संवाद]

योगेश : (चलते-चलते) विश्वास नहीं होता सत्यव्रत जी कि आपकी नियुक्ति बिना किसी सिफारिश के अपने आप हो गई ! मगर विश्वास करना पड़ रहा है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप झूठ नहीं बोलते।

सत्यव्रत : हाँ, योगेश भाई ! कई और सहयोगियों ने मेरी नियुक्ति पर आश्चर्य व्यक्त किया है। पर किसी ने भी यह नहीं पूछा कि उपस्थित प्रत्याशियों में सबसे अधिक योग्यता किसके पास थी ?

योगेश : मैं जानता हूँ सत्यव्रत जी, लेकिन आजकल बहुत कम संस्थाओं में डिग्री या डिवीज़न के आधार पर सलैक्शन किया जाता है।

सत्यव्रत : ठीक यही बात इंटरव्यू देने के बाद मेरे भी मन में आई थी। मैंने सोचा था कि किसी ने मेरी योग्यता और श्रेणी नहीं पूछी, मेरी अंक सूची नहीं माँगी, मेरे प्रमाण-पत्र नहीं देखे और नियुक्ति हो गई ! लेकिन बाद में मुझे लगा कि ये व्यवस्थापक लोग संभवतः आध्यात्मिक विचारों के व्यक्ति हैं और डिग्रियों से ज़्यादा महत्त्व शिक्षक के चरित्र को देते हैं।

योगेश : वाह ! क्या दूर की कौड़ी लाए हैं सत्यव्रत जी, ज़रा फिर से कहिए।

सत्यव्रत : मैंने अनुभव किया योगेश भाई कि मेरे खान-पान और दिनचर्या के विषय में छोटे-छोटे प्रश्न करके जैसे वे लोग मेरे व्यक्तित्व में झाँकने की चेष्टा कर रहे थे। मुझे उनका वह प्रयत्न साधारण होते हुए भी अच्छा लगा। इससे मुझे भी उन लोगों तक पहुँचने में सुविधा हुई।

योगेश : उन लोगों तक पहुँचने में यानी उन्हें समझने में ?

सत्यव्रत : जी हाँ, योगेश भाई !

योगेश : इसमें आपको बहुत वक़्त लगेगा सत्यव्रत जी ! ये लोग इंसान नहीं हैं। इंसान से कुछ ज़्यादा हैं या कुछ कम···मगर खैर, ये एक लंबा मसला है। आइए, अभी तो स्टाफ मीटिंग में इंतज़ार हो रहा होगा।

सत्यव्रत : चलिए, (चलते हुए) योगेश भाई, ये सामने स्टेशन से यहाँ तक सड़क के साथ-साथ लगे हुए खेत क्या कालेज के ही हैं ?

योगेश : हाँ सत्यव्रत जी ! ये कॉलेज की कृषि योजना की संपत्ति है।

सत्यव्रत : तो क्या ये खेल के मैदान नहीं हैं ?

योगेश : काश ! ये खेल के मैदान हो सकते ! मगर छोड़िए, ये कृषि योजना भी एक पेचीदा मसला है, इस पर भी कभी फुरसत से बातें होंगी और ये भी मुमकिन है कि आज इसी पर चर्चा करने के लिए प्रिंसिपल साहब ने बुलाया हो।

राजेश्वर : आप दोनों साहबान का इस सूने स्टाफ रूम में मैं तहेदिल से स्वागत करता हूँ।

योगेश : अरे, सब लोग कहाँ चले गए ठाकुर ?

राजेश्वर : (व्यंग्य से) बस यों ही। कुछ लोगों को अभी-अभी चाय की तलब लग आई तो उठकर चले गए। दरअसल विषय ज़रा नाजुक छिड़ गया था।

योगेश : यानी ?

राजेश्वर : वही, कालिज कृषि योजना। और प्रिंसिपल साहब चूँकि बराबर इधर आ-जा रहे थे, इसलिए लोग चुपचाप ही फूट लिए।

योगेश : समझा।

सत्यव्रत : योगेश भाई, आपने नहीं बताया कि ये कालेज कृषि योजना क्या है ?

योगेश : बताऊँगा। ज़रूर बताऊँगा। अभी आपसे जमकर बातें ही कहाँ हो पाई हैं। फिर आपको यहाँ आए जुम्मा-जुम्मा आठ ही दिन तो हुए हैं। सब्र से काम लीजिए सत्यव्रत जी, मैं नहीं चाहता कि आप यकबयक पूरी तरह जड़ से उखड़ जाएँ।

राजेश्वर : (हँसकर) बहुत खूब··तो गोया आप इन्हें हौले-हौले झटके देकर उखाड़ना चाहते हैं।

योगेश : (हँसकर) हाँ, यूँ ही समझ लो कि मैं इन्हें पहले अभ्यस्त कर देना चाहता हूँ ताकि कल जब इनके विश्वास का वृक्ष उखड़कर जड़ समेत ज़मीन पर गिरे तो इन्हें ज़्यादा तकलीफ़ न हो।

[सहसा कुर्सियाँ खिसकाकर खड़े होने का प्रभाव]

योगेश : आइए सर !

प्रिंसिपल : कहिए, किस टापिक पर बातचीत चल रही थी ?

योगेश : जी, वही एक टॉपिक है आजकल··रिजल्ट ! सर, इतना पूअर रिजल्ट अपने कालिज का कभी नहीं रहा। क्या हाईस्कूल और क्या इंटर, दोनों जगह हम बुरी तरह मात खा गए। यदि पिछले साल ही आपको प्रिंसिपल का पूरा चार्ज दे देते तो शायद ये नौबत न आती।

प्रिंसिपल : नहीं-नहीं, ये पाइंट नहीं है योगेश जी··रिजल्ट खराब होने का असल कारण ये है कि टीचर्स ने दरअसल उतनी मेहनत नहीं की।

योगेश : जी हाँ, हो सकता है, देखिए न ! हिस्ट्री में खुद मेरे 50 में से 30 लड़के फेल हैं। लेकिन उधर अंग्रेजी का रिजल्ट देखता हूँ तो वहाँ

अस्सी प्रतिशत से भी ज्यादा लड़के फेल हुए हैं। इसलिए यह मानने को तबीयत नहीं होती उत्तमचंद जी, माफ़ कीजिएगा, प्रिंसिपल साहब कि आपने भी अपने सब्जेक्ट में मेहनत नहीं की होगी।

प्रिंसिपल : (खँखारकर) सत्यव्रत जी, आप इस मसले पर बहुत खामोश हैं।

सत्यव्रत : जी, मैं सोच रहा था''वास्तव में कल मैं कस्बे में घूम रहा था तो कुएँ के पास विचित्र बातें सुनने को मिलीं।

(हलका फ़्लैशबैक)

[कुएँ में डोल डालते हुए घिर्री की आवाज़]

स्वर 1 : कोई साला स्कूल है। लाला हरीचंद ने अपनी जागीर बना रखी है। इस साल हिंदू कालिज में जितने लड़के फेल हुए हैं, उतने सारे जिले में कहीं नहीं हुए। देख लेना, पिछले साल 1000 लड़के थे, तो इस साल मुश्किल से 500-600 लड़के आएँगे। ऐसे फटीचर कालेज में जहाँ कृषि योजना के नाम पर बच्चों से हल जुतवाया जाता है, कौन अपने बच्चों को भेजेगा ?

स्वर 2 : अरे भाई, तुम समझते नहीं, स्कूल तरक्की कर रहा है। देखो ना, इस साल पहले से तिगुना खराब रिजल्ट है। लड़के फेल हुए सो हुए, पर कमेटी के मेम्बरों का कोई रिश्तेदार तो मास्टर हुए बिना नहीं रहा। भय्या, जितना गुड़ डालोगे, उतना मीठा होगा। जैसे मास्टर रखोगे, वैसी पढ़ाई होगी।

प्रिंसिपल : कहाँ चले गए सत्यव्रत जी आप ? आप कुछ कह रहे थे ?

सत्यव्रत : जी, कुछ विशेष नहीं। मैं यह सोच रहा था कि कस्बे की मनोवृत्ति कितनी विचित्र होती है। इसी रिजल्ट को लेकर कल कुएँ पर लोग कमेटी के सदस्यों की और कृषि योजना की आलोचना कर रहे थे।

प्रिंसिपल : स्ट्रेंज ! सत्यव्रत जी, आपको ऐसी जगह जाना भी नहीं चाहिए जहाँ लोग इस किस्म की बातें करते हों। आपको, खास तौर पर आपको मेरी सलाह है, क्योंकि मुझे मालूम है आप इस कॉलेज में बहुत तरक्की कर सकते हैं। कमेटी के प्रेसीडेंट लाला हरीचंद जी आपको बहुत मानते हैं। वाइस प्रेसीडेंट चौधरी नत्थूराम जी और सेक्रेटरी साहब यानी गनेशीलाल जी भी''(चौंककर) अरे, मैं आपको यह बताना तो भूल ही गया कि कल कमेटी की बैठक में एक होस्टल

खोलने का डिसीजन लिया है और यह भी तय हुआ है कि उस हॉस्टल के वार्डन आप होंगे। कांग्रेचुलेशंस मि० सत्यव्रत !

सत्यव्रत : जी, धन्यवाद।

(दृश्य-परिवर्तन)

[मीटिंग का वातावरण]

गनेशीलाल : लाला जी, कोरस अब पूरा हो गिया है। आप अपना व्याख्यान सुरू करो।

लाला जी : व्याख्यान क्या भय्यो, मेरे मन में एक विचार है, उसे आपके सामने रखना चाहूँ हूँ। आपने पिछली बार की मीटिंग में एक होस्टल खोलने का निर्णय लिया था। अब उसी विचार कू हमें किरया में लाना है। आपकू तो मालूम ही हे, बाहर के बच्चों को यहाँ खाने-पीने की कित्ती तकलीफें हैं।

गनेशीलाल : लाला जी, याद होगा आपको, पिछले साल नियामतपुर का एक लड़का कल्लू के ढावे का खाना खाके मर गया था। मुझे बड़ा भारी दुःख हुआ। अगर उसके खाने-पीने का ठीक प्रिबंध होता तो उसे हैज़ा नई हो सके था।

लाला जी : वोई बात भय्यो, मैं सोच रया था कि पढ़ाई के साथ-साथ बच्चों का खाना-पीना, उनकी दवा-दारू का प्रबंध और उनकी सुख-सुविधा की बात भी हमें सोचनी चाहिए। लड़के दुगने-तिगने किराए पर जिधर-तिधर कमरे लेकर शहर में रहते हैं, न कोई खाने का ढग, न रहने का, न कोई देखने वाला, न कोई भालने वाला। इन बातों का चरित्र पर अच्छा असर नहीं पड़ता। क्यों चौधरी साहब ?

चौधरी साहब : आप ठीक फरमा रहे हैं लाला जी, मगर सवाल ये है कि होस्टल के लिए मुनासिब जगह की ज़रूरत होगी।

गनेशीलाल : वही तो विचारने की बात है। प्रिस्ताव पास कर लेने से ही कोई काम नई होता।

लाला जी : भय्यो ! मैं इत्ती देर से येई सोच रया हूँ कि शहर में हौस्टल के लिए कौन-सी जगह मौजू रहवैगी !

चौधरी साहब : गनेशीलाल जी, जब आपने होस्टल की बात उठाई है तो आपने भी कुछ सोचा होगा इस मसले पर। आप कालिज के सेक्रेटरी हैं...कायदे

के साथ ऐसे मामलों पर गौर करना आपकी जिम्मेदारी है। आप बोलिए...

गनेशीलाल : मैं तो समझू हूँ चौधरी साहब, आपके मकान की बरोब्बर में लाला जी का जो घेर पड़ा है, उससे बढ़िया जगह सारे शहर में दूसरी कोई ढूँढ़े नई मिल सकती। पूच्छो क्यों ?

चौधरी साहब : (सोचते हुए) जगह तो गनेशीलाल जी, बेशक काफ़ी कुशादा है... लेकिन ज़रा खस्ता हाल है। मेरे खयाल से उसकी मरम्मत और साफ़-सफ़ाई कराना निहायत ज़रूरी होगा ? फिर भी मैं और मेम्बरान की राय लेना चाहूँगा।

स्वर 1 : आप उस घेर की बात कर रहे हैं जो पहले रियासत का अस्तबल था।

स्वर 2 : उसमें इतने पिस्सू और मच्छर हैं कि वहाँ लड़के तो क्या घोड़े तक रहना पसंद नहीं करेंगे ?

लाला जी : भय्यो, देखो ! घर चूँकि मेरा है इसलियो उस बारे मे मेरा बोलना कुछ अच्छा नहीं लगता। लेकिन कुछ बातें मेम्बरों ने बड़ खुले मन से सामने रखी हें। मीटिंग का मतलब ही ये है कि सब बातों पर ठंडे दिमाग से खुलकर विचार किया जावे।...अभी एक मेम्बर ने कहा कि वह घेर पहले अस्तबल था, ये बात विलकुल ठीक हे, पर भेया, इससे क्या होता है। होने कू तो ये कालिज भी पहले धर्मसाला था। दूसरे मेम्बर ने कहा कि उसमें मच्छर ओर पिस्सू होंगे ...सो भय्या, एक बात कहूँ हूँ। आज के विज्ञान मे जब इत्ती शक्ति आ गई हे कि वो लाखों इमानों को एक पल में खतम कर दे तो क्या विज्ञान की मदद से हम मच्छरों से भी नई निपट सकते। रही उसकी साफ-सफाई की बात तो वो एक दिन का काम है।

चौधरी साहब : देखो भाई गुलजारीमल ! होस्टल के साथ हमें बहुत-सी चीज़े देखनी पड़नी है—जैसे यह कि इमारत मे लड़कों के खेलने-कूदने के लिए काफ़ी जगह हो। कमरे कुशादा ओर वड़े हों। इसके अलावा उसे शहर से दूर और कॉलिज के पास होना चाहिए।

गनेशीलाल : सवसे बढ़िया बात जो है वो यह हे कि वहाँ की आव-हवा बडी साफ़ है। फिर चौधरी साहब के लड़के का यानी अपने डॉक्टर वावू का दवाखाना भी वरोब्बर में है। हारी-वीमारी की वात हुई तो हमारे माथे पर दाग़ नहीं लग सकता।

लाला जी : फिर तो मैं यह कहूँगा भय्या गनेशीलाल कि थोड़ी-सी कुरबानी तुम

भी करो। तुम्हारा छोटा भाई है न, क्या नाम है—सोहनलाल। उससे कहो, अपना होटल उठाकर सामने वाले रथखाने में चला आए। लड़के कच्चा-पक्का खाना खावैं, बीमार पड़ैं और वो भी मेरे मकान में···ये बात मुझसे बरदास्त नहीं हो सकती। (रुककर)

खैर, ये तो सब बाद की बातें हैं, पर भैया, मकान के बारे में अब भी किसी को कोई आपत्ति हो तो वो मुझे बता दे।

चौधरी साहब ठीक है लाला जी, वो तो मेम्बरान ने अपने खयालात का एक रुख पेश किया था।

लाला जी तो भय्या···इस प्रस्ताव को रजिस्टर में पास कर लेना।

गनेशीलाल मगर लाला जी, वो किराए की खास बात तो रह ही गई, उसे भी तो खोल दो।

लाला जी अरे भैया गनेशीलाल, अब मुझे क्यों काँटों में घसीटते हो। इस मामले में मेरा मूँ मत खुलवाओ। मकान तुम्हारा देखा-भाला है। तुम्हें इख्तियार है···जो रजिस्टर में लिख दोगे, मुझे मंजूर होगा। लाओ, सबसे पहले मैं ही अपने दस्तखत करे दूँ।

गनेशीलाल लेकिन लाला जी !

चौधरी साहब छोड़िए गनेशीलाल जी···आप भी किस तकल्लुफ़ में पड़ गए। आप कॉलेज के सेक्रेटरी भी हैं और आजकल खजांची भी। कानूनन आपको पूरा इख्तियार है और हम कमेटी के मेम्बरान भी आपको इख्तियार देते हैं कि आप जो किराया मुकर्रिर कर देंगे, वो हमें मंजूर होगा। क्यों लाला जी ? कोई एतराज़ तो नहीं आपको ?

लाला जी जैसी पंचों की राय हो भय्यो···मैं चार आदमियों से बाहर थोड़े ही हूँ।

(थोड़ा पाज़ म्यूज़िक के साथ)

गनेशीलाल लो लाला जी, सबके दस्तखत तो हो गए। अब आपका जित्ता मन हो, उत्ता किराया लिख लो। मैंने भी दस्तख़त कर दिए हैं···अब मैं चला।

लाला जी नई भैय्या गनेसीलाल, ज़रा एक मिनट रुकियो। वो मैंने बादाम की ठंडयाई बनवाने के लियो कया था, पीकर ही जाना।

गनेशीलाल लाला जी, एक बात पूर्छूं !

लाला जी हाँ भय्या गनेसीलाल, एक क्यों दो पूछो।

गनेशीलाल लाला जी, ये चौधरी नत्थू सिंह अभी कल तक होटल के लिए

रथखाना देने को मना कर रया था। पर आज आपके सामने फट से तैयार हो गया। ये चक्कर जरा मेरी समझ में नहीं आया।

लाला जी : (गिलास बढ़ाते हुए) लो भय्या, पहले ठंडयाई पियो। ये चक्कर भी समझा दूँगा। देखो भय्या गनेशीलाल, तुम तो ठहरे घर के आदमी, अब तुमने क्या छिपाना ? सुबह मैंने चौधरी को बुलवाया था। मैंने उन्हें समझाया कि देखो, तुम्हारे रथखाने में अगर सोहन का होटल खुल गया तो तुम्हारा क्या बिगड़ेगा···कुछ नहीं। और फायदा कित्ता होगा खुद समझ लो। जहाँ 80-100 लड़के होवैं हैं वहाँ महीने में 10-5 तो यों ही बीमार पड़ जावैं हैं, फिर होटल वाला अपना आदमी हो तो (हँसकर) महीने में एक दिन तो सबका पेट खराब कर ही सकता है। अब बताओ, वो तुमको किस मूँ से मना करेगा ? देखो भय्या गनेशीलाल, मैंने ज़िंदगी में एक ही बात अनुभव से सीखी है और वो ये कि आदमी को काट-चूँटकर खाना चाहिए।

(दृश्य-परिवर्तन)

[रेल की लंबी सीटी]

सत्यव्रत : योगेश भाई, मैं बराबर यह अनुभव करता आ रहा हूँ कि आप मुझसे कुछ चीज़ें छिपाते हैं या छिपाते नहीं तो खुलकर नहीं कहते या कहते-कहते रुक जाते हैं ? ऐसा क्यों···योगेश भाई, ऐसा क्यों करते हैं आप ?

योगेश : (फीकी हँसी हँसते हुए) बस एक आदत-सी बन गई है सत्यव्रत जी, सच कहूँ तो सच को सच कहते हुए डर लगता है। फिर यहाँ सच बोलना तो दरकिनार, बोलने की भी इजाज़त नहीं है।

सत्यव्रत : मैं आपकी बात कैसे मान लूँ योगेश भाई ! मुझे तो ऐसी अनुभूति नहीं होती।

योगेश : इसीलिए तो बंधु ! मैं आपसे बहुत-सी बातें कहने में झिझकता हूँ, बहुत-सी खुलकर नहीं कहता और बहुत-सी कहते-कहते रुक जाता हूँ। पर जाने क्यूँ मुझे लगता है इन दिनों आप भी कुछ परेशान-से हैं।

सत्यव्रत : हाँ, हूँ। सच पूछिए तो मैं इस वातावरण में अभी तक अपने आपको स्थित नहीं कर पाया।

योगेश : मगर क्यों ?

सत्यव्रत : इसलिए कि शिक्षा का जो पुनीत स्वप्न मेरे मन में था और है, उसे साकार या स्थापित करने का यहाँ कोई अवसर नहीं। न वातावरण है, न संगी-साथी। आप हैं, किंतु आप भी शिक्षा के वातावरण से अधिक महत्त्व...(रुककर) मुझे क्षमा करेंगे योगेश भाई !

योगेश : नहीं-नहीं, कहते रहिए, मुझे अपनी कमज़ोरियों से बड़ी प्रेरणा मिलती है।

सत्यव्रत : आप राजनीति बल्कि क्षुद्र राजनीति को बहुत महत्त्व देते हैं योगेश भाई ! आप बताइए, आपकी प्रतिभा का कितना प्रतिशत विद्यार्थियों को मिलता है ?

योगेश : कह चुके ? अब मेरी बात सुनिए सत्यव्रत जी ! जहॉ तक शिक्षा दान का आपकी भावना का प्रश्न है, मैं उसकी सबसे ज़्यादा क़द्र करता हूँ, इसलिए आपको इतने निकट अनुभव करता हूँ। पर जहॉ तक वातावरण का प्रश्न है, मैं आपको बता दूँ कि वह सब जगह और सारे देश में कमोबेश ऐसा ही है।

सत्यव्रत : माना कि शिक्षा का वातावरण कहीं भी आदर्श नहीं हे, लेकिन क्या हमारा यह प्रयत्न नहीं होना चाहिए कि हम उसे आदर्श बनाने की दिशा मे कार्य करें ?

योगेश : अवश्य होना चाहिए और सत्यव्रत जी, जिसे आप राजनीति कहते हैं वह वास्तव में इन्हीं प्रयत्नों का एक छोर हे। जैसे किसी पुराने घर में घुसने से पहले जाले वगेरह साफ़ करने पड़ते हैं वैसे ही कुछ मेरी यह कार्यप्रणाली हे, जिसे आप राजनीति कहते हैं।

सत्यव्रत : पर मैं पूछता हूँ कि ये जाले आए केसे ?

योगेश : अपने कालेज की बात करें तो स्थिति ज़्यादा स्पष्ट रहेगी। हमारे यहॉ अधिकतर जाले स्वार्थ के हैं, जिन्हें प्रेसीडेंट लाला हरीचंद, वाइस प्रेसीडेंट चौधरी नत्थूसिंह और सेक्रेटरी गनेशीलाल ने प्रिंसिपल-पद के प्रत्याशी श्री उत्तमचंद की मदद से फेलाया है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि जब तक ये जाले साफ़ नहीं होंगे, यह संस्था आदर्श शिक्षण संस्था नहीं बन सकती।

सत्यव्रत : योगेश भाई, बुरा मत मानिएगा। क्या आपने अपनी इस धारणा को कभी स्थिति और परिस्थिति के संदर्भ में तोलकर देखा है ?

योगेश : बीसियों बार सत्यव्रत जी, बीसियों बार और हर बार मुझे ये जाले

दिखाई दिए हैं। हर बार मेरी धारणा मजबूत से और मजबूत होती गई है।

सत्यव्रत : पर मुझे ये जाले क्यों नहीं दिखाई देते ? मेरे मन में संशय क्यों नहीं उपजता ? मुझे मैनेजमेंट के कार्यो में अनौचित्य क्यों दिखाई नहीं देता ? क्यों मैं उनकी किसी एक बात से अनेक आशय नहीं निकाल पाता (ठहरकर) योगेश भाई, किसी की हर बात पर अविश्वास ही किया जाए यह कोई आवश्यक तो नहीं ?

योगेश : सत्यव्रत जी, सवाल ये है कि मनुष्य पर से विश्वास कब उठता है ? जब वह विश्वासघात करे, तभी न ? तभी उसकी बातों में आशय या दुराशय ढूँढ़ने की ज़रूरत महसूस होती है। वरना मैं आपकी बातों से यह आशय क्यों नहीं निकालता ?

सत्यव्रत : क्यों नहीं निकाला ?

योगेश : इसलिए कि आप मूलतः वैसे नहीं हैं। आपकी भावना साफ़ है। आप चीज़ों को उनके सही संदर्भ में देखना और पहचानना चाहते हैं।

सत्यव्रत : जब मेरी भावना साफ़ है तो मुझे ये जाले क्यों नहीं दिखाई देते ?

योगेश : देखिए, आप मेरे मुहावरे का गलत इस्तेमाल कर रहे हें। मैंने सिर्फ यह कहा था कि आप चीज़ों को उनके सही संदर्भ में देखना और पहचानना चाहते हैं। सत्यव्रत जी, ये स्वार्थ के जाले वास्तव में शोषण के फंदे हैं। अजीब बात है कि पूँजीवाद हमेशा अपना जाल ईमानदारी के रंग में रँगकर फैलाता हे। वक़्त की धूप में जब ईमानदारी का मुलम्मा उतर जाता है तो चारों तरफ़ केवल फंदे ही फंदे रह जाते हैं। तब फॅसने वाले को महसूस होता है कि बुरे फॅसे।

सत्यव्रत : आपका आशय है कि फॅस मैं भी गया हूँ, लेकिन मुझे पता नही है।

योगेश : हॉ, मास्साब ! आप सरल हैं, नए हैं, ईमानदारी की चमक से आक्रांत है। आप थोड़े दिनों और इस ईमानदारी की चमक से चकाचौंध रहेंगे। थोड़े दिनों ओर इस शोषण को सत्य का पर्याय समझते रहेंग।

सत्यव्रत : किंतु योगेश भाई ! आप ऐसा क्यों नहीं सोचते कि यह चमक शाश्वत भी हो सकती है ? क्या आप सरल और ईमानदार नहीं हैं।

योगेश : मैं नया नहीं हूँ सत्यव्रत जी, इस ईमानदारी की चमक मेरे लिए फीकी पड़ चुकी है। मैं क़दम-क़दम पर उन फंदों को महसूस करता हूँ जो मुझे चारों ओर से घेरे हैं। मैं हर नए आने वाले से चिल्लाकर कहता हूँ कि यह जाल है—इससे सावधान।

मगर अधिकांश लोग तब तक मुझे नहीं सुनते जब तक कि दो-चार फंदे उनके गले में नहीं पड़ जाते। और फिर वे भी मेरे साथ चिल्लाने और गालियाँ देने लगते हैं। आप देखेंगे, थोड़े दिनों बाद आप भी मेरे साथ होंगे।

सत्यव्रत : चलिए, माना कि आप ही सही हैं। पर होस्टल के संदर्भ में आपने जो आलोचना की थी वह तो आपके अनुभव पर आधारित नहीं हो सकती ?

जयप्रकाश : वो मेरे अध्ययन पर आधारित थी।

सत्यव्रत : तो फिर बताइए कि होस्टल के संदर्भ में आपका यह मंतव्य कहाँ तक उचित है ? (आवेश से) इसमें क्या शोषण है ? क्या आप ये अनुभव नहीं करते कि बाहर के विद्यार्थियों के लिए यहाँ छात्रावास होना आवश्यक था ? या आप ये समझते हैं कि छात्रों से किराए के रूप में प्राप्त आमदनी को मैनेजमेंट खा जाएगा ? या आप यह सोचते हैं कि मुझे होस्टल का अधीक्षक या वार्डन बनाकर उन्होंने एक अयोग्य व्यक्ति को नियुक्त किया है या यह कि मैं छात्रों का मैनेजमेंट के हित में शोषण करूँगा ?

योगेश : नहीं सत्यव्रत जी, नहीं। (लंबी साँस) मैं मानता हूँ कि विद्यार्थियों के लिए एक होस्टल नितांत आवश्यक था, लेकिन मैं यह नहीं मानता कि वह होस्टल इस अस्तबल में ही खुलना चाहिए था और न मैं यह मानता हूँ कि हमारा यह छोटा-सा कस्बा इतना बड़ा महानगर बन गया है कि इसकी एक रद्दी-सी इमारत का किराया 500 रु० माहवार हो !

(रुककर) और मैं जानता हूँ कि होस्टल की आमदनी को मैनेजमेंट नहीं खा सकता, मगर होस्टल की आड़ में वह आमदनी के नए-नए जरिए जरूर ढूँढ़ सकता है जैसे गनेशीलाल के छोटे भाई ने होस्टल के ठीक सामने अपना खाने का होटल खोल लिया है। मैं जानता हूँ कि आपको वार्डन बनाकर उन्होंने अनजाने ही एक ठीक आदमी को ठीक जगह रख दिया है। मगर इसलिए नहीं कि होस्टल के लिए आप ठीक आदमी थे, बल्कि इसलिए कि उन्हें लगा आप उनके हिसाब से ठीक आदमी हैं।

सत्यव्रत : मैं आपका आशय नहीं समझा।

योगेश : आशय ये कि उन्हें आपमें एक सीधा, सरल और ज़रूरतमंद आदमी

नज़र आया। ऐसा आदमी जो न तो उनके शोषण को समझेगा और न उनका विरोध करेगा।

सत्यव्रत : आप मुझे ग़लत समझ रहे हैं योगेश भाई ! ऐसा न सोचें कि मैं विरोध की भाषा नहीं जानता।

योगेश : सत्यव्रत जी, माइंड इट···मैं अपनी नहीं उनकी बात कह रहा हूँ। पर आपसे एक सवाल पूछने की तबीयत मेरी ज़रूर होती है कि क्या देश के किसी भी कालिज के किसी होस्टल में ऐसी व्यवस्था आपने देखी या सुनी है कि जहाँ लड़के रहते तो होस्टल में हों और खाना मैनेजमेंट के होटल में खाते हों ?

सत्यव्रत : यह तो कोई ऐसी बात नहीं है योगेश भाई ! यदि लड़के चाहें तो मैं कल इस व्यवस्था को बदल सकता हूँ।

योगेश : लड़के चाहते हैं सत्यव्रत जी ! लेकिन मैंने उन्हें मना कर दिया है···इससे आप संकट में पड़ जाएँगे। आपको मेरे अनुभवों पर विश्वास होने लगेगा।

सत्यव्रत : लेकिन क्यों ?

योगेश : इसलिए कि इससे आप असुविधा अनुभव करेंगे···हो सकता है आप संकट में पड़ जाएँ···और मैं नहीं चाहता कि आप···

सत्यव्रत : जड़ से उखड़कर गिर पड़ूँ···यही न ! योगेश भाई···मैं अब भी अपने मत पर दृढ़ हूँ। मैनेजमेंट में बुराइयाँ हो सकती हैं, लेकिन उनके हर कार्य के पीछे स्वार्थ ही होगा—ऐसा मैं कदापि नहीं मान सकता। फिर भी कल से लड़के होस्टल में खाना बनवाएँगे, होस्टल में खाना खाएँगे और यदि आपकी धारणा सही निकली तो विश्वास कीजिए, मैं विरोध करूँगा। जहाँ सत्य का दमन होता है, विश्वास कीजिए वहाँ मैं चुप नहीं बैठ सकता।

(दृश्य-परिवर्तन)

[स्टाफ रूम में टीचर्स की उपस्थिति, पृष्ठभूमि में दूर जाता हुआ लड़कों का शोर, टीचर्स का भी बातचीत का अस्पष्ट शोर, सहसा प्रिंसिपल के प्रवेश से कमरे में निस्तब्धता]

प्रिंसिपल : फ्रेंड्स, माफ़ कीजिए, मैंने आप साहबान को इसलिए रोका कि कुछ ज़रूरी बातें करनी हैं। आप जानते हैं कि हमारे इंस्टीट्यूशन के पास फंडस की कितनी कमी है। ज़ाहिर है कि टीचर्स की तनख्वाहों से

जो डोनेशन मिलता है, उससे ये कमी पूरी नहीं की जा सकती। इसके लिए हमें महीने में कम से कम एक बार आसपास के गाँवों में चंदा इकट्ठा करने के लिए जाना पड़ेगा। इसके अलावा मैं सोचता हूँ और प्रेसीडेंट साहब की भी इच्छा है कि इस साल अगर हम अपनी कृषि योजना पर थोड़ी और मेहनत करें तो अच्छी-खासी आमदनी हो सकती है।

सत्यव्रत : प्रिंसिपल साहब, क्या आप संक्षेप में इस कृषि योजना पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे ?

प्रिंसिपल : (हलकी हँसी के साथ) जी हाँ ! मैं तो भूल ही गया था कि इस साल हमारे स्टाफ़ में तीन नए साथी भी आए हैं, जो इस योजना से बिलकुल बेखबर हैं। जैसे—सत्यव्रत जी, पाठक जी और आप···

राजेश्वर : जी, सेवक को राजेश्वर ठाकुर कहते हैं।

प्रिंसिपल : हाँ-हाँ, ठाकुर साहब ! तो ज़ाहिर है कि इन्हें कृषि योजना के बारे में कुछ पता होगा ही नहीं। दरअसल ये कृषि योजना गांधी जी के उसूलों पर बनाई गई है और एक ऐसी चीज़ है जिससे छात्रों की एक्सरसाइज़ भी होती है और उनमें सेल्फ रिलायेंस यानी स्वावलंबन की भावना भी आती है। अब यही देखिए कि हमारे कालेज के सामने जो इतनी सारी ज़मीन बेकार पड़ी थी उसी में पिछले साल से हमने विद्यार्थियों की मदद से खेती शुरू की है और इस साल ज़रा और सीरियसली उस काम को आगे बढ़ाना चाहते हैं।

राजेश्वर : मैं कुछ पूछ सकता हूँ इस योजना के बारे में ?

प्रिंसिपल : Oh sure ! आप ही की तो योजना है, बल्कि मैं तो चाहूँगा कि गाँव के टीचर्स में से ही कोई साहब इसे अपने हाथों में ले लें तो मेरा बोझ हलका हो जाए।

राजेश्वर : सर, मैं जानना चाहता हूँ कि इस कृषि योजना में खेतों की जुताई का काम कैसे होता है ? किराए से या अपना कोई साधन है ? अगर किराए से होता है तो उसके लिए क्या किराया दिया जाता है ?

प्रिंसिपल : देखिए भई, अभी तक तो सारी जुताई का काम किराए से ही होता रहा है। इसलिए पिछली बार हमने किराए के रूप में पैदावार की अधबटाई कर दी थी। यहाँ सब लोग यही करते हैं। दरअसल हल-बैल प्रेसीडेंट साहब के थे···इसलिए कोई खास दिक्कत नहीं हुई।

राजेश्वर : कायदा तो यही है सर कि जो आधी पैदावार लेता है हल-बैल और मज़दूर उसी के होते हैं। ज़ाहिर है कि मज़दूर भी उन्हीं के होंगे।

प्रिंसिपल : मज़दूरों का सवाल कहाँ उठता है मि० ठाकुर ? (गला साफ़ करके) देखिए न, अगर हम मज़दूर रखने लगे तो विद्यार्थियों में स्वावलंबन की भावना पैदा करने का हमारा बेसिक मक़सद ही ख़त्म हो जाएगा।

सत्यव्रत : लेकिन सर, जब तक कुछ अनुभवी मज़दूर साथ न हों, अकेले विद्यार्थियों से अच्छे परिणामों की आशा नहीं की जा सकती।

प्रिंसिपल : देखिए मास्साब ! हमारी कृषि-योजना के सारे विद्यार्थी गाँव के हैं और सभी के घर खेती होती है···चुनाँचे वे खेती की बारीकियों को बखूबी जानते हैं।

राजेश्वर : (च-च कर शोक प्रकट करते हुए) तब तो प्रिंसिपल साहब, अपना बेसिक मक़सद ही ख़त्म हो गया। देखिए न···आपने कृषि योजना के दो फ़ायदे बताए, एक व्यायाम और दूसरा स्वावलंबन। परंतु जब आपकी योजना में सारे लड़के गाँव के ही हैं तो इसका मतलब है कि वे स्वावलंबन और व्यायाम की क्रियाओं से पूरी तरह परिचित हैं।

सत्यव्रत : राजेश्वर भाई ! बहुत सही बात कही है आपने ? जो पहले से स्वावलंबी हैं उन्हें स्वावलंबन की शिक्षा देने के बजाय यह शिक्षा वास्तव में उन लड़कों को दी जानी चाहिए, जिनके घर पर खेती नहीं होती।

राजेश्वर : बिलकुल यही बात मैं सोच रहा था कि गाँव के लड़के तो सेहत के ऐतबार से वैसे ही मोटे-ताज़े होते हैं। क्यों न कृषि योजना के ज़रिए शहर के और खास तौर पर प्रतिष्ठित घरों के लड़कों की तंदुरुस्ती पर ध्यान दिया जाए। क्या खयाल है आप सब लोगों का ?

['ठीक है, ठीक है' कई समर्थन-सूचक आवाज़ें]

राजेश्वर : आपने फरमाया था कि आप इस योजना को किसी गाँव के टीचर के सुपुर्द करना चाहते हैं, तो मैं हाज़िर हूँ। मुझे यकीन है कि खेती और खेल-कूद के अपने थोड़े बहुत ज्ञान से मैं शहरी लड़कों की सेहत को बेहतर बनाते हुए उनमें स्वावलंबन की भावना भर सकूँगा।

प्रिंसिपल : (हकलाते हुए) देखिए, वो बात को समझने की कोशिश कीजिए ···शायद एक बार यह मुद्दा कमेटी में उठा था, पर मंजूर नहीं हुआ। शायद शहर के लड़कों ने या उनके गार्जियंस ने इस योजना में हिस्सा

लेने से इंकार कर दिया था।

योगेश : यदि सवाल विद्यार्थियों और उनके अभिभावकों का हो तो मैं विनम्रतापूर्वक कह सकता हूँ कि गाँव के लोग भी अपने बच्चों से यहाँ हल जुतवाना पसंद नहीं करते।

राजेश्वर : सर, गौरतलब बात है कि अगर उन्हें खेती का ही काम कराना है तो वे अपने बच्चों को पढ़ने क्यों भेजेंगे ? फिर ये कोई एग्रीकल्चर कालिज तो है नहीं। इसे लेकर गाँव में कोई कम टीका-टिप्पणी नहीं होती। हमारे गाँव के ही तीन लड़के हाईस्कूल में थे और पाँच इंटर में। सब फेल हो गए। घरवालों ने पूछा तो उन्होंने साफ़ कह दिया कि हमसे तो वहाँ भी सारे साल उत्तमचंद जी ने हल जुतवाया है—हम पास कैसे होते ?

प्रिंसिपल : ये बिलकुल फिजूल-सी बात है।

राजेश्वर : जी हाँ, वही बात मैंने उन लोगों को समझाई थी—वरना लड़के तो यहाँ दाखिला लेने को ही तैयार नहीं थे। कहते थे, कृषि योजना की सारी पैदावार तो मैनेजमेंट खा जाता है और भूसा वग़ैरह नीचे के लोग इधर-उधर कर देते हैं।

प्रिंसिपल : स्टाप इट प्लीज़ !

योगेश : राजेश्वर जी, इन घटिया बातों पर आपने कुछ लड़कों को एक दिन डाँटा भी था। पर इन्हें छोड़िए। अपने मन में हम सच्चे हैं तो दुनिया आलोचना करती फिरे, उससे क्या होता है ? हाँ, कृषि योजना के लिए कोई ठोस सुझाव आपके पास हो तो दीजिए।

अधूरा

आलोचना-रिव्यू

नई कहानी : परंपरा और प्रयोग

'क़िस्सा तोता-मैना', 'नासिकेतोपाख्यान', 'रानी केतकी की कहानी' और 'सिंहासन बत्तीसी' आदि ग्रंथों से अनुप्रेरित होकर कहानी लिखने वाले प्रारंभिक लेखकों के प्रति समुचित सम्मान-भावना रखते हुए भी हमें 'नई कहानी : परंपरा और प्रयोग' की चर्चा करते हुए उनका उल्लेख अप्रासंगिक-सा लगता है। उनकी कहानियों में ऐतिहासिक पुरुषों की प्रेम-क्रीड़ा, घटना-वैचित्र्य, ऐयारी, निरर्थक कल्पना-सृष्टि, भावुक उपदेशात्मकता और सतही रोमांस-चित्रण आदि अनेक प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके कारण एक ओर यदि कथानक की स्वाभाविकता पर आघात पहुँचता है, तो दूसरी ओर पात्रों के व्यक्तित्वों का भी पूर्ण विकास नहीं हो पाता। अनर्गल वर्णन के कारण इन कहानियों में सजीवता और मर्मस्पर्शिता का भी अभाव है। उनका कहानीपन बहुत कुछ दबा-दबा-सा लगता है। कारण स्पष्ट हैं। एक तो उस समय तक भाषा ही इतनी समृद्ध नहीं हो पाई थी कि मानव-मन की अंतर्निहित भाव-संपदा का उद्‌घाटन कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से हो सके; दूसरे, वह हिंदी-कहानी का शैशव काल था।

किंतु प्रेमचन्द से हिंदी कहानी को एक नया मोड़ मिलता है। यद्यपि प्रारंभ में वे भी प्रारंभिक लेखकों के प्रभाव से अछूते नहीं रहे, किंतु उनमें वह प्रतिभा थी कि वे धीरे-धीरे उन्हें एक साँचे में ढालकर सुसंयत साहित्यिक मर्यादाओं के समीप खींच लाए। हिंदी में, क्योंकि वे उर्दू से आए थे, अपने साथ उर्दू ज़वान की वह सादगी और प्रवाह भी लेते आए, जिससे भाषा में बल और ओज पैदा होता है।

हिंदी में उस समय तक अनुवादों के माध्यम से बँगला और अंग्रेज़ी साहित्य भी आना शुरू हो गया था। उर्दू से तो प्रेमचन्द वाकिफ़ थे ही। अपनी पिछड़ी हुई अवस्था को उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से देखा और अन्य भाषाओं के कहानी-साहित्य की पृष्ठभूमि में अपनी कमियों को समझा। फलस्वरूप पहले-पहल वे हिंदी कहानियों में सूक्ष्म मनोभावों का चित्रण और सामयिक जीवन की समस्याओं का सुलझा हुआ स्वरूप लेकर सामने आए। उन्होंने मानवीय संवेदनशील प्रवृत्तियों को कलात्मक अभिव्यक्ति दी। विन्यस्त भावनाओं के संयोजन द्वारा वर्ण्य-विषय को अधिक से अधिक पैना और मर्मस्पर्शी बनाया। सामाजिक सुधार और परिवर्तन की भावना को उन्होंने मनोविज्ञान के माध्यम से इतना उभारा कि वह युग की आवश्यक माँग-सी महसूस की जाने लगी।

समाज के दलित-शोषित वर्ग के प्रति उनके हृदय में एक कोमल स्थान था। उसका उन्होंने प्रतिनिधित्व किया। यह वर्ग अधिकतर गाँवों से संबद्ध है, अतः उनके अधिकांश कथानक भी गॉव की भूमि पर आधारित हैं, जिनमें भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि हमारे गाँव अपनी सारी परंपराओं, रूढ़ियों और अंधविश्वासों के साथ मुखर हो उठे हैं। इसी तरह शहरी कथानकों में भी निम्न-मध्यवर्ग या मध्यवर्ग का जीवन ही उनकी कला का केंद्र बना।

ऐसा नहीं कि प्रेमचन्द अपनी पीढ़ी के अकेले ही लेखक थे, बल्कि इनके साथ-साथ और कुछ आगे-पीछे अनेक प्रतिभासंपन्न कहानीकारों का एक काफ़िला चल रहा था, जिसमें प्रसाद, कौशिक, व्यास, गुलेरी, ज्वालादत्त शर्मा, सुदर्शन, राजा राधिकारमण सिंह, चतुरसेन शास्त्री और जे०पी० श्रीवास्तव के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। टेकनीक की दृष्टि से गुलेरी और प्रसाद के नाम अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, सुदर्शन और शास्त्री जी ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सामाजिक कहानियों की सृष्टि की। कौशिक और शर्मा जी ने साधारण दैनिक जीवन से अपनी कहानियों के विषय लेकर उनमें असाधारण कौशल का परिचय दिया। किंतु दोनों में सबसे बड़ा अंतर यह है कि शर्मा जी की कहानियों में जहॉ विद्रोह और व्यंग्य की तीव्रता प्रकट होती है, वहीं कौशिक जी की कहानियॉ अत्यंत वस्तुपरक प्रवाह के साथ गंतव्य की ओर स्वाभाविकता से बढ़ती हैं। साथ ही उनमें घरेलूपन और आत्मीयता भी अधिक है। सुदर्शन मे भी कौशिक की-सी ही कला के दर्शन होते हैं, पर वह अधिक आदर्शोन्मुख और चित्रात्मक हे। सुदर्शन का रुझान मनोभावों के चित्रण की ओर भी बहुत हे। इसी तरह शास्त्री जी में भी कलात्मक-सृजनशील प्रतिभा की कमी नहीं, किंतु उनका रुझान जीवन के यथार्थ चित्रण की ओर इतना ज़्यादा है कि उनकी कहानियों पर सहज ही अश्लीलता का दोष लगा दिया जाता है। राजा राधिकारमण जी भाषा की लचक और भावनाओं की लहरो में इस कदर खो जाते हैं कि उनकी विषय-वस्तु की गुरुता ही कम हो जाती है और उद्देश्य काव्योचित उक्तियों के प्रकाश में गौण-सा लगने लगता है। फिर भी उनकी विशेषता केवल उनकी सोद्देश्यता की आड़ में ही देखी जा सकती है। सामूहिक रूप से इन सभी कहानीकारों का दृष्टिकोण नैतिक और सुधार का रहा है। हॉ, जे०पी० श्रीवास्तव अवश्य इसके अपवाद हैं। वे इनसे अलग एक ऐसी भावभूमि पर खड़े हैं, जो हास्य और व्यंग्य के मिश्रण से निर्मित है। यह बात दूसरी है कि उनकी कम कहानियॉ सफल हो पाई हैं और अधिकांश में वे केवल हास्य के साधारण उपकरण ही एकत्रित करते दिखाई पड़ते हैं।

प्रसाद जी का रास्ता इन सबसे कुछ अलग और अनोखा था। वे मूलतः कवि और आदर्शोन्मुख भावुक कलाकार थे। अतः उनकी भावुकता ने जहाँ संगीतमय रोमांस के

सपनों को उनकी कहानियों में मूर्त किया, वहीं भाव-प्रधान करुण-कथानकों को इतिहास से खोजकर उन्हें नई भाषा का लिबास पहनाया। सुंदर वातावरण की पृष्ठभूमि में रोमांटिक यथार्थ का चित्रण करने की कला में प्रसाद अद्वितीय थे। उन्होंने वातावरण-प्रधान कहानियों को प्रचलित किया और अपनी कहानियों में मांसलता एवं स्वस्थ रोमांस को प्रश्रय दिया। गुलेरी जी ने केवल तीन कहानियाँ लिखीं, जिनमें 'उसने कहा था' आज भी अपनी टेकनीक संबंधी विशेषता तथा अन्य गुणों के कारण प्रसिद्ध है। शायद पुनर्स्मरण शैली का सबसे पहला प्रयोग इसी कहानी में हुआ है, जिसे आगे चलकर और मॉजा-सँवारा गया तथा इस शैली में भी नए-नए प्रयोग किए गए।

दूसरी पीढ़ी, जिसमें जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अज्ञेय, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, वृन्दावनलाल वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, भगवती प्रसाद वाजपेयी, उग्र, सियारामशरण गुप्त और 'अश्क' आदि आते हैं, प्रेमचन्द के सामने ही मैदान में आई थी और इसे उनका आशीर्वाद भी मिल चुका था। इन्होंने यथार्थ सामाजिक भूमि पर अपनी कला के चित्र बनाने शुरू किए। युग-व्याप्त वैषम्य के कारण इनकी रुचियों मे भी विभिन्नता थी, फलतः कहानी को जीवन की अँधेरी-उजेरी, सभी गलियो में जाना पड़ा। उनमे सद्-असद् सभी प्रकार की भावनाएँ प्रतिबिंबित हुई और समाज के साथ-साथ व्यक्ति के अस्तित्व को भी कला में मान्यता मिली। इन कहानीकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से सामाजिक जीवन और युग की परिस्थितियों का अध्ययन कर कहानी की विषय-वस्तु को वास्तविकता के एकदम निकट ला खड़ा किया। सुदर-असुदर का प्रश्न नहीं रहा। सब कुछ कला की परिधि में सँजो लेने के प्रयत्न होने लगे। इस तरह इन कलाकारो ने अपनी कला के क्षेत्र को अधिक व्यापक और विस्तीर्ण बनाने की चेष्टा की, जिसका एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द के सरल मानववादी, सहज-संवेदनशील दर्शन पर बौद्धिकता का रंग चढ़ने लगा; और दूसरा यह कि व्यक्ति के अतर्द्वद्व और सघर्षो के प्रस्फुटन में मनोविज्ञान धीरे-धीरे प्रधानता प्राप्त करता गया। यौन-समस्याओं के साथ ही नारी का चित्रण भी एक बॅधी-बॅधाई परपरा तक ही सीमित न रहकर विविध यथार्थवादी रूपों में किया जाने लगा। पुरुष के अनेक 'टाइपों' का निर्माण हुआ। लेखक निजी कुंठाओं को भी व्यक्त करने में नहीं हिचके। इस तरह कहानी का प्रवाह विविध धाराओं में बह निकला।

जोशी जी जैसे कलाकार मानव के अवचेतन मन और अंतर्प्रदेश में विचरने वाली छायामयी प्रवृत्तियों के अनेक अस्पष्ट रूपों को आकार देने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक शैली को जीवन प्रदान किया और उसके द्वारा कुटिल, रहस्यमय, संघर्षयुक्त आदि हर प्रकार की मनःस्थिति का नए मौलिक ढंग से विश्लेषण कर सकने में समर्थ हो सके। जैनेन्द्र ने कहानी-कला में शिल्पकला की प्रतिष्ठापना की।

अनर्गलता के बहिष्कार, काट-छाँट और तराश द्वारा शैली को सरस और सरल कर उन्होंने दर्शन को संवेदनशील बनाने की दिशा में भी कुछ प्रयोग किए, जिनकी समुचित प्रशंसा हुई। ऐसे कुछ प्रयोग असफल भी हुए—जैसा कि ज़ाहिर है, तर्क उस मात्रा में भावना का स्थान नहीं ले सकता और अगर ले भी तो उसमें उस सहजानुभूति और पकड़ का अभाव होगा जो कहानी की पहली शर्त है। परंतु जैनेन्द्र की शिल्पकला हिंदी में अत्यंत सम्मानित और प्रशंसित हुई। उनकी कहानियों का घुलता हुआ सामाजिक चिंतन मस्तिष्क पर गंभीर प्रभाव छोड़ता है। उनकी शैली और शिल्प इस प्रभाव और गंभीरता को तीव्रतम बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। अज्ञेय के अतिरिक्त, इस विषय में और किसी का नाम उनके साथ नहीं रखा जाता।

यशपाल अपनी तरह के सबसे सशक्त लेखक हैं। उनकी कहानियों का सामाजिक यथार्थ, कभी-कभी बहुत कटु और तिलमिला देने वाला होता है। किंतु उस यथार्थ के पीछे निहित भावना अकसर कल्याणकर जीवन-निर्माण की ओर संकेत करती है। यशपाल की सैद्धांतिक कहानियों में भी मानव-मन की सूक्ष्म भावनाओं का चित्रात्मक रूप मिलता है जिसे उनकी सबसे बड़ी विशेषता भी माना जा सकता है। 'अश्क' में भी अंशतः यह गुण पाया जाता है, परंतु उनकी रूमानी कहानियों का संबंध धरती से कम होता है। यों प्रायः उनकी सभी कहानियों में गहराई और डूब का अभाव है और पढ़ने पर वे श्रम-साध्य जान पड़ती हैं। 'अश्क' और यशपाल, दोनों अपने को प्रगतिशील कहते और समझते हैं, परंतु अपने को प्रगतिशील न कहने वाले लेखकों में से भी अनेक ने अत्यंत प्रगतिशील और स्वस्थ कहानियों की रचना की है। ऐसे लेखकों में भगवती प्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय और भगवतीचरण वर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भगवतीचरण वर्मा तो छींटे फेंकते चलते हैं, पर अज्ञेय की कहानियाँ एक स्तर का चित्र प्रस्तुत करती हैं। 'रोज़' उनकी इसी तरह की कहानी है। इसके अलावा अज्ञेय की लेखनी ने भाषा-शिल्प-विधान और भावाभिव्यंजना के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग भी किए हैं। ऐसी कहानियों में चित्रांकन-क्षमता बहुत है। किसी दर्शन-विशेष से संबंधित न होते हुए भी अपने लेखक की अंतर्मुखी प्रवृत्तियों के कारण उनकी कहानियाँ एक नए दर्शन की ही जन्मदात्री बन गई हैं, जिसमें व्यक्ति और उसकी एकांतिक भावनाओं को प्राधान्य प्राप्त है। इनके शिल्प की जागरूकता जैनेन्द्र के ही समान हिंदी-जगत् में बहुत प्रशंसित हुई, जबकि इनकी आत्मपरक शैली पर चारों ओर से अनेक आवाज़ें उठाई गईं।

विषय की दृष्टि से देखा जाए तो यौन-समस्या इन कहानियों का मुख्य विषय बनी, जिसे सदैव मनोविज्ञान का सहारा प्राप्त रहा। नारी के नाना 'प्रकार' उपस्थित किए गए और पुरुष के 'असंदिग्ध वास्तविकता' वाले चरित्रों का निर्माण हुआ। पर इस

सत्य के बावजूद इस पीढ़ी की कहानियों में अधिक एकरूपता नहीं आ पाई, क्योंकि इन सब लेखकों के दृष्टिकोण में विभिन्नता रही।

कुछ लेखकों ने महात्मा गांधी के आंदोलन और जीवन-दर्शन से प्रभाव ग्रहण कर कहानियों में पुराने सुधारवादी तरीक़ों को नए ढंग से अभिव्यक्त किया और वर्णनात्मक शैली में प्रेमचन्द जैसी सरल संवेदनशीलता और प्रभावोत्पादकता लाने की कोशिश की। सियारामशरण गुप्त और भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियों पर यह प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। वैसे और लेखकों पर भी थोड़ी-बहुत मात्रा में यह प्रभाव पड़ा होगा, परंतु 'उग्र' इससे अछूते रहे। उन्हें गांधी-नीति का दब्बूपन पसंद न आया। ये नवीन प्रतिभा लेकर उठे और अपनी कहानियों से जर्जर रीति-रिवाज और समाज-व्याप्त छल-कपट, झूठ, लोभ आदि व्यापक मानवीय दुर्बलताओं पर दुर्दम प्रहार किए; किंतु संयम और आदर्श के अभाव के कारण कहीं-कहीं उनकी कला का संतुलन बिगड़ गया है। रूढ़ियों पर प्रहार के सबसे अच्छे प्रयोग वर्मा जी की कहानियों में मिलते हैं, जिनके हलके-हलके व्यंग्य भारी होकर हृदय पर प्रभाव डालते हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे व्यक्ति-विशेष की ओट में उसके समूचे वर्ग को अपना लक्ष्य बनाते हैं। किंतु एकमात्र यही व्यंग्य उनकी कहानियाँ नहीं है। और तरह की कहानियाँ भी उन्होंने लिखी हैं, पर वहाँ उनकी भावात्मकता बुद्धि द्वारा संतुलित नहीं है। अकर्मण्यता, भाग्यवाद और निराशा की छाया जैसे उनमें घुल-सी गई है। उनके बाद के उपन्यासों पर इनका प्रभाव और भी गहरा दिखाई पड़ता है।

प्रेमचन्द ने अपनी सामाजिक कहानियों के कारण प्रसिद्धि प्राप्त की है, पर ऐतिहासिक व्यक्तित्वों को भी कल्पना की निगाहों में साधकर उन्होंने कुछ कहानियाँ लिखी थीं। 'प्रसाद' ने भी ऐतिहासिक वातावरण की पीठिका देकर कुछ चरित्रों को उठाया। पर ये सभी चरित्र कल्पित हैं; क्योंकि ऐसा करने में कलाकार को अपनी कला की सुरक्षा का यथेष्ट अवसर मिल जाता है। लेकिन इस पीढ़ी ने प्रेमचन्द की पीढ़ी से आगे बढ़कर ऐतिहासिक सच्चाई को काग़ज़ पर उतारा और विशेष घटनाओं के संयोजन द्वारा उनमें कहानी का रस पैदा किया। लेकिन यह कार्य इतने बिखराव और फुटकरपन के साथ हुआ कि प्रमाण पुरानी पत्र-पत्रिकाओं की प्रतियों में भले ही मिल जाएँ, संग्रह-रूप में राहुल सांकृत्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा और भगवतीशरण उपाध्याय के अतिरिक्त कोई और इसका साक्ष्य नहीं है। यों राधाकृष्ण और चन्द्रकिशोर जैन के प्रयास भी इस दिशा में काफ़ी महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

कहानियों की इस परंपरा के साथ-साथ लघुकथा, संस्मरण और स्केच भी इसी पीढ़ी के हाथों सामने आए। ऐसे महत्त्वपूर्ण लेखकों में महादेवी वर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, कन्हैयालाल मिश्र, प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी, 'अश्क', 'निराला',

अज्ञेय और शमशेर बहादुर सिंह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महादेवी के स्केच करुण वास्तविकता के कारण मर्मस्पर्शी हुए, तो प्रकाशचन्द्र गुप्त के स्केच अपनी चित्रात्मकता के कारण। प्रभाकर और चतुर्वेदी जी के स्केच चरित्रात्मक दृष्टि से प्रशंस्य कहलाए। कुछ ऐसी ही रचनाएँ देवेन्द्र सत्यार्थी की भी प्रकाश में आईं, परंतु उनमें पत्रकारिता और रंगबाज़ी अधिक थी, बात कम।

स्पष्ट है कि इस पीढ़ी ने कहानी-क्षेत्र में नए-नए प्रयोग कर उसकी सीमाओं को बढ़ाया। प्रेमचन्द का पुरानी पीढ़ी से विद्रोह, उस परंपरा में सुधार और परिष्कार की ओर उन्मुख था, जबकि इस पीढ़ी का प्रेमचन्द की पीढ़ी से विद्रोह, विस्तार और व्यापकता की ओर उन्मुख हुआ। यह बात दूसरी है कि व्यापकता की सीमाएँ कहीं-कहीं अतिक्रमण रेखा को भी छू जाती हैं; किंतु फिर भी इस पीढ़ी के हाथों इसके साधारणीकरण की समस्या नई-नई टेकनीकों के आविष्कार द्वारा सरल हुई; कहानियों में गति बढ़ी, मनोविज्ञान ने प्रधानता प्राप्त की और पात्रों के चरित्रों में अधिक सुस्पष्टता आई। विदेशी साहित्य के निकट संपर्क से नई शैलियों को जन्म मिला और भाषा की आधुनिकता बढ़ी। किंतु साथ ही इस पीढ़ी के लेखकों की कुछ दुर्बलताएँ भी उभरकर सामने आईं। वे हैं—लेखकों में आत्मविश्वास का अभाव, जनसत्य को महसूस न कर सकने की क्षमता और युग-व्याप्त असंतोष से अ-परिचय। यह तो नहीं कहा जा सकता कि ये ख़ामियाँ समान रूप से सभी लेखकों में हैं, पर यह सत्य है कि अधिकांश इन दुर्बलताओं को सँजोए हैं, अपने व्यक्तित्व के कटघरे में बंद होकर कल्पना-प्रसूत अनुभूतियों के आधार पर कला की सृष्टि करते रहे हैं। इन्हें स्वयं संघर्ष के रास्तों से गुज़रने का अवसर ही नहीं मिला। और यदि मिला हो, तो भी इनकी कृतियों में उस वेदना का अभाव है, जिसे रवीन्द्र ठाकुर ने महानता की कसौटी कहा है।

इन्होंने विषय-वस्तु के क्षेत्र को व्यापक कर, नई-नई दिशाओं में प्रयोग किए, जिससे आने वाले कहानीकारों की समस्याएँ सरल हुईं; भाषा की शक्ति को नए शब्द-समूह और भाव-संकेतों द्वारा समृद्ध किया; प्रेमचन्द की स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रखते हुए अनेक अस्वाभाविकताओं का चित्रण किया और नारी-पुरुष की यथार्थ समस्याओं को सामने रखा; सृष्टि के समस्त कार्य-व्यापारों को एक जिज्ञासु की भाँति देखा और उनमें निहित सूक्ष्म कहानी-तत्त्वों को मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से चित्रित किया।

इस प्रकार यह पीढ़ी अत्यंत व्यापक दृष्टिकोण, सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और अटूट प्रतिभा लेकर कहानी-क्षेत्र में अवतरित हुई, पर न जाने क्यों गाँव को या गाँव की समस्याओं को इन लेखकों में से किसी ने भी अपना विषय नहीं बनाया। इसके दो कारण हो सकते हैं—या तो इस पीढ़ी का कोई लेखक गाँव के निकट संपर्क में आ नहीं पाया या फिर

प्रेमचन्द के तुरंत बाद किसी को ग्रामीण कथानक उठाने का साहस नहीं हुआ। अस्तु।

इन प्रतिभासंपन्न कहानीकारों का प्रभाव अपने समकालीन और निकट परवर्ती कहानीकारों पर ऐसा पड़ा कि वे इनकी छाया से मुक्त न हो सके। इस पीढ़ी में नलिन विलोचन शर्मा, रांगेय राघव, पहाड़ी, ब्रजमोहन गुप्त, वीरेश्वर, नरोत्तम प्रसाद, दयाशंकर शर्मा, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृतलाल रायपुरी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, तेजबहादुर चौधरी, अमृतराय, श्रीकृष्णदास, विष्णु प्रभाकर, निर्गुण, अंचल आदि के नाम प्रमुख हैं।

इनमें से अधिकांश लेखक लिखना छोड़ चुके हैं; कितु जो लिख रहे हैं, वह अच्छा होते हुए भी परंपरा से हटा हुआ नहीं है। अतः उसकी चर्चा अप्रासंगिक है। यहाँ ग़लतफ़हमी दूर करने की गरज़ से यह बता देना चाहता हूँ कि जब मैं इन लेखकों के परंपरा से बँधे होने की बात करता हूँ, तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ये लेखक सभावना-रहित हो गए हैं; बल्कि केवल इतना है कि इन्होंने कहानी-कला के क्षेत्र में प्रयोग कम किए हैं या नहीं किए हैं। मसलन हम 'निर्गुण' की कहानियों को लें। आज इस सत्य से कोई इंकार नहीं कर सकता कि उनकी-सी संवेदनशीलता और सरल वर्णन हिंदी की बहुत कहानियों में है। उनके पास कहानी कहने की बेजोड़ कला है और अपनी कहानियों में एक घरेलू-सा वातावरण उपस्थित करके वे जो कुछ कहते हैं, वह अत्यंत प्रभावोत्पादक होता है। पर सवाल यह उठता है कि क्या पूर्ववर्ती या पहली पीढ़ी के लेखकों की कला में ये गुण नहीं थे ?

इसी तरह अन्य कहानीकारों की बात है। वैसे इसी पौध के कुछ लेखकों की उठान को देखकर बड़ी आशाएँ बँधी थीं। ऐसे लेखकों में 'निर्गुण' के साथ पहाड़ी, भैरव प्रसाद गुप्त, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, वीरेश्वर और नलिन विलोचन शर्मा के नाम लिए जा सकते हैं। इनकी कहानियों में यथार्थ के प्रति आस्था, वर्णन की सजीवता तथा साथ ही निम्नवर्ग के जीवन से ममत्व आदि मुख्य प्रवृत्तियाँ एकदम स्पष्ट हैं। परंतु ये पहली पीढ़ी के पद-चिह्नों से अलग हटकर किसी नई राह का निर्माण नहीं कर सके। इसलिए कहानी-साहित्य में यह योग उतना नवीन और मौलिक नहीं माना जा सकता। यदि कोई मौलिक योग है, तो वह पहाड़ी जीवन का चित्रण ही है, जो स्पष्टतया उर्दू कहानियों के प्रभावस्वरूप हिंदी में आया।

जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय आदि के बाद हिंदी कहानी की विभिन्न दिशाओं में प्रयोग बिलकुल नई उगती प्रतिभाओं द्वारा हो रहे हैं। बीच की पीढ़ी को छोड़कर एकदम नए लेखकों का उल्लेख कुछ पुरातन-पंथियों को अखरेगा ही, मगर यह सच्चाई है कि इन्होंने अपनी कहानियों में अधिक नयापन और अधिक सशक्त एवं मौलिक वस्तु-तत्त्व दिया है, और दे रहे हैं।

इस नई टीम में मार्कण्डेय, कमलेश्वर, शिवप्रसाद सिंह, राजेन्द्र यादव, मनोहर

श्याम जोशी, कृष्णा सोबती, भीष्म साहनी, मोहन राकेश, रामकुमार, वीरेन्द्रकृष्ण माथुर, केशवप्रसाद मिश्र, कमल जोशी, श्रीराम वर्मा 'अमरकांत', ओमप्रकाश, जितेन्द्र, वीरेन्द्र मेहँदीरत्ता, विद्यासागर नौटियाल और धर्मवीर भारती के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी कहानियों में अधिकांशतः एक ऐसी वस्तुपरकता है जिसका सामूहिक रूप से हर उत्थान में अभाव पाया गया है। प्रेमचन्दकालीन लेखकों में यही वस्तुपरकता कहीं-कहीं इतनी बहिर्मुखी हो उठी है कि कहानी प्रवचन की सीमा में सिमट आई है जबकि इन कहानीकारों की वस्तुपरकता में भी एक तटस्थ निर्देशन की प्रवृत्ति है। उदाहरण के लिए, मैं मार्च सन् '54 की 'कल्पना' में प्रकाशित कमलेश्वर की 'आत्मा की आवाज़' शीर्षक कहानी का उल्लेख करना चाहूँगा, जिसमें लेखक ने एक पत्र के माध्यम से उस रहस्य-बिंदु पर प्रकाश डाला है जो न केवल टेढ़ी रोटी सेंकने वाली भाभी की ही, बल्कि हर व्यक्ति, हर घर और हर समाज की अपनी समस्या हो सकती है।

इसी प्रकार इस बढ़ती हुई पौध के अन्य अनेक कहानीकारों में रुचि-वैचित्र्य होते हुए भी सामाजिक ज़िम्मेदारी की जितनी सजग चेतना है, वह हिंदी कहानी में एक युगांतर की संभावनाओं की ओर संकेत करती है। इन्होंने अपनी कहानियों में नई प्रवृत्तियाँ अनुस्यूत की हैं और कर रहे हैं। अनुभूमियों की सघनता में अनुभूत वर्ण्य के संयोजन का कार्य नए ढंग से संपन्न कर इन्होंने अद्भुत सामर्थ्य का परिचय दिया है। इनकी कहानियों के कथानक का विधान अत्यत सुगठित होता है। प्रेमचन्द के बाद की दोनों पीढ़ियों में गाँव के कथानकों पर कम कहानियाँ लिखी गई, जबकि यह पीढ़ी इस दिशा में विशेष रूप से जागरूक है। मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह और केशवप्रसाद मिश्र की कहानियाँ प्रेमचन्द की परंपरा में नए हस्ताक्षर करती हैं। इनका प्रयास अभी उतना सुथरा भले ही न हो, पर भिन्न अवश्य है। भिन्न इस अर्थ में कि प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में विशेष रूप से ग्रामीण वातावरण की चित्रण-कला के साथ-साथ उनके मनोभावों को भी प्रकृत भाषा दी, जबकि आज के ये कहानीकार गाँव में उगते हुए व्यापक असंतोष, भुखमरी, बेरोजगारी आदि की समस्याओं को भी सामने रख रहे हैं।

वैसे सामूहिक रूप से ये सभी कहानीकार सामाजिक यथार्थ-चेतना के प्रति बहुत सचेष्ट और जागरूक हैं, किंतु अमरकान्त और कमलेश्वर की कहानियों में यह गुण बहुत उभरकर सामने आता है। अमरकान्त की कहानियाँ आधुनिक समाज के खोखलेपन पर सीधी चोट करती हैं और साफ़-साफ़ वर्ग-विघटन की समस्या को सामने रखती हैं। साथ ही सामाजिक जीवन में बढ़ते हुए स्नेह और सहानुभूति के अभाव को लक्ष्य कर बाण फेंकती हैं। कमलेश्वर की कहानियों का गुण उनकी संकेतात्मकता है। वे समाज के निम्न-मध्यवर्गीय ढाँचे पर खड़ी हैं, और उनका उद्गम भी मूक भारतीय जनता का वही करुण स्थल है, जो प्रेमचंद का था। उनकी कहानियाँ पढ़ी जा चुकने पर पाठक के

सामने एक समस्या-सी छोड़ जाती हैं, जिसमें कुछ संदेश भी रहता है। वे अपनी कहानियों में खुद कम बोलते हैं, इसलिए वे कहानियाँ इतनी बोलती हैं कि पढ़ने के बाद भी उनके स्वर घंटों कानों में गूँजते रहते हैं। अपनी दूसरे प्रकार की कहानियों में वे प्रभावशाली भाषा के माध्यम से एक भव्य वातावरण चित्रित करते हैं—लगता है कि अब वे कोई बड़ी गंभीर बात कहने जा रहे हैं, पर वस्तुतः ऐसे स्थलों पर वे प्रायः कोई अत्यंत साधारण-सी घटना देते हैं, जो कहानी की भाषा और वातावरण-संबंधी भव्यता के आगे और भी अधिक प्रभावहीन और दबी-दबी-सी लगती है।

राजेन्द्र यादव की कहानियो में हमें सबसे अधिक प्रौढ़ चिंतन मिलता है। शिल्प ओर शेली की दृष्टि से भी वे नई कहानी का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। भावानुकूल ओर विषयानुसार भाषा लिखने में राजेन्द्र यादव दक्ष हैं। कमल जोशी और मोहन राकेश की भाषा में भी ग़ज़ल की व्यंजना-शक्ति और सौंदर्य है। यदि कमल जोशी का शब्द-संचयन मन को आकर्षित करता है, तो मोहन राकेश की भाषा की नादात्मकता जल्दी से पीछा नही छोड़ती। अन्य लेखक भी भाषा पर अपने-अपने ढंग से अधिकार रखते हे। किंतु कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो शिल्प-शैली और भाषा आदि के चक्कर में न पड़कर सीधे-सीधे विषय-वस्तु से संबंध रखते हैं। इनमें विद्यासागर नौटियाल और वीरेंद्र मेहँदीरत्ता के नाम प्रमुख हैं।

विद्यासागर नोटियाल की कहानियाँ एक साथ पहाड़ी जीवन और मनुष्य की खोखली प्रवृत्तियो का चित्रण करती है। किंतु कथा-तत्त्व अत्यत सूक्ष्म और कुशाग्र बुद्धि की पकड़ हे, जो प्रायः वास्तविकता की ही प्रतिच्छाया होते हें। बिना संघर्ष की कठोर भूमि पर उतरे, ऐसे मोती हाथ नहीं लगते। जगली फूलों की-सी उनकी ताज़गी अकुशल हाथो में पड़कर एक अजीब-से अनगढ़ सौदर्य का बोध कराती है। वे कभी-कभी शब्दों के ऊबड-खाबड़ प्रयोग भी कर बेठते हैं। इसी प्रकार वीरेंद्र मेहँदीरत्ता के सामने भी अभिव्यक्ति से बड़ी समस्या उद्देश्य की होती है। वे अपने कथा-सूत्र पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय परिवारों से चुनते हैं ओर उनमें आ समाई तथाकथित प्रगतिशीलता (फॉरवर्डनेस) और सभ्यता पर हलके-हलके व्यंग्य करते चलते हे। इनकी कहानियों में एक अजीब फक्कड़पन और मस्ती होती है जिसके कारण भाषा में पंजाबीपन होते हुए भी कहीं प्रवाह रुद्ध नहीं होता। ये सोद्देश्य कहानियाँ ज़रूर हैं, मगर समस्याएँ नहीं कि आप उनमें उलझें। वे मन को छूती हैं, चिपकती नहीं—और यही उनकी विशेषता है।

दरअसल किसी उद्देश्य को सार्थकता या प्रभाव को स्थायित्व देने के लिए प्रतीक बड़े सफल माध्यम हैं। धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, शिवप्रसाद सिंह, और कुछ कमलेश्वर में इस प्रवृत्ति की झलक हमें मिलती है। इनमें सबसे अधिक सफलता राजेन्द्र यादव को मिली है। प्रतीकों द्वारा वे सूक्ष्म और स्थूल, और अत्यंत कुरूप और अदृश्य

भाव को भी बड़ी प्रभावात्मकता के साथ व्यक्त कर पाते हैं। 'नरभक्षियों के बीच' शीर्षक उनकी कहानी इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। शिवप्रसाद सिंह भावनाओं का एक ताना-बाना-सा पाठक के चारों ओर बुन देते हैं और प्रतीकों का प्रयोग या तो वातावरण को और अधिक प्रभावोत्पादक या अनुभूति को अधिक गंभीर और मार्मिक बनाने के लिए करते हैं। इनकी संपूर्ण रूप से प्रतीक-आश्रित कहानी कोई नहीं दिखी।

वीरेंद्रकृष्ण माथुर की 'खोज' टेकनीक की दृष्टि से बड़ी सादी पर सफल कहानी है। इसी तरह मार्कण्डेय की 'जूते' शीर्षक कहानी भी एक गहन प्रभाव के साथ आद्यांत एक सीधी रेखा पर चलती है, जिसमें कोई चरम-सीमा या स्पर्श-बिंदु नहीं है। इसी प्रकार जितेन्द्र की 'ज़मीन-आसमान', भारती की 'चाँद और टूटे हुए लोग' और ओमप्रकाश की 'चेचक' आदि कहानियाँ टेकनीक की दृष्टि से बड़े सफल प्रयोग हैं।

मनोहर श्याम जोशी की कहानियाँ एक अतीव करुण भाव-धारा के साथ बहती हैं; पर मनुष्य की सद्वृत्तियों और नैतिकता को उभारने पर उतना ज़ोर नहीं देतीं। उनका मुख्य उद्देश्य जैसे मानव-मन में निहित कोमल और मासूम तत्त्वों का चित्रण ही है। शायद इसीलिए वे प्रायः बच्चों की संवेदनशील भावनाओं और प्रवृत्तियों को लेकर सामने आती हैं। ओमप्रकाश और जितेन्द्र की कहानियों में जो 'आग' है, वही उनका सर्वस्व है। उसकी कोई भी स्पष्ट रूपरेखा खींच सकना बहुत कठिन है, इसलिए भी कि इनकी बहुत कम कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं। फिर भी उनमें दहकती हुई एक अजीब-सी 'प्यास' वर्णन की झिझक में ख़ूबसूरती बनकर उभर उठती है। ओंकारनाथ श्रीवास्तव की कहानियों का सौंदर्य उनके वातावरण-चित्रण और 'लोकल-कलर' में होता है, यह और बात है कि कभी-कभी उनके कथानक पर किसी विदेशी लेखक का प्रभाव हो।

इस तरह जब हम इन समस्त गुण-दोषों के साथ वर्तमान नई कहानी की ओर देखते हैं तो प्रगति के चिह्न स्पष्ट नज़र आते हैं। अभी प्रयोग चल रहे हैं—ऐसी दशा में प्रवृत्तियाँ निश्चित करना या उनके विषय में कुछ कहना कठिन काम है, फिर भी साधारणतया हम इन लेखकों की देन को इस प्रकार रख सकते हैं—

कि इस पीढ़ी के लेखक कहानी-कला को फिर से उसके वास्तविक और ज़रूरतमंद क्षेत्रों (गाँव) में ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं—और वहाँ से वेदना-बिंदुओं को एकत्रित कर जन-सामान्य के सम्मुख एक भीषण सुषुप्ति के रहस्य का उद्घाटन कर रहे हैं।

कि ये युग-सत्य और धर्म को समझकर सिद्धांत और कला के समन्वय द्वारा युग-सापेक्ष साहित्य एवं श्लीलता, संस्कृति आदि की कसौटियों का निर्माण कर रहे हैं।

कि नारी के प्रति इनका दृष्टिकोण बहुत स्वस्थ और आस्थावान है।

कि नए-नए प्रयोगों और प्रतीकों द्वारा ये भाषा की व्यंजना-शक्ति का विकास कर रहे हैं।

कि ये अनगढ़ शिशु-मस्तिष्कों एवं पशुओं के मानसिक द्वंद्व को भी चित्रित कर रहे हैं और मनोविज्ञान की शक्ति के भरोसे किसी भी भावना को अभिव्यक्त न होने योग्य नहीं मानते।

कि इनके जीवन-दर्शन की आधारशिला स्वस्थ्य सामाजिक भूमि है, जहाँ भाग्यवाद, निराशावाद और कुंठाओं को कोई स्थान नहीं।

('कल्पना' (हैदराबाद) के जनवरी, 1955 अंक में प्रकाशित)

'नई कहानी' पर छपा यह प्रथम दस्तावेज़ी आलेख है, जिसे 'कल्पना' जैसी पत्रिका ने पचास वर्ष पहले छापा था।

—कमलेश्वर

चाय की प्यालियाँ : साफ़-साफ़ बातें

जीवन में श्रम के बल पर रोटी कमाने और खाने की आशा नितांत स्वाभाविक है। प्रतिभा के बल पर कुछ लिखकर ख्याति अर्जित करने की अभिलाषा और साहित्यकार बनने की धुन भी अस्वाभाविक नहीं, पर जो साहित्यकारों को चाय की प्यालियाँ पिलाकर और पिछलग्गू बनकर साहित्य में जीना चाहते हैं, उनको हमारी नेक सलाह है कि वे इतने पैसे किसी केफ़े में ख़राब करने की बजाय काग़ज़ रँगने में ख़राब करें, मुमकिन है कि सीधी-टेढ़ी लकीरों से ही कोई चित्र बन जाए।

साहित्य-क्षेत्र में पंडई या महंतगीरी आजकल ज़ोरों पर है। कुछ नए-पुराने साहित्यकार जो अब लिखते-पढ़ते ख़ाक नहीं, गद्दियाँ बनाकर जम गए हैं और अपनी-अपनी सीमाएँ निर्धारित कर ली हैं। कोई नया लेखक उभरा तो उसे चेला बनाने को जाल फैलाने लगे और अगर न फँसा तो ऐलान कर दिया कि यह पथभ्रष्ट और दकियानूसी ख़यालात का है। सुना है, काशी में पहले इस क़िस्म के पंडे होते थे, जो यात्रियों के न फँसने पर गंगा मैया का स्मरण करके स्पष्ट गुंडागीरी करने पर उतारू हो जाते थे। इसी का साहित्यिक रूप आज इलाहाबाद में देख लीजिएगा। नए प्रतिभा-संपन्न लेखक बेचारे खामख़ाह पिस रहे हैं। आए थे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में साहित्यिक बनने का स्वप्न लेकर और अब लेने के देने पड रहे हैं। बेचारों पर बेवजह रोब ग़ालिब किया जा रहा है। कहा जाता है कि आप अपना स्टैंड क्लीयर कीजिए, आप हममें हैं या प्रगतिवादियों में ? जैसे बिना इनके या प्रगतिवादियों के साहित्य-सेवी का और कोई रूप हो ही नहीं सकता। अगर कोई कभी भूले-भटके अपने आपको इन दोनों से अलग मान ले तो उस पर ख़ुदा का कुफ़्र नाज़िल होता है। कुछ ऐसे निर्भीक और इनकी भाषा में धृष्ट नए लेखक मिले भी, जिन्होंने अपने दोनों दलों से मानकर भी अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा कर दी। बस, फिर क्या था, फतवा दे दिया गया कि इनकी रीढ़ की हड्डी कमज़ोर है। ये उठ नहीं सकते। ये उभर नहीं सकते। इन पंडों के प्रति समुचित सम्मान रखते हुए भी मुझे इतना निवेदन करना है कि वे अपनी हरक़तों से बाज़ आएँ। इससे वे दूसरों का ही नहीं, अपना भी बड़ा भारी अहित कर रहे हैं। तनिक सुनें-समझें तो, उनके विषय में आज के लोग क्या सोचते हैं, क्या कहते हैं ?

दस मित्रों के बीच उस दिन बातचीत के सिलसिले में ज़बान से निकल ही जो

गया कि ये कहानी[1] प्रेमचंद की कहानियों से टक्कर लेती है। बस, फिर क्या था, आसपास बैठे भाई लोग टूट पड़े, जैसे मैंने भरी सभा में कोई गोला छोड़ दिया हो। अधिकांश तो मेरे मुँह की तरफ़ देखते रह गए मानो मैंने कोई ऐसी बात कह दी, जिसका सभव होना ही इस संसार में नामुमकिन हो। दस-बीस निगाहों की अप्रत्याशित चुभन मुझसे क्षण-भर भी बर्दाश्त न हुई और पूछ ही बैठा कि आख़िर क्या हो गया, जो आप लोग इस तरह सकते में आ गए ? मेरा पूछना था कि कुछ साहब बुरी तरह फट पड़े। बोले, 'जरा ज़बान को लगाम देकर बोला कीजिए, मिस्टर ! प्रेमचंद से टक्कर ये अब तो क्या आज से सौ वर्ष बाद भी नहीं ले सकते।' उनका तर्कहीन तर्क मैंने सुन लिया और मुस्करा दिया। मुझे सचमुच ऐसे लोगों की बुद्धिमानी पर संदेह होता है। क्या जो प्रेमचद लिख गए या जैनेंद्र, यशपाल लिख रहे हें, वेसा साहित्य उसके बाद लिखा ही न जाएगा ? मेरा तो विचार है कि आज के अनेक नए लेखकों की कहानियाँ उन नामधारियों की अनेक कहानियों का मुकाबला कर सकती हैं, जो साहित्य की निधि हे। अतर केवल इतना है कि उन्हें साहित्य-मान्यता मिल चुकी है, इन्हें मिल रही है।

साहित्य में लिखने के भी आजकल 'प्रकार' बन रहे हैं और उन्हें तोलने के लिए तराज़ू भी। जिसने ज़रा उपमान, उपमाओं और रंगीनी से हटकर ज़िंदगी के पास की सीधी-सादी बात कही, उसे 'मार्क्सवादी' करार दे दिया गया और जो कल्पनाओं की उडान में बहा, वह 'छायावादी' कहलाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही प्रकार के कवि साहित्यिक तराज़ू पर तुलने में हलके पड़ते हैं। पलड़ा भारी है उनका, जो प्रयोगवादी हें। चाहे प्रयोगवाद के नाम पर वह अनर्गल बेसिर-पैर की बातें ही क्यों न कर जाएँ। हाँ, उनमे नवीनता होनी चाहिए। रीतिकालीन साहित्य हमे नायिकाओं के विविध रंग-रूप का अच्छा वर्णन मिलता है। नख से शिख तक का। जो कवि वर्णन कर गए, वे भला होंठों को क्यों भूले होंगे, पर सबने उनका वही पिष्टपेषित लाल, पीला या सफ़ेद रंग बतलाया। किसी-किसी ने गुलाबी भी। पर हमारा आजकल का कवि नवीनता के आग्रह में होंठों के एक नए फ़ीरोज़ी[2] रंग की कल्पना करता है। यहीं पर हमें कहना है कि प्रयोगवाद सार्थक है, धन्य है, महान् है ! भला ये कल्पनाएँ सर्वसुलभ कहाँ, यह प्रतिभा रीतिकालीन कवियों में कहाँ से आती ?

1 सभवत. यह कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया' या फिर अमरकात की कहानी 'डिप्टी कलेक्टरी' थी।
2. 'दूसरा सप्तक' के कवि धर्मवीर भारती की कविता 'गुनाह का गीत' की पंक्ति हे–'इन फ़ीरोज़ी होठों पर बरबाद मेरी ज़िदगी।')

दूसरा सप्तक के कवियों से अधूरी बातचीत

1. शमशेर

शमशेर जी, आप ये रचनाएँ अपने लिए लिख रहे हैं या औरों के लिए ? यदि औरों के लिए, तो भाई, ज़रा ऐसा लिखिए कि कुछ पल्ले तो पड़े। आपका यह 'शरीर स्वप्न'[1] कुछ समझ में तो नहीं आता। सच है कि यह सोने की नाव मेरी है एक आपकी, लेकिन नाव कहाँ बनी, कैसे आई और किससे चल रही है, कुछ तो स्पष्ट कीजिए। आप मत बोलिए, बात ही को बोलने दीजिए, मगर दीजिए तो। ऐसा भी क्या मौन ? हम तो पाठक हैं, आपके मन में कैसे घुस जाएँ। हो सकता है, इन पद्यों का कुछ मतलब भी हो, पर बड़े भाई, मतलब को सर्वसुलभ तो कर दो, अकेले-अकेले उसका उपभोग ठीक नहीं। देखो 'उनका' 'सन्नाटा' खुद बोल रहा है और आप आपकी बात बोलने पर भी नहीं बोलती।

2. धर्मवीर भारती

भारती जी, आप मुझे माफ़ करें ! साहित्यकारों में सबसे अधिक डर मुझे आपसे ही लगता है। आप एक ऐसे साहित्यिक दल के नेता हैं, जिसके पैर जम चुके हैं और जो हर वक़्त कुछ न कुछ उछालने पर आमादा रहता है। पर मुझे मजबूरन आपसे कहना पड़ रहा है कि आप कविताएँ न लिखा करें। आपके पास अच्छी भाषा है, अच्छी समझ है, फिर क्यों आप विदेशी कविताओं के अनुवाद नहीं करते ? यह काम हमारे यहाँ हुआ भी तो नहीं। वैसे अपनी कविताओं को मँगनी का लिबास पहनाकर आप ज़्यादा दिनों तक लोगों को धोखे में नहीं रख सकते। पढ़ते हुए आपकी टेढ़ी भौंहों की कल्पना कर रहा हूँ, पर इसमें नाराज़ होने की क्या बात ? आपस में तो स्पष्टता ही ठीक है ? है न, बड़े भाई ! आप अगर कविताएँ ही लिखने पर उतारू रहे तो जान लीजिए कि कथा साहित्य में जो परंपरा कुशवाह कांत चला गए हैं, काव्य साहित्य में उसका श्रेय आपको

(1. 'शरीर स्वप्न' कविता 'दूसरा सप्तक' (प्रथम संस्करण) के पृष्ठ 97 पर है, जिसकी कुछेक पंक्तियाँ इस तरह हैं—मकई-से लाल गेहुएँ तलुए/मालिश से चिकने हैं।/सूखी-भूरी झाड़ियों में व्यस्त/ चलती-फिरती पिंडलियाँ।/मोटी डालें, जाँघों से न अड़ें/सूरज को आईना जैसे नदिया हैं/इन मर्दाना रानों की चमक/'उन' को खूब पसंद !)

मिलेगा। आप शायद इस सत्य को निगलने में संकोच कर रहे हैं। ख़ैर, फिर भी अगर आपको कविताएँ लिखनी हैं तो कोई डोले का गीत लिखिए, प्रतिध्वनि या पत्र लिखिए, यदि रोमांटिक चीज़ लिखने का ही मन करता है तो क्यों फागुन की शाम नहीं लिखते पर बात तो ठीक नहीं कि आप होंठों क़े लिए नए फ़ीरोज़ी रंग की कल्पना करते फिरें—कहने को सब कह रहा हूँ, पर सोच रहा हूँ कि सामना होने पर आप कौन-सा व्यंग्य करेंगे, जो बुरा भी न लगे और काम भी कर जाए। लेकिन मेरी नेक सलाह तो यही थी कि आप बिलकुल गद्य में ही रहें। आलोचना आप लिखें, चाहे न लिखें पर उपन्यास ज़रूर लिखिए। देखिए, अगर आप मज़ाक़ न समझें तो कहूँ कि मैं आपकी उपन्यास-कला का बहुत कायल हूँ।

3. नरेश मेहता

आप नई-नई उपमाएँ देने में विश्वास करते हैं, मुझे एतराज़ नहीं। आपको अपनी कविताओं के मैटर के लिए संसार की परिक्रमा करनी पड़ती है, मुझे स्वीकार है। जहाँ तक आपकी साधना की बात है, मैं प्रशंसा करता हूँ। मगर साथ ही साथ मेरी एक सलाह मान लीजिए। मैं अल्पवयस्क हूँ, मुझे सलाह नही देनी चाहिए, तो प्रार्थना ही सही। हाँ, प्रार्थना ही स्वीकार कर लीजिए, आप अपनी कल्पना, रूपक-चित्र और उपमाएँ 'मुक्त छंद' के लिए सुरक्षित रखा करें। गीतों में जो आप गड़बड़झाला पैदा करते हैं कि कहीं तुक नहीं तो कहीं संबद्धता नहीं तो कही यति भंग है तो कहीं गति भग, यह किसी को नहीं पचता। आशा है, आप बुरा नहीं मानेंगे। आपका तो स्वभाव ही बुरा नहीं है।

4. शकुंतला माथुर

आप तो फ़रमाइए श्रीमती जी, आपने इधर क़दम बढ़ाने की कोशिश क्यों की ? अगर साहित्य-सेवा की ही लगन थी तो अपने पतिदेव को उकसाती, प्रेरणा देती, कोई ज़रूरी तो नहीं कि परिवार का परिवार ही साहित्य-सेवी बन जाए ! श्रम के बल पर रोटी कमाने और खाने की इच्छा नितांत स्वाभाविक है। प्रतिभा के बल पर कुछ लिखकर ख्याति अर्जित करने और साहित्यकार बनने की अभिलापा भी कुछ अस्वाभाविक नहीं, पर साहित्यकारों को चाय की प्यालियाँ पिलाकर साहित्य में जीने की आशा तो दुराशा मात्र ही है।

'दूसरा सप्तक' के कवियों में आपका नाम प्रकाशित हो गया, यही क्या कम है ? पर आगे भी यदि आपने इस किस्म की कोई कोशिश दुबारा की तो देवी जी ! सारी पोल खुल जाएगी, यह गाँठ बाँध लीजिए। आप अपने ड्राइंगरूम के गुलगुले सोफ़े

पर बैठकर साहित्य-वार्ता में भाग लीजिए, कौन मना करता है, पर जब आप ख़ामख़ाह प्रत्यक्ष की कल्पना करके कविताएँ लिखती हैं तो दुःख होता ही है।

5. हरिनारायण व्यास

आपकी रचनाएँ पढ़ने का सोभाग्य मुझे केवल 'प्रतीक' ही में मिला है। पत्र-पत्रिकाओं में छपाने से आप शरमाते हैं या संपादक ही आपकी रचनाओं को छापने में संकोच करते हैं, यह मुझे विश्वस्त रूप से ज्ञात नहीं। हॉ, जब क्रभी 'दूसरा सप्तक' में आपकी रचनाओं पर निगाह जाती है तो यह ख़याल ज़रूर पैदा होता है कि आप कवि भी हे, क्योंकि अज्ञेय जी का प्रमाण-पत्र आपके पास है। लेकिन मेरे अपरिचित दोस्त ! अगर इतना श्रम अपने वक्तव्य में न व्यय कर अपनी कविताओं पर किया होता तो संभवतः आपकी प्रतिभा पर किसी को संदेह करने का अवसर न मिलता। आप बुरा न मानें तो निवेदन करूँ कि जिस तरह रेत पर आड़ी-सीधी लकीरें खींचते कभी-कभी बच्चे भी कोई सुंदर चित्र बना देते हैं, उसी तरह आप भी कुछ अच्छी कविताएँ लिख गए। व्यास जी ! दरअसल आप ग़लत जगह जा फँसे। तनिक इधर आ जाइए न, ये गद्य का क्षेत्र हे, यहाँ आपको खुली हवा मिलेगी। मुमकिन है कि आप फल-फूल भी सकें ।

6. भवानीप्रसाद मिश्र

भवानी भाई ! आपकी कविताओं के वारे मे मुझे ज़्यादा नहीं कहना। आपकी भाषा मे शक्ति है, गीत है, प्रवाह हे। आप जो कुछ भी लिखते हें, वह अपने आप बोलता हे। यहाँ तक सन्नाटा भी···। कही-कही आप शब्दों की हत्या भी कर देते हैं, लेकिन पंक्ति मे जान डालने के लिए। इसलिए क्षम्य है। महान् के लिए लघु का बलिदान भारतीय संस्कृति में अपराध नहीं समझा जाता। आप इस प्रयोगवाद के तूफ़ान से विचलित न हों, वरना सब गड़बड़ा देंगे। देखिए, जेसा आप लिख रहे हैं, लिखते रहिए। आपको शायद मालूम नहीं कि आपको पथभ्रष्ट करने के लिए साहित्य-पंडों का गिरोह आपकी ओर बढ़ रहा है। आपसे तो मेरा यही निवेदन है कि आप सँभाल-संभालकर लिखते रहें। भगवान् आपकी लेखनी सलामत रक्खे। आपकी ज़िंदगी को सलामत और आपकी बुद्धि को भी।

7. रघुवीर सहाय

अब आपसे तो कुछ कहना भी बेकार, आप मानेंगे तो नहीं। कहें, तो आप किसी पूर्वद्वेष की कल्पना करने लगेंगे। अजीब परेशानी है, फिर भी लीजिए साफ़-साफ़ कहे देता हूँ कि आप प्रतिभावान तो हैं, पर उभर नहीं रहे। जैसे किसी विशाल वट-वृक्ष के नीचे उगे हुए छोटे-छोटे पौधों का विकास नहीं हो पाता, उसी तरह आपकी प्रगति भी रुद्ध है। किसी कलमगीर से सिफ़ारिश कीजिए कि वह आपको उठाकर कहीं खुले मैदान में लगा दे जहाँ आप पनप सकें। ख़ुद तो आपमें इतना साहस है नहीं कि अपने ऊपर छाए विशाल वट की दो-चार शाखाएँ ही कतर दें, ताकि सूर्य की किरणों का प्रकाश आपको भी सुलभ हो सके। आप रघुवीर जी, भरे हुए बर्तन में झाँकना छोड़कर ज़िंदगी में झाँकिएगा। वहाँ आपको काफी नई-नई चीजें मिलेगी। विश्वास मानिए कि इन प्रगतिवादियों ने पूरी ज़िंदगी की छानबीन नहीं कर ली। फिर ज़िंदगी पर किसी का वैयक्तिक अधिकार भी तो नहीं है, वह तो प्रकृति के ही समान सबके सही उपयोग की वस्तु है। आख़िर आप इतना हिचकते क्यों है ? लोगों की बातें जाने दीजिए, आप प्रतिक्रियावादी ही रहिए, आपको रोकेगा कौन ? क्या गीत लिखा है आपने भी :

प्राण मत गाओ प्रणय के गान
पथ लगता अधिक सुनसान
ऐसे ही गीत गाने से।

ऐसे ही सद्‌बुद्धि के साथ लिखते जाइए। भगवान् भला करेंगे।

निर्गुण भावना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

चारण काल की वीरगाथाओं का आकस्मिक रीति से भक्तिकालीन निर्गुण धारा के रूप में परिवर्तित होना हिंदी साहित्य की एक प्रमुख विशिष्टता, परंतु विचित्रता है। डॉ० रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य चन्द्रबली पांडेय इस आकस्मिक परिवर्तन का श्रेय तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति, विशेषतया मुसलमानों की हिंदुओं पर विजय को देते हैं। शुक्लजी के अनुसार, "देश में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने के बाद हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह नहीं रह गया था। उनके सामने ही उनके देव-मंदिर गिराए जाते थे, देव-मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था। वे कुछ नहीं कर सकते थे। आगे चलकर जब साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राष्ट्र भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू समुदाय में बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।" *(हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 68)*

ध्यान से देखा जाए तो आचार्य शुक्ल का यह तर्क सर्वथा माननीय नही है। प्रथम तो यह कोई आवश्यक नहीं कि राजनीतिक क्रांति से ही जनता के मानसिक उत्साह को क्षति पहुँचे, दूसरे यह भी आवश्यक नहीं कि राजनीतिक कारणों से ही धार्मिक तथा साहित्यिक क्रांति हो। विचार करने की वात है कि कबीर जैसे कवियों ने साहित्यिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्रांतियों का जो सचालन किया, उसके मूल में भारतीय चेतना थी या अभारतीय ? भारतीय चिंतनधारा, जिसका श्रीगणेश ऋग्वेद के समय में ही हो चुका था, ऋषि-मुनियों की ज्ञान-गरिमा से परिलुप्त होकर मानसरोवर की ऊँचाइयों से एकदम कर्मकांड की समतल भूमि में उतर आई और मटमैली हो गई। भगवान् बुद्ध तथा महावीर ने अपनी पवित्र शांतिदायक वाणी से फिर एक बार लोक मंगलकारी बनाया था और इसी धारा को आगे चलकर तांत्रिकों एवं वाममार्गियों के विषाक्त प्रभाव से दूषित होना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप उसकी पहुँच केवल सामान्य जनता तक ही रह गई। शिष्ट समाज में प्रवेश न पा सकने के कारण इस धर्म का वैसा प्रचार न हो सका जैसा वैदिक धर्म का हुआ। भगवान् शंकर, कुमारिल भट्ट आदि महापंडितों के प्रयत्न से वैदिक धर्म की फिर प्रतिष्ठापना हुई और राजपूत राजाओं का सहयोग

प्राप्त कर यह धर्म अपने विकास की सीमा को पहुँचा। लेकिन फिर भी इसे जनता की सहानुभूति से वंचित ही रहना पड़ा। संभव है जनता इसके बिलकुल विरुद्ध ही हो। जनता के मन की प्रतिक्रिया सुप्तावस्था में ही सुलगती रहकर मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् द्विगुणित वेग से फूट पड़ी,' इससे शुक्ल जी का उपरोक्त कथन अधिक तर्कसंगत नहीं जान पड़ता।

अब विचार करने की बात यह है कि इस आकस्मिक वेग का कारण राजनीतिक है, जैसा कि शुक्ल जी तथा उनके स्कूल के समालोचकों का मत है; अथवा सामाजिक, जेसा कि श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों का विचार है। शुक्ल जी के अनुसार, मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् जनता के मन से गौरव, गर्व और उत्साह उठ गए और वे मुसलमानों के अत्याचारों से त्रस्त होकर एक हृदय से भगवान् के लीलागान में जुट गए। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सम्यक् अध्ययन से शुक्ल जी की उपरोक्त धारणा की असंगति सिद्ध हो जाती है।

मध्ययुगीन मुसलमानी शासकों के विषय में इतनी असत्य तथा मनगढ़ंत धारणाएँ कल्पित की गई हैं कि तत्कालीन राजनीतिक तथा धार्मिक विप्लव का एकमात्र कारण उन्हीं को माना गया। इसके साथ ही अन्य कई आलोचकों ने भी बिना इस भ्रामक भावना की परीक्षा किए, इसे साहित्य में स्थापित करने मे सहायता दी। मुसलमानों के इस कल्पित अन्याचार युक्त शासन को ही धार्मिक चेतना का तथा निर्गुण पंथ की प्रतिप्ठापना का कारण वताया गया है। लेकिन मध्ययुगीन इतिहास के सुचारु तथा पक्षपातरहित अध्ययन से पता चलता है कि इन मुसलमान शासकों की कई उदार नीतियाँ भी थीं। सरहद इलाक़े मे मऱ्मूद गज़नवी के कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं जिनमें एक ओर 'अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद' और दूसरी ओर 'अयम् टकम् महमूद पुटघटिते हीजरियेन संवति 418' अंकित है। महमूद की सेना में हिंदू घुड़सवारों की एक फ़ौज थी। मुसलमानी अफ़सरों को ताकीद की गई थी कि किसी भी तरह हिंदू प्रजा की धार्मिक भावनाओं को आघात न पहुँचे। हॉ, यह अवश्य माना जा सकता है कि गज़नवी ने सोमनाथ के मंदिर को तोड़ा था, किंतु जैसा कि पुरातत्त्ववेत्ताओं की खोजों से सिद्ध हो चुका है, उसके इस कार्य के पीछे कोई राजनीतिक असहिष्णुता न होकर व्यक्तिगत अर्थलोलुपता ही थी। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने इतिहास में यहाँ तक लिखा है कि 'मुसलमानी इतिहासकारों द्वारा किया गया सोमनाथ की मूर्ति के नाश का वर्णन सर्वथा काल्पनिक और मनगढ़ंत है तथा उनकी अहमन्यता की पराकाष्ठा है।'

केवल गज़नवी ही नहीं बल्कि अन्य शासकों की भी धार्मिक सहिष्णुता के प्रमाण आजकल प्राप्त हैं। कश्मीर का शासक जैनुल आबिदीन संस्कृत का अच्छा पंडित था।

अलबरूनी ने संस्कृत-ग्रंथों का अरबी में अनुवाद किया था। साथ ही स्वतंत्र रूप से भी कई मौलिक ग्रंथों का प्रणयन किया था। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध या तेरहवीं के पूर्वार्द्ध में किसी अब्दुल रहमान नामक कवि का लिखा एक ग्रंथ 'संदेश रासक' भी प्राप्त हुआ है जो बिलकुल 'मेघदूत' के ढंग पर रचा गया है। दो जैन भिक्षुओं ने इस पर संस्कृत में भाष्य भी लिखे हैं। इसी प्रकार खुसरो, जायसी, रहीम आदि कवियों की हिंदी ऋणी है।

श्री बैजनाथ और श्री विश्वनाथ के अनुसार, "तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता के अनेक उदाहरणों में से एक यह भी है कि मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध-विजय के बाद भी बौद्ध मंदिरों को सुरक्षित रहने दिया।" मुलतान में उस समय अनेक ऐसे मंदिर वर्तमान थे जहाँ जाकर अरब के यात्री श्रद्धा के दो फूल चढ़ाया करते थे। मुग़लों के शासनकाल में तो सहिष्णुता की यह भावना और भी विकसित हुई। बाबर ने हुमायूँ के लिए जो वसीयतनामा लिखा था उससे हिंदुओं के प्रति उसकी सहिष्णु नीति पूर्णतः स्पष्ट होती है। हुमायूँ के विषय में चित्तौड़ की राजमाता की राखी स्वीकार करना तो प्रसिद्ध ही है, जिसमें उसने स्वयं को आपत्ति में डालकर भी रानी की सहायता की थी। पर इसके अतिरिक्त भी तुज़्के जहाँगीरी में लिखा है, 'शनिवार के दिन दशहरा पड़ा। उस दिन शाही घोड़े ख़ूब सजाए गए और शान से उनका जुलूस निकाला गया।' इससे इस बात का सुबूत मिलता है कि मुग़ल बादशाह हिंदुओं के मुख्य-मुख्य त्योहारों को बड़ी धूमधाम से मनाते थे। प्रसिद्ध आइमर एंड श्वेगर कंपनी के पास एक चित्र है जिसमें बेगम नूरजहाँ दीवाली मनाती हुई चित्रित की गई हैं। चित्र संभवतः औरंगज़ेब के समय का है जिससे उसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। तुज़्के जहाँगीरी में मुग़ल बादशाह ने अपने पिता की चलाई हुई एक ऐसी प्रथा का ज़िक्र किया है जो हिंदू-मुस्लिम भ्रातृप्रेम का ज्वलंत उदाहरण है। जहाँगीर की वर्षगाँठ के दिन साम्राज्य में पशु-हत्या बिलकुल नहीं होती थी। बृहस्पतिवार और रविवार को क़ुर्बानी बंद रहती थी। शेरशाह तो हिंदू प्रजा की तीर्थयात्राओं और पर्व-त्योहारों में भी भाग लेता था। उसने स्वयं टूटे मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया और जज़िया उठा दिया। अकबर के विषय में तो कुछ कहना भी पुनरुक्ति मात्र होगा, क्योंकि उसकी हिंदू-विषयक नीति समस्त हिंदू समाज तक में आदर की दृष्टि से देखी जाती है। हाँ, औरंगज़ेब के विषय में अवश्य बड़ी-बड़ी बातें कही जाती हैं, किंतु हाल ही में कुछ ऐसे फ़रमानों और जागीर-संबंधी दानपत्रों की खोज की गई है जो औरंगज़ेब ने ब्राह्मणों और मंदिरों को दिए थे। महेश्वरनाथ के मंदिर के पुजारियों को उसने जागीरें दी थीं। मुलतान के तुतलाभाई मंदिर के लिए कल्याणदास को एक हज़ार रुपया देना स्वीकार किया था। बनारस ज़िले के कुछ पुजारियों को भी जागीरें दी थीं। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने 'खंडित भारत' में एक ऐसी घटना का उल्लेख

किया जिसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिंदुओ को मुसलमान बनाने के लिए इतने ज़ुल्म करता था। हॉ, अपने धर्म को वह अवश्य बहुत प्यार करता था। शाहजहॉ ने बार-बार आत्मोल्लंघन करने के अपराध में बधेरा के राजा इन्द्रमणि को कैद कर लिया था। उसे छुड़वाने के लिए औरंगज़ेब ने बड़ी सिफ़ारिश की। शाहजहॉं उसे इसलाम कुबूल कर लेने की शर्त पर छोड़ने के लिए तैयार था, लेकिन औरंगज़ेब ने पिता को इस आशय का पत्र लिखा कि यह शर्त 'अव्यवहार्य, अबुद्धिमत्तापूर्ण और दूरदर्शिताशून्य है।' यही नहीं, कई हिंदुओं के बड़े-बडे ओहदों के लिए उसने सिफ़ारिश की थी। 'रुकात आलमगीरी' तथा 'अदबे आलमगीरी' में इस प्रकार की पेरवी के अनेक उदाहरण मिलेंगे। *(निर्गुण धारा, पृष्ठ 27-29)*

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन मुसलमानी शासकों की नीति इतनी संकीर्ण नही थी कि धार्मिक चितनधारा मे क्राति हो और इसी की प्रतिक्रियास्वरूप मध्ययुगीन भारतीय जीवन में भक्ति की धारा वहे। यह निर्विवाद है कि इस दृष्टिकोण से देखने पर शुक्ल जी का मत कही ठहरता नहीं दीखता।

यह तो हुई राजनीतिक पृष्ठभूमि, अब सामाजिक पहलू पर भी विचार करना चाहिए। शुक्ल जी का विचार हे कि मुसलमानो के आक्रमण के पश्चात् राजनीतिक अशांति के परिणामस्वरूप सामाजिक नियमो तथा गठबधना में क्षति पड़ गई और इसी का फल यह हुआ कि जनता का चिंतन धर्म के प्रति अधिक मुड़ गया। इससे तो साफ़ दृष्टिगोचर होता हे कि शुक्ल जी मानते हे कि मुसलमाना क आक्रमण के पूर्व भारतीय समाज की दशा काफ़ी अच्छी थी। इस शातिपूर्ण परिस्थिति का ध्वस ही भक्तिधारा का प्ररक था। लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि मुसलमानो के भारत मे प्रवेश करने के पूर्व ही भारत की सामाजिक दशा कोन अच्छी थी। इसके पूर्व तो बहुत थोड़ी-सी जनता ही के मन में गोरव, गर्व ओर उत्साह आदि रहे होंगे। राजे-महाराजे, सामत-पुरोहित आदि धनाढ्य महापुरुषों मे इन भावनाओ का लेश-भर अस्तित्व रहा होगा। क्योंकि एक तो देश का समूचा वाणिज्य इनके ही अधीन था, दूसरे, उच्चवर्ग के होने के कारण उनको सहज गौरव भी प्राप्त था। कहा जाता है कि 'अकेलाराम अपने यहॉ से ढाई लाख तोला सोना या साढ़े पॉच लाख सेम्तर्स (पोने दो करोड रुपए) के कपड़े और इतर चीज़ ख़रीदने के लिए भारत भेजा करता था।' *(हिंदी काव्यधारा . राहुल सांकृत्यायन)* लेकिन इस द्रव्य के विनिमय में अभागी जनता का कोई भाग नही था और इसीलिए यद्यपि ऊपरी तौर पर भारत धन-धान्य से समृद्ध प्रतीत होता था तथापि साधारण जनता की स्थिति दयनीय ही थी। राजाओं तथा सामंतों के व्यय के बारे मे राहुल का कथन है, "प्रजा की मेहनत की कमाई से उपार्जित ये महार्घ वस्तुएँ (सुगंधित द्रव्य) चार-पॉच दिन में ही ख़र्च हो जाती थीं। इसके अतिरिक्त भी सामंतों के भारी ख़र्च थे। नए-नए

राजमहल, क्रीड़ा-उपवन, सिंहासन, राजपलंग, मोरछल, महलों की सजावट, चित्रकला, क्रीड़ामृग, सोने के पिंजड़े में बंद शुक-सारिका, लोहे के पिंजड़े में बंद केसरी।" *(हिंदी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन)*

इन सबके फलस्वरूप देश की आर्थिक स्थिति को धक्का लगा। बड़े-बड़े साम्राज्यों को जिस कृषक के बल पर स्थापित किया जा रहा था, उसी कृषक को अपनी प्रतिष्ठा तथा गौरव से हाथ धोना पड़ा। साथ ही सामाजिक कुप्रथाओं की भी कोई सीमा नहीं रही। नवविवाहित वधू की प्रथम रात्रि तो तब के सामंत के लिए रिज़र्व होती थी, जो आज एक कल्पनातीत बात है। ऐसी हेय प्रथाओं की प्रतिक्रिया जनता के मन में इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती थी कि उच्चवर्गीय कहलाने वाले सामंतों और सामाजिक ठेकेदारों के प्रति उनके मन में विद्रोह की भावना उत्पन्न हो। तत्कालीन धार्मिक संकीर्णता के उदाहरण के तौर पर कहा गया है कि "उस युग के नगरों की बहुत-सी सड़कें उनके (नीच वर्ण के लोगों) लिए वर्जित थीं। कितनी ही सड़कों पर थूकने के लिए उन्हें अपने साथ पुरवा रखना पड़ता था।" *(हिंदी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन)* इस सभ्यता की पराकाष्ठा तो तब हुई जब उस कृषक को अत्यंत हेय समझा जाने लगा। फलस्वरूप एक ऐसा विद्रोही वातावरण शीघ्र ही तैयार हो गया जिसके विस्फोट की हर समय संभावना रहने लगी और निर्गुण धारा के रूप में यह विस्फोट ही तो था।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस विस्फोट में मुसलमानों के आक्रमण का भी कोई कारण अपने यहाँ नहीं ? यद्यपि मुसलमानों का प्रत्यक्ष रूप से निर्गुण भक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था तथापि उसकी उन्नति में इनसे पर्याप्त सहायता अवश्य मिली। निर्गुण धारा में जाति-पाँति, अवतारवाद और मूर्तिपूजा के खंडन-मंडन आदि मुसलमानी विचारधाराओं के अस्तित्व से यह भ्रम हो सकता है कि यह धारा इसलाम धर्म का ही एक रूपांतर है, लेकिन असल में इस धारा के मूल में वह चिंतनधारा काम कर रही थी जिसका विशद विवेचन ऊपर किया जा चुका है। सुलगती हुई चिंगारी से राख उड़ा देने-भर का काम शेष रह गया था और यह काम हुआ मुसलमानों द्वारा। यों तो मुसलमानों से भी पहले और इस क्रांति से भी पहले दो-एक स्फुलिंग सिद्धों एवं तांत्रिकों के काव्य-ग्रंथों में पाए जाते हैं जिन्हें वैदिक युग के भ्रष्टाचार की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। किंतु वे अभी इतने ओजवान और सशक्त नहीं थे कि सामाजिक कुरीतियों पर काफ़ी गहरे प्रभाव कर सकें।

निर्गुणियों के समय में यह प्रतिक्रिया बलवती हुई और कबीर आदि साधकों एवं सुधारकों के रूप में उसके प्रथम बार दर्शन हुए। इस धार्मिक तथा दार्शनिक महाक्रांति में पूर्व दिशा से सहजयानियों एवं नाथपंथियों की साधनामूलक उपासना ने पंजाब और सिंध के सूफ़ी दार्शनिकों की मस्त टोली ने और सुदूर दक्षिण से अलवार-गायकों की

भक्ति परंपरा ने शक्ति-भर पूरा सहयोग दिया। परिणामस्वरूप इसके दो स्पष्ट विभाग हो गए—सगुण भक्तिधारा और निर्गुण भक्तिधारा। सगुण धारा फिर एक बार वैदिक धर्म से तादात्म्य स्थापित कर अपना अस्तित्व सुदृढ़ करने लगी और निर्गुण धारा अपनी पुरानी क्रांतिमूलक परंपरा पर ही रही। जनता के अंतरतम की मूल भावनाओं का परिस्फुटन इसमें होने के कारण यह सगुण धारा से अधिक, जनता का प्रोत्साहन और आश्रय प्राप्त कर सकी। इस तरह बिना मुसलमानों के धर्म, ममाज आदि से प्रभावित हुए ही, निर्गुण भक्ति की धारा अपनी भारतीयता को, शुद्ध रूप में सुरक्षित रख कबीर आदि महाकवियों की वाणी के द्वारा अपनी चरमावस्था को प्राप्त हुई। इसी आशय से पं० हजारीप्रसाद जी ने कहा है, "अगर इसलाम धर्म न भी आया होता तो भी हिंदी साहित्य का बाहर आना वैसा ही होता जैसा आज है।" *(हिंदी साहित्य की भूमिका : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)*

निर्गुण साहित्य में जाति-पॉति, अवतारवाद और मूर्तिपूजा का निर्ममता से खंडन हुआ है। कुछ विद्वान् इस खंडन-मंडन का संपूर्ण कारण इस्लाम धर्म को ही मानते हैं। उनका तर्क है—"अपठित होने के कारण उनको (कबीर को) वेदों की शिक्षा का ज्ञान न था, इसलिए इतनी दूर पहुँचना उनका काम न था। उनके काल में पौराणिक शिक्षा का ही अखंड राज्य था जो अवतारवाद और मूर्तिपूजा की जड़ है। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि ये दोनों बातें उनके हृदय में मुसलमानी धर्म के प्रभाव से उत्पन्न हुई।" *(कबीर वचनावली : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध')* विचार करने की बात यह है कि सारे भारतीय धर्मो में मूर्तिपूजा को प्रश्रय मिला है कि नहीं ? वास्तविक तौर पर मूर्तिपूजा पौराणिक युग की देन है, उसके पूर्व उपनिषदों के युग में मूर्तिपूजा का कोई भी चिह्न नहीं मिलता। यहाँ तक कि वैदिक काल में भी मूर्तिपूजा की महत्ता का कोई प्रमाण प्राप्य नहीं है। इसी वैदिक तथा औपनैषिदिक ढर्रे पर चलकर ही तो कबीर ने मूर्तिपूजा का खंडन किया है। कबीर के दार्शनिक सिद्धांत भारतीय हैं। यहाँ तक कि उनका ब्रह्म भी उसी प्रकार द्वैताद्वैत विलक्षण है, जिस तरह गोरखपंथियों का ब्रह्म निर्गुण-सगुण से परे है। मतों का खंडन करने वाले कबीर ही पहले नहीं हुए हैं, बल्कि उनसे भी पूर्व सिद्ध संप्रदाय और नाथपंथ में अवतारवाद और मूर्तिपूजा की स्पष्ट शब्दों में उपेक्षा हो चुकी थी। तब यह कैसे माना जा सकता है कि इसलामी निरीश्वरवाद ही इस खंडन-मंडन का प्रेरक था ?

इस संदर्भ में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, "वस्तुतः कबीर का एकेश्वरवाद उस प्रकार का था ही नहीं जैसा मुसलमानी धर्म में स्वीकृत बताया जाता है।" इस मत के अनुसार, ईश्वर समस्त जगह, जीवों से भिन्न और परम समर्थ है। कबीरदास ने स्पष्ट शब्दों में लोगों को सावधान किया है कि वह बृहद् व्यापक है, सबमें

एक भाव से व्याप्त है। पंडित हो या जोगी, राजा हो या प्रजा, वैद्य हो या रोगी, सबमें आप रम रहा है और उसमें सब रम रहे हैं। यह जो नाना भाँति का प्रपंच दिखाई दे रहा है, अनेक घट दिख रहे हैं, सब कुछ ठगी का रूप है। सारा ख़लक़ ही ख़ालिक़ है और ख़ालिक़ ही ख़लक़।...सही बात यह है कि जब कबीर राम और रहीम की एकता की बात करते हैं तो उनका मतलब भारतीय परंपरा के अद्वैत ब्रह्म सामी धर्म के 'पैगंबरी खुदा' के साथ घुला देना नहीं होता। वे अत्यंत सीधी-सी बात अत्यंत सीधे तौर पर कहते हैं कि सृष्टि के रचयिता भगवान् को यदि मानते हो तो दो की कल्पना व्यर्थ है। एक ही परमतत्त्व को राम या रहीम कह देने से वह दो नहीं हो जाएगा।" *(कबीर)*

इस अवसर पर कबीर को अपठित कहने का तर्क और भी असंगत है। निर्गुण साधक विधा को उतना महत्त्व नहीं देते था जितना कि स्वयंप्रकाश्य को। कबीर का विचार था—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।।

इसी स्वयंप्रकाश्य के बल पर ही तो ऋषिगण अपने-अपने सिद्धांतों का प्रणयन कर सके हैं। इसी के बल पर कबीर ने अपने सार्वभौमिक सिद्धांत स्थापित किए हैं। इसलिए इस प्रसंग में उनके अपठित होने या न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रस्तुत निर्गुण साधकों ने मूर्तिपूजा आदि तत्त्वों का खंडन केवल इसीलिए नहीं किया कि उन पर इसलाम धर्म की गहरी छाप पड़ी थी, बल्कि इसलिए कि वे इन ढकोसलों को वास्तव में बंधन मानते थे और माया को त्यागने का उपदेश ही तो इनका चरम उद्देश्य था। माना कि इनको इतनी शिक्षा प्राप्त नहीं थी कि बड़ी-बड़ी पोथियों को आमूलाग्र कंठस्थ कर लेते, लेकिन इतनी प्रतिभा अवश्य थी कि तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल अपने सिद्धांत स्थिर करते। वैसे निर्गुण पंथ के सिद्धांत बालू पर नहीं खड़े हैं क्योंकि उनकी जड़ें ऋग्वेद में भी स्पष्ट लक्षित होती हैं। ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है—

न हि त्वस्य प्रतिमान मस्त्यन्तजानेपूत ये जनित्वा

अथवा

नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति

फिर तो मूर्तिपूजा का खंडन कोई नई बात नहीं रहती। असल में मूर्तिपूजा और अवतारवाद सगुण धारा की विशेषताएँ हैं। लेकिन निर्गुण धारा में उनका कोई अस्तित्व नहीं। इसलिए जहाँ निर्गुण धारा में उनका निर्मम खंडन हुआ है, वहाँ सगुण धारा में उनका प्रतिपादन। यह तो ख़ैर निर्विवाद है कि निर्गुण धारा उस समय युग की सही प्रतिनिधि थी और उसी की तब आवश्यकता भी थी। तत्कालीन भारतीय इतिहास के

सम्यक् अध्ययन से पता चलता है कि उस समय सामाजिक विषमताएँ अपनी पराकाष्ठा पर थीं। शूद्रों के वर्ग पर बड़े-बड़े अत्याचार किए जाते थे, साथ ही उनसे हर क्षण प्रतिक्रिया की भी आशंका रहती थी। यही प्रतिक्रिया निर्गुण धारा में मूर्तिपूजा, अवतारवाद, जाति-पाँति आदि वैदिक रीतियों के खंडन-मंडन में प्रकट हुई है। ध्यान देने की बात है, निर्गुण धारा के कवियों का बहुमत शूद्र या नीच वर्णो का ही है। फिर तो इस विषय में कोई संदेह नहीं रह जाना चाहिए कि निर्गुण धारा की इस खंडन-मंडन की प्रवृत्ति का श्रेय इस्लाम को नहीं है, क्योंकि यह भावना बहुत ही प्राचीनकाल से जनता के मन में चली आ रही थी और अनुकूल अवसर पाकर वह अपनी सर्वाधिक तीव्रता से प्रकट हुई।

सैद्धांतिक दृष्टि से निर्गुण धारा में दो भिन्न-भिन्न स्रोतों का सम्यक् विलीनीकरण स्पप्ट दृष्टिगोचर होता है। भगवान् बुद्ध ने मानव-जाति को शांति का जो नया संदेश सुनाया, उसके कारण वैदिक धर्म से सर्वथा भिन्न एक धर्म ही चल पड़ा। उसका मूल तत्त्व अहिंसा थी और उसमें सगुण की अपेक्षा निर्गुण, निराकार परब्रह्म को ही अधिक मान्यता प्राप्त थी। इसी कारण इस धर्म के लगभग सभी ग्रंथों में प्रतीकों से ही काम लिया गया है। क्योंकि जहॉ कहीं परमेश्वर के अवर्णनीय गुणों का वर्णन करना होता हे वहॉ वाणी अक्षम हो जाती है जैसा कि कबीर ने भी कहा है—

सैना-बैना कहि समझ ओ गूँगे का गुड़ रे भाई।

इसी सांकेतिक भापा की फिर तो अपनी एक रहस्यमयी शब्दावली ही चल पड़ी जिसमें मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मेथुन प्रमुख हैं और 'पंच अकार' कहलाते हैं। इन पॉचों प्रतीकों का सूक्ष्म अर्थ पं० बलदेव प्रसाद उपाध्याय के अनुसार यों है—

मद्य : मद्य का अर्थ गृह हट्टी की शराब नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मरंध्र में स्थित सहस्रदल कमल क्षरित हांने वाली सुधा को मद्य कहते हैं। उसी को पीने वाला व्यक्ति मद्यय कहलाता है। यह खेचरी मुद्रा के द्वारा सिद्ध होता है। इसलिए तंत्रों का कथन है—

व्योमपंकजनिस्पंदसुधापानरतो नरः।
मधुपायी समः प्रोक्तरितरे मद्यपायिनः।।

(कुलारानि तंत्र)

जिह्वयाजलसंयोगात चिवेत् तदमृतं तदा
योगिभि पीयते तन्तु न मद्यं गौडवैष्टिकम्।

(गंधर्व तंत्र)

मांस : जो पुरुष पुण्य और पापरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा मार डालता है और अपने मन को ब्रह्म में लीन करता है, वही मांसाहारी है। कुलारानि की कथा है—

पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगनित्।
परेलयं न योच्चि तं मांसाशो स निगधते।।

मत्स्य : शरीरस्थ इड़ा और पिंगला नाड़ियों का नाम गंगा और यमुना है। इसमें प्रवाहित होने वाले श्वास और प्रश्वास दो मत्स्य हैं। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास बनाकर कुंभक के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर संचालित करता है, वही मत्स्य साधक है। आगमसार का कथन है—

गंगायमनोर्मध्ये द्वौ मत्स्यो चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ यक्षयेत यस्तु स भवेन्मतन्य साधकः।।

मुद्रा : सत्संग के प्रभाव से मुक्ति मिलती है और असत् संग के प्रभाव से बंधन प्राप्त होता है। इसी असत् संग के त्याग का नाम मुद्रा है। 'विजय तंत्र' का यही मत है—

सत्संगेन भवेन मुक्तिरसत्संगेषु बंधनम्।
असत्संग मुद्रणं यन्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता।।

(विजय तंत्र)

मैथुन : मैथुन का अर्थ है मिलना। किसका मिलना ? सहस्रार में स्थित शिव का तथा कुंडलिनी का अथवा सुषुम्ना का तथा प्राण का।

इड़ा पिंगलयोः प्राणान सुषुम्णायां प्रवर्तयेत्।
सुषुम्णाशक्तिरुदिष्टा जीवोऽयम् तु परः शिवः।
तपोस्तु संगमे देवै सुरतं नाभकीर्तनम्।

(भारतीय दर्शन)

लेकिन बाद में सिद्धों ने अपनी अतृप्त वासना की तुष्टि के लिए इन प्रतीकों के स्थूल रूप ही को अधिक महत्त्व दिया, जिसके कारण ग्रह्य समाज आदि की स्थापना हुई और धर्म के नाम पर बीभत्स और अश्लील क्रियाएँ आरंभ हो गई। इन्हीं अश्लील विधानों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गोरखनाथ के द्वारा नाथपंथ की सृष्टि हुई। गोरखनाथ ने सिद्ध परंपरा के अश्लील विधानों का त्याग कर उसकी सैद्धांतिक विशेपताओं को अपनाया और जहाँ तक हो सका, सिद्धों की अश्लीलता का खंडन किया। उन्होंने खुलकर पंचमकारों की निंदा की—

जोगी होई परनिंद्या भषे।
मंद मांस अरु भाँति जो भषै।।
इकोतर सौ पुरिषा नरकहिं जाइ।

सति सति भाषंत श्रीगोरख राइ।।
अवधू मांस भंषत दयाधरम का नास।
मद पीवत तहाँ प्राण निरास।।
भाँति भषंत गयाँन ध्याँन षोवंत।
जम दरबारी ते प्राणी रोवंत।।

(गोरावरानी)

गोरखनाथ की इसी परंपरा को कबीर ने अपनाया, लेकिन नाथपंथ और निर्गुण धारा में जो अंतर पड़ा वह रामानंद द्वारा चलाई भक्तिधारा के कारण। जव उत्तर भारत में सिद्धों में अश्लील कृत्यों की प्रतिक्रियास्वरूप गोरखनाथ की नाथ परंपरा की स्थापना हो रही थी, तब सुदूर दक्षिण में श्रीरामानुजाचार्य के रूप में भक्ति का स्रोत उमड़ा चला आ रहा था। उन्हीं की शिष्य परंपरा में रामानन्द के द्वारा भक्ति की य. धारा उत्तर में भी पहुँची और उसने सगुण तथा निर्गुण दोनों धाराओं को समान रूप से प्रभावित किया। यह तो जगत्प्रसिद्ध ही है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे और उन्हीं से भक्ति की प्रेरणा प्राप्त की थी। अतः उन पर रामानन्दी भक्ति भावना का थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। कबीर की रचनाओं में एक ओर जहाँ नाथपंथियों की-सी रहस्यमूलकता है, वहीं दूसरी ओर प्रेम और भक्ति संबंधी कुछ व्याख्यात्मक कविताएँ भी हैं। इसीलिए शायद डॉ० रामकुमार वर्मा ने कहा है, "संत साहित्य का आदि इन्हीं सिद्धों, नाथपंथियों और पूर्णपरिपाक कबीर से प्रारंभ होने वाली संत परंपरा में नानक, दादू, मलूक, सुंदरदास आदि को मानना चाहिए।" *(हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास)* हरिऔध जी का भी यही विचार है, "यदि सूक्ष्म दृष्टि और विवेचनात्मक बुद्धि से देखा जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि जिन सिद्धांतों के कारण कबीर के सिर पर संत मत के प्रवर्तक होने का सेहरा बाँधा जाता है वे सिद्धांत परंपरागत और प्राचीन हैं।" *(हिंदी भाषा और साहित्य का विकास : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध')*

इस तरह निर्गुण धारा के मूल बीज, जहाँ एक ओर सिद्धों और नाथपंथियों में निहित हैं, वहीं दूसरी ओर रामानन्द की वैष्णव भक्तिधारा में भी दृष्टिगोचर होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस्लाम का इस धारा पर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ा था बल्कि यह धारा भारतीय है और पूर्ण मौलिक भी।

श्री विश्वनाथ तथा श्री बैजनाथ जी ने अपनी निर्गुण धारा में ठीक ही लिखा है— 'सच पूछा जाए तो निर्गुण धारा अपनी पूर्ववर्ती विचार-सरणियों की मधुकर वृत्ति से सारग्रहण है। निर्गुण धारा मूलतः स्वदेशी है, उसके ताने-बाने स्वदेशी हैं, उसका करघा स्वदेशी है, उसके जुलाहे स्वदेशी हैं। क्या हुआ यदि इस भारतीय वस्त्र पर कुछ अरबी, फ़ारसी या ईरानी छींटें पड़ ही गई, जो वास्तव में अपना अस्तित्व कब का गँवा चुकी हैं।'

सन् '53 की कविता

छायावाद की 'अमूर्त-तरल अनुभूति' सूक्ष्म किंतु सीमित काव्य-सामग्री और एक निश्चित प्रकार की शब्दावली एवं शिल्प-शैली के विरुद्ध हिंदी काव्य में जो धाराएँ प्रवाहित हुई, सन् '53 की कविता उन्हीं के बीच से होकर गुज़री। यों इन सब धाराओं के नामकरण की समस्या उतनी सरल नहीं है, मगर सुविधा के लिए हम इन्हें प्रगतिशील-प्रयोगशील, गीत और फुटकर कह सकते हैं।

इस फुटकर के अंतर्गत वे अनुवाद आते हैं जो संस्कृत, मराठी, गुजराती, बॉग्ला और अंग्रेज़ी आदि अन्य भापाओं से हुए हैं। हालॉकि सन् '53 की कविता की चर्चा करते हुए इन अनुवादों का उल्लेख अनावश्यक एवं अप्रासंगिक-सा लग सकता है, किंतु 'विदेशी भाषाओं के अनुवाद हमारी अपनी कविताएँ होती हैं' के अनुसार इनको यों ही छोड़ देना भी अनुचित-सा प्रतीत होगा। मराठी-गुजराती कविताओं के कुछ अनुवाद 'अजंता' ओर 'आजकल' आदि मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। परंतु इन अनुवादों में वह स्वाभाविकता नहीं आ पाई जो कि अनुवादक के मूल में लय हो जाने पर आती है। फिर इनकी भापा में भी न वह नादात्मक सौंदर्य और न वह ध्वनि तथा व्यंजना ही थी जो कि मूल भावों को यथावत् उद्दीप्त रूप में सामने रख पाती। सफल शब्दावली का अभाव जिस प्रकार सुंदर भावों के अस्तित्व पर भी आघात करता है उसी प्रकार का आघात इन अनुवादों द्वारा हुआ। हॉ, बाँग्ला के कुछ अनुवाद अच्छे बन पड़े जिनकी झलक दिल्ली के 'हिंदुस्तान साप्ताहिक' तथा 'राष्ट्र भारती' में मिल सकती है। 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में नागार्जुन ने 'मेघदूत' का हिंदी अनुवाद भी किया जिसकी सफलता के विषय में दो मत नहीं हो सकते। अंग्रेज़ी के अनुवाद तो 'कल्पना', 'पाटल', 'राष्ट्र भारती', 'प्रवाह' आदि हिंदी की सभी अच्छी पत्रिकाओं में अकसर प्रकाशित होते रहे हैं, किंतु इनमें भावों की यथेष्ट सुरक्षा होने पर भी लय की सुरक्षा का अभाव मिलता है, जिसका दोष बहुत-कुछ हिंदी-छंदों पर भी रखा जाता है। किंतु जिन कुछ अनुवादकों ने भावों के साथ-साथ लय सुरक्षित रखने का भी प्रयास किया है उनमें शमशेर बहादुर सिंह और भारती के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं।

इन अनुवादों के अतिरिक्त जब हम गत वर्ष के गीतों को देखते हैं तो पाते हैं कि उनका प्रवाह अधिक वेगवान और सशक्त नहीं रहा। यों तो वीचि, उर्मि, उषा, किरण,

ज्योत्स्ना, रूपसि आदि शब्दों को लेकर साधारण पत्र-पत्रिकाओं में न जाने कितने गीत छपे हैं, मगर उनको विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। वैसे उनसे प्रेमियों को इस बात का संतोष अवश्य हो सकता है कि छायावादी कविता मरी नहीं है, बल्कि उसका विकास हुआ है और शब्दावली नए तरीक़े से आगे बढ़ी है। जैसे उषा···उर्मि···से आगे ज़मीन, आसमान, चिराग़, मरघट, आग, अंगारे और हँसिया-हथौड़े आदि शब्दों की संपदा उसे प्राप्त हुई है जिसके कारण एक ओर यदि गीतों में अभिव्यंजनात्मक सौंदर्य बढ़ा है तो दूसरी ओर उसके विषय का क्षेत्र भी संकुचित हुआ है।

लेकिन इनके साथ ही साथ गीतों में कुछ ऐसे नए प्रयोग भी सामने आए हैं जिनको देखकर यह कह देना जोखिम का काम है कि गीतों का बाज़ार उतर जाएगा। क्यांकि इनमें टेकनीक की नवीनता, भावों की सादी अभिव्यक्ति, शब्दों की सरल संयोजना आदि कुछ ऐसे गुण देखने को मिले जिन्होंने गीतों की संभावनाओं पर नए सिरे से सोचने के लिए मजबूर किया। उदाहरण के लिए, आजकल के कवितांक में प्रकाशित केदारनाथ सिंह के एक गीत की पहली पंक्ति देखिए—

गीतों से भरे दिन फागुन के ये
गाए जाने को मन करता।

हालॉकि यह भी सच है कि ऐसे गीत बहुत कम देखने को मिले हैं किंतु फिर भी निराला, शंभुनाथ सिंह, रामदरश मिश्र और कोकिल जी ने कुछ बहुत अच्छे गीत दिए हे। अन्य गीतों म भावनाओं के लोकोत्तर विकास के नाम पर चाहे असंबद्धता ही क्यों न हो, मगर अभिव्यक्ति की एक ऐसी सफ़ाई अवश्य है जो अपना क्षणिक प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। इनमे छायावादी गीतों जैसे अस्पष्ट भाव-चित्रों, धुँधली कल्पनाओं तथा सूक्ष्म के प्रति मोह आदि प्रवृत्तियां का सर्वथा अभाव है। किंतु भाषा की उर्दू जैसी चटख़ और लोच की ओर इनका रुझान अधिक है, जिससे इन पर उर्दू ग़ज़लों का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है।

इस सिलसिले में यह ध्यान देने योग्य बात है कि ले-देकर गीतों में जो कुछ भी प्रयांग हुए हैं वे सब नई पीढ़ी के हाथों। पुराने कवियों के वहुत कम गीत देखने को मिले। पंत जी, महादेवी वर्मा, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, गुरुभक्त सिंह 'भक्त' आदि कवियों के शायद ही एक-दो गीत कहीं आए हों। सन् '52 में अवश्य बच्चन के काफ़ी गीत देखने को मिले थे, किंतु इस वर्ष इनकी भी बहुत कम रचनाएँ प्रकाशित हुई। लेकिन इस पीढ़ी में भी निराला अपवाद हैं। उनके गीत बराबर इधर-उधर प्रकाशित होते रहे हैं जिनमें से कुछ में यदि भावाभिव्यंजना की सादगी हद दरजे की है तो कुछ अपने गंभीर चिंतन और दर्शन के भार से एकदम दुरूह हैं। अंचल, नरेन्द्र शर्मा, हंसकुमार तिवारी, शिवमंगल सिंह 'सुमन', गिरजाकुमार माथुर आदि कवियों की

भी बहुत कम रचनाएँ प्रकाशित हुईं। आरसीप्रसाद सिंह के अवश्य अनेक गीत देखने को मिले जिनमें अधिकांश साधारण और पुरानापन लिए हुए थे। किंतु 'कोकिल' जी ने घरेलू रंग में भक्ति की लययुक्त भावना के साथ कुछ अनोखे गीत दिए। उनके गीत तन्मयता के दृष्टिकोण से मीरा की डूब की याद दिलाते हैं। भाषा को अपने ढंग से तोड़-मरोड़कर उन्होंने उसमें ग्रामीण शब्दों को अत्यंत उपयुक्त ढंग से पिरोया है। वैसे लोकगीतों का उन पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। और शायद यह कहना भी अनुचित न होगा कि इस वर्ष के अधिकांश अच्छे गीत छंद, भाषा और भावों की दृष्टि से लोकगीतों का प्रभाव लिए हुए हैं।

बस, सन् '53 के महत्त्वपूर्ण गीतों की धारा यहीं समाप्त हो जाती है, मगर लिखने वालों में देवराज दिनेश, वीरेन्द्र मिश्र, नीरज, रामावतार त्यागी, गिरधर गोपाल, रमानाथ अवस्थी, विद्यावती मिश्र, जितेन्द्र कुमार, रामकुमार चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद, शंभुनाथ 'शेष', श्री हरि, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, राजनारायण बिसारिया, श्याममोहन श्रीवास्तव, दामोदर, अमरेश, पीयूष और किशोर आदि गीतकारों का नाम लिया जा सकता है। जिनमें वीरेन्द्र मिश्र, नीरज, गिरधर गोपाल और देवराज 'दिनेश' ने कुछ अच्छे गीत दिए।

संक्षेप में हम यदि इन गीतों की मुख्य प्रवृत्तियों को देखें तो पाएँगे कि इनमें सूक्ष्म और अमूर्त के स्थान पर स्थूल और मूर्त का चित्रण अधिक है।

वस्तु की यथार्थता की ओर अधिक ध्यान देने के कारण संगीत का आग्रह कम है।

लोकगीतों और उर्दू के प्रभाव के कारण अभिव्यक्ति मे अधिक तीख़ापन ओर भाषा में अधिक चटख़ है।

सामाजिक चेतना के प्रति अत्यधिक सजगता है।

और बँधी-बँधाई रोमांटिक परंपराओ को तोड़कर आगे बढ़ चलने के विद्रोह का भाव है।

विद्रोह का यह भाव प्रयोगशील और प्रगतिशील कविताओं मे हमें और भी प्रखर रूप में मिलता है, क्योंकि प्रयोगशील तथा प्रगतिशील कवि तो सिद्धांत रूप से ही वस्तु-सत्य के चिरगतिशील होने और काव्य में प्राचीनता से आगे बढ़कर नवीन उपकरणों के माध्यम से समृद्धि लाने में विश्वास रखते हैं। यह अवश्य है कि प्रगतिशील कवि नवीनता को आग्रह रूप में स्वीकार नहीं करता जबकि प्रयोगशील कवि इस बात पर निश्चित मत है कि काव्य में जो कुछ पुराना है, सब त्याज्य है। यों स्पष्ट रूप से इन दोनों काव्य-धाराओं के बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती, क्योंकि प्रयोगशील शब्द का अर्थ अत्यंत व्यापक है। और प्रयोग गीतों में भी हो सकते हैं तथा

प्रगतिशील वस्तु में भी। उदाहरण के लिए, केदार तथा नागार्जुन की दो छोटी-सी कविताएँ लीजिए–

मैंने उसको जब-जब देखा,
लोहा देखा,
लोहे जैसा तपते देखा,
गलते देखा,
ढलते देखा,
मैंने उसको
गोली जैसा चलते देखा।

—केदार

भिनक रहीं मक्खियाँ मवाद बहा जाता है
खुद को खुद पर घिन आता है।
एक-एक कर गलीं और गिर पड़ीं उँगुलियाँ
फिर भी तो अच्छी लगती है दुनिया
घिसट-घिसटकर चलता है वो,
बाँहों से लूली हथेलियाँ झलता है वो,
कोढ़ी है, भिखमंगा है वो,
फिर भी कहते गुज़र-बसर करता है अपनी चंगा है वो,
तिरवेनी तट है उसका संसार
टपका देनी अपनी करुणा की बूँदें दो-चार
कभी भूल से पुन्न कमाने जाओ तो
शहर इलाहाबाद कभी तुम आओ तो।।

—नागार्जुन

केदार की कविता तीन पंक्तियों में एक मनुष्य की सहनशील क्षमता और संघर्षशील भावनाओं का चित्र प्रस्तुत करती है, जबकि नागार्जुन की कविता यथातथ्य चित्रण का एक व्यंग्यात्मक प्रयोग है। और ये दोनों प्रयोग होते हुए भी प्रगतिशील हैं। अस्तु !

सन् '53 की प्रयोगशील कविताओं की चर्चा करते हुए हमें 'प्रतीक' के वंद हो जाने के बाद 'कल्पना' और 'पाटल' को निगाह में रखना पड़ेगा, क्योंकि केवल इन्हीं दो पत्रिकाओं के माध्यम से सन् '53 में प्रयोगशील कविता को, जिसे 'नई कविता' की संज्ञा भी दी जाती है, प्रकाश में आने का सुयोग प्राप्त हुआ। इन कविताओं में से आधी तो कविगणों के मन की निविड़ता, अहम्, कुंठा आदि अन्य अंतर्मुखी प्रवृत्तियों का ही गोरखधंधा हैं जो साधारण पाठक के लिए बोधगम्य नहीं है। और अगर वह येन-केन प्रकारेण

उनके अर्थ निकाल भी ले तो भी किसी प्रकार की संवेदना से अभिभूत नहीं हो सकता। उनमें नवीनता का आग्रह प्राण-तत्त्व के अभाव की पूर्ति बनकर आता है किंतु शेष आधी कविताएँ भाव-तत्त्व की दृष्टि से भी अपने में पर्याप्त नयापन और गंभीरता लिए हैं। इन कविताओं के लेखकों में भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, मदन वात्स्यायन, सिद्धनाथ कुमार, केदारनाथ सिंह, मार्कण्डेय और अजित कुमार का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी कवि अपने दृष्टिकोण में अधिक से अधिक वस्तुपरक दिखाई देते हैं। गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की एक कविता का एक छंद सुनिए—

भँवर भरी पत्थर-सी सख़्त धार काटनी है,
दो तटों की दूरी हमें तिल-तिल पाटनी है,
स्वेद भीगें काठ के ये डाँड अभी भाँजे चलो
पार न आएगा कैसे ?

इसी प्रकार मार्कण्डेय की 'विष' शीर्षक कविता का विषय वैयक्तिक अनुभूति पर आधारित होते हुए भी इतना व्यापक और सर्वानुभूत है कि उसमें अपनापन महसूस होता है। किंतु इतने अपनेपन और अनुभूति की तीव्रता के बावजूद भी कविता उतनी सीधी चोट नहीं करती जितनी भवानीप्रसाद या उपरोक्त अन्य कवियों की कविताएँ करती हैं। इसका कारण यह है कि कवि में अभिव्यक्ति की सरलता का अभाव है और इस कारण है कि उसमें 'कम से कम' में 'अधिक से अधिक' कह जाने के आग्रह-भाव हैं। कहना न होगा कि काव्य में यह 'आग्रह' प्रयोगवाद की देन है किंतु 'वस्तु' में नएपन के साथ-साथ सीधी और तीख़ी अभिव्यक्ति लेकर भी अनेक कवियों की कविताएँ सामने आई हैं जिनमें सर्वेश्वर दयाल की कविताओं से तो ऐसे अनेक उद्धरण दिए जा सकते हैं। यों रघुवीर सहाय और प्रभाकर माचवे की भी कविताएँ काफ़ी महत्त्वपूर्ण हैं। माचवे जी की पिछले वर्ष की प्रकाशित कविताओं में जो हलका-फुलकापन है वही उनकी बड़ी विशेषता है। रघुवीर सहाय की कविताओं में संक्षिप्तता का आग्रह क़तई नहीं। हाँ, अनावश्यक विस्तार की प्रवृत्ति कहीं-कहीं अवश्य है, किंतु वह भी उनकी सरल और मार्मिक अभिव्यक्तियों के बीच प्रायः छिपी-सी ही रहती है। उनकी कविताओं के इस गुण की सराहना करनी पड़ेगी कि उनकी-सी आत्माभिव्यक्ति प्रयोगवादी कवियों में कम ही मिलती है। उनकी 'दर्द यों जाता नहीं' शीर्षक कविता का पहला चरण इस प्रकार है—

उस ढाल पर हम पट पड़े सोचा किए, सोचा किए,
अपनी पहुँच में दूब थी जितनी उसे नोचा किए,
अब वह सहारा भी गया यानी कि सब तिनके नुके,
यों ही कोई ढेला उछाला और फिर सोचा किए।

नरेश मेहता, अज्ञेय और शमशेर की कविताओं को भी यदि इसी के साथ-साथ देखा जाए तो लगेगा कि वे बिलकुल दूसरे छोर पर हैं, जिनकी अर्थ-व्यंजना, संक्षेप की बहुलता और अपरिचित प्रतीक एवं अस्पष्ट भाव-चित्रों के कारण बहुत-कुछ दबी-दबी-सी लगती है।

इसी धारा के कुछ अन्य कवियों ने प्रभावात्मक शैली में भी कुछ नए प्रयोग किए जिनमें सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और धर्मवीर भारती की 'राष्ट्र भारती' तथा 'कल्पना' में प्रकाशित कविताएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें नई-नई उपमाओं के उद्‌भावना द्वारा भावतत्त्व को सफलतापूर्वक रस की स्थिति तक पहुँचाया गया है। मगर सर्वेश्वरदयाल की कविताओं में जहाँ कहीं इन उद्‌भावनाओं के प्रति अनावश्यक मोह पाया जाता है, वहीं भारती की कविताओं में अनर्गलता भी मिलती है, भले ही उनकी भाषा की रंगीनी और मिठास आपका मन मोहे रखे।

भाषा की संपदा की महिमा बहुत बड़ी है, विशेष रूप से व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखने के लिए। निश्चय ही यदि नागार्जुन के पास इतनी शब्द-संपदा न होती तो वह 'हितोपदेश' जैसी कविता न लिख पाते। इसी प्रकार की बात कुछ-कुछ राजनारायण विसारिया की 'गीतों की विदाई और गद्य का स्वागत' शीर्षक कविता के विषय में भी कही जा सकती है। गोकि वह शुद्ध व्यंग्य नहीं है मगर अपने ढंग की बहुत अच्छी कविता है।

सच्चाई के साथ कहा जाए तो भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं का उल्लेख किए बिना सन् '53 की कविताओं की चर्चा अधूरी लगती है। किंतु उनसे पूर्व गत वर्ष की कविता की एक नई प्रवृत्ति पर और विचार कर लिया जाए। यह ध्यान देने की बात है कि 'प्रतीक' में त्रिलोचन शास्त्री के सानेट प्रकाशित होने के बाद से इधर हिंदी में सानेट एकदम लुप्तप्राय-से लगते थे, पर 'कल्पना' में प्रकाशित सुरेन्द्र कुमार के चार अच्छे सानेट देखकर संतोष हुआ। इससे पहले भी ओंकारनाथ श्रीवास्तव के दो सानेट प्रकाशित हुए थे।

तो हम भवानीप्रसाद की कविताओं की चर्चा कर रहे थे जिन्हें यदि प्रस्तुत लेख के विभाजन के दृष्टिकोण से देखा जाए तो प्रगतिशील काव्यधारा के अंतर्गत आती हैं। और यह आश्चर्य की बात है कि प्रत्यक्षतः दोनों धाराओं में एक बड़ा अंतर खुद-ब-खुद उभरता चला जा रहा है। वह यह कि प्रयोगशील कविताओं में भावाभिव्यक्ति की दुरूहता का जो दोष दिखलाई देता है वह यहाँ आकर बिलकुल समाप्त हो जाता है। यहाँ तक कि जब वही प्रयोगवादी कवि प्रगतिशील होकर लिखते हैं तो लगता है जैसे उनके व्यक्तित्व में कोई ग्रंथि ही न हो, उनके मन में किसी प्रकार की भी निविड़ता को कोई स्थान ही न हो। उदाहरण के लिए, 'नयापथ' में प्रकाशित मार्कण्डेय की एक

कविता को देखिए—

यह पथ के रोड़े हैं इनकी बातें बहुत बड़ी हैं,
ऊपर से चिकने पर इनकी छाती बहुत कड़ी है,
कितनों को मंज़िल से रोका कभी नहीं पछताए,
फिर भी अपनी आदत से ये अब तक बाज़ न आए,
इन्हें राह पर छोड़ न देना, इनकी साँसें तोड़ न देना,
ये पत्थर के टुकड़े इन पर टाँकी मारो !
ख़ून - पसीना - आँसू देकर इन्हें सँवारो।

आषाढ़ का एक दिन

हिंदी के नाटकों में इधर काफ़ी दिनों से एक ऐसा गत्यावरोध आया हुआ था कि सारे सरकारी और ग़ैर-सरकारी प्रयत्नों के बावजूद प्रबुद्ध पाठक और लेखक इस ओर से विरक्त होते जा रहे थे। अतः मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' पर भी जो चर्चा हुई वह अपर्याप्त ही रही। शायद प्रस्तुत नाटक इससे अधिक का हक़दार है।

'आषाढ़ का एक दिन' की सबसे बड़ी उपलब्धि उसकी विषय-वस्तु है, जो अपने परिधान में पूर्णतः सांस्कृतिक और ऐतिहासिक होते हुए भी आज के कुछ चलते प्रश्नों को उनके समूचे सामाजिक परिवेश में प्रस्तुत करती है। इतिहास की दृष्टि में इसमें कितना तथ्य है—यह मैं नहीं जानता, पर ये कह सकता हूँ कि हमारी सांस्कृतिक पूर्तियों का इतना समय सापेक्ष आकलन हिंदी के किसी नाटक में नहीं हुआ। और इन अर्थों में प्रस्तुत नाटक हिंदी के सब ऐतिहासिक नाटकों से आगे है।

नाटक की मूल संवेदना भावना और यथार्थ के प्रश्न से जुड़ी है। एक शाश्वत प्रश्न के रूप में लगता है कि चाहे भावना कितनी भी स्थायी और महान् हो, पर यथार्थ से टकराकर वह हमेशा क्षत-विक्षत हुई है। वह चाहे मरी नहीं पर यथार्थ ने उसे जीवित भी नहीं छोड़ा। उदाहरण के लिए, कालिदास और मल्लिका का संबंध, मल्लिका के ही शब्दों में 'भावना की भावना का वरण है।' फिर भी अम्बिका, विलोम, मातुल और प्रियंगुमंजरी सब पात्र जैसे इस सत्य को नहीं समझ पाते। व्यंग्य करते हैं। अम्बिका और विलोम कालिदास के राज्याश्रय-अस्वीकार को अभिनय और ढोंग समझते हैं। प्रियंगुमंजरी मल्लिका के घर का परिसंस्कार कराना और वहाँ का वातावरण अपने साथ ले जाना चाहती हैं। परिचारक उस गाँव में वैचित्र्य खोजते हैं तो लगता है कि यथार्थ शतशतमुखी होकर मायना पर व्यंग्य कर रहा है जो कभी ठीक से नहीं समझी गई।

संपूर्ण नाटक तीन अंकों में विभक्त है और मूल संवेदना उत्तरोत्तर विकसित होती हुई तीसरे अंक में पहुँचकर कार्यावस्था को प्राप्त होती है। कथावस्तु का संयोजन इस प्रकार से हुआ है कि मूल संवेदना के साथ-साथ लेखक और राज्याश्रय का वह सामयिक प्रश्न भी चलता रहता है जो अंततः इतना प्रमुख हो उठा है कि नाटक की मूल समस्या भी लगने लगता है। मेरा विचार है यदि यह प्रश्न मूल प्रश्न से मिलता-जुलता न होता तो एक बड़ा दोष बन सकता था। .

आज साहित्यकार राज्याश्रय में आने के बाद जो ठहराव, घुटन और बेकली अनुभव करते हैं उसका इतना मार्मिक विश्लेषण इस नाटक में हुआ है कि अनायास हम कालिदास के संदर्भ में अपनी वस्तुस्थिति पर विचार करने के लिए विवश हो जाते हैं। राज्याश्रय और सत्ता का उपभोग कर जब तीसरे अंक में कालिदास पुनः अपने गाँव लौटता है तो वह आपादमस्तक खंडित साहित्यकार का व्यक्तित्व लिए है जिसे राज्य ने सुख और ऐश्वर्य चाहे जितना दिया हो, शांति एक पल नहीं दी। कालिदास खुद स्वीकार करता है, "मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसे तुम पहचानती रही हो। दूसरा व्यक्ति हूँ।...सत्ता और प्रभुता का मोह छूट गया है।...मैं केवल मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ जिससे पुनः कालिदास के कलेवर में जी सकूँ।" कालिदास ने अपने राज्याश्रय काल के जो अनुभव व्यक्त किए हैं वे आज के किसी भी सरकारी साहित्यकार की अनुभूतियाँ हो सकती हैं। कालिदास कहता है, "अभावपूर्ण जीवन की यह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। (सत्ता ग्रहण करना—लेखक)...अधिकार मिला...सम्मान बहुत मिला। जो कुछ मैंने लिखा उसकी प्रतिलिपियाँ देश-भर में पहुँच गईं, परंतु मैं सुखी नहीं हुआ। एक राज्याधिकारी का कार्यक्षेत्र मेरे कार्यक्षेत्र से भिन्न था। मुझे बार-बार अनुभव होता कि मैंने प्रभुता और सुविधा के मोह में उस क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश किया है और जिस विशाल क्षेत्र में मुझे रहना चाहिए था उससे मैं हट आया हूँ। मैं बार-बार अपने को सहारा देता कि आज नहीं तो कल मैं परिस्थितियों पर वश पा लूँगा और समान रूप से दोनों क्षेत्रों में अपने को बाँट दूँगा...पर वह कल कभी नहीं आया।...मैं धीरे-धीरे खंडित होता गया।"

उपरोक्त आत्म-निवेदन कालिदास ने नाटक में स्वगत रूप में ही कहा है क्योंकि मल्लिका उपस्थित होते हुए भी कुछ बोलती नहीं और यह ज़रूरत से ज़्यादा दोष की हद तक लंबा है, पर इसके पीछे जो कड़वी सच्चाई है उसकी महत्ता भी कम नहीं है। ऐसा लगता है कि नाटककार के मन में राज्याश्रय का यह प्रश्न काफ़ी अरसे तक घुमड़ता रहा है, परिणामस्वरूप कई पात्रों पर इसकी प्रतिक्रियाएँ स्पष्टतः देखी जा सकती हैं। कालिदास का वक्तव्य, मल्लिका का राजकुमारी के उपहार और प्रस्तावों की अवहेलना और मातुल के कश्मीर से लौटकर आने के बाद के अनुभव; सब जैसे लेखक की मुक्त अंतर्व्यथा और राज्याश्रय के इस प्रश्न की ही विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। मातुल एक स्थान पर अनजाने ही राज्याश्रय प्राप्त साहित्यकारों की घुटन का जैसे विश्लेषण करते हुए मल्लिका से कहता है, "इन चिकने शिलाखंडों से तो वह मिट्टी ही अच्छी थी जो पैर को पकड़ती तो थी।"

अब शायद उपर्युक्त बातों के संदर्भ में 'आषाढ़ का एक दिन' की अन्य ऐतिहासिक या सांस्कृतिक नाटकों से भिन्नता सहज स्थापित हो जाती है और कहा जा

सकता है कि ये नाटक आज के जनजीवन के उतना ही पास है जितना कोई भी सामाजिक नाटक हो सकता था। इसे कथा-वस्तु में प्रयोग कहिए या अनुभूति की ऐसी प्रखरता जो अभिव्यक्ति के स्तर पर सहज प्रेषणीय बन जाती है।

रंगमंच या अभिनेता की दृष्टि से सारा नाटक एक सेट पर खेला जा सकता है और वह भी अत्यल्प साधनों में। इतिहास या संस्कृति की आड़ में भाषा के नाम पर लेखक ने कहीं अपनी विद्वत्ता प्रकट नहीं की है। कुछ अपरिचित शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है जो अखरते भी हैं, पर शायद उनका पर्याय देना उस काल की परंपराओं पर अत्याचार होता। थोड़ी आपत्ति शब्दों के प्रयोग पर कहीं की जा सकती है, जैसे हरिण-शावक के स्थान पर मृग-शावक शायद अधिक जँचता।

दूसरे, नाटक के पात्रों के पारस्परिक संवाद में वाक्-विदग्धता तो है पर भाषा का वैभिन्नय नहीं। अतः कालिदास और मल्लिका प्रायः एक ही-सी भाषा बोलते हैं और उसमें भी कहीं-कहीं मल्लिका की भाषा ज़्यादा चुस्त और काव्यात्मक है। वह एक स्थान पर कहती है, "तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही, मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है।" इस वाक्य की काव्यगत विशेषताओं के अतिरिक्त दूसरी विशेषता ये है कि इसके पीछे मल्लिका के व्यक्तित्व की समर्पणशीलता, गांभीर्य और मानसिक संतुलन भी है। दूसरे शब्दों में, इसके पीछे उसका पूरा व्यक्तित्व है। वास्तव में लेखक ने मल्लिका के चरित्र-निर्माण में परिश्रम किया है। नाटक शुरू होते ही (क्योंकि आरंभिक तीन-चार पृष्ठ बड़ी एकरस निरर्थकता का आभास देते हैं) अम्बिका और मल्लिका के व्यक्तित्व के स्तर पर एक-एक वाक्य से अलग होने लगते हैं और धीरे-धीरे मल्लिका ऊपर उठती हुई जान पड़ती है। और अंत तक पहुँचते उसका चरित्र इतना विशाल बन पड़ता है कि स्वयं कालिदास का व्यक्तित्व उसके सामने फीका पड़ जाता है।

वस्तुतः मल्लिका का जीवन त्याग और पीड़ा की कसौटी पर कसे जाने के बाद और यथार्थ के स्तर पर परिवर्तित होने पर भी जब भावना के स्तर पर नहीं रहता है तो एक ऐसी गरिमा से मंडित हो उठता है जिसके पीछे भारतीय संस्कृति का पूरा इतिहास नतमस्तक है।

मैं आलोचकों के इस मत से सहमत हूँ कि कालिदास का चरित्र बहुत सक्षम रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सका है, पर यह नहीं भुलाया जा सकता कि कालिदास एक प्रतीकात्मक चरित्र है जिसका शायद ऐतिहासिक विश्लेषण लेखक का अभीष्ट न था। वह तो शायद उसके व्यक्तित्व द्वारा मल्लिका जैसे अमर चरित्र की सृष्टि करना और साथ ही युग जीवन की कुछ समसामयिक समस्याओं पर प्रकाश डालना चाहता था।

अन्य पात्र जैसे साधारण माताओं की भाँति पुत्री की हित-चिंता में घुलती रहने

वाली अम्बिका, परिस्थितियों को स्वार्थ के चश्मे से देखने वाला विलोम, दुनिया की हर वस्तु और हर भावना को धन और सत्ता पर रखकर परखने वाली प्रियंगुमंजरी और अवसरों को खोजने और उनसे लाभ उठाने वाला सरल-हृदय मातुल—बहुत जीवंत लोग हैं। अपनी-अपनी सीमाओं में बहुत स्पष्ट और अलग, फिर भी नाटक की मूल संवेदना में छोटे-छोटे पहियों की भाँति।

अंत में मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि मैंने हिंदी में इस टक्कर का दूसरा नाटक नहीं पढ़ा। और यह बात मैं डॉ० रामकुमार वर्मा, अश्क, जगदीश चन्द्र माथुर और विष्णु प्रभाकर के नाटकों को दृष्टि में रखकर कह रहा हूँ।

(1960-61)

निराला : एक याद, एक उत्सव

15 अक्तूबर की रात को जब क़रीब साढ़े नौ बजे रेडियो स्टेशन पहुँचता हूँ तो ड्यूटी ऑफ़िसर बताता है कि सारे पूर्व निर्धारित प्रोग्राम कैंसिल कर दिए गए हैं और इस समय इलाहाबाद-लखनऊ से एक कंपलसरी कार्यक्रम प्रसारित किया जा रहा है। मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसा कौन-सा कार्यक्रम हो सकता है कि जिसके लिए सारे हिंदी-स्टेशन अपने कार्यक्रम स्थगित कर दें···और मुझे सूचना तक न हो···और मैं बहुत व्यग्र हो उठता हूँ यह जानने के लिए कि आख़िर वह कौन-सा कार्यक्रम है। और तब मालूम होता है कि महाप्राण, महामानव निराला चले गए !···और तब एक क्षण को ऐसा लगा जैसे चारों ओर का वातावरण शून्यता से भर गया हो, समय गतिहीन होकर ठहर गया हो···और मैं अहसास की सारी शक्तियाँ खो चुका होऊँ, लेकिन केवल एक ही क्षण···दूसरे ही क्षण मुझे ड्राइवर ने पुकारा कि रेलवे स्टेशन जाने के लिए गाड़ी तैयार है···और मुझे बोध हुआ कि जबलपुर में सेठ गोविंददास के जन्मदिवस अर्थात् नाट्यदिवस के अवसर पर होने वाले परिक्रामी मंच के उद्घाटन एवं अन्य साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों को रिकॉर्ड करने के लिए, अपने इंजीनियरों एवं टेपरिकॉर्डिंग मशीनों के साथ जबलपुर जाना है। और मय साजो-सामान के मैं कार में बैठ जाता हूँ—उदास, खिन्न और बुझा-बुझा-सा हृदय लिए।

निराला की मृत्यु और साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन···मुझे बड़ा विरोधाभास-सा लगा इन दोनों बातों में। भला ये कैसे संभव है कि निराला हमारे बीच से चले जाएँ और हम उनके जाने पर आयोजन करते फिरें, वर्षगाँठ मनाएँ या जलसे करें। शीर्षस्थ राजनीतिज्ञों की बात जाने दीजिए, मामूली-सा कोई नेता मरता है तो भी हफ़्ते-भर तक के सारे उत्सव, कार्यक्रम स्थगित हो जाते हैं। तो क्या निराला के लिए—हिंदी के शीर्षस्थ कवि और महानतम व्यक्तित्व के लिए इतना भी न हुआ होगा। असंभव। ज़रूर सारे प्रोग्राम कैंसिल हो गए होंगे। मैं यों ही बड़बड़ा उठता हूँ।

श्री महेंद्र, मेरे इंजीनियर साथी चौंके···बोले, "त्यागी साहब, सेठ जी तो पॉलिटिकल नेता हैं। ये फ़ंक्शन पॉलिटिकल है या लिटरेरी (साहित्यिक) ?"

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। शायद इसलिए कि मैं उदास था या शायद इसलिए कि मेरे पास इस प्रश्न का कोई उचित उत्तर नहीं था। मगर उन्होंने जब फिर अपना

प्रश्न दुहराया तो मैंने कहा, "ये एक कल्चरल फंक्शन है।"

"तो फिर ये पोस्टपोन क्यों होगा ?" वे बोले।

"इसलिए कि हिंदी का सबसे बड़ा कवि और सबसे अधिक मान्य-पूज्य व्यक्तित्व उठ गया है।"

"अरे साहब, पॉलिटिकल लोगों को लिटरेरी (साहित्यिक) लोगों की कुछ ऐसी केयर नही होती। आप देखिए, फ़ंक्शन तो होगा।" साथी बोले। मैंने बहस करना उचित नहीं समझा और गाड़ी में बैठ गया।

महेन्द्र को दूसरे केबिन में सीट मिली और मेरी बराबर वाली सीट पर आए डॉ० सचदेव, जबलपुर मेडिकल कॉलेज के प्रिंसिपल। सरल-निर्मल व्यक्तित्व के डॉक्टर सचदेव जल्दी ही घुलमिल गए···बातें होने लगीं, पर बार-बार मेरा ध्यान जेसे उचट जाता। जैसे चलते-चलते कोई कुर्ता पकड़कर झटक दे, इस तरह की अनुभूति मुझे रह-रहकर होती। भीतर धुऑ-सा घुटता और मैं बात करते-करते जेसे तड़प उठता। बेचैनी की इसी अवस्था मे मैने उठकर खिड़की खोल दी।

एक ठंडा-सा झोका भीतर आया। एक ज़ोरदार चपत मेरे गाल पर पड़ी। एक भय और ठंड की सिहरन अदर हुई ओर मेरा हाथ अनायास अपने गाल पर चला गया। निराला जी डॉटकर कह रहे थे—'कोई कोट नहीं है तेरे पास जो कमीज पहने घूम रहा है।' याद आया, आज से छह-सात वर्ष पहले जब मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय का एक छात्र था तो अपने एक सवधी मित्र को निराला जी का दर्शन कराने के लिए ले गया था। अपराह्न तीन-चार का वक़्त होगा ओर वे कंबल ओढे भाई कमलाशकर की बेठक में पड़े थे। वातावरण मे कुछ ठडक थी, पर शायद उन्हे कुछ ज़्यादा लग रही थी। इसलिए मुझे केवल कमीज़ में देखकर उन्होने मेरा स्वागत झापड़ से किया, मगर फिर मेरे साथी को देखकर नम्र हुए और डॉटकर हमे कंबल में ले लिया। फिर जेसे अपने आप से फ़ालतू और बेमानी बातें अंग्रेज़ी में करते रहे। मगर जेसे ही हम हाथ जोड़कर उठने को हुए तो उन्होंने जबरदस्ती कंबल हमारे ऊपर डाल दिया और अग्रेजी में ये कहते हुए—"नहीं नवयुवको···बाहर बड़ी ठंड हे ओर तुम पर बड़ी-बड़ी ज़िम्मेदारियॉ हैं" वे बाहर एक गली में घुस गए। हम दूसरे रास्ते से, कंबल वहीं छोड़कर भागे। मगर शीत की एक फुरहरी हमारी नस-नस को भेद गई थी।

और आह ! वैसी ही अनुभूति आज हो रही है···गाड़ी तेज़ी से भकभक करती भागी जा रही है और मेरे मन में उससे भी तेज़ी से बवंडर चल रहा है।

निराला चले गए। ये कोई रेडियो स्टेशन की बात नहीं। उन्हें अब से बहुत पहले ही चले जाना चाहिए था। अचरज की बात ये है कि वे अब तक जिए और उन स्थितियों में जिए जिनमें शायद कोई साधारण आदमी जी नहीं सकता। आप कल्पना

कीजिए कि एक आदमी जिसे सहानुभूति का ज़हर दिया जा रहा है, कैसे प्रतिवाद करेगा ? एक आदमी जिसे आदर और सम्मान की क़ब्र में इंच-इंच कर उतारा जा रहा है, क्या उफ़ कर सकेगा ?

आप अपने से सवाल कीजिए कि क्या सचमुच हमें उनसे सहानुभूति थी ? क्या सचमुच हम उनकी इज़्ज़त करते थे या करते हैं ? और अगर करते हैं तो क्या··· ?

एक बड़ा-सा प्रश्न मन के सारे असंतोष और विद्रोह का उबाल लेकर उभरता है! लेकिन सीमाएँ, बंधन और दीवारें··· ? और फिर मैं सरकारी नौकर। मुझे क्या पड़ी है जो बड़े-बड़े साहित्यिकों के इस पचड़े में पड़ूँ ? जी हाँ···

किस-किसको याद कीजिए, किस-किसको रोइए।
आराम बड़ी चीज़ है मुँह ढक के सोइए।।

और मैं सो जाता हूँ।

आज जबलपुर में हूँ। यहाँ परसाई के यहाँ ठहरा हूँ। 'नई दुनिया' के संपादकीय विभाग के एक सज्जन सामने बैठे हैं। मैंने फ़रमाइश पर यह लेख लिख दिया है। निराला के साथ मेरा भी नाम संबद्ध होगा और अख़बार में छपेगा। इसी बहाने जितना भी यश मिल जाए वही ग़नीमत है। मगर परसाई उदास हैं। अन्य पास बैठे मित्र—आग्नेय और नरेश सक्सेना भी दुखी हैं। रह-रहकर निराला की बात उठती है। वातावरण बोझिल हो जाता है। मैं परसाई से कहता हूँ, "उठो, मुस्कराओ यार !···खुश होओ, तुम्हारे शहर में इतना बड़ा उत्सव है कि मैं भोपाल से उसे देखने आया हूँ और तुम एक ज़रा-सी मौत से उदास हो।"

(15 अक्तूबर, 1961)

कैशोर्य-वृत्ति और मंटो बनने का स्वप्न

शास्त्र में कहा गया है—पड़ोसी से बिगाड़नी नहीं चाहिए—और 'लहर' के संपादक मुझसे मेरे पड़ोसी रमेश बक्षी की किताब 'क़िस्से ऊपर क़िस्सा' पर 'श्लीलता-अश्लीलता' के संदर्भ में कुछ लिखवाना चाहते हैं।

मैं सोचता हूँ कि श्लीलता-अश्लीलता पर ही क्यों लिखूँ ? यह तो उसी तरह की बात हुई जैसे कोई कहे—आप पुस्तक की प्रिंटिंग के संबंध में लिखिए। मैं कोई नीति शास्त्रज्ञ नहीं हूँ। श्लीलता-अश्लीलता की बात मेरे लिए एकदम गौण है। प्रमुख बात है संपूर्ण पुस्तक का कथ्य, उसकी अंतर्निहित विचारधारा, प्रभाव। कोई पुस्तक अश्लील प्रसंगों के होते हुए भी अच्छी हो सकती है और अच्छी होते हुए भी अश्लील हो सकती है। दूसरे शब्दों में, अश्लीलता यदि लेखक के अपने दुराग्रहीत नहीं है तो कृति की विषय-वस्तु, शिल्प या शैली में बाधक नहीं होती, बल्कि सहायक होती है। मंटो, लॉरेंस, मोराबिया तथा जोला आदि कितने ही महान् कथाकारों ने इस तथाकथित अश्लीलता की सहायता से मानव-मन की जटिलता और सूक्ष्माति-सूक्ष्म ग्रंथियों का उद्घाटन कर प्रसंगों एवं अविस्मरणीय चरित्रों की सृष्टि की है। इसलिए अश्लीलता भी मुझे सर्वथा ग्राह्य है और वह श्लीलता भी, जिसके कारण रचना में दुराव एवं कृति की प्रभावान्विति में अपूर्णता रह जाती है।

यह हुआ अश्लीलता का एक पक्ष। दूसरा पक्ष पाठकों तक पहुँच का भी है। अश्लील प्रसंगों का बेखटके प्रयोग करने वाले लेखक प्रायः अपेक्षाकृत जल्दी लोकप्रिय हो उठते हैं और यह भी होता है कि उनकी रचनाओं पर विचार करते समय लोग पक्ष या विपक्ष में अधिक चर्चा उनकी अश्लीलता को लेकर ही करते हैं, सैद्धांतिक पक्ष को लेकर नहीं। परिणामस्वरूप कभी-कभी लेखक यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अमुक लेखक अश्लील लेखन के कारण ही इतना लोकप्रिय हो गया। अश्लीलता लोकप्रियता की कुंजी है।

रमेश बक्षी ने भी इसी मुग़ालते के साथ 'क़िस्से ऊपर क़िस्सा' की कुंजी लेकर प्रकाशन-क्षेत्र में प्रवेश किया है। यह साधारण दुर्भाग्य की बात नहीं कि एक लेखक जिसके पास कई अच्छी कहानियाँ हैं—एक उपन्यास और नाटक तथा कुछ हलकी-फुलकी निबंध टाइप रचनाएँ भी हैं—अपनी पहली पुस्तक के रूप में 'क़िस्से ऊपर क़िस्सा' पेश

करे। मगर बक्षी ने यह सब थोड़ा ही सोचा होगा। उन्हें तो लगा होगा कि पुस्तक छपने के बाद अगली सुबह जब मैं सोकर उठूँगा तो लोकप्रियता के शिखर पर मंटो और मोराविया आदि के साथ खड़ा हूँगा। काश, वह दूसरा पक्ष भी सोच पाता कि लोकप्रियता के शिखर पर कुशवाहा कान्त, प्यारेलाल आवारा औरं इसी तरह के अन्य लोग भी मिलते हैं। मगर दुर्भाग्य से न यह हुआ, न वह; यानी न बक्षी मंटो की तरह लोकप्रिय हुए और न कुशवाहा कान्त की तरह (और न कभी होंगे), क्योंकि इस पुस्तक में न तो मंटो वाली वह अश्लीलता है जिसमें उच्च नैतिक कलात्मकता के साथ गहरे सामाजिक यथार्थ की ओर संकेत हो और न कुशवाहा कान्त वाली वह अश्लीलता जहाँ नारी केवल अपना एक अंग यानी योनि या भग होती है—नारी नहीं।

और 'क़िस्से ऊपर क़िस्सा' के लिए 'लहर' जैसी पत्रिका के इतने प्रयत्नों के वावजूद उतनी लोकप्रिय न होने का मूल कारण भी शायद यही है कि लेखक-रूप में बक्षी यौन व्यापार और यौन क्रियाओं के प्रति अधिक से अधिक एक शिशु सुलभ जिज्ञासा रखते हैं। परिणामस्वरूप पूरी पुस्तक पढ़ जाने पर ऐसा लगता है जैसे शैशव से कैशोर्य अवस्था में प्रवेश करने वाला कोई बालक यौन विषयों के प्रति आकृष्ट होकर अपना महत्त्व, अनुभव और बड़प्पन प्रदर्शित करने के लिए हाथ उठा-उठाकर चिल्ला रहा हो—गंदी बातें, गंदे संकेत फूहड़पन से कह रहा हो और कह रहा हो, देखो, मैंने उसको लिया है⋯उसको लिया है, उसको लिया है। और फिर जैसे लोगों के अविश्वास पर खीजकर अपनी बात मनवाने तथा उसे सत्य सिद्ध करने के लिए अंततः अपने ही कुनबे या परिवार की भद्र लड़कियों और महिलाओं का नाम गिनाना शुरू कर दे।

मगर पाठक बड़ा निर्मम होता है। वह लेखक की क़समों-धरमों पर विश्वास नहीं करता। वह पाठक यदि मंटो जैसे लेखकों का है तो अश्लीलता के साथ किसी गहराई में भी जाना चाहेगा और यदि कुशवाहा कान्त जैसे लेखकों का है तो किसी झिझक या रख-रखाव को पसंद नहीं करेगा। 'क़िस्से ऊपर क़िस्सा' में लेखक न तो अपनी कैशोर्य यौन-जिज्ञासा को किसी बड़े सामाजिक सत्य से जोड़ सका है और न खुले कामोत्तेजक वर्णन से। एक झिझक, एक दुःख, एक भय और श्लीलता की मर्यादा से जुड़े होने न होने का भाव उसे सतत बाँधे रहा है। इसलिए राजकमल चौधरी ने 'लहर' में इसी पुस्तक के संबंध में प्रकाशित अपनी 'हॉ, न' पूर्ण टिप्पणी में एक वाक्य बहुत अच्छा कहा, 'जहाँ तक अश्लील लिखने का सवाल है यह दम रमेश बक्षी में क्या हिंदी के किसी नए लेखक में नहीं है। सचमुच बक्षी के बस का रोग अश्लीलता पर लिखना नहीं। इसलिए यह पुस्तक अश्लील तो हरगिज़ नहीं है। हाँ, एक साधारण और बचकानी कृति अवश्य है।'

कथा की दृष्टि से अविश्वसनीय, शिल्प की दृष्टि से कच्ची और कौतुकपूर्ण तथा

कथ्य की दृष्टि से तुतलाती हुई यह पुस्तक 'क़िस्से ऊपर क़िस्सा' लोकप्रियता का एक सस्ता स्टंट है जो इसलिए सफल न हो सका कि बक्षी के पाठक-वर्ग में मूलतः दूसरी तरह के पाठक हैं और पुस्तक कोशिश करने पर उस हद तक अश्लील नहीं हो सकी है। लेख उस हद तक खुल नहीं सका है। यह स्टंट का प्रयोग नहीं बल्कि लेखक की सहज विवशता का परिणाम है।

यह लेखक की कम बड़ी असफलता नहीं है। अश्लीलता उद्देश्य होने पर भी पुस्तक अश्लील न हो पाई। साहित्यिक दृष्टि से देखने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि पूरी पुस्तक पढ़ने के बाद न कोई ऐसी घटना, जिसका कोई विशेष सामाजिक-संदर्भ या वैयक्तिक-मूल्य हो, यहाँ तक कि कोई भी ऐसा चित्र नहीं बनता जो दिमाग़ में घूमता रह जाए।

और अधिक क्या कहूँ ? बक्षी अच्छा कहानीकार है—मेरा मित्र और पड़ोसी है। शास्त्र में कहा गया है—पड़ोसी से बिगाड़नी नहीं चाहिए।

(संभावित रचनाकाल · 1962-63)

संकट और साहित्य

सुनते थे कि साहित्यकार की व्यापक दृष्टि आधारभूत मानवीय मूल्यों पर रहती है और उन्हें समग्र विश्व के परिप्रेक्ष्य में देखती-परखती है। वह तात्कालिकता की रौ में नहीं बहता बल्कि बुनियादी सवालों से जूझता है और जीवन की सामान्यता में से विशिष्ट भावानुभूतियों का चयन करके उन्हें संवेदना के वृहद् धरातल पर प्रतिष्ठित करता है। लेकिन वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में यदि हम अपने समसामयिक साहित्य पर दृष्टि डालते और वस्तुपरक भाव से उसका विश्लेषण करते हैं तो हमें गहरी निराशा होती है। लगता है, आज वे सारी मान्यताएँ बिखर गई हैं। वैशिष्ट्य का वह आग्रह टूट गया है ओर साहित्यकार भी अन्य बुद्धिजीवियों की तरह जनसामान्य के उसी धरातल पर उतर आया है जहाँ केवल प्रतिक्रियाओं का लहराता-उफनता सागर है, आवेश में बँधी हुई मुट्ठियाँ हैं और अज़हद बेचैनी और दर्द से सीमा की ओर निहारती हुई अगणित आँखें हैं।

यहाँ तक मैं जानता हूँ यह स्थिति केवल हिंदी की नहीं बल्कि कमोबेश देश की उन सभी भाषाओं की है जिनका समूचा समसामयिक साहित्य भारत पर चीनी आक्रमण की अनुगूँज बनकर तड़प उठा है। जिनके अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर विचरने वाले और एक विश्व, एक राज्य का स्वप्न देखने वाले सृजनशील मनीषी और चितक भी राष्ट्रीयता की परिधि में सिमट आए हैं और मानवीय मूल्यों और समाजवादी समाज-रचना के उच्चादर्शों से प्रभावित कृती साहित्यकार भी 'देश की जय बोल प्यारे' जैसी रचनाओं का सृजन कर रहे हैं।

प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ ? क्यों कल तक राजनीति को साहित्य से अलग मानने वाले साहित्यकार अपनी रचनाओं में उन्हीं राजनीतिक नारों का प्रचार करने लगे जिन्हें शायद सामान्य और शांतिपूर्ण स्थिति में वे पढ़ना तो क्या, सुनना भी पसंद न करते ? उत्तर है, जन-चेतना का तीव्र भावावेग। वह जन-चेतना जो सारे सतही विवादों की चट्टानों को फोड़कर अचानक ऊपर उभर आई है और सारे समाज पर छा गई है। आख़िर समाज से ही तो साहित्य जीवन-रस ग्रहण करता है। वह समाज जब एक मित्र कहे जाने वाले देश के विश्वासघातपूर्ण आक्रमण से विक्षुब्ध हो उठा तो उसकी प्रतिक्रिया से बचना, साहित्य के लिए बचना कैसे संभव था ? और एकमात्र इसी सत्य ने सिद्ध कर दिया कि हम पहले भारतीय हैं, विचारक या चिंतक बाद में। हम

विश्वबंधुत्व के आदर्शों की बात करते हैं, पर अपने आत्माभिमान और स्वाधीनता के मूल्य पर नहीं। जहाँ सच्चाई का हनन होता है, जहाँ न्याय का गला घोंटा जाता है और जहाँ स्वतंत्रता के मिज़ाज को दबाया जाता है, वहाँ अपनी अहिंसा की सारी परंपरा और पृष्ठभूमि के बावजूद हम ख़ामोश नहीं बैठ सकते और हम क्या, शायद विश्व के किसी भी देश के साहित्य में ऐसी मिसाल न मिले कि कोई ऐसी तीखी प्रतिक्रिया हुई और वहाँ का साहित्य उससे निस्संग रह गया।

यद्यपि यह सच है कि प्रतिक्रिया का साहित्य कभी स्थायी नहीं होता। मगर यह भी सच है कि ऐसी संकटकालीन परिस्थिति में साहित्यकार इन प्रतिक्रियाओं से निर्लिप्त नहीं रह पाता। जिस तरह जीवन की शांतिपूर्ण सुविधाओं और साधनों को महान् और आवश्यक मानते हुए भी राष्ट्रों के सामने ऐसे अवसर आ जाते हैं कि वे युद्ध-सामग्री के निर्माण में लग जाएँ, उसी तरह जीवन के शाश्वत और बुनियादी मूल्यों के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाला साहित्यकार भी ऐसी घड़ियों में तात्कालिक साहित्य का सृजन करने लगता है। समाज का एक अंग और जन-चेतना का सहयोगी होने के नाते वह ख़ुद भी भावावेश में बह जाता है। यह बात दूसरी है कि वह अनिश्चित रूप से आम जनता की तरह गंतव्य का ध्यान किए बिना नारे लगाता नहीं चला जाता बल्कि अपने सहज संतुलन और विवेक द्वारा अपनी दिशा और गंतव्य के विषय में सोचता है। यदि वह ऐसा न करे तो बुद्धिजीवी कहलाने का उसका हक़ क़ायम नहीं रह सकता।

आज कमोबेश स्थिति वही है यानी साहित्यकार जनता को या तो प्रताप, शिवाजी और रानी लक्ष्मीबाई की याद दिला-दिलाकर तलवारें सूँतने की प्रेरणा दे रहा है या अपनी शांतिप्रियता का हवाला देकर आक्रमणकारी की बर्बरता और विश्वासघात को गालियाँ सुना रहा है। जैसा कि मैंने पहले कहा, ये सच है कि एक अवधि तक इनका कोई महत्त्व होता है। उदाहरण के लिए, यदि हमारी सीमाओं पर युद्ध चलता रहता तो शायद इन नारों-भरे साहित्य की आवश्यकता भी बढ़ती रहती, क्योंकि ऐसा साहित्य और चाहे साहित्य की श्रीवृद्धि न करे मगर इतना तो करता है कि वह उत्तेजना और आवेशग्रस्त जनमत के शौर्य को उद्दीप्त करके उसे तात्कालिक स्थिति का सामना करने योग्य बनाता है, उसे बलिदान और उत्सर्ग की भावना से पूर्ण करता है और उस अवधि विशेष के भीतर प्राणों में संचित ज्वाला को चतुर्दिक फैलाकर राष्ट्र-सेवा और राष्ट्र-रक्षा के लिए उत्प्रेरणा देता है, किंतु केवल उसी सीमित अवधि तक। उसके बाद भावुकता का यह ज्वार उतर जाने पर 'हिमालय हमारा है, ये देश हमारा है, ये हमारी पवित्र धरती है, हम इस पर अपनी जान कुर्बान कर देंगे और हम ख़ून की गंगा बहा देंगे' आदि नारों का कोई अर्थ नहीं रह जाता, बावजूद इसके कि वे कविता की तुकों में चाहे कितने ही फिट क्यों न बैठते हों। ज़ाहिर है कि अत्यधिक भावुकता किसी राष्ट्र की शक्ति नहीं,

कमज़ोरी ही होती है। इसलिए बेहतर हो कि 'हिमालय हमारा है' जैसी बातें, जिन्हें यों ही हर व्यक्ति जानता-समझता और महसूस करता है, हम राजनीतिज्ञों के लिए छोड़कर आधारभूत प्रश्नों का मनन करें। ऐसे प्रश्न जो किसी राष्ट्र के चरित्र का निर्माण करते हैं और न केवल वर्तमान बल्कि भविष्य के भी सारे आसन्न संकटों का सामना करने योग्य बनाते हैं।

आज जबकि अल्पकाल के ही लिए सही, युद्ध रुक गया है और हमारा राष्ट्र सीमा-रक्षा और संभावित आक्रमण को रोकने की तैयारियों में लगा है, साहित्य और साहित्यकार का दायित्व भी बॅट जाता है। उसको अब जनता के हिमालय की भौगोलिक स्थिति नहीं समझानी है ओर न अपनी शांतिप्रियता और अतीव राग अलापना है, बल्कि एक ऐसे जीवन-दर्शन की स्थापना करनी है जिसमे म्वतत्रता ओर मानवीय मूल्यों के सरक्षण की ललक हो, जिसमें राष्ट्रीय एकता के साथ ही विश्व-बंधुत्व ओर शांति के साथ आत्माभिमान की रक्षा का वोध भी हो। मगर ऐसा दर्शन परिस्थिति के सत्य को पचाकर अनुभूत सत्य वनाने से ही प्राप्त हो सकता है। तभी जनता में वह अविचल ओर अडिग आत्मविश्वास पेदा होगा जो विपम से विपम परिस्थितियो में भी उसे अपनी विजय के प्रति अनाश्वस्त न होने दे।

इस सदर्भ में मुझे चर्चिल का वह ऐतिहासिक भापण याद आता है जिसमें उन्होंने कहा था, "हमारा लदन चाहे राख का ढेर या खॅडहर रह जाए, हमें मजूर है, किंतु लदनवासी चुपचाप पराधीनता स्वीकार कर लें, यह हमे हरगिज़-हरगिज़ मजूर नहीं।" इसी भापण मे आगे चलकर उन्होने कहा था, "हमारे सेनिको में पराक्रम की कमी नहीं, हमारे पास शस्त्रो की कमी नही, हमारी जनता मे सकल्प की कमी नही, तो में कोई वजह नही देख पाता जिसके कारण हमारी विजय न हो।" निश्चय ही गहरा आत्मविश्वास झलकता हे इन शब्दो मे।

ओर निश्चय ही चर्चिल के य उदगार ऐतिहासिक महत्त्व रखते हें। मगर क्या ये केवल अकेले प्रधानमंत्री चर्चिल के उद्‌गार थे ? क्या ये इग्लेड की उस सारी जनता के उद्‌गार नहीं थे जिसने भयंकर सकट के समय भी अपने ओसान क़ायम रखे और क्या जनता में इस तरह की स्फूर्ति ओर मनोबल पैदा करने मे वहॉ के साहित्य का हाथ नहीं रहा ? अंग्रेज़ी साहित्य के विद्यार्थी जानते हैं कि अग्रेज़ी साहित्यकारों की परंपरा केवल साहित्य-सृजन तक सीमित नहीं रही बल्कि आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने स्वयं राइफ़लें और बंदूकें सँभालकर दुश्मन का मुक़ाबला भी किया है। यहाँ तक कि लॉर्ड बायरन और रूपर्ट ब्रुक जैसे प्रतिभाशाली कवियों की तो मृत्यु भी युद्ध के मैदान में हुई थी।

कहने का तात्पर्य यह है कि आज अपने दायित्वों के विश्लेपण का और यह सोचने का समय आ गया है कि अगर साहित्य को संकट का सामना करने योग्य बनाना

है तो साहित्यकार को एक जीवन-दर्शन अपनाना पड़ेगा, और वह जीवन-दर्शन घृणा और युद्ध-प्रचार का न होकर ऐसे शाश्वत मूल्यों का होगा जिसमें शक्ति होगी, पर दया-रहित नहीं, अहिंसा होगी पर साहस-शून्य नहीं, प्रेम और विश्व-बंधुत्व होगा पर परावलंबन नहीं।

ऐसा साहित्य बिसरती-छितराती जनशक्ति को एक सूत्र में बाँधकर दिशा देने वाला तो होगा ही, साथ ही स्थायी भी होगा।

(1963)

नई कहानी के त्रिकोण पर एक टेढ़ी नज़र

"पाजी, ज़लील···" लेकिन ठहरिए। लेख शुरू करने से पहले मैं पाठकों से ऐसे अशिष्ट प्रारंभ की क्षमा चाहती हूँ। शायद ऐसा करने के लिए मैं विवश हूँ। क्योंकि इस स्तर पर आए बिना, न तो उस कहानीकार का अंतरंग चित्र ही उभर सकता है और न मेरी बात ही आप तक पहुँच सकती है।

हाँ, मैं यह निवेदन करना चाहती हूँ कि ये गालियाँ मेरी नहीं हैं। ये तो प्रसिद्ध कहानीकार श्री राजेन्द्र यादव के एक पत्र का अंश हैं, जो उन्होंने कुछ समय पूर्व मेरे पति श्री दुष्यन्त कुमार को उनकी एक कविता पर लिखा था। मैंने तो सिर्फ़ उक्त पत्र से कुछ साधारण-सी गालियाँ उद्धृत भर की हैं। वैसे आप उस पत्र को पूरा पढ़ना चाहें तो इसी सिलसिले में दस ऐसी गालियों की और कल्पना कर लें जो पोस्टकार्ड पर लिखी जा सकती हैं और आगे इस प्रकार पढ़ें, '···गधे, तू नहीं जानता कि तूने कैसी कविता लिखी है। मेरा दिमाग़ घंटों भन्नाता रहा, सारी नींद हराम हो गई।'

अब आप समझे कि वास्तव में राजेन्द्र की ये गालियाँ अपनी जगह गालियाँ होकर भी, प्रशंसा की अभिव्यक्ति का कैसा नया ढंग हैं। मेरे पति को उस कविता पर और भी पत्र मिले थे, पर जितने प्रसन्न ये राजेन्द्र यादव के इस पत्र को पढ़कर हुए उतने शायद किसी पूरे लेख को पढ़कर भी न होते। और इसी से उस दिन पहली बार मुझे लगा कि राजेन्द्र के कहानीकार की मुख्य विशेपता भी अभिव्यक्ति की यही नवीनता है। अभिव्यक्ति की यही छटपटाहट उन्हें शिल्प के नए-नए स्तरों पर ले जाती है और वे अपनी बात को एक बिलकुल नए अंदाज़ और नए तरीके से कहने की कोशिश करते हैं।

मैं समीक्षक नहीं हूँ—पर मेरा ख़याल है कि शिल्प के इस मोह में ख़तरे भी बहुत हैं। सबसे पहला तो यही कि साधारण पाठक अकसर अभिव्यक्ति के जाल में उलझकर उसे ही महत्त्व दे बैठता है और कहानी के मूल बिंदु तक नहीं पहुँच पाता। परिणामस्वरूप किस तरह अभिव्यक्ति का वैशिष्ट्य सामान्य लोगों की नज़र में प्रभावहीन होकर रह जाता है, इसका एक उदाहरण मैं उनके दूसरे पत्र से देना चाहूँगी।

बात इन्हीं गर्मियों की है। मेरे पति ने राजेन्द्र को लिखा कि मैं गाँव जा रहा हूँ और दो-एक महीने वहाँ रहूँगा। मगर संयोगवश ये जल्दी ही वहाँ से लौट आए। इसी बीच राजेन्द्र यादव बंबई गए और लौटते हुए इधर से गुज़रे और आगरा होते हुए दिल्ली

चले गए। इन्हें मालूम हुआ कि राजेन्द्र इधर से गुज़रे थे तो इन्होंने ख़ूब डाँटकर उन्हें ख़त लिखा कि 'बंबई से लौटते हुए तुम्हें मुझसे मिलते हुए जाना चाहिए था।'

काफ़ी दिन गुज़र गए। इसी बीच गाँव से मेरी सास यानी इनकी माताजी भी आ गईं और उस पत्र की बात हम लोग एक तरह से बिलकुल भूल गए। तभी एक दिन सुबह देखती क्या हूँ कि थरथराती-काँपती हुई-सी माताजी एक पोस्टकार्ड हाथ में लिए बाहर से आ रही हैं। यहाँ एक बात मैं बता दूँ कि अपने कई युवा पुत्रों की मृत्यु के कारण उनका हृदय बहुत कमज़ोर हो गया है। ज़रा-सी भी उत्तेजना से उन्हें स्नायुविक दौरा पड़ जाता है। अतः उनकी ऐसी स्थिति देखते ही मैं उनकी ओर लपकी और उन्हें सोफ़े पर बैटाकर उनकी इस अवस्था का कारण पूछने लगी। अधिक घबराहट के कारण वे कुछ ज़्यादा तो बोल न पाई, फिर भी कार्ड मेरे हाथ में थमाते हुए बोलीं, "किसी जलगए ने दुष्यंत को जान से मार डालने की धमकी दी है।" मैंने हाथ में कार्ड लेते ही राजेन्द्र जी की हस्तलिपि पहचान ली और खिलखिलाकर हँस पड़ी। फिर उन्हें सारी स्थिति समझाई। घबराहट के मारे वे पूरा ख़त भी नहीं पढ़ पाई थीं। लिखा था—'प्रिय दुष्यन्त, तू इत्ता ज़लील होगा इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। यों तेरी मक्कारियों से मैं काफ़ी परिचित हूँ पर इस बार तूने जो हरकत की उससे तो मन होता है कि तेरा वध कर डालूँ। पर राज भाभी और दैत्य-शावकों के ख़याल से रुक जाता हूँ। फिर भी तेरे प्राण लिए वग़ैर मैं मानूँगा नहीं, यह मेरा ध्रुव संकल्प है।' और यह आक्रोश इस बात पर था—'जब तू भोपाल आ गया था तो तूने मुझे लिखा क्यों नहीं ?' और हमारी माताजी पत्र के अभिधार्थ में उलझकर ही घवरा गई थीं।

वास्तव में 'तू' राजेन्द्र जी को प्रिय है। मुझे याद नहीं कि 'तुम' करके उन्होंने कोई पत्र इन्हें लिखा हो। 'अवे' और 'साला' या फिर 'क्यों बे' उनके अन्य प्रिय शव्द हैं, जिन्हें वे अपने आत्मीय लोगों पर फिट कर देते हैं। मेरे वड़े लड़के आलोक को वे हमेशा दैत्य-शावक लिखते हैं क्योंकि जब यह छोटा था तब राजेन्द्र जी को हमेशा 'लुच्चे ताऊजी' कहा करता था। अभी राजेन्द्र जी की नई किताब आई तो आलोक ने इनसे पूछा, "पापा, किसकी किताब है ?" इन्होंने बड़े सहज भाव से जवाब दिया, "तुम्हारे लुच्चे ताऊजी की।" और आलोक समझदारी से गरदन हिलाकर चला गया।

अभी उस दिन मेरी एक मित्र आई और इनसे राजेन्द्र यादव का कोई कहानी-संग्रह पढ़ने के लिए माँग बैठीं। ये उठकर अलमारी के पास गए और काफ़ी देर तक वहीं खड़े किताबें ऊपर-नीचे करते रहे। मुझे बड़ा बुरा लगा। भई, देनी है तो किताब दे-दिलाकर अलग करो, यह क्या कि बार-बार कोई संग्रह निकालते हैं, पढ़ते हैं और फिर किताबों में ठूँस देते हैं। आख़िर सहेली ने ही कहा, "अगर न हो तो रहने दीजिए, कोई बात नहीं।"

मुझे भी बुरा लगा। एक तरफ़ तो डींग हाँकते हैं कि हमारे यहाँ हिंदी के हर आधुनिक कहानीकार का संग्रह है और फिर कोई माँगता है तो ऐसा दिखाते हैं जैसे हो ही नहीं। आख़िर मैंने भी झुँझलाकर कहा, "कोई संग्रह दे क्यों नहीं देते जी ! राजेन्द्र जी के तो सारे संग्रह हैं।"

अब ये भी झुँझला उठे, बोले, "तुम भी अजीब हो। जानती तो हो कि उसने कोई संग्रह ऐसा रखा ही नहीं कि किसी शरीफ़ आदमी को पढ़ने के लिए दिया जा सके।" मगर मैं झुंझलाहट के कारण इनकी बात नहीं समझ पाई और मैंने स्वयं 'अभिमन्यु की आत्महत्या' नामक कहानी-संग्रह निकालकर स्वर्णा को दे दिया। उन्होंने प्रसन्न होकर कवर-पृष्ठ उलटा और आगे बढ़ने ही वाली थीं कि उनकी निगाह में राजेन्द्र यादव द्वारा भेंट-स्वरूप लिखे गए ये शब्द अटक गए—

दुष्ट-शिरोमणि, धर्मध्वंसक कविता-कसाई, आलोचक-अंगार, समीक्षा-सिल आदि-आदि सर्वश्री विभूषित पं० दुष्यन्त कुमार त्यागी जी को अनेकानेक आशीर्वादों सहित पूज्य राजेन्द्र यादव की ओर से *21-5-59*

मेरी मित्र पढ़कर मुस्कराई। ये झेंपकर स्पष्टीकरण देने लगे, "बात यह है कि वह बहुत जलील है।" जलील है, यानी बहुत दोस्त है। और मैंने स्थिति से आनंद उठाते हुए कहा, "भई, यह क्या ऊल-जलूल लिख देते हैं आपके दोस्त लोग ! अब से आप ख़ुद लिखकर दस्तख़त करा लिया करो।"

"जी हॉ, मैं कितावें लेने लेखकों के पास जाया करूँगा और उनसे कहूँगा, भई ज़रा मीठा-मीठा लिखना," इन्होंने कहा और मुझे हँसी आ गई। हुआ यह कि कमलेश्वर जी के साथ अभी कुछ दिन हुए इन्होंने यह अक्लमंदी भी आज़मा ली थी। उनकी तभी प्रकाशित एक पुस्तक पर इन्होंने लिखा—'आदरणीय बड़े भाई, कविवर श्री दुष्यन्त कुमार को—और कमलेश्वर जी से नीचे दस्तख़त करने को कहा। कमलेश्वर जी ने बड़े सहज भाव से क़लम उठाई और आगे लिखा—'पच्चीस जूतों और पचास गालियों के साथ।' और फिर इसी पुस्तक की एक प्रति अलग से मेरे नाम लिखकर भी दी (ग़नीमत कि उसमें यह सब कुछ नहीं लिखा)।

जब ये दिल्ली में थे तो मैं भी एकाध महीने के लिए इनके पास गई थी। वहीं पहली बार राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश को देखा। इन तीनों की नियमित बैठकें जमती थीं। राकेश जी के सिर्फ़ ठहाके मुझे याद हैं। वे हँसते तो मुझे अपने कमरे की छत की और उस सोफ़े के बेंत या खाट की पाटी की फ़िक्र होने लगती थी जिस पर वे बैठे होते। और मैं भगवान् से मनाती कि ये जल्दी से चाय का प्याला मुँह से लगा लें, और नहीं तो कोई सिगरेट ही सुलगा लें। पर सिगरेट सुलगाना क्या इतना आसान था ?

सिगरेट सुलगाएँगे और दोनों सुलगाएँगे, पर सिगरेट राजेन्द्र यादव की होनी चाहिए। राकेश जी और ये हमेशा एक समझौता-सा करके राजेन्द्र जी को सताया करते, जिससे मुझे हमेशा कोफ़्त होती थी। राकेश जी आते और धीरे से कहते, "चल यार दुष्यन्त, अब उसे बोर करेंगे।" और ये लोग राजेन्द्र जी को छेड़ने चले जाते। मेरी दृष्टि में राजेन्द्र जी का गंभीर-गंभीर-सा मुँह तैरता रह जाता।

राजेन्द्र जी की एक आदत है कि उनके लिखने में जितनी तेज़ी है, उतनी बोलने में नहीं रहती। बातचीत में शायद वे ज़्यादा 'कॉन्शस' हो जाते हैं। इसलिए वे जब तक सहज न हो जाएँ तब तक असली राजेन्द्र को खोज पाना बड़ा मुश्किल है। उनका चश्मा उनकी गंभीरता को और बढ़ा देता है और उन्हें खोजने के लिए काफ़ी परिश्रम और निकट अध्ययन की ज़रूरत होती है। और मुझे लगता है, यही बात उनकी कहानियों पर भी लागू होती है। वे भी बहुत आत्मीय और गंभीर अध्ययन माँगती हैं, और उचटती-सी निगाह डालकर राजेन्द्र की कहानियों का मर्म समझना भी उतना ही कठिन है। कुछ लोग राजेन्द्र पर यह इलज़ाम लगाते हैं कि पाठक को 'शॉक' देते हैं। मैं कुछ हद तक इस बात से सहमत हूँ। पर मेरा ख़याल है कि 'शॉक' वे वहीं देते हैं जहाँ कथ्य की गंभीरता पाठक पर बोझ की तरह आ पड़ी हो और वे पाठक को 'रिलीफ़' देना चाहते हों। उदाहरण के लिए, 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' की शुरुआत थोड़ी 'शॉकिंग' और झटके वाली है, मगर शायद इसलिए है कि उसका कथ्य बहुत तीखा और मार्मिक है।

इस सिलसिले में राजेन्द्र जी के एक अन्य पत्र का उदाहरण देकर अपनी बात ख़त्म करना चाहूँगी। लगभग चार वर्ष पूर्व उनका एक पत्र आया था। उसमें उन्होंने बहुत सारी अपनी निजी परेशानियाँ विस्तार से लिखी थीं। पढ़ते-पढ़ते मैं और मेरे पति दोनों उदास होते गए, पर 'रिलीफ़' के लिए लिखी अंत की एक पंक्ति पर पहुँचकर हमें बेसाख़्ता हँसी आ गई और हम दोनों देर तक हँसते रहे। लिखा था—'राज भाभी को नमस्ते, दैत्य-शावकों को प्यार। देख, तू बहुत भुलक्कड़ आदमी है, कहीं क्रम मत बदल देना।'

('धर्मयुग', मार्च, 1964)

कथा-दशक और हिंदी कहानी की दरारें

पिछले पाँच वर्षों में हिंदी कहानी को लेकर ख़ूब चर्चा हुई। ऐसा वातावरण तैयार होता गया जैसे कहानी के अतिरिक्त साहित्य की किसी और विधा में प्राणवत्ता ही न रह गई हो। कहानी के बारे में बातें करना और फ़तवे देना साहित्यिक फ़ैशन हो चला। और ठीक इसी समय 'धर्मयुग' ने इस कथा-दशक की आयोजना करके अपनी जागरूकता का प्रमाण दिया।

मुझ पर, व्यक्तिगत रूप से, इस कथा-दशक की जो प्रतिक्रिया हुई, वह लगभग वैसी ही थी, जैसी राष्ट्रीय स्तर पर किसी विराट् निर्माण-कार्य अथवा परियोजना के प्रारंभ में किए जाने पर होती है। हम कल्पना करते हैं कि एक बहुत बड़ा बाँध बन रहा है, एक विशाल क्षेत्र-विशेष उससे लाभान्वित होगा, जनता आश्वस्त होगी कि देश प्रगति कर रहा है। लेकिन थोड़े दिन बाद, जैसा कि बाँधों के बारे में अकसर सुनने को मिलता है, वैसा ही कुछ इस कथा-दशक के साथ भी हुआ कि इसमें भी दरारें पड़ने लगीं।

राष्ट्रीय स्तर पर कोई परियोजना विफल होती है तो उसके आयोजक तथा नेतागण प्रायः चिंतामग्न हो जाते हैं। मुझे मालूम नहीं कि 'धर्मयुग' के संपादक को, अपनी कथा-दशक-योजना की ये दरारें कब दिखाई दीं (या नहीं दीं), लेकिन मुझे इन दरारों की पहली झलक अमरकान्त की कहानी में दिखाई दी, जिन्हें डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के आत्मकथ्य ने ख़ूब चौड़ा कर दिया। सरजू तट का पपीहा...आत्मकथ्य की दृष्टि से न केवल कमज़ोर था बल्कि उससे सुरुचिहीनता का बोध होता था। उसे पढ़कर कुछ ऐसा लगा, जैसे लेखक आज के पाठक के कहानी संबंधी दृष्टिकोण को बीस साल पीछे खींच ले जाना चाहता है। और इस पर मुहर लगा दी उनकी कहानी 'थाना बेलूरगंज' ने—जो रोचक होते हुए भी स्वातंत्र्य-पूर्व कहानियों के रचना-विधान की याद दिलाती है।

हाँ, मन्नू भंडारी के आत्मकथ्य और कहानी में जो सहजता और निश्छलता थी, वह एक अच्छी शुरुआत थी, जिसने अगले कहानीकारों के लिए वैयक्तिक और साहित्यिक धरातल पर बोलने लायक मंच की नींव डाली। उधर निर्मल वर्मा के आत्मकथ्य ने, आत्मकथ्य की वैयक्तिक निजता को वैचारिक निजता की दिशा देकर, एक दूसरी संभावना का द्वार खोला, जिसके रास्ते पश्चिम की ओर खुलते दिखाई दिए।

किंतु उनके वक्तव्य में आधुनिकता का आरोप न होकर, उसका सच्चा स्फुरण था, जिसकी पुष्टि उनकी कहानी ने की।

निर्मल का आधुनिकता-बोध या अमरकान्त की सादगी में घुला हुआ व्यंग्य आधुनिक हिंदी कहानी के दो सिरे हैं। आधुनिक चेतना, दो भिन्न भाव-भूमियों पर दोनों में है। निर्मल में तराशी हुई और अमरकान्त में सहज प्राकृतिक रूप में, परंतु दोनों की अंतर्धारा का उत्स एक है। आज हिंदी कहानी में अपने और अपने समय के प्रति प्रतिश्रुत होने की घोषणाएँ आम हो गई हैं। पर वस्तुतः इसका सबसे सशक्त और वास्तविक प्रतिनिधित्व अमरकान्त करते हैं। उनके आत्मकथ्य से लगता है कि शायद इतनी ईमानदारी से अपने बारे में कोई दूसरा नया कहानीकार लिख ही नहीं सकता था! यह मात्र संयोग है या उनके अपने फ़ैसले की चूक कि उसी मास 'नई कहानियाँ' में प्रकाशित उनकी कहानी 'एक असमर्थ हिलता हाथ' की तुलना में उनकी 'धर्मयुग' वाली कहानी कहीं नहीं ठहरती। वैसे ठीक यही बात रमेश बक्षी की कहानी को लेकर भी कही जा सकी है जिनकी 'एक और आत्महत्या' कहीं बेहतर कहानी थी। फिर भी उनकी 'धर्मयुग' वाली कहानी इस दृष्टि से पठनीय अवश्य है कि उसमें शिल्प के स्तर पर कुछ बारीक़ प्रयोग किए गए हैं। प्रयोग बक्षी की विवशता भी है और स्वभाव भी। विशिष्ट अंदाज़ में बात करने की कोशिश उनकी कहानी में ही नहीं, उनके आत्मकथ्य में भी थी। शायद सबसे अधिक साहित्यिक आत्मकथ्य बक्षी का ही रहा, जिसमें उन्होंने हर स्तर पर, निजत्व की रक्षा करते हुए अपने दुहरे व्यक्तित्व का विश्लेषण किया।

यद्यपि जैसा कि मैंने पहले कहा—डॉ० लाल के बाद से कथा-दशक की दरारें बढ़ती ही गईं और उसकी सीमाएँ स्पष्ट नज़र आने लगीं, फिर भी 'धर्मयुग' के हर अंक का सबसे बड़ा आकर्षण कथा-दशक ही रहा। एक टूटती-सी आस ये भी थी कि अभी नई कहानी के कई दिग्गज बाक़ी हैं। सचमुच हरिशंकर परसाई के आत्मकथ्य ने अथवा उसकी दो टूक सहजता और खरी-तीखी अभिव्यक्ति ने उनकी कहानी के लिए मन में उत्सुकता पैदा कर दी। लेकिन कहानी के नाम पर, अफ़सोस कि वे भी एक छोटा-सा चुटकुला लेकर ही अवतरित हुए। उषा प्रियंवदा की कहानी शुद्ध कहानी की दृष्टि से ज़रूर एक सफल कहानी थी, लेकिन उसी से मिलती-जुलती भावभूमि पर उनकी और कई सफल कहानियाँ पढ़ चुकने के कारण मैं उसमें कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं ले सका।

इस कथा-दशक को पढ़ते हुए मेरे दिमाग़ में, जाने क्यों, भैरवप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'कहानी' का वह विशेषांक बराबर बना रहा जिसमें अमरकान्त, कमलेश्वर, रांगेय राघव, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, विष्णु प्रभाकर आदि नए-पुराने लेखकों की एक से एक सफल कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं। शायद मैं कथा-दशक जैसी योजना से ऐसी ही किसी कहानी की आशा कर रहा था, पर मुझे निराश होना पड़ा।

राजेन्द्र यादव के आत्मकथ्य का अंक मैंने जिस झपाटे में उठाकर पढ़ा था वह एक सामान्य पाठक की व्यग्रता थी। परंतु आत्मकथ्य पढ़कर मैं चौंक उठा। आश्चर्य हुआ कि कोई पढ़ा-लिखा प्रबुद्ध लेखक भी आत्मकथ्य के नाम पर इस तरह की बचकानी बातें लिख सकता है ! शायद इसी का दुष्परिणाम यह हुआ कि तब तक प्रकाशित कहानियों में श्रेष्ठ होते हुए भी उनकी कहानी बहुत चर्चित नहीं हुई। शैलेश मटियानी ने अवश्य आत्मकथ्य और कहानी, दोनों स्तरों पर, इस कथा-दशक के ढहते हुए भवन को सँभालने की कोशिश की। लेकिन अपनी अनुभूति की सच्चाई के बावजूद, भाषा की लाचारी के कारण वे अधिक से अधिक कथा-दशक के पाठक की स्मृति में रहने योग्य स्थान बना पाए, जबकि अधिकांश इतना भी नहीं कर सके।

कथा-दशक का सबसे दर्दनाक पहलू यही है कि इसके अधिकांश लेखकों की रचनाएँ बिना कोई विशिष्ट प्रभाव छोड़े सामने से गुज़र गई। कुछ लेखकों में आत्मकथ्य के स्तर पर आश्वासन था, लेकिन उनकी कहानियाँ उसे पूरा नहीं कर सकीं। सर्वेश्वर और मार्कण्डेय इसके उदाहरण हैं। सर्वेश्वर ने आत्मकथ्य के वाक्यों की गठन सँभालने-बैठाने के फेर में उसकी सहजता को थोड़ा कम भले कर दिया हो, पर वह रोचकता और लेखकीय ईमानदारी से भरपूर था। मार्कण्डेय का आत्मकथ्य आशाजनक से कम साधारण था : पर कहानी उससे भी साधारण। मुझे यह साधारणता इसलिए और अखरी कि मार्कण्डेय से कम से कम एक स्तर-निर्वाह की आशा की जाती है।

आशा के एकदम विपरीत एक दूसरे व्यंग्यकार के 'आत्मकथ्य' को पढ़कर लगा कि जो निरीहता और दयनीयता तक जा पहुँचे, इतनी विनम्रता भी किस काम की ? मे नहीं समझता कि कोई भी सरकार इतनी शक्ति प्राप्त हो सकती है कि वह लेखक के लिखने पर प्रतिबंध लगा दे या कोई भी लेखक इतना कमज़ोर हो सकता है कि वह ऐसा प्रतिबंध स्वीकार करके लिखना छोड़ बैठे। लिखना न लिखना क्या लेखक की अपनी आंतरिक विवशता का प्रश्न नहीं है ?

कमलेश्वर के आत्मकथ्य का पहला वाक्य 'मृत्यु मेरे व्यक्ति की नियति है, विचारों की नहीं', इस संदर्भ में कितना महत्त्वपूर्ण बैठता है। यद्यपि आत्मकथ्य के संदर्भ में वह केवल वाक्य है, जो चमत्कार उत्पन्न करने के लिए लिखा गया है। लगता है—कमलेश्वर का पूरा आत्मकथ्य जैसे शाब्दिक कलाबाज़ी है—प्राणशून्य और अनुभूतिरहित। निजत्व और निश्छलता के अभाव को भरने के लिए कुछ ऐसा ही प्रयत्न राकेश ने किया है, जिसकी बौद्धिकता आरोपित और आक्रांत करने का प्रयत्न-भर प्रतीत होती है। साधारण बातों को असाधारण ढंग से कहना वैसा ही है, जैसे बच्चे को खिलौने के बजाय मिठाई देकर बहलाने की कोशिश।

राकेश और कमलेश्वर की कहानियों में पाठक को इनके आत्मकथ्य और इनकी

'ज़ख़्म' तथा 'ऊपर उठता हुआ मकान' (जो साधारणतया अच्छी कहानियाँ हैं) जैसी कहानियाँ पढ़कर इनकी वे दर्जनों अच्छी कहानियाँ याद आए बिना नहीं रहतीं जो इन्होंने तब लिखी थीं जब इन्हें नई कहानी की मसीहाई नहीं मिली थी। अब दोनो फूँक-फूँककर लिखते-बोलते हैं। पहले इन्हें सिर्फ़ अपने बारे में बोलना होता था, अब नई कहानी के बारे में भी बोलना पड़ता है।

नई कहानी और ख़ास तौर पर राकेश और कमलेश्वर के ख़िलाफ़ कुछ लिखने का मतलब आजकल प्रायः यह लगाया जाता है कि टिप्पणीकार सचेतन धारा का है। इसलिए यह सफ़ाई ज़रूरी है कि मैं क़तई सचेतन नहीं हूँ। मेरी मान्यता तो यह है कि हिंदी कहानी में सचेतन-धारा कुछ लेखकों के इसी कथा-दशक में न आ पाने की पीड़ा से उपजी है। कथा-दशक की योजना बहुत महत्त्वाकांक्षी योजना थी, जिसके नियोजन और क्रियान्वयन में पूरी सूझ-बूझ और दूरदर्शिता से काम लिया गया। अतः कुछ असंतुष्ट लेखकों को एक नया कहानी मंच ज़रूरी लगा, जिसकी सरपरस्ती के लिए कुछ दुखी बुजुर्गों ने अपने नाम दे दिए।

खुशी इस बात की है कि कथा-दशक में चर्चाओं और विवादों से हटे हुए कुछ लेखकों ने ठोस योग दिया। रेणु और शानी आत्मकथ्य और कहानी दोनों स्तरों पर प्रभावशाली और खरे उतरे। रेणु के आत्मकथ्य की सादगी-भरी आत्म-स्वीकृति रेणु के व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि का परिचय देती है। इसी प्रकार कहानी, उनकी अपनी कहानियों में अत्यंत विशिष्ट न होते हुए भी, कथा-दशक में प्रकाशित तीन-चार महत्त्वपूर्ण कहानियों में से एक है।

शानी की कहानी मुझे इसलिए अधिक पसंद आई कि वह न केवल कथा-दशक की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से है, बल्कि खुद शानी की कहानियों में भी शायद सबसे अच्छी और सबसे अलग है। इस कहानी में उन्होंने अपने लिए एक दूसरी ज़मीन तोड़ी है और मध्यवर्गीय संस्कारों की भावभूमि पर बिलकुल आधुनिक प्रयोग किया है। इस बदलती हुई चेतना की झलक उनके आत्मकथ्य में मिलती है, जिसमें लिखने और न लिख पाने की विवशता के बीच झूलता हुआ उनका लेखक नई संभावनाओं और दिशाओं की खोज में व्यग्र दीखता है।

कथा-दशक की उपलब्धियों के नाम पर शानी, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, शैलेश मटियानी और रेणु की कहानियाँ तथा रमेश बक्षी, सर्वेश्वर, अमरकान्त, मन्नू भंडारी, शानी और शैलेश मटियानी के आत्मकथ्य मेरी स्मृति में आते हैं। पढ़ने योग्य कहानियाँ और भी हैं : मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, राकेश और उषा प्रियंवदा की तथा आत्मकथ्य भी कई हैं जो पढ़े जा सकते हैं, लेकिन कहानीकारों की इतनी लंबी सूची में यह संख्या नगण्य है। कायदे के साथ अब कहानीकारों को सोचना चाहिए कि कहानी के झंडे

उठाने से उन्हें क्या हासिल हुआ ?

जहाँ तक कथा-दशक की योजना का संबधं है, वह अपनी जगह सफल रही। यद्यपि चंद अच्छे वक्तव्यों को छोड़ एक भी अविस्मरणीय कहानी वह नहीं दे पाई, किंतु हिंदी नई कहानी के वैविध्य और उसमें कथ्य तथा शिल्प के स्तर पर किए जा रहे प्रयोगों का समर्थ संकेत वह अवश्य दे सकी। इसके लिए 'धर्मयुग' बधाई का हक़दार है।

('धर्मयुग', 10 जनवरी, 1965)

बच्चन : दो पीढ़ियों के बीच एक सेतु

'दो चट्टानें' नाम से बच्चन जी का एक नया कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। उसमें 'दो चट्टानें अथवा सिसिफस बरक्स हनुमान' शीर्षक एक लंबी कविता भी अंत में संकलित है। शीर्षक की सपाट अभिव्यंजना की उपेक्षा कर यदि कविता पढ़ ली जाए तो मन में कहीं बहुत गहरे, सोचने के ऐसे अनेक धरातल उभरते हैं, जो कवि, कविता और आधुनिक जीवन से संबंधित कुछ मूलभूत प्रश्नों पर नए सिरे से विचार करने की माँग करते हैं।

सबसे पहला प्रश्न स्वयं कवि के बारे में उठता है। बच्चन का काव्य-पथ अंतर्मुखी एकांत यात्राओं से लेकर, सामयिक, सामाजिक तथा सामूहिक लोक-यात्राओं तक विभिन्न अनुभवों का साक्षी रहा है। बच्चन के विकास में रुचि रखने वाले पाठकों ने अपने कवि में निरंतर विकसित होती हुई राजनीतिक और सामाजिक चेतना की अनेक दिशाएँ देखी हैं। हो सकता है उनमें से कुछ को रोमानी और व्यक्तिवादी कवि की यह अनपेक्षित परिणति, थोड़ी अटपटी या अकाव्यात्मक लगी हो और उन्हें अपने कवि के परिवर्तन पर खीज भी हुई हो या कि स्वयं कवि को अपने बहुत-से पाठकों से हाथ धोना पड़ा हो। पर बच्चन के मामले में परिवर्तन की यह प्रक्रिया वस्तुतः एक ऐतिहासिक अनिवार्यता की देन है, जिससे कवि इच्छा रखते हुए भी कन्नी नहीं काट सकता था।

बच्चन जी का व्यक्तित्व एक जागरूक और प्रबुद्ध नागरिक का व्यक्तित्व है। इस नाते वे एक ओर जहाँ देश और विश्व की समसामयिक विचारधाराओं के संपर्क में हैं, वहीं देश की आंतरिक विचारधारा और हिंदी साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों से भी उनका एक मननशील पाठक का संबंध है। इसलिए इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जीवन के उतार-पंथ पर चलने वाला कवि चिंतन के स्तर पर जवान क्यों होता जा रहा है ? क्यों 'दो चट्टानें' की कविताओं में सर्वाधिक प्रभावशील चेतना राजनीतिक है और क्यों राजनीति के प्रति कवि का दृष्टिकोण अब उतनी निस्पृहता का नहीं है, जितना पहले था।

दरअसल बच्चन या कोई भी कवि जब तक आधुनिक जीवन के दबावों को झेलना बंद नहीं कर देता, जब तक उसकी संवेदनशीलता रुद्ध नहीं हो जाती, तब तक वह वर्तमान की नियति को नकार नहीं सकता। बच्चन भी आधुनिक जीवन को, उसकी

विसंगतियों और संपूर्ण दबावों के साथ जीने के लिए अभिशप्त हैं। इस संग्रह की अंतिम कविता पढ़ते समय मुझे लगा कि बच्चन के काव्य-व्यक्तित्व में अब तक जितने भी परिवर्तन हुए हैं, उनमें शायद सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का दौर यह है, जिससे वे अब गुज़र रहे हैं। यह दौर उनके लिए जैसे पुनर्नवीकरण का दौर है, जिससे हर जागरूक रचनाकार को आमने-सामने होना पड़ता है। किसी न किसी अवस्था पर हर रचनाकार को अपनी परंपरा-प्रियता और नई युग-चेतना के बीच उठ आए संघर्ष के दुर्निवार संकट को झेलना पड़ता है और उन निर्णायक क्षणों से गुज़रना पड़ता है जिनमें रचनाधर्मी बने रहने या उस दायित्व से मुक्त हो जाने के संकल्प निहित होते हैं। सौभाग्य से बच्चन जी ने ईमानदारी का रास्ता चुना। उन्होंने अतीत के तमगे लटकाकर आत्मगौरवान्वित होने की लालसा छोड़ दी और अपनी पुरानी काव्यधाराओं पर क़ायम रहते हुए भी अपने आपको नई विचारधाराओं से जोड़ लिया। नई भावधाराओं से ईमानदारी के साथ अनायास जुड़ जाने की यह प्रक्रिया उन्हें काफ़ी महँगी पड़ी और परिणामस्वरूप इस दौर में प्रकाशित उनका काव्य अधिकांशतः प्रतिक्रियात्मक रहा। उसमे एक अजीब क़िस्म की वर्णसंकरता दीखती है जो इस सच्चाई की द्योतक है कि कोई भी काव्य-सृजन या तो नया हो सकता है या पुराना, वह एक साथ नया और पुराना—दोनो नही हो सकता। या हो सकता है तो वह सफल नहीं हो सकता।

मुझे यह कहने मं कोई संकोच नहीं कि 'दो चट्टानें' की अधिकांश कविताएँ काव्य की श्रेणी में नहीं पहुँचतीं। यों संग्रह में विषयों की विविधता है और राजनीतिक चेतना की प्रखरता के बावजूद कवि की दृष्टि मानवीय रुचि के अनेक धरातलों को छूती है किंतु उस स्पर्श में आत्मीयता नहीं है। ऐसा लगता है कि कवि की जागरूक दृष्टि और आस्थावान हृदय ने समसामयिकता के प्रति इतनी तीव्र प्रतिक्रिया की है कि काव्य का बहुत-सा कच्चा माल, विधायन-प्रक्रिया से छने बिना ही निकल आया है। यह आकस्मिक नहीं हे कि इन कविताओं में कविता उतनी नहीं है जितनी बच्चन में पहले होती थी। पर इनमें वह भूमि स्पष्ट है, जिस पर खड़े होकर कवि ने 'सिसिफस बरक्स हनुमान' जैसी सशक्त कविता की रचना की।

'सिसिफस बरक्स हनुमान' इस बात का प्रमाण है कि कवि ने इस कविता को संघर्ष के नए स्तरों पर जिया है। उसने उस उम्र में, जबकि अधिकांश साहित्यकार अपने हानि-लाभ का लेखा खोल बैठते हैं, निरंतर चलते हुए एक संकट को झेला है और अपने युग-मानस को भरसक एक सार्थक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर उसने इस कविता के माध्यम से वह जीवनी-शक्ति, जिसे आधुनिकता-बोध कहा जा सकता है, अर्जित ही नहीं की बल्कि उसके स्रोत खोज लिए हैं।

इन स्रोतों की अनजान खोज काफ़ी पहले से चल रही हो सकती है। संग्रह की

एक अन्य कविता 'ख़ून के छापे' जो समसामयिक संदर्भों में एक उतरती हुई चोट है, मेरी बात की पुष्टि करती है। यों समसामयिकता का बोध अपने आप में कोई उपलब्धि नहीं है और कला में सतही प्रतिक्रिया को जन्म देता है, पर उसकी यातना का भोग कलाकार को सामर्थ्य अवश्य प्रदान करता है। यातना को भोगना आधुनिकता की कसौटी है और मेरा विश्वास है कि 'सिसिफस बरक्स हनुमान' में बच्चन जी ने इस यंत्रणा को डूबकर भोगा है।

सिसिफस को यह दंड दिया गया था कि वह एक चट्टान को ठेलकर पर्वत की चोटी पर ले जाए, जहाँ से वह नीचे को लुढ़क पड़े और वह फिर उस चट्टान को चोटी पर ले जाए और फिर वह ढुलक पड़े और अनंत काल तक यह क्रम चलता रहे। यूनानी दंतकथाओं के चरित-नायकों में सिसिफस ने कुछ विदेशी रचनाकारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है जिन्होंने उसकी पीड़ा को वैयक्तिक अस्तित्ववादी दर्शन में निवृत्ति दी है। किंतु कवि बच्चन के सिसिफस की पीड़ा आधुनिक जीवन की उस दिशा की ओर संकेत करती है जिसमें आज की निरर्थक, सारहीन, कष्टप्रद और बोझिल ज़िंदगी की अनवरत आवृत्ति और मनुष्य का सारी मेहनत और शक्ति सोख लिए जाने का दिन-प्रतिदिन गहरा होता जाता एहसास है।

आधुनिक मानव इस नियति के आगे असहाय है। वह सिसिफस की तरह अपने पूर्व कृत्यों को भी नहीं जानता। बस, वह इतना-भर अनुभव करता है कि वह एक निरर्थक जीवन-संघर्ष झेलने के लिए जन्मा है। इसलिए जब बच्चन कहते हैं :

काम सिसिफस कर रहा है
यही केवल
हाथ, पुट्ठों और कंधों
और सिर का बल लगाकर
ठेलना चट्टान तिल-तिल
और ऊपर
और ऊपर
और ऊपर
और पंजों, एड़ियों को
ढाल पर, ऊँचाइयों पर
पत्थरों पर, झाड़ियों पर
टेकना, ऐसा जमाना
रान, पिंडली का लगाकर ज़ोर
इतना ज़ोर सारा

खिसककर चट्टान नीचे को न आए
और फिर यह देखना
सारी मशक्कत और मेहनत और कोशिश
व्यर्थ होती जा रही है
और सब आँसू, पसीना, ख़ून
पानी हो रहा है
और वह चट्टान नीचे को खिसकती
और ढुलकती चली जाती
और नीचे
और नीचे
और नीचे

तो लगता है कि इस प्रतीक में आधुनिक पीढ़ी के जीवन-संघर्ष की सारी कसमसाहट और निरर्थकता मूर्तिमान हो उठी है। मौन हाहाकार करती अपार संभावनाओं से युक्त एक विशाल मानव-मूर्ति पसीने से लथपथ सामने आ खड़ी होती है और यह सवाल भी उसी के साथ उभर आता है :

मनुज की संतान
जो अमरत्व की आकांक्षा मन में छिपाए,
मृत्यु को उसने कभी बंदी किया था क्या
कि उसको शिला जीवन की उठाने को मिली है।

और इसी सवाल के साथ कवि की रचना-प्रक्रिया से जुड़े हुए और भी कई सवाल उभरते हैं, जिनमें सबसे अहम सवाल है अनुभूति की प्रामाणिकता का।

इसमें दो मत नहीं हो सकते कि कवि ने सिसिफस के प्रतीक को केवल समझा ही नहीं, बल्कि विविध स्तरों पर उसे जिया भी है। अगर प्रतीक इस प्रकार आत्मसात् न हो पाता तो उसकी व्याप्ति भी इतनी युगीन न होती और न वह जीवन की छटपटाहट को इतनी सच्चाई से उभार पाता। इसलिए मुझे लगता है कि अपनी अनेक कविताओं में बिखरी हुई निर्वैयक्तिक वेदना में वाणी देने के लिए उन्हें जिस भूमि की ज़रूरत महसूस होती रही है, आज की नई पीढ़ी की भूमि है और इस कविता द्वारा बच्चन जी उसी भूमि पर क़दम रखते हैं। 'सृजन और साँचा' जैसी अपनी कविताओं में उन्होंने अपनी काव्य-रचना के साँचे की उपयोगिता पर विचार किया है :

"'सृजन संतुलन की बेदी पर
बैठ बनाया था वाणी का साँचा तूने जो
अब तो यह बहु-प्रयोग से, दुरुपयोग से
युग प्रगति, युग परिवर्तन से
कोर-क्षीण, बेकार हो गया
ग़लती की जो नहीं बक़्त से
तूने तोड़ा उसे"'।

'कवि और केंचुआ' शीर्षक कविता में वे कहते हैं :

समय आ गया है
यथार्थ को खुली आँख देखने
पूर्ण भोगने
निडर स्वीकृत करने का।
सपनों को पाषाणों के अंदर सेने का।

इसलिए यह विश्वास करने के कारण हैं कि एक पुराने गीतकार कवि ने आधुनिकता की अंतश्चेतना को आत्मसात् किया है और युग की उस अंतर्निहित धारा से जुड़ने की कोशिश की है जो रचनाकार के संस्कारों से संबंध रखती है। इसमें कवि को कितनी सफलता मिली है, यह एक विचारणीय मुद्दा है और इस पर मतभेद हो सकते हैं।

मेरी दृष्टि में बच्चन जी वैचारिक स्तर पर नई पीढ़ी से एक डग पीछे नहीं हैं। यह देखकर अच्छा लगता है कि उन्होंने अतीत से अपने आपको काफ़ी मुक्त कर लिया है, लेकिन शिल्प के स्तर पर वे अब भी कहीं परंपरा से जुड़े हैं और अपने संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाए :

सत्य कितना ही बड़ा हो
और कितना ही बढ़ा क्यों दें न उसको
अर्थ उसका सिर्फ़
वक्ता और श्रोता का समन्वय स्पष्ट करता।
हो किसी का
एकतरफ़ी दान कवि का नहीं होता।

यानी यह केवल साधारणीकरण की समस्या नहीं बल्कि हर पाठक तक पहुँचने की समस्या है और इसकी व्यावहारिक कठिनाइयाँ स्वतः स्पष्ट हैं। 'सिसिफस बरक्स हनुमान' की ट्रेजेडी यह है कि उसका उत्स वह आधुनिक विचारधारा है जहाँ हिंदी और

विशेषतः बच्चन जी की पीढ़ी का पाठक अभी नहीं पहुँचा, और कभी पहुँचेगा—इसमें संदेह है। लिहाज़ा कवि को खुद बार-बार पाठक के स्तर तक आकर, अपने कहे की व्याख्या करनी पड़ती है। लिखते समय उसे बराबर यह भय बना रहता है कि कहीं मेरा पाठक इस बारीकी को समझ न पाए। इसलिए वह फ़ौरन उसे समझाने का काम भी शुरू कर देता है कि यह शिला जीवन की है, कि सिसिफस आधुनिक मनुष्य का ही प्रतिरूप है, वग़ैरह-वग़ैरह ! और नतीजा यह होता है कि कहे की ख़ूबसूरती ख़त्म हो जाती है और अनकहे की हाथ नहीं आती।

इस तरह का प्रयत्न, कि ज़रा-सा कोई बिंब बना और फ़ौरन उसका स्पष्टीकरण देने लगे ताकि पाठक कहीं पीछे न रह जाए, पूरी कविता में दिखाई देता है। और उसका एक ख़तरनाक परिणाम यह हुआ है कि कविता में अकसर पाठक तो आगे आ जाता हे लेकिन कवि पीछे छूट जाता है।

सिसिफस की निरर्थक और एक दायरे में घूमती हुई ज़िंदगी की पीड़ा का वर्णन कवि ने अनेक स्थलों पर मास्टर्स की-सी सादगी से किया है। एटलस के बारे में वह लिखता है :

द्रोह करने की सज़ा यह दी गई थी
गगन-मंडल
स्कंध बॉहों पर उठाए।
और वह अब भी उठाए।
हो गया है जड़ उठाए ही उठाए।

एक सादगी का स्वामी व्याख्या सापेक्ष नहीं हो सकता। पूरी कविता में अनुभूति की ऑच हे और अनुभूति पाठक के हृदय में उतरने का मार्ग खुद बना लेती है। यह तथ्य बच्चन जी जैसे समर्थ कवि से छिपा नही होगा। मैं तो सोचता हूँ कि शिल्प की सारी असावधानी और शिथिलता के बावजूद यदि 'सिसिफस' को बच्चन जी ने उपरोक्त सादगी से लिख दिया होता तो भी उसका प्रभाव कम न होता।

दरअसल कुछ तथ्य स्वयं में इतने प्राणवान होते हैं कि शिल्प उनकी सीमा नहीं बन पाता। 'सिसिफस बरक्स हनुमान' जिस जीवन की कविता है, उसमें ज़्यादा रचाव और सज्जा की गुंजाइश नहीं है। इस दिशा में बच्चन जी की सफलता यह है कि वे सिसिफस की स्थिति को व्यक्तिवादी दर्शन से बचा पाए हैं। आस्तिक की आस्था के साथ अस्तित्ववाद के प्रवाह से भारतीय समाजवाद की दिशा ढूँढ़ सके हैं।

सिसिफस का व्यक्तित्व पूरी कविता में अस्तित्व की सार्थकता को जूझती हुई उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है जिसको अब तक के जीवन-संघर्ष में केवल नैराश्य और

विफलता ही हाथ लगी है, लेकिन जो टूटी नहीं है। यह एक स्वस्थ दृष्टि है जो कवि की भावधारा में आधुनिकता और वैज्ञानिक बोध के नए क्षितिज जुड़ने की सूचना देती है। यद्यपि कविता के प्रथमार्द्ध का समापन भारतीय नियतिवाद से बोझिल हो उठा है तथापि यह विश्वास खंडित नहीं होता कि कवि की वाणी मन-मानस की वेदना का प्रतिनिधित्व करती है। हनुमान यानी कविता का उत्तरार्द्ध सिसिफस के सामने एक दूसरी तरह का समर्थ प्रतीक खड़ा करने, कहूँ कि एक भारतीय प्रतीक देने की भावना से लिखा गया है। यानी पूर्वाग्रह रचना-प्रक्रिया से पहले विद्यमान था। परिणामस्वरूप आधुनिकता भक्ति की ओर झुकती गई। भारतीय और हिंदू विचार धीरे-धीरे प्रबल होते गए। विश्वास का स्थान संस्कारों ने ले लिया और वास्तविकता बल्कि यथार्थवादिता भावुकता से भर गई। विवेक भक्ति को समर्पित हो गया और भाषा परंपरा को—देखिए :

शक्ति नहीं रे
भक्ति चाहिए
भक्ति विनत है
और उसी का किसी जगह अवरुद्ध न पथ है।

× × ×

नील शिला इस पुण्य पीठ को
आओ पहले शीश झुकाएँ
कहने की आवश्यकता है।
इसके आगे
क्या न तुम्हारा शीश स्वयं झुकता जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ न तो सिसिफस वाले अंशों-सी वस्तुपरक दृष्टि है, न वह आवेग। न वह तड़प है और न वह कसमसाहट। लेकिन इसके कारण हैं जिन पर हम आगे विचार करेंगे। परंतु यहाँ जो है, वह कवि की कला से संबंध रखता है। उसकी लेखनी से हनुमान के तेजस्वी व्यक्तित्व की रूपरेखा बड़ी जीवंत भाषा में कौशल के साथ चित्रित हुई है। उनके बालजीवन की कुछ झलकियों में उसका सधाव देखने लायक है। किंतु आगे जब हनुमान-प्रसंग उस स्थल पर आता है जहाँ प्रतीक को वर्तमान पर घटाया जा सकता है अर्थात् शापग्रस्त होने के कारण सिंधु-तट पर किंकर्तव्यविमूढ़ खड़े हनुमान को जामवंत का उद्‌बोधन—तो भक्ति का आवेग और भावना को उद्वेलित प्रकृति के कारण, वह संकेत नई अर्थवत्ता प्राप्त नहीं करता। हो सकता है हनुमान के चरित्र से भारतीय पाठक की सांस्कारिक संबद्धता भी इसमें आड़े आती हो, लेकिन वह अधिक से अधिक कुछ अतिपरिचित स्मृतियों को कुरेदता हुआ

निकल जाता है।

लगता है, सिसिफस जहाँ वर्षों के चिंतन और तीखी अनुभूति का फल है, वहाँ हनुमान की रचना एक विचार या 'आइडिया' के प्रकाशन से अधिक की लालसा का परिणाम नहीं है।

दरअसल बच्चन इधर जिस तरह से जो सोच रहे हैं, उसमें चिंतन की दिशा तो नियत है पर उसका आधार निश्चित नहीं है। दूसरे शब्दों में, वे आधुनिकता की वर्तमान नियति से जुड़े हैं और उसके संदर्भो की सारी कटुता के सहभागी भी हैं, किंतु कभी-कभी ऐसा लगता है कि कहीं यथार्थ की इस चेतावनी को वे भक्ति की आड़ में झेलना तो नहीं चाहते ?

बात ये है कि इधर बच्चन जी की भोग-प्रक्रिया में मृत्यु की एक अतिरिक्त यंत्रणा उभरती दिखाई देती है। 'दो चट्टानें' की अनेक कविताएँ साक्षी हैं कि कवि समय-बोध या उम्र का उतार--किसी भी कारण से मृत्यु-चिंतना में उलझ गया है। एक ऐसी चिंतना में जो हर व्यक्ति को चुनौती देती है और जिसे हर कोई अलग-अलग रूपों में स्वीकार करता है। अतः कहा नहीं जा सकता कि कवि बच्चन इस चुनौती को स्वीकार करने के लिए दर्शन का आधार ढूँढ़ेंगे या भक्ति का, वरण की आवाज़ उठाएँगे या वैयक्तिक मुक्ति की।

हनुमान का प्रतीक भक्ति और सांस्कारिक संबद्धता के कारण वर्तमान तक रूपांतरित नहीं हो पाया है और भक्ति-भावना उसमें बाधक भी हुई है। पर उसकी सबसे बड़ी कमी है, उसके कवि द्वारा बीच-बीच में व्याख्याता का दायित्व उठाने और निष्कर्ष प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति--

अपने युग में
छलना-मोहित
इच्छा बल का दुरुपयोग हमने कम देखा ?
काश उसे संयत कर सकती
सत्य-स्वरूपा लक्ष्मण रेखा।

अथवा

अपने युग में, अहम जगा,
फूला फैला, हमने कम देखा ?
काश उसे संयत कर सकती
हनुमान के आत्मदान की लक्ष्मण रेखा।

यह दुःखद है कि 'सिसिफस बरक्स हनुमान' अनेक कारणों से, जिसमें सबसे बड़ा

कारण उसका उत्तरार्द्ध है, उच्चकोटि की कविता नहीं बन पाई।

उसकी संभावना का भी पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया जा सका। हनुमान वाले अंश में वस्तुपरकता और यथार्थवादिता के स्थान पर वैयक्तिकता और कलात्मकता को प्रश्रय दिया गया, जिसके फलस्वरूप संतुलन बिगड़ा है और हनुमान-प्रसंग अधिक सावधानी में लिखा गया होने के बावजूद कमज़ोर पड़ गया है। धर्म और नीति के अवचेतन प्रभावों ने रस-निष्पत्ति में व्याघात उत्पन्न किया है और कुल मिलाकर सिसिफस की आधुनिकता के बरक्स हनुमान अपनी पौराणिकता से ऊपर नहीं उठ पाए।

फिर भी 'सिसिफस बरक्स हनुमान' एक विचारोत्तेजक रचना है। वह एक महत्त्वपूर्ण कवि द्वारा लिखी गई है और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को उठाती है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कवि और युगचिंतन के बदले हुए 'मूड' को ख़ूबी से पेश करती है। वह कवि की एक नई दिशा का संकेत करती है, कई प्रश्नों पर सृजनशीलता को तोलती है और उसके नए भाव-बोध की सूचना देती है। वह इसी नाते कवि की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है कि उसमें कवि ने वैचारिक स्तर पर पुरानी ज़मीन बदली है और एक नई ज़मीन तोड़ी है। कहना न होगा कि कवि या कलाकार की सृजनशीलता के लिए अपने आपको बदलते, तोड़ते या गढ़ते चले जाना एक आवश्यक शर्त है और 'सिसिफस बरक्स हनुमान' में बच्चन जी ने इस शर्त को निभाया है। यही नहीं, वे पीढ़ियों के फ़ासले को लाँघकर आधुनिक चिंतन के संदर्भों में आ खड़े हुए हैं।

('लहर', अगस्त, 1966)

कथा-संचेतना का बदलता फ़ोकस

अगर यह सच है कि किसी वर्ष-विशेष में प्रकाशित उपन्यास उस कालावधि की रचना-प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं तो मैं कहना चाहूँगा कि सन् '65 हिंदी उपन्यास के लिए बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण वर्ष रहा। 'ज्ञानोदय' से प्राप्त नौ उपन्यासों में से एक भी उपन्यास हिंदी उपन्यास की प्रगति या संभावनाओं के प्रति आश्वस्त नहीं करता। एक छोटा-सा बिंब ज़रूर उभरता है जैसे किसी मध्यवर्गीय परिवार ने अपने घर की दीवारों से '64 के कैलेंडर उतारकर '65 के लगा लिए हैं। नई तस्वीरों के कुछ रंग अपनी ओर खींचते भी हैं पर अधिकांश से विकर्षण पैदा होता है तथा बासीपन के अलावा और कोई अनुभूति नहीं जागती।

इन प्रकाशित उपन्यासों के रचनाकारों में कुछ अच्छे और सुपरिचित नाम भी हैं, जैसे जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, रेणु, रमेश बक्षी, शिवानी और प्रेम कपूर तथा कुछ अल्पपरिचित और अपरिचित भी, जैसे विमला रैना, सुनीता और डॉ० रमानाथ त्रिपाठी। लेकिन आश्चर्य यह देखकर होता है कि अपनी बात कहने के लिए सबने नारी-पुरुष और दांपत्य जीवन के बदलते संबंधों को ही अपना आधार बनाया है। इसीलिए विवाह को संस्था की रूढ़ियों के प्रति असंतोष और सामाजिक तथा नैतिक वर्जनाओं के द्वंद्व इन उपन्यासों में अनेक रूपों में उभरे हैं। अधिकांश रचनाओं में कहीं पति किसी दूसरी स्त्री के कारण, तो कहीं पत्नी किसी दूसरे पुरुष के कारण उस मानसिक ऊहापोह और संकट को झेलते हैं जो पारस्परिक मर्यादा और नैतिकता के लिए 'ख़तरा' बन गया है।

प्रस्तुत उपन्यासकारों में से अपनी-अपनी समझ और सामर्थ्य के अनुसार किसी ने इस ख़तरे का स्वागत किया है तो किसी ने तिरस्कार, किसी ने विवाह की पारंपरिक संस्था की अनिवार्यता के प्रति कड़वी प्रतिक्रिया व्यक्त की है तो किसी ने उससे चिपटे रहने की बेबसी। और इस तरह पात्रों की आधुनिकता और परंपरासक्ति के संदर्भों में आधुनिक दांपत्य जीवन के ऐसे पक्षों का उद्‌घाटन हुआ है जिनसे यह बात एकदम साफ़ होकर उभरती है कि विवाह के भारतीय आदर्श की इमारत में दरारें पड़ गई हैं। पति-पत्नी के बीच परंपरा और विश्वास का सेतु टूट गया है या टूटने वाला है और अधिकांश कथाकार इस सेतु के टूटने या टूटते जाने की पीड़ा या परिणामों के प्रति जागरूक और सचेत होकर अपनी-अपनी दृष्टि से इतिहास को देख रहे हैं।

हिंदी कथा-साहित्य में, प्रेमचन्दोत्तर काल में, ऐसा समय आया था जब घरेलू जीवन और विशेषतः दांपत्य जीवन लेखकों का प्रिय विषय हो उठा था और उस भावभूमि पर अनेक रचनाएँ लिखी गई थीं। हिंदी पाठक के सामने अभी भी शराबी पति, वेश्यागामी पति, जुआरी पति, ज़ालिम पति और रात को देर से घर लौटने और पत्नी को सताने वाले पतियों के अनेक चित्र विद्यमान हैं। पर 1965 तक आते-आते इतनी प्रगति ज़रूर हुई है कि कथा-संचेतना का फ़र्क़ इस दांपत्य जीवन के पारस्परिक समायोजन (एडजस्टमेंट) की समस्या से हटकर इस प्रश्न पर आ टिका कि आधुनिक युग की नैतिकता में पारंपरिक आदर्शों और मर्यादाओं का मूल्य क्या है और क्या अंतर्राष्ट्रीय संपर्कों की संस्कृति में पारंपरिक विवाह की संस्था अपनी सार्थकता बनाए रख सकी है ?

प्रस्तुत उपन्यासों में रेणु को छोड़कर शेष सभी लेखकों ने जाने-अनजाने इन प्रश्नों को छुआ है क्योंकि इसी भावभूमि पर इन प्रश्नों की एकदम उपेक्षा कर जाना हद दरजे का पिछड़ापन होता है। इसलिए कहीं अनायास और कहीं सायास भाव से इस समस्या ने लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

इस प्रसंग में यह सोचना कि महिला उपन्यासकारों ने समस्या पर अधिक सही और सार्थक ढंग से विचार किया होगा, स्वाभाविक था। किंतु यह भी अस्वाभाविक नहीं लगा कि उन्होंने समस्या को निहायत सतही तरीक़े से बँधे-बँधाए रूपों में देखा है, सही परिप्रेक्ष्य में नहीं। शिवानी का 'चौदह फेरे', विमला रैना का 'प्यासा पानी' ओर सुनीता का 'सफ़र के साथी' तीनों उपन्यास किसी न किसी रूप में विवाहित नारी की तीन विभिन्न मनःस्थितियों को उठाते हैं किंतु तीनों के दृष्टिकोण और समस्याओं से जूझने की क्षमता अलग-अलग है। शिवानी यदि क़िस्सागोई के शौक़ मे समस्या को काफ़ी हद तक नज़रअंदाज़ कर जाती हैं तो विमला रैना पारंपरिक नैतिकता एवं रूढ़ियों के सांस्कारिक अंकुश से इतनी सत्रस्त हैं कि वे तथाकथित मर्यादा की लीक छोड़ने को तैयार ही नहीं। अलबत्ता एकदम नई लेखिका सुनीता ज़रूर अपने उपन्यास में प्रत्यक्ष या परोक्ष, नैतिक या सामाजिक कैसी भी वर्जनाओं से प्रभावित हुए बिना, किसी हद तक सीधे समस्या से जूझी है। 'सफ़र के साथी' की कहानी बड़ी सीधी-सी है—एक पत्नी है नीरजा। विदेश में अपने पति के साथ सुखी और संपन्न जीवन बिताती है। होने वाले बच्चे को लेकर दोनो तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हैं। मगर अंततः होता यह है कि एक साधारण दुर्घटनावश गर्भपात हो जाने से उनके सारे स्वप्न बिखर जाते है। काफ़ी समय तक अस्पताल में रहने के बाद जब नीरजा लौटती है तो एक ऐसी रिक्तता और उदासी उसमें घर कर जाती है कि उसका सारा व्यवहार और आचरण यंत्रवत् और निर्जीव-सा हो जाता है। वह जीवन की ऊष्मा खो बैठती है। प्यार और आवेश के प्रति सहज प्रतिक्रिया बंद कर देती है और उसकी इस जड़ता से परेशान होकर सुकान्त,

उसका पति, उसे जहाज़ से स्वदेश भेज देता है, इस आशा में कि शायद घर जाकर वह अपने ग़म को भूल सके। वस्तुतः प्रारंभिक अंशों की यह कहानी न केवल छिछली भावुकता से भरी हुई है, बल्कि पूरे उपन्यास में एक चिप्पी की तरह लगती है—आरोपित और गढ़ी हुई। शायद लेखिका ने इसको गढ़ना ज़रूरी समझा कि वह नीरजा को जहाज़ पर चढ़ाने से पहले ज़रूरी तौर पर मानसिक रूप से जड़ और प्रतिक्रियाहीन सिद्ध कर देना चाहती थी ताकि जहाज़ पर धीरज से परिचय हो जाने के बाद, धीरे-धीरे उसमें लौट आने वाली ज़िंदगी अपने पुनर्जागरण का औचित्य सिद्ध कर सके।

कहा जा सकता है कि मोटे तौर पर लेखिका को अपने मंतव्य में सफलता मिली है और धीरज के संपर्क में आने के बाद से नीरजा के चरित्र का रेखांकन अपेक्षाकृत सधी हुई क़लम से हुआ है। जहाज़ के सफ़र में धीरज और नीरजा की मैत्री का विकास, सहजता, निश्छलता और आत्मीयता के साथ जितनी वस्तुपरक दृष्टि और जितना कलात्मक संयम माँगता था उतना लेखिका ने उसे दिया है। और किसी नई क़लम के लिए यह मामूली उपलब्धि नहीं कि एक बहा ले जाने वाले प्रसंग को वह संयम और सावधानी से चित्रित कर पाई है। धीरज तथा नीरजा के मैत्रीपूर्ण संबंधों में सहज मानवीय उद्वेगों के अलावा उसने किसी भी नैतिक या सामाजिक वर्जना को हावी नहीं होने दिया है और ये संबंध अनायास ही एक सहज स्वीकार्य स्थिति के रूप में नई पीढ़ी की नैतिक मान्यताओं के विकास पर भी रोशनी डालते हैं।

यद्यपि अधिक से अधिक चालीस-पचास पृष्ठों की एक लंबी कहानी को उपन्यास का रूप देकर लेखिका ने अपने शिल्प-सामर्थ्य का अच्छा परिचय नहीं दिया। और न ही वह सुकान्त के दांपत्य जीवन के प्रारंभिक अंशों को प्रामाणिकता दे पाई है; तथापि उसकी भाषा और उसके चिंतन की दिशा साफ़ है। उसमें परंपरा की धुंध और कुहासा उतना नहीं है जितना क़लम का अधकचरापन। इसलिए सुकान्त की पत्नी नीरजा के चरित्रांकन द्वारा बिना किसी नैतिक संकट के वह यह कहने का साहस कर सकी है कि रुद्ध और बुझे हुए जीवन को जागृत और जीवित करने में प्रेम या मैत्रीपूर्ण संबंधों की एक विशिष्ट भूमिका हो सकती है।

अपनी साधारण क़लम से उसने एक जीवित और ज्वलंत प्रश्न को उठाने की कोशिश की है, लेकिन इसके विपरीत शिवानी ने किसी प्रश्न को छुआ ही नहीं। उसके सामने समस्या किसी समस्या से निपटने की नहीं, बल्कि अपने अनुभवों को लिख डालने-भर की है। उन अनुभवों में आत्मानुभूत आँखों देखी घटनाओं से लेकर कल्पना-प्रसूत और सुनी-सुनाई लोककथाओं तक कुछ भी हो सकता है। उन्हें आधुनिकता का कोई कष्ट नहीं है, रोचकता की फ़िक्र है। इसलिए लगता है कि 'धर्मयुग' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित अपने इस लोकप्रिय उपन्यास 'चौदह फेरे' को उठाते हुए उनके सामने दो

उद्देश्य थे—एक, मध्यवर्गीय पहाड़ी जीवन की गार्हस्थिक रूढ़ियों, रीति-रिवाजों और शैलियों का सजीव चित्रण और दूसरा, उच्चवर्ग की तेज़ रफ़्तार ज़िंदगी के सद्-असद् पक्षों का निरूपण। इसके लिए उन्होंने कथावस्तु को सुविधानुसार ढाला है और पूरी कहानी को संयोगों और भाग्य के चमत्कारों से रँग दिया है। एक पहाड़ी लड़का (कर्नल) पटसन के एक लखपति अंग्रेज़ व्यवसायी की सारी संपत्ति का स्वामी बन बैठता है और राजाओं-महाराजाओं जैसी शानदार और वैभवशाली ज़िंदगी गुज़ारने वाले उस कर्नल की पत्नी पति के साथ तालमेल न बैठा पाने के कारण संन्यासिन हो जाती है और वह भी ऐसी सिद्ध कि चेहरे पर विकार, हर्ष, विषाद, चिंता, आवेग की रेखा तक नहीं रहती। मल्लिका जैसी समाज की परवाह न करने वाली सहृदया और ममत्त्वपूर्ण नारी कलकत्ते से दिल्ली पहुँचकर संयोग से आधुनिक क़िस्म के वेश्यागृह की स्वामिनी बन बैठती है और फिर संयोग कि भाग्य अहल्या को भी वहीं ले आता है।

अहल्या यानी कर्नल की बेटी, जिसके चारों ओर उपन्यास का कथानक बुना गया है, भाग्य और संयोग के सैकड़ों करिश्मे देखती है। ललिता का सम्मोहित होकर एक प्रौढ़ पुरुष से प्रेम करने के लिए विवश होना और आत्मघात करना या मल्लिका का रोग से पीड़ित होना और कीड़ों-सी ज़िंदगी बसर करना, कम चमत्कारिक घटनाएँ नहीं हैं। यही नहीं, वह जिस व्यक्ति से प्रेम करती है वह एक फ़ौजी अफ़सर है, जिसकी मृत्यु की सूचना भी आ चुकी है, सबने तेरहवीं भी मना ली है, पर एकाएक तार आता है कि चीनियों ने जो क़ैदी छोड़े हैं उनमें राजू भी है। उधर किसी और से अहल्या के विवाह की तैयारियाँ पूरी हो जाती हैं और बारात आने वाली होती है, मगर ऐन वक़्त पर उसकी एक दक़ियानूसी ताई सहसा आधुनिका बन जाती है और उसे सारी सुविधाएँ देकर राजू के पास भाग जाने की प्रेरणा देती है। अंत में जैसा कि उपन्यास में होना ही था, बड़े नाटकीय ढंग से अहल्या का विवाह राजू से हो जाता है।

कहना न होगा कि उपन्यास में ग़रीब, अमीर, पागल, सनकी, देशी, विदेशी, रूढ़िग्रस्त, आधुनिक, पतित और कर्तव्यनिष्ठ—हर प्रकार के पात्र हैं। घटनाओं का ताना-बाना ऐसा ज़बरदस्त है कि सामान्य पाठक बोर हो ही नहीं सकता। क़िस्सागोई के अंदाज़ में थोड़ी-सी साहित्यिकता का पुट उपन्यास को लज़ीज़ बना देता है। पाठक उस जीवन के सारे बाह्य उपादानों को सामने रख पाता है जिनके बारे में उसकी उत्सुकता जाग्रत हो सकती है। दूसरे शब्दों में, लेखिका घटनाओं के चित्रण में बाह्य परिवेश को समग्रता में उठाती है, किंतु स्थितियों की भीतरी तहों तक पहुँचने वाली दृष्टि और सूझ-बूझ से काम नहीं लेती। शायद वह दृष्टि उसके पास है ही नहीं। उसकी मनोवैज्ञानिक पकड़ इतनी कमज़ोर है कि वह किसी भी पात्र के अंतर्द्वंद्व को पकड़ने का साहस नहीं जुटा पाई है। परिणामस्वरूप एक भी पात्र सही संदर्भों में अपना आकार

ग्रहण करता प्रतीत नहीं होता और न कोई ऐसा चरित्र उभरता है जो देर तक स्मृति में पड़ा रहे।

अहल्या, जिसके कारण लेखिका ने अनेक पात्रों को नष्ट कर दिया और जिसे वह उच्चवर्ग की एक आदर्श लड़की के रूप में चित्रित करना चाहती थी, एक नक़ली, आदर्शवादी और गढ़ी-गढ़ाई मूर्ति बनकर रह गई है। उसकी मनःस्थिति की रेखाओं को ज़्यादा वस्तुवादी और यथार्थ धरातल पर उभारने की ज़रूरत थी। मल्लिका के चरित्र का उठान देखकर लगा था कि लेखिका के पास यथार्थवादी दृष्टि है। एक पत्नी के रूप मं मल्लिका एक ओर अपने रुग्ण पति और उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए ईमानदारी से पैसा कमाती है तो दूसरी ओर कर्नल की प्राइवेट सेक्रेटरी के रूप में उसकी रखेल की भूमिका अदा करते हुए न केवल कर्नल के प्रति, बल्कि उसकी लड़की के प्रति भी निश्छल प्रेम रखते हुए दुहरी ज़िंदगी का अभिशाप झेलती है। लेकिन लेखिका ने उसके संकट और उसकी परिस्थितियों के दर्द को तो समझा नहीं, उलटे उसे संयोगों के प्रवाह में डालकर वेश्यागृह और गुप्त रोगों में फँसा दिया और इस प्रकार पाठिकाओं को चेतावनी दी कि बहनो सावधान ! ऐसे कर्मो का फल ऐसा होता है।

शिवानी लोकप्रियता की लीक पर हें। उनकी ट्रेजेडी यह है कि उनके पास संपन्न अनुभव है, चीज़ों को बाहर से देखने वाली साफ़ दृष्टि है कितु यथार्थ की भूमि पर प्रयोग करने औग 'रिस्क' उठाने की सामर्थ्य उनमं नहीं है। लिहाजा जहाँ कथा में आधुनिकता का कोई संकटबिंदु भी आया है, वहाँ उन्होंने पारपरिक लटकों-खटकों की ओट में ही उसे झेला है। उपन्यास से ऐसा नहीं लगता कि आधुनिकता या संबद्ध प्रश्नों का ज़रा-सा भी दवाव वे महसूस करती हैं। इसलिए ये आशा भी नहीं बँधती कि उपन्यास के कच्चे माल के रूप में इतनी काफ़ी सामग्री होते हुए भी वे कभी कोई अच्छा उपन्यास दे सकेंगी।

इसी दृष्टि का दूसरा छोर है विमला रैना का 'प्यासा पानी', जो प्रकाशकीय वक्तव्य के अनुसार "आधुनिक युग की पाश्चात्य संस्कृति और भारतीय परंपरा के संघर्ष में उलझी एक नारी की कहानी है।...मालती के पति का प्यार कुछ ऐसा है जो उसकी सर्व-शारीरिक और मानसिक शक्ति को पीकर ऐसा संतुष्ट हो जाता है कि उसकी तृप्ति यह देख भी नहीं पाती कि पिलाने वाले पात्र के भी प्राण हैं, इच्छाएँ हैं, प्यास है। मालती की कुंठा चीख़ उठती है—यह पानी प्यासा है। पर इस चीत्कार की प्रतिध्वनि उसके अंतस्तल में ही रह-रहकर घुमड़ती है।" सीधे-सादे शब्दों में, समस्या यह है कि पति पत्नी से अपनी आवश्यकताएँ तो पूरी कर लेता है, पर इस बात की ओर ध्यान नहीं देता कि पत्नी की भी कुछ अपेक्षाएँ हैं। मालती अपने पति प्रभाकर की उच्छृंखलता और उसकी नारी-संबंधी कमज़ोरी से क्षुब्ध और आहत है और मन में कहीं

बहुत गहराई में प्रभाकर के मित्र आनंद की ओर आकृष्ट है। लेकिन वह एक पतिव्रता पत्नी है, इसलिए आनंद से प्रेम करते हुए उसे मर्यादित रखती है। उसकी बीमारी में संयोगवश जब आनंद उसकी कॉपी देखता है तो उसे उसके प्रेम की गहराई का अनुभव होता है। आनंद मालती को मर्यादा की रक्षा का वचन देता है। उधर मालती लेखिका के भारतीय आदर्श का बराबर पालन करती है और प्रभाकर की चरित्रहीनता से कुढ़ती हुई कई बार टूटने को होती है, किंतु आनंद का प्रेम आदर्श की मशाल लिए खड़ा मिलता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अनेक हिंदी उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास का गला भी आदर्शवाद ने ही दबा रखा है। हालाँकि समस्या की जितनी सतही पकड़ और उसका भारतीय आदर्श नामक जितना सस्ता समाधान लेखिका ने दिया है, उसे देखते लेखिका से किसी श्रेष्ठ कृति की आशा करना निरर्थक प्रतीत होता है, फिर भी यह उपन्यास पठनीय बन सकता था, क्योंकि शिवानी की अपेक्षा रैना की दृष्टि ज़्यादा वस्तुपरक है और शायद नाटककार होने के कारण उनके पात्रों की रूप-रेखाएँ भी अपेक्षाकृत ज़्यादा साफ़ हैं। दरअसल इस उपन्यास के सबसे प्राणवान् और जीवंत चित्र वे हैं जो आदर्श के फ्रेम में फ़िट नहीं हो पाए—यानी वे फुटकर पात्र, जो मूलकथा से छिटककर उभर आए हैं, जैसे रीता और नंदिता के चरित्र, शिवानी के आभिजात्य चरित्रों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक और जीवंत हैं। शेष पात्र भी अपनी जगहों पर खड़े हुए नज़र आते हैं। अभिशप्त भारतीय नारी के रूप में, नयापन न होते हुए भी, मालती पहचानी हुई और वास्तविक-सी लगती है और यदि उसके जीवन को एक सुखांत मोड़ देने की कोशिश न की गई होती तो शायद वह और भी वास्तविक बन पाती।

विमला रैना के उपन्यास के संदर्भ में चरित्रों की बात मैंने जान-बूझकर इसलिए उठाई है कि अन्य दोनों महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में हाड़-मांस का कोई दीर्घजीवी इंसान नज़र नहीं आता। हाँ, शिवानी के कर्नल का रोब-दाब ज़रूर पाठक को आतंकित करता है, पर वह रूप इतना घिसा-पिटा है कि उसकी प्रभविष्णुता कभी की ख़त्म हो चुकी है। विमला रैना के पास चरित्रों को पकड़ने और समझने वाली दृष्टि ज़रूर है, पर वह सांस्कारिक त्रास और तथाकथित भारतीय आदर्श के कुहासे में बुरी तरह उलझी है।

श्रीमती रैना के पास काफ़ी कमज़ोर भाषा है और कथ्य उससे भी कमज़ोर। समस्या को समझने के नाम पर उपन्यास के कथ्य का लुब्बे-लुबाब यह है कि विवाहित भारतीय नारी बदर्जेमजबूरी किसी परपुरुष के प्रेम में फँस जाए, तो भी उसे चाहिए कि वह पातिव्रत्य का आदर्श न छोड़े। अपने पति की उच्छृंखलताओं को वह आँख मीचकर सह ले और उसके अत्याचारों की वेदी पर हँसते-हँसते ज़हर की शीशी गटक जाए।

मगर अफ़सोस कि लेखिका के अनुभव इस कथ्य से मेल नहीं खाते और उनके चरित्रों की वृत्ति इस आरोपित आदर्श के अनुकूल नहीं पड़ती बल्कि यथार्थवादी दिशा चाहती है। इसलिए लगता ऐसा है, जिन पात्रों के साथ लेखिका ने हठधर्मी की है, (नन्दिता, रीता) वे ही पात्र किसी दिन उसे पकड़कर झकझोर देंगे और कहेंगे, "क्या आप समझती है कि इस तरह मालती के ज़हर पी लेने और बाद में संयोगवश जीवित बच रहने में समस्या का हल निहित है ? क्या आनंद के साथ मालती एक ज़्यादा सुखी-सार्थक जीवन न बिताती ? और इस बात की क्या गारंटी है कि इस बार माफ़ी माँग लेने के वाद प्रभाकर अपने आपको बदल ही लेगा ? यह माफ़ी भावुकता का अस्थायी उच्छ्‌वास भी तो हो सकती है। फिर इस बात की भी क्या गारंटी है कि एक प्रभाकर के बदल जाने से सारे भारतीय प्रभाकर बदल जाएँगे।"

मैं समझता हूँ समस्या को सही संदर्भो मे देखना ही उसके समाधान की दिशा खोजना है। पर जहाँ समाधान देना ही आवश्यक हो वहाँ लेखक को कम से कम अपने प्रति ईमानदार होना चाहिए। मुझे लगता है मालती और आनन्द के संबंधों को लेखिका ने जिस एकांत, तल्लीनता और मनोयोग से चित्रित किया है उसमें ईमानदारी है, मगर उपन्यास के अंत को जिस तरह मरोड़ा गया है, वह भावुकता और घातक आदर्शवादिता के अलावा पुराने क़िस्से-कहानियों का सस्ता नाटकीय प्रभाव है।

नया लेखक इन सस्ते प्रभावों से मुक्त है—यह एक अत्यत शुभ लक्षण है। इस लिहाज़ से रमेश बक्षी का 'अठारह सूरज के पौधे' ख़ास अहमियत रखता है। उसमें ऐसे पारंपरिक प्रभावों का एक छींटा तक नही है और लेखक ने हर जगह परंपरा से छिटकने ओर टूटने की सायास चेष्टा की है।

यद्यपि वक्तव्य के अनुसार लेखक ने उपन्यास में चार आयामो की एक तस्वीर देने की कोशिश की है, परंतु बहुत कोशिश करने पर भी मुझे उसकी वह तस्वीर नज़र नहीं आई; अलबत्ता, एक चीज़ ज़रूर हार्दिकता और सच्चाई के साथ साफ़ तौर पर उभरी है और वह है सामाजिक और ख़ास तौर से वेवाहिक मान्यताओं के प्रति गहरी घृणा और विवाह की संस्था के प्रति गहरी हिक़ारत ! मैं कहना चाहता हूँ कि यह सच्चापन बक्षी के लेखन में पहली बार प्रतिबिंबित हुआ है।

सामान्यतः उपन्यास की कहानी एक रेलवे कर्मचारी के पठानकोट से बंबई तक की यात्रा में सोचे हुए अतीत की कहानी है। यह यात्रा भी वस्तुतः बाह्य कम और भीतरी अधिक है, जो खुद एक दूसरी यात्रा की प्रतीक है। नायक फ़्लैशबैक में अपने अतीत को कुरेदता है—अपने इंजन ड्राइवर पिता का रोबीला व्यक्तित्व, अपना रेल-यात्रा में हुआ जन्म, रेल-पटरियों के किनारे, रेलवे बस्तियों में, रेलगाड़ियों के साथ बिताया हुआ बचपन, फिर रेलवे में मालबाबू की नौकरी, फिर रेल में ही एक लड़की से प्रेम, फिर

रेल में ही टिकट-चेकर की नौकरी और रेल में ही नाश्ता, खाना और सोना और पिता के आदेश से शादी के फेर में फँसकर उस खोली में रहना जहाँ जलगाँव वाली उसकी पत्नी सरसों के तेल की बू (?) और सरल कटुक्तियों से उसे तिलमिला देती है और वह घर से किसी गाड़ी में बैठकर भाग जाने के लिए बाध्य होता है। गाड़ी यानी रेलगाड़ी उसके पूरे व्यक्तित्व से जुड़ी है। एक ग़लत गाड़ी में बैठकर वह उस लड़की से भी छूट जाता है जिससे वह प्रेम करता है। इस प्रकार बारीक़ी से ग़ौर किया जाए तो एक शादी को छोड़कर उसके सारे कार्य-व्यापार गाड़ी में ही संपन्न होते हैं और उसका जीवन एक तरह से रेलवे का अंग है। वही रेल जैसी अनवरत एकरस ज़िंदगी, रेल पटरियों जैसी पूर्व निर्धारित नियति, सिगनलवत् आदेश ! 'कहीं कोई झगड़ा नहीं, सबके डिब्बे निश्चित, सबकी जगहें निश्चित, सब कुछ इतना तय, इतना अधिक निश्चित, इतना अधिक पटरी पर कि दूर से देखने पर आदमी आदमी नहीं, मशीन लगता था।' और इस रेल की मशीन सरीखी ज़िंदगी को और अधिक यथार्थ बनाने के लिए बक्षी ने उपन्यास को इस तरह कंसीव किया हे कि यात्रा करता हुआ नायक अतीत से ज्यों ही वर्तमान में आता है, उसे पता चलता है कि यह अमुक स्टेशन है और फिर रेल की छक्क-छक्क के साथ वह अतीत में खो जाता है। पूरे उपन्यास में रेल की आवाज़ इस तरह छाई है कि पाठक अपने आपको रेलवे स्टेशन पर खड़ा हुआ पाता है, और जैसा कि होता है, रेलवे स्टेशन का वातावरण या रेल-यात्रा की स्थिति कोई बहुत सुखद नहीं होती, वैसी ही इस उपन्यास की स्थिति भी है।

उपन्यास का नायक वर्तमान से बचने के लिए अतीत में आता है और अतीत से फिर वर्तमान में आ जाता है। बक्षी ने एक बुनियादी सवाल यात्रा के महत्त्व का उठाया है कि हम अतीत में जीने के लिए विवश हैं, क्योंकि वर्तमान इतना सँकरा और छोटा है कि उसमें मुक्त होकर जी नहीं सकते। अतीत के अनुभवों से हम वर्तमान को जीने योग्य बनाते हैं और उसकी निरर्थक यात्राओं को भी एक सार्थकता दे पाते हैं। अतः बक्षी ने सूत्र दिया है कि 'यात्रा कभी निष्फल नहीं होती।'

लेखक के यात्रा-संबंधी इस सूत्र के बाद यह कहना कि बक्षी का यह उपन्यास पढ़ने में बहुत श्रम माँगता है, कोई माने नहीं रखता। शुष्क और भारी होने के बावजूद उपन्यास लेखक की वैचारिक उपलब्धि है (हालाँकि उसका उपन्यास होना ज़्यादा ज़रूरी था), फिर भी मुझे लगता है कि ऐसी भी क्या यात्रा कि आपको पठानकोट से बंबई तक अपने और अपने भीतरी हिस्सों के सिवाय बाहर का कुछ दिखाई ही न दे; कि आप हर चीज़ को प्रतीक की शक्ल दे दें और काल, गति तथा ध्वनि को पकड़ने की आधुनिकता से उपन्यास को इतना बोझिल बना दें कि उसकी औपचारिकता ख़तरे में पड़ जाए।

यों वैचारिक स्तर पर आधुनिक पीढ़ी की जिस नियति का संकेत उपन्यास में

किया गया है वह अपने आपमें सार्थकता का आभास लिए है और प्रयोग-कौतुक प्रवृत्ति के बावजूद बक्षी के सही चिंतन की ओर इशारा करती है। यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सही चिंतन और स्वस्थ चिंतन दो अलग-अलग बातें हैं और साहित्य-रचना के संदर्भ में दूसरी बात दक़ियानूसी लगती है। इसी तथाकथित स्वास्थ चिंतन ने पूर्वोक्त लेखिकाओं को समस्या की वास्तविकता से विमुख किया और यही स्वस्थ चिंतन डॉ० रमानाथ त्रिपाठी के 'ओस और माटी' तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'टूटा टी सेट' में मिलता है। खुशी इस बात की है कि बक्षी ने समस्या को खुली और साफ़ दृष्टि से देखा है और रूढ़ियों के ख़िलाफ सीधे आवाज़ उठाई है।

वाजपेयी जी और डॉ० त्रिपाठी दोनों के उपन्यासों की ज़मीन काफ़ी मिलती-जुलती हे। फ़र्क़ इतना है कि 'ओस और माटी' के लेखक ने अपने नायक सत्तन को दूसरी स्त्री से प्रेम करने के लिए कई नैतिक सुविधाएँ दे दी हैं—जेसे, उसकी पत्नी की दीर्घकालिक बीमारी और उसका स्वयं का आदर्श नायक के रूप में ऐसा असाधारण चित्रण कि अपनी प्रेमिका के प्रति भी माँ जेसा प्यार। उपन्यास का एक दृश्य देखिए—सत्तन अपनी प्रेमिका कदम के घर जाता है। वह अकेली सो रही थी। विचित्र दृश्य था वह। अत्यधिक गरमी के कारण ब्लाउज़ और कंचुकी खोल डाले थे और ऐसे ही साड़ी पहने सो गई थी। सुप्तावस्था में ही साड़ी हट गई थी और दोनो ही तने हुए कुच-युग्म (शब्द-प्रयोग पर ग़ौर करें) स्पष्ट थे। दोनो के मध्य एक चोटी काली नागिन-सी लहर लिए पड़ी थी। ब्लाउज़ में कसा हुआ उसका कुचमंडल (लेखक महोदय यहाँ ये भूल गए कि ब्लाउज़ ओर कंचुकी वे पहले ही खोल चुके हैं) युवक-हृदय में लोभ-लालसा की सृष्टि करता था, किंतु उसी उरोजमंडल का नग्न सोदर्य उसे विकारहीन ओर अत्यंत पवित्र लगा। बस, कमी थी एक नन्हा-नन्हा शिशु होता जो अपने नन्हे होंठों से चूस रहा होता एक कुचाग्र और कबूतर जैसी आँखें मटका-मटकाकर नन्ही-मुन्नी हथेली में दवाए होना दूसरा। नारी, तू रमणी होकर कितनी प्रलोभनीय हो जाती है, किंतु सच में तू माँ हे। मैं तेरे मातृत्व के आगे सादर नमन करता हूँ।

और आप जानते हैं, सत्तन के मन में इतने ऊँचे आदर्श कहाँ से आए—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से। लेखक और सत्तन दोनों की संघ में आस्था है। इसीलिए सत्तन अंग्रेज़ी में एम०ए० होने के बावजूद हिंदी में उच्चकोटि के दोहे कहता है। एक दोहे का मुलाहिज़ा हो :

काजर रेख पिये प्रिये चपल नुकीले नैन।
उर में पैने तीर से चुभे रहत दिन-रैन।।

ज़ाहिर है कि आप इन उच्चकोटि के भावों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

डॉ० त्रिपाठी की भाषा का नमूना आप पहले देख ही चुके हैं। उनके उच्चादर्श के बारे में भी आपको कुछ अनुमान हो गया होगा। अब आप प्रस्तुत उपन्यास में लेखक की स्थापनाओं से परिचित होना चाहेंगे। तो होता ये है कि जब सत्तन का प्रेम कदम के प्रेम के साथ पेंगें बढ़ाने लगता है और सत्तन की पत्नी भी कदम को सौत बनाकर लाने के लिए सहमत हो जाती है, तो अचानक सत्तन के आदर्श ज़ोर मारते हैं और वह प्रेमिका से कहता है, "तुम्हें मालूम है कि एक ट्रांज़िस्टर पाने के लिए मैं कितना बेचैन था˙˙किंतु अब—जब ट्रांज़िस्टर मिल गया, तो उसके प्रति मोह नहीं रह गया।" मैं समझता हूँ, अब आप सत्तन के विराग का कारण समझ गए होंगे। दूसरा कारण, "यदि हम केवल अपना ही सुख ढूँढ़ें और अपने ही आश्रित, अपने ही सहारे पलने वाले किसी व्यक्ति को दुखी करने के बाद, तो ऐसे सुख का महत्त्व क्या ?" और तीसरा कारण, प्रेमिका के हाथों में वंशी देखकर उसने कहा, "एक बार वही गीत बजा दो—पलकों की छाँव में रहने दो", यानी तीसरा कारण हुआ नायक की, विछोह के बावजूद, पलकों की छाँव में रहने की आकांक्षा।

त्रिपाठी जी डॉक्टर हैं। उन्होंने और भी कई उपन्यास लिखे हैं, कुछ लिखे भी रखे होंगे, वरना हम उन्हें सलाह देते कि वे दल का और हिंदी-प्रचार का कार्य करें, साहित्य का नहीं। उनके आदर्शों से साहित्य का भला होने वाला नहीं।

मुझे आश्चर्य हुआ कि जिस बात को नौजवान डॉक्टर त्रिपाठी नहीं समझ पाए उसे हमारे वयोवृद्ध उपन्यासकार श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने अपेक्षाकृत अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण से चित्रित किया है। नीलकमल यानी नीलू पति द्वारा उपेक्षित और परित्यक्त एक ऐसी युवती है जो अपने सम्मान को बनाए रखकर अपने माँ-वाप और परिवार का बोझा भी ढोती है और अपनी चिंताओं और कुंठाओं का भार भी। जब तक बनता है वह कोशिश करती है और जब नहीं बनता तो अपने आपको अपनी पसंद के व्यक्ति अरुण बाबू को समर्पित करके उनसे आर्थिक सहायता प्राप्त करने में हिचकिचाती नहीं। अरुण विवाहित युवक हैं किंतु शुद्ध शारीरिक स्तर पर दोनों के संबंध तब तक बने रहते हैं जब तक कि नीलू के पति की ओर से पुनः उसको आने का निमंत्रण नहीं मिलता। नीलू खुशी-खुशी पति के पास जाती है तो वह मन में न कहीं अरुण के कारण लज्जित है और न कुंठित, बल्कि अरुण उसे खुद छोड़ने जाता है, रुपए-पैसे से उसकी तात्कालिक आवश्यकताएँ पूरी करता है और सब तरह से पूरी व्यवस्था करके लौटता है।

यद्यपि वाजपेयी जी विषम परिस्थितियों की सृष्टि करके यह व्यंग्य उभारना चाहते थे कि जब नीलू निर्दोष, निष्कलंक थी तब उसके पति ने कलंकिनी होने के संदेह में उसे त्याग दिया और जब वह कलंकित हो चुकी थी तो उसे पति की ओर से निमंत्रण, प्रेम

और सम्मान मिला। मगर वाजपेयी जी के प्रयत्नों के बावजूद स्थितियों का यथार्थवादी स्वरूप नीलू को कलंकित सिद्ध नहीं होने देता। नीलू के घर की परिस्थितियों ने उसके चरित्र को अनायास ही आधुनिक जीवन की विडंबनाएँ ढोने के लिए अभिशप्त कर दिया है और उसका 'सहज स्वीकार' उस पर नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों पर कलंक लगाता है जिनके कारण उसे रास्ता बदलने के लिए मजबूर होना पड़ा।

मैं सिर्फ़ इस दृष्टि के लिए वाजपेयी जी की सराहना करूँगा (अगर यह अनायास या धोखे से यथार्थवादी नहीं बन गई हो तो) जो उन्हें अपनी पीढ़ी से आगे ले आई है, वरना शिल्प और भाषा हर दृष्टि से उपन्यास वाजपेयी जी के अनुरूप वहीं है, जहाँ उसे होना चाहिए था। मैंने सिर्फ़ उस बात का उल्लेख किया है जो उनमें मुझे नई लगी, बाक़ी वाजपेयी जी की सामर्थ्य और सीमाओं से कौन परिचित नहीं ? आकस्मिकताएँ, संयोग, मदिरापान का कुप्रभाव और फ़िल्मी जीवन की कुरीतियाँ इसमें देखी जा सकती हैं और एक भूतपूर्व युवक-प्रेमी का प्रेमिका के प्रति सगे भाई-सरीखा परिवर्तन भी इसमें है। वह सब न होता तो इस कथानक के साथ यह विश्वास करना कठिन होता कि यह उपन्यास वाजपेयी जी का होगा।

वाजपेयी जी साधारण चलताऊ भाषा का प्रयोग करते हैं और जैनेन्द्र जी की भाँति अलग से पहचाने नहीं जाते। जैनेन्द्र की स्थिति यह है कि भाषा शैली, पात्र और वार्तालाप तक से आप पहचान सकते हैं कि यहाँ जैनेन्द्र होने चाहिए। नई पीढ़ी में जैनेन्द्र का वहुत विरोध हुआ है, मगर नई पीढ़ी का एक भी लेखक जैनेन्द्र की उपलब्धियों तक नहीं पहुँच पाया। यह सोचते हुए भी कि 'मुक्तिबोध' एक अत्यंत साधारण उपन्यास है, मे यह सोचने को बाध्य हूँ कि जैनेन्द्र ने अपनी कला को निरंतर माँजा ओर सँवारा है। उन्होंने अपनी ज़मीन बदली नहीं और न शिल्प में ही नए-नए प्रयोग किए, परंतु वैचारिक स्तर पर ज़्यादा जोखिम-भरी कथावस्तु से निपटने का ख़तरा उन्होंने अवश्य उठाया है।

'मुक्तिवोध' का कथानक वस्तुतः एक ऐसा ही कथानक है जिसमें समसामयिकता के सारे ख़तरे विद्यमान हैं। उसकी कहानी राजनीति के उतार-चढ़ाव में फँसे एक ऐसे राजनीतिज्ञ की कहानी है जो प्रकटतः सत्ता और राजनीति के दाँव-पेचों से ऊबकर मुक्ति चाहता है, किंतु अंतर्मन में सत्ता के लिए आसक्ति लिए है। उसकी विरक्ति वस्तुतः कुछ तो अत्यधिक सुविधाओं के योग और कुछ ढलती उम्र के तक़ाज़े की सहज अभिव्यक्ति है। चूँकि अब वह उतनी भाग-दौड़ और जोड़-तोड़ करने में अपने को असमर्थ पाता है, इसलिए सोचता है कि सत्ता की राजनीति से संन्यास लेकर सेवा और कर्म के क्षेत्र में उतरूँ। वह मंत्री रह चुका है इसलिए साधारण संसद-सदस्य के रूप में वह निरंतर एक थकान और पराजय का अनुभव करता है। उसकी विडंबना यह है कि वह नहीं जानता कि राजनीति से संन्यास की यह इच्छा वस्तुतः उसकी आंतरिक सेवा-भावना

के कारण है या गुटों की राजनीति में असफलता के कारण। उसकी निष्क्रियता और पराजय एक ऐसा कवच चाहती है जहाँ वह हीनताभाव का अनुभव न करे और उसके लिए फ़लसफ़ा तैयार करने में जैनेन्द्र जी ने उसकी पूरी मदद की है। दूसरे शब्दों में, दुविधा को उभारने और ढकने में लेखक सफल हुआ है।

मगर इस दुविधा की उससे भी ज़्यादा सार्थक चोट नीला और सहाय के संबंधों में प्रकट होती है जो पूरे उपन्यास की आत्मा है। नीला उस ज़माने में सहाय के निकट आई थी जब वे मंत्री थी और जब उन्होंने उसके पति मि० दर को काफ़ी फ़ायदे भी पहुँचाए थे। परंतु वे ऐसे व्यक्तिगत संबंधों में भी अब तक इस ग्रंथि से मुक्त नहीं हो पाते कि वे कभी मंत्री रहे हैं। चुनाँचे, सहाय जहाँ संबंधों के स्तर पर जम जाते हैं वहाँ नीला विकसित होती जाती है। उसका दर्शन उपभोगवादी है। उसे "आकाश पसंद है जो खुला है, दिशाएँ पसंद हैं जो बुलाती हैं—चारों तरफ़ से, किसी तरफ़ से, रोकती नहीं।" उसे आदर्शों के दड़बे पसंद नहीं। वह आपा भूलकर मन की बात करना चाहती है, तर्क के खोल उतारकर सहज होना चाहती है। जीने और जिलाने से आगे उसका कोई आदर्श नहीं, इसलिए किसी क़िस्म के नैतिक संकट का सवाल ही वहाँ नहीं उठता। लेकिन सहाय—यानी राजनीतिज्ञ बिना किसी आड़ के—चाहे वह आड़ आदर्शों की हो या नैतिकता की, सेवा की हो या स्वार्थ की, चीज़ों को देख ही नहीं पाते। अतः नीलिमा के प्रसंग में सहाय (और प्रकारांतर से राजनीतिज्ञों) के दुविधाग्रस्त मन ओर उनके अननुमुक्त 'स्व' को, जो अपने पुत्र, मित्र और अपनी पत्नी के सामने भी लबादा नहीं उतारता, काफ़ी उधेड़ा गया है।

श्री सहाय का सारा आदर्श लिजलिजा और उनकी सारी महत्ता कायरों की महत्ता है। उनका पुत्र, उनकी पत्नी और ठाकुर जैसा मित्र था उनका दामाद, पुत्री या रूसी लड़की—सब सहाय के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द चक्कर काटकर गिर जाने वाले ऐसे निरीह पात्र हैं जो एक ओर सहाय के तो दूसरी ओर स्वयं अपने भी पतन के कारण हैं। यद्यपि उपन्यास में वैयक्तिक रूप से एक राजनीतिज्ञ की दुविधा और अंतर्द्वंद्व कुछ हद तक उभर सका है, लेकिन उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें नीलिमा जैसी एक नितांत मुक्त नारी को बिना किसी पूर्वाग्रह के चित्रित किया गया है और विवाहित व्यक्तियों के प्रेम-प्रसंग को उठाते हुए संकोच, आदर्श या नैतिकता की बैसाखियों का सहारा नहीं लिया गया। और इस बात के लिए पुराने कहे जाने वाले जैनेन्द्र जी की जितनी तारीफ़ की जाए कम है।

हाँ, औपन्यासिक अर्थों में यह रचना अधूरी और सतही है। वर्तमान राजनेताओं की ज़िंदगी में गहरी पैठ, शासन में देशी-विदेशी हस्तक्षेप या राजनीतिक दाँव-पेच और उठा-पटक की कोई मुकम्मल तस्वीर इसमें नहीं मिलती (हालाँकि उनके संकेत इसमें

हैं)। शायद रेडियो पर प्रसारित होने के कारण ये मीमाएँ रही हों। परंतु इस कथ्य और समसामयिक राजनीति की भावभूमि के लिए उपन्यास को बहुत कम विस्तार दिया गया है। और चूँकि उसकी परिधि बहुत छोटी है इसलिए उसकी चोट समसामयिक संदर्भों में दूर तक नहीं उतरती। सच तो यह है कि ऐसे प्रसंगों में जैनेन्द्र जी की ख़ूबसूरत सूत्रों वाली भाषा भी कृत्रिम और निर्जीव लगने लगती है।

अपनी रचनाओं के संदर्भ में विशिष्ट कृतियाँ देते जाना, मेरे ख़याल से नएपन की अनिवार्य शर्त है। वह विशिष्टता चाहे दृष्टि में हो चाहे कथानक में, चाहे लेखन में हो या अभिव्यक्ति में, कहीं होनी चाहिए। जैनेन्द्र जी में वह नहीं है। हाँ, रेणु के उपन्यास 'जुलूस' की भूमिका में उसके संकेत ज़रूर हैं, "पिछले कुछ वर्षों से मैं अद्‌भुत भ्रम में पडा हुआ हूँ। दिन-रात, सोते-बैठते, खाते-पीते मुझे लगता है कि एक विशाल जुलूस के साथ-साथ चल रहा हूँ। अविराम। यह जुलूस कहाँ जा रहा है, ये लोग कौन हैं ''कहाँ जा रहे हैं, क्या चाहते हैं—मैं कुछ नहीं जानता। इस महाकोलाहल मे अपने मुँह से निकला हुआ नारा मुझे सुनाई नहीं पडता।''किंतु इस भीड़ से अलग होने की सामर्थ्य मुझमें नहीं।" इस भाषा और इन विचारों से आभास मिला कि रेणु अभी लेखन की कई मंज़िलें तय करेंगे। किंतु उपन्यास पढ़कर न कहीं कोई जुलूस दिखा और न वह भावना जिसका भूमिका में जुलूस निकाला गया है।

लगता है, अपने पहले उपन्यासों की सफलता से रेणु ने एक सूत्र बनाया है जो उपन्यास-लेखक को सरल व्यावसायिक आधार प्रदान करता है—एक अंचल लीजिए। वहाँ के पाँच-सात प्रमुख पात्र छाँट लीजिए। उनमें से एक को कंजूस, एक को बदमाश, एक को शोषक, एक को प्रेमी और एक को नठंत बनाइए। फिर एक अच्छी-सी लड़की ले आइए (अगर वह लड़की बंगाल की हो, जैसा कि इस उपन्यास में है, तो क्या कहने) और ज़रा सावधानी से आंचलिक भाषा का पुट देते हुए सबको उस लड़की की तरफ़ आकृष्ट करा दीजिए। इस बात का ख़याल रखिए कि लड़की आदर्शवादी हो। फिर दो-एक ऐसे शहरी चरित्रों को लेकर चाशनी बनाइए जो या तो आदर्श की मशाल दिखाएँ या कोई और राजनीतिक रोल अदा करें। वार्तालाप पर विशेष ध्यान दीजिए और अंग्रेज़ी शब्दों को तोड़कर ग्रामीण हिंदी में ढाल लीजिए। आप पाएँगे कि एक कहानी बन गई है और उपन्यास की शक्ल लेती हुई आगे बढ़ रही है।

खुद 'जुलूस' रेणु के पिछले उपन्यासों की जूठन-भर है। अंतर केवल यह है कि 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' के बड़े कलेवर में जो दोष दिखाई नहीं देते थे, वे यहाँ ख़ूब उजागर हैं।

'जुलूस' में, पूर्वी बंगाल के विस्थापितों की बिहार के एक अंचल में बसने और वहाँ के वातावरण में रम जाने की कहानी वर्णित है। इस कहानी को हस्बेमामूल रेणु ने

अपनी ख़ूबसूरत भाषा में कई चरित्रों द्वारा खड़ा करने की कोशिश की है। लेकिन कोई भी चरित्र इतना दमदार नहीं है कि वह इस मामूली-सी कहानी का भी वज़न उठा सके। यहाँ तक कि पवित्रा, यानी उपन्यास की नायिका भी एक नक़ली और गढ़ी हुई नारी लगती है जो क्षण-भर के लिए भी कन्विंस नहीं करती। नवीनगर बस्ती में उसे प्रधानमंत्री जैसा दरज़ा देकर लेखक ने उसकी रही-सही वास्तविकता भी ख़त्म कर दी।

आश्चर्य होता है कि इतना ठहरा हुआ उपन्यास 'रेणु' ने लिखा है। फ़िल्मों वाली भावुकता, जिसमें रुदन की विशेष भूमिका होती है, रेणु को शायद बहुत पसंद है। उनके पात्र सार्वजनिक रूप से पाठक को मानवीय रिश्तों की अनिवार्यता के प्रति आश्वस्त करना चाहते हैं। मगर रेणु भूल जाते हैं कि हिंदी के आधुनिक साहित्य का पाठक मानवीय रिश्तों की संवेदना खोता जा रहा है, इसलिए इस सिलसिले में कोई भी भावुक एप्रोच उसे विगलित नहीं करती। यह नुस्ख़ा बँगला में कारगर होता होगा !

रेणु न बदलते हुए रिश्तों को पकड़ पाए हैं और न उस खोखलेपन को जो ऐसी बस्तियों में सरकारी कृपा का फल होता है। महज़ ऊपरी तामझाम उपन्यासों को अर्थवत्ता नहीं दे पाता।

लेकिन प्रेम कपूर जैसे कुछ लोग ज़्यादा ध्यान अर्थवत्ता पर देते हैं। अपने उपन्यास 'एक और सब' में उन्होंने पहले आठ पृष्ठों में तीन उद्धरण दिए हैं—दो अंग्रेज़ी और एक हिंदी का। शायद वे उपन्यास की मूल आत्मा के निकट पड़ते हों और उनसे उपन्यास को समझने में मदद मिलती हो। परंतु मैं सारी कोशिशों के बावजूद उपन्यास को 59 पृष्ठ से आगे नहीं पढ़ पाया। शायद कुछ तो अपनी डायरी और संस्मरणात्मक शैली के कारण और कुछ बेमानी और नीरस डिटेल्स के कारण उपन्यास इतना बोझिल हो गया है। जिन्हें पढ़ने को दिया, वे भी कामयाब नहीं हो सके।

उपन्यास के परिच्छेद पात्रों के नामों पर हैं—राजू, निर्मल, रऊफ़ आदि-आदि, और हर पात्र अपने-अपने अध्याय में जो कुछ कहता है वह असंबद्धता के कारण मात्र प्रलाप लगता है। शायद उपन्यास आगे बहुत ऊँचा उठ गया हो या बहुत रोचक हो गया हो। पर इससे ज़्यादा बोर उपन्यास आज तक मेरी नज़रों से नहीं गुज़रा।

वैसे रोचकता के लिहाज़ से शिवानी को छोड़ और सब लेखकों के उपन्यासों की स्थिति कमोबेश ऐसी ही है और यदि संपादक से 'कमिटमेंट' न होता तो मैं इनमें से आधे उपन्यासों को निश्चय ही बिना पढ़े छोड़ देता।

(मूल लेख एक बार डाक में खो गया था, लेकिन दुष्यन्त जी ने कृपापूर्वक उसे हमारे आग्रह पर दोबारा भी लिख दिया। आभार।—सं०)

('ज्ञानोदय', अगस्त, 1966)

एक और तस्वीर

बात मध्य प्रदेश के कहानीकारों, व्यंग्य-लेखकों और कथा-समीक्षकों की है, यह शुरू करनी पड़ रही है कवियों से, क्योंकि वह लगन, वह साधना, वह सृजन की भूख, जो किसी जमाने में कवियों की बपौती मानी जाती थी, आज कहानीकारों में भी उतनी ही या उससे भी कुछ अधिक मात्रा में विद्यमान है।

मुझे याद है, एक कवि ने अपनी परेशानी का अनुभव करते हुए एक बार मुझसे कहा था, "बड़ी उलझन में हूँ दोस्त ! मेरी शांति-संबंधी कविताओं के संग्रह के लिए एक प्रकाशक पीछे पड़ा है, मगर मैं इस अल्सेट में हूँ कि संग्रह में कौन-सी कविता दूँ और कोन-सी न दूँ। सारी बेटियाँ जवान खड़ी हैं। जिसकी भाँवर नहीं पड़ेगी वही बुरा मान जाएगी। अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ ?"

और मैंने आश्चर्य से पूछा, "शांति पर इतनी कविताएँ हैं भी तुम्हारे पास ?"

"क्यों ?" मेरे आश्चर्य पर अपने विस्मय की छाप लगाते हुए उसने कहा था, "साठ-पैंसठ तो सिर्फ़ कबूतर हैं।"

दूसरी मुलाक़ात एक कहानीकार से हुई थी तो उन्होंने बताया था कि उनकी योजना मध्य प्रदेश कहानीकार सम्मेलन बुलाने की है। सम्मेलन में कहानी-पाठ वाले दिन हर कृती-लेखक अपनी-अपनी 'मौलिक रचना' सुनाएगा और समीक्षा-पाठ में, हिंदी कथा-साहित्य में मध्य प्रदेश के योगदान पर विस्तृत चर्चा होगी। एक आइडिया उन्होंने धीरे से बताया था, इसके पीछे ये भी है कि जो लखक, संबंध, संपर्क, सिफ़ारिश या संपादकों से रिश्तेदारी के बल पर साहित्य में घुस आए हैं, उनकी कलई खुलेगी और योग्य तथा प्रतिभासंपन्न लेखकों को सार्वजनिक रूप से मान्यता मिलेगी। 'कहानी-पाठ' में पढ़ने के लिए अपनी एक 'स्तरीय कहानी' का एक थीम भी उन्होंने मुझे सुनाया था। लेकिन इधर पाँच-सात साल बाद वे फिर मिले तो उन्होंने फिर वही योजना मेरे सामने रखी। हाँ, अब अखिल भारतीय कहानीकार सम्मेलन की योजना बन गई थी। फिर वही थीम उन्होंने मुझे अलबत्ता आधुनिकता के ख़याल से सुनाया, उसमें नायक द्वारा आत्महत्या का प्रसंग और जोड़ दिया गया था। और फिर उसी उत्साह से उन्होंने बातें कीं, मगर कहीं भीतर से वे बहुत व्यथित थे कि हिंदी कहानीकारों में कितनी गुटबंदी आ गई है और सम्मेलन-अध्यक्ष पद के लिए कोई भी नाम ऐसा नहीं मिल रहा जो

सर्वसम्मत हो। मैंने ज़रा और कुरेदा तो मालूम हुआ कि वे इस सम्मेलन के कहानी-पाठ वाले अंश को रेडियो से प्रसारित कराने के चक्कर में हैं और इसीलिए मेरा सहयोग चाहते हैं।"प्रिय, हो सकता है कि एक अखिल भारतीय कहानीकार सम्मेलन बुलाकर उसमें अपनी कहानी पढ़ने और ब्रॉडकास्ट कराने की महत्त्वाकांक्षा को सीने में दबाए हुए थे। कहानीकार महोदय इस दुनिया से चल बसे या शांति के कबूतर पर 65 कविताएँ लिख डालने वाले उस मासूम कवि को जीवन-भर कोई प्रकाशक न मिले, पर उनके साहित्यानुशंग की दाद आपको देनी पड़ेगी। ऐसे लेखकों को उनकी लगन के कारण मैं साधक साहित्यकार मानता हूँ। चूँकि बक़ौल उनके, "परिचय, संपर्क और सिफ़ारिश के अभाव में उनका नामोल्लेख साहित्य में नहीं हो पाता, इसलिए यहाँ हम उनका उल्लेख करने के लिए उस संपादकीय आदेश में बँधे हैं।" वह स्थापित, प्रतिष्ठित या कम से कम परिचित नाम चाहता है जिनके फ़ोटो छापे जाएँ तो ब्लॉक का ख़र्चा पाठक की जेब से निकल आए। ऐसे प्रतिष्ठित लेखकों को मैं 'उप-साधक' या 'संसाधक साहित्यकार' कहता हूँ। इसका कारण यह है कि इनका पहला कमिटमेंट लेखन से न होकर किसी और चीज़ से है, वह चाहे शासन हो या सेठ, नौकरी हो या राजनीति।

गुड़ का शौक़ : गुलगुलों से परहेज़

हाँ, इनमें एक अपवाद है और वह है शानी। बाती, पाती और शिवाती की शर्त पर कुछ लोग इन्हें लेखिका समझते आए हैं। फुलवानी, ललवानी और तनवानी के वज़न पर कुछ ने इन्हें सिंधी समझने की भूल की है। इसलिए अपने नए उपन्यास 'कालाजल' के दूसरे संस्करण के कवर पर उन्होंने अपना पूरा नाम गुलशेर अहमद ख़ान अलग से अंकित कराया है।

मध्य प्रदेश के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार समझे जाने वाले शानी उर्फ़ गुलशेर अहमद ख़ान को दो चीज़ों से परहेज़ है, एक तो अपने शासकीय पदनाम से और दूसरे अपनी शैक्षणिक अर्हता से। उनसे दुश्मनी मोल लेनी हो तो आप उनका परिचय सरकारी कर्मचारी के रूप में कराइए। आप देखेंगे कि देखते-देखते हिस्टीरिया के मरीज़ की तरह शानी के शरीर में हरकत होगी। पहले ज़बान हिलेगी (अस्फुट आर्तनाद में) और फिर शरीर हिलते-हिलते कमरे से बाहर चला जाएगा। उनका सोचना यह है कि मुझे क्यों सिर्फ़ लेखक के रूप में पेश नहीं किया जा सकता और क्यों समाज कमबख़्त आदमी को किसी न किसी खूँटे से जोड़कर देखने का ऐसा आदी हो गया है कि बिना खूँटे का आदमी उसे आदमी ही नज़र नहीं आता।

मियाँ शानी इसी बीमारी के सबब ऐसी नौबत प्रायः आने नहीं देते। किसी भी जगह किसी अपरिचित से परिचय का सिलसिला निकलते ही वे हाथ के साथ फ़ौरन

पुतलियों का भी, चश्मे के लैंस तक उगलते हुए, शीन-काफ़ से दुरुस्त लहजे में मेकनामन लाते हुए कहेंगे, 'मुझे शानी कहते हैं साहब !' और शेष वाक्य को उनकी भाव-भंगिमा और बाहर निकली हुई पुतलियाँ पूरा करेंगी, 'कहिए हज़रत, आपने पहचाना या नहीं। मैं ही वह जनरल हूँ जिसने हिंदी कथा-साहित्य के महासमर में संयुक्त मोर्चे की सेनाओं को शिकस्त दी है।' और परिचय की इस प्रक्रिया के दौरान उनकी पुतलियाँ बराबर एक आतंक का आलम बरपा करती रहेंगी। मगर खुदा न ख़ास्ता यदि वह नया व्यक्ति साहित्य से बावस्ता न हुआ या उसने पलटकर पूछ लिया, 'अच्छा, आप कहाँ काम करते हैं ?' तो शानी साहब की पुतलियाँ चश्मे के लैंस से सटकर फ़ौरन अपनी जगह वापस आ जाएँगी और शानी साहब चलते-फिरते नज़र आएँगे या उन साहब की बदज़ोंकी, बदशऊरी और बदक़िस्मती पर भाषण देते हुए।

उनका ख़याल है कि लोगों को चाहिए कि वे मुझे जानें और इस रूप में कि मैं लेखक हूँ। लेकिन शक्ल से शानी साहब लेखक से अधिक सहअभिनेता के०एन० सिंह के छोटे भाई लगते हैं। लड़कियाँ तक उन्हें स्टूडेंट या अभिनेता तो मान लेती हैं, लेकिन लेखक मानने को तब तक तैयार नहीं होतीं जब तक कुछ पढ़ न लें। उनके व्यक्तित्व में यह एक ऐसी ख़सूमियत है जिसके कारण एक बार एक दोस्त ने कहा था, 'भई, ये तुम्हारे शानी साहब भी अजीब चीज़ हैं। कला और भाषा कमबख़्त के पास देवदूत की-सी है और आदतें भूत की-सी।' यह कला, यह भाषा का करिश्मा है या ख़सूसियत या हरकत। सबकी सब चीज़ें मनोहर श्याम जोशी की जनता के अनुसार उनके हीनता भाव। यही हीनता भाव एक ओर उन्हें लेखक बनाए है, दूसरी ओर अजूबा। जो लोग उन्हें सिर्फ़ लेखक मानकर चलते हैं उनके लिए शानी निहायत नॉर्मल और शानदार आदमी हैं, और जो उन्हें आदमी मानकर चलते हैं उनके लिए शानी दंभी, असंयत और झक्की इंसान हैं।

शानी में ग़ज़ब का विरोधाभास है। उन्हें झूठ से नफ़रत है, मगर सच बरदाश्त नहीं होता। उन्हें छोटी पोज़ीशन के लोग पसंद नहीं आते, किंतु बड़ी पोज़ीशन के लोगों का अपमान करने का अवसर ढूँढ़ते रहते हैं। उन्हें टुच्चेपन से चिढ़ है, मगर महानता उनमें इधर से उधर तक नहीं। उन्हें ऐशो-इशरत से घृणा है मगर उस ज़िंदगी के लिए वे तरसते हैं। वे अपने एडीटर को हिंदी सिखाने की लियाक़त रखते हैं, मगर वे सब-एडीटर हैं और कहानीकार के रूप में अग्रगण्य होते हुए भी अमर होने लायक़ एक कहानी उन्होंने नहीं लिखी। लोग कहते हैं कि उनके एक तरफ़ पड़ जाने का कारण यह है कि उनकी सामाजिक चेतना मुस्लिम मध्य-वर्ग के 'सेक्स विहेवियर' तक सीमित है और जीवन में सीमित होते जाने का कारण ये है कि वे बहुत 'इम्पल्सिव' हैं। वे गुड़ खाते हैं, मगर गुलगुलों से परहेज़ फ़रमाते हैं। लिहाज़ा उनके बारे में सच कमेंट करना

उतना ही ख़तरनाक है जितना झूठ।''फिर भी एक आदमी है जो सौ बार उसे लहूलुहान करने के बाद भी उसका दोस्त बना हुआ है—और जिससे शानी चाहे तो दुश्मनी रख सकता है, मगर दोस्ती नहीं तोड़ सकता। वह आदमी इन पंक्तियों का नाचीज़ लेखक है जो जानता है कि बाहर से अंतर्विरोधी लगने वाली ये सारी जटिलताएँ शानी के व्यक्तित्व को एक ऐसी ख़ूबसूरती बख़्शती हैं जो दूर से चौंकाती और पास से आकृष्ट करती हैं।

दगना तोप का और मिलना लाइसेंस तमंचे का

शरद जोशी की स्थिति शानी से ठीक उलटी है। ये दूर से आकृष्ट करते और पास से चौंकाते हैं। दूर से खिंचकर जो लोग इनके पास आते हैं वे पास से छिटककर दूर भाग जाते हैं। इसलिए शरद के साहित्यिक दोस्त दिल्ली या बंबई में हैं, भोपाल में नहीं, भोपाल में साहित्यिक दोस्तों के नाम पर साहित्य में रुचि रखने वाले कुछ छोटे-मोटे सेठों को उन्होंने फाँस रखा है जिनसे आर्थिक लाभ के लिए तो वह अपने चेक भुनवाते हैं और आत्मिक लाभ के लिए अपनी प्रशंसा सुनते हैं।

पिछले दिनों एक विज्ञापन निकलने वाला था, 'आवश्यकता है, शरद जोशी के लिए प्रशंसकों की, जो उसके लतीफ़ों को कहानियों, फ़िकरेबाज़ियों को व्यंग्य और उसकी कहानियों को उपन्यास घोषित करते हुए मुक्त कंठ से वाह-वाह करते रह सकें।' मगर एक संशोधन के कारण यह विज्ञापन निकला नहीं। संशोधन था कि 'प्रशंसकों' के स्थान पर 'चर्चा करने वालों की' कर दिया जाए।

जोशी जी अचर्चित नहीं, चर्चित रहना चाहते हैं। ख़ुद भी वह धाराप्रवाह किसी नियम और अधिकतर व्यक्ति पर भाषण अथवा चर्चा कर सकते हैं। यह उनकी हॉबी है। इसलिए वह निस्पृह होकर धड़ाधड़ लिखते भी हैं और अकसर इसीलिए इतनी चालू चीज़ें लगातार लिखते चले जाते हैं कि आप यदि यह कहना चाहें कि 'इधर क्या हो गया है—पहले तो शरद बहुत अच्छा लिखते थे' तो अपनी बात के समर्थन के लिए भी हाल की पत्रिकाओं से आपका कोई उदाहरण ढूँढ़े न मिले। यह तो हुई अखिल हिंदी साहित्य में जोशी जी की चर्चा की स्थिति, और लोकल साहित्य की स्थिति यह है कि चर्चा के शगूफ़े ख़ुद जोशी जी के पास अनेक हैं। जब जोशी जी सूचना विभाग में थे तब उनके पास एक तोप हुआ करती थी, नाम था इस्तीफ़ा। चूँकि भोपाल में निन्यानबे प्रतिशत हिंदी साहित्यकार सरकारी नौकरी में हैं, इसलिए जोशी जी अकसर अपनी तोप को 'लोड' करके चलते थे और बातचीत के दौरान अकसर उसका रूप मुख़ातिब साहित्यकार की ओर करके उसे सहसदम कर देते थे। बेचारे अधिकांश लेखक तोप का लाइसेंस प्राप्त कर सकने की स्थिति में न होने के कारण उनका लोहा मानते और उनकी चर्चा

करते थे। किसी ज़माने में शरद की इस्तीफ़ा नामक तोप लोकल साहित्यकारों में आतंक का विषय थी। मगर एक बार ग़लती से यह तोप दाग दी। हालाँकि काफ़ी धूम-धड़ाका हुआ। रोब मानने वाले लेखक और रोब मानने लगे, चर्चा न करने वाले लोग भी जोशी जी की चर्चा करने पर मजबूर हुए, लेकिन जिस दिन से जोशी जी ने चुपचाप उस गोले को उठाकर वापस तोप में डाल लिया उस दिन से उनकी किरकिरी हो गई थी। चुनाँचे दो-एक साल की प्रतीक्षा के बाद जोशी जी ने फिर एक बार तोप दागी और ऐलान किया कि हम सब अहिंसक हो गए हैं और फ्रीलांसिंग करेंगे। शरद के पैंतरों को फ़ौरन न समझ पाने की अभ्यस्त जनता ने इस बार चर्चा के स्थान पर 'प्रतीक्षा कीजिए और देखिए' वाली नीति अपनाई। किंतु भला हो शरद के निशानों के प्रामाणिक व्याख्याकारों तथा श्री राजोरिया, श्री त्यागी और श्री विद्रोही का जिन्होंने शीघ्र ही जनता में यह सूचना प्रसारित कर दी कि जोशी जी एक देशी तमंचे का लाइसेंस ले आए हैं और दैनिक मध्य प्रदेश से संपादकीय विभाग में प्रधान संपादक पर उसका प्रदर्शन कर रहे हैं। शुरू-शुरू में एक तमंचे की रेंज को लेकर काफ़ी ख़बरें उड़ीं, पर जब प्रधान संपादक घायल अवस्था में दिखे तो लोगों को विश्वास हो गया कि देशी होने के बावजूद तमंचा असली है। इस प्रकार फिर एक बार जोशी जी की 'मनचीती चर्चा' प्रेमिका उनके गले से जा लगी। शासन में थे तो जोशी जी ने शासन को और शासन ने जोशी जी को चूना लगाने में कोई कसर छोड़ी नहीं। जोशी जी कह सकते थे, लो मैं काम ही नहीं करता और शासन कह सकता था कि अच्छा, हम तुम्हें लेखक ही नहीं मानते। और हुआ भी यही कि लेखक के एक गजेटेड पद के लिए (जिसके उम्मीदवार शरद जोशी भी थे) शासन ने उनके मुक़ावले कनछेदी लाल जैन को चुन लिया।

एक 'प्रेक्टिकल जोक' था और 'प्रेक्टिकल जोक' से शरद बहुत कतराते हैं। वे वर्बल जोक, जिन्हें आप मौखिक मज़ाक़ कह सकते हैं, के आचार्य हैं और घड़े पर घड़ा मारते चलते हैं। पर 'प्रेक्टिकल जोक' वालों की छटंकी भी उनके घड़े पर भारी पड़ती है। परनिंदा और प्रवाद के आचार्य श्री दामोदर सदन उन पर हमेशा इसी शस्त्र से प्रहार किया करते थे। और धनंजय वर्मा जब तक भोपाल में रहे, इसी शस्त्र से उन्हें लहूलुहान करते रहे।

यों योजनाप्रिय होने के नाते शरद जोशी आकांक्षा रखने वाले चेलों-चपाटों के सहयोग से कभी पत्रिका का प्रकाशन, तो कभी मुक्तिबोध समारोह, कभी निराला पुण्य-तिथि तो कभी कोई अन्य समारोह करते ही रहे हैं। लेकिन चंदा चेले उगाहते हैं और यश शरद जोशी। इससे खिन्न होकर अनेक चेले फ़्लोर-क्रॉस कर गए हैं। चूँकि इधर कोई नया मसला नहीं है इसलिए शरद जोशी फिर उसी 'मोहन राकेश : व्यक्ति और व्यक्ति' नामक विषय पर चर्चा करते नज़र आते हैं।

कई चिड़ियाँ मारने की कला

हिंदी साहित्य में हास्य और व्यंग्य विधा के उन्नयन, उत्पात और आंदोलन की बागडोर हरिशंकर परसाई के हाथों सौंपकर और अपने आपको नंबर दो घोषित कर शरद ने दो नामों की कल्पना की थी। एक तो यह कि नेतृत्व पर पड़ने वाली गालियों, कुतर्कों और वक्तव्यों का भार परसाई पर आ पड़ेगा, और दूसरा यह कि नंबर दो की दौड़ में खड़े श्रीलाल शुक्ल, केशवचन्द्र शर्मा और रवीन्द्रनाथ त्यागी वग़ैरह के मुक़ाबले मुझे परसाई का समर्थन मिलेगा। मानी शरद ने एक पत्थर से दो चिड़ियाँ मारनी चाहीं। लेकिन एक पत्थर से अनेक चिड़ियाँ मारने की कला में सिद्धहस्त हरिशंकर परसाई ने नेतृत्व तो चुपचाप स्वीकार कर लिया, मगर नंबर दो के मामले में ऐसा मौन साधा जैसा नेहरूजी ने अपने उत्तराधिकारी के मामले में साधा था। दरअसल, परसाई को शरद ने भी ग़लत समझा।

सही स्थिति ये है कि परसाई हिंदी पाठकों के हीरो और हिंदी के नए लेखकों के दादा हैं। चाहे मजबूरी में ही सही, पर वे कुछ दिनों ब्रह्मचारी रहे, फिर विकसित होकर साधु हो गए और आज मठाधीश हैं। अपने चारों ओर छुटभैयों की जमात इकट्ठी करके चलना और सेठों, राजों की तरह उन्हें प्रतिभा के प्रमाण-पत्र बाँटना उनका शगल है। वे जबलपुर में रहते हैं मगर उनके प्रमाण-पत्रों की प्रमाणित और अप्रमाणित प्रतिलिपियाँ भोपाल में भी ख़ूब मिलती हैं। अगर आप लेखक हैं तो यह ख़तरा बराबर बना रह सकता है कि कोई नया कहानीकार आए और अपनी दो कहानियाँ आपको सुनाकर कहे, 'मैं परसाई जी से मिला था। मेरी इस रचना को उन्होंने सुनकर कहा, यह अज्ञेय की 'रोज' से टक्कर लेती है और दूसरी के बारे में उनके विचार थे कि यह कमलेश्वर की 'नीली झील' पर भारी पड़ती है।'

परसाई जी सबको साधकर चलने के स्वभाव से लाचार हैं। इसलिए एक ओर वहाँ की प्रगतिशीलता का बिल्ला लगाकर रूस घूम आते हैं और डांगे के समाजवाद को समर्थन देते हैं, वहीं दूसरी ओर इलेक्शन में सी० रामेश्वर गुप्त के समाजवाद के ख़िलाफ़ वित्तमंत्री पं० कुंजीलाल दुबे के समाजवाद की जय-जयकार करते हैं। दोस्त लोग बतलाते हैं कि बचपन में रामलीला में लक्ष्मणगिरी करने के कारण जिस चश्मे से उन्हें हर महिला में सीता मैया के परम पावन तनय दृष्टिगोचर होते हैं उसी से उन्हें भ्रष्ट नज़र आते हैं। इसी ज़मीन पर आप परसाई से चाहे तो किसी सम्मेलन या प्रदर्शनी का उद्घाटन करा लीजिए, चाहे किसी के लिए शासन से वित्तीय सहायता का आयोजन, आपको साधते हुए परसाई आपके साथ हैं।

प्यार में हरिशंकर परसाई को परिशंकर हरजाई कहने वाले लोगों का दावा है कि पटखनी में आलिंगन का भ्रम और गालियों में चुंबन का इफ़ेक्ट पैदा करने की कला

हिंदी में अज्ञेय के बाद परसाई जी ने ही हस्तगत की है। अच्छी बात ये है कि परसाई को अभी तक यह मालूम नहीं कि उनके व्यंग्य न सिर्फ़ हिंदी बल्कि अन्य भारतीय भापाओ पर भी भारी पड़ते हैं। यों लोगों ने बतलाया तो होगा ही, पर दूसरों पर व्यंग्य करते-करते परसाई इतने 'कॉन्शस' हो गए हैं कि समझते हैं, मुझे बनाया जा रहा है। ओर साहित्य में बनने की बजाय वे राजनीति में बनना ज़्यादा पसंद करते हैं, चाहे बकोल दैनिक 'हितवाद' के वह विधान परिपद की मेम्बरी ही क्यों न हो। हो सकता हे उन्हें लोगों ने खड़ा होने के लिए मजबूर किया हो, क्योंकि लोग, चाहे वे कांग्रेसी हों या कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट, सभी उन्हें बहुत चाहते हैं यानी सभी सीमाओ मे वे समान रूप से लोकप्रिय हैं। यहॉ तक कि सतत धुनाई के बावजूद जनसंघ भी उनका विरोध नही करता। इससे सिद्ध है कि चिड़िया मारने की कला उन्होने बडे लंबे अभ्यास और अपने मीठे स्वभाव से अर्जित की है।

परसाई जी की पनचक्की रोज साहित्य पीसती है, जिसमे से अख़बार के कॉलम, पत्रिकाओ के व्यग्य-लेख, प्रकाशको की कोर्स-बुक्स यथा व्याकरण, पोराणिक कथाएं ओर हिंदी साहित्य का इतिहास आदि और मार्क्सवाद विश्व प्रशांति तथा अफ्रोएशियाई मसलो पर फुटकर प्रवचन निकलते रहते है।

मुख़्तसिर क़िस्सा कृष्ण किशोर श्रीवास्तव का

इधर एक ऐसे शोध-विद्यार्थी की तलाश की जा रही थी जो परसाई की ग्चनाओं मे नारी-पात्रो पर खोजकर सिद्ध करे कि वस्तुत· परसाई जी नारी-पात्रो से क्यो बचते रहे हे ? लेकिन जिज्ञासु जानते हे कि बचते नही रहे बल्कि जबलपुर की ही दो अन्य विभूतियों ने उन्हे जानबूझकर ऐसे अवसर से दोगला नहीं होने दिया। लीजिए, कृष्ण किशोर श्रीवास्तव का बयान हाज़िर है—"मेरी उम्र चालीस से इधर हे, मगर सुबह-सुबह 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' कार्यक्रम बदस्तूर जारी हे। साहित्य पठन-पाठन और लेखन में व्यवधान पड़ सकता है, पड़ जाता है और पडता हे। मगर ढाई आखर की कर्मशाला ज्ञानशाला भी है। बाहर जाता हूॅ तो पत्नी लट्ठे के चार लॅगोट साथ रख देती है। जीवन मे ब्रह्मचर्य का जो महत्त्व है, वही कहानियों का। मैं कहानियॉ इसलिए नहीं लिखता कि कहानीकारों को जानता हूँ। अभी कमलेश्वर और भारती को बुलाने वाला हूँ। तुम भी आना चाहो तो आ जाओ—आलोचक बनकर। पर यह बताओ, हिंदी में कमलेश्वर और भारती को मिलाकर कोई चार सौ कहानीकार तो होंगे। इनमें से अगर कोई टरक गया तो हिंदी पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला है। जबकि नाटककार आठ-दस ही हैं और उनमें भी चार-पाँच गोविंददास हैं। इसलिए मैं जब मरूँगा तो हिंदी साहित्य में हलचल ज़रूर होगी। मैं ज़रा हलचल चाहता हूँ।"

कृष्ण किशोर श्रीवास्तव की हलचल ज़बान की ज़्यादा है। वे लिखने में साहित्यिक और बोलने में तकनीकी शब्दावली का प्रयोग करते हैं और इस शब्दावली की समस्याओं और संभावनाओं पर उनकी अटूट आस्था है। वे अपने आपको आचार्य न समझ बैठें, इसलिए मुझे बताना पड़ा कि "बंबई में प्रसिद्ध पत्रकार और उपन्यासकार श्री महावीर अधिकारी आपके पितृव्य हैं" तो वे श्रद्धा से नत होकर बोले, "वे आदर योग्य हैं क्योंकि उनके साहित्य में गंदगी नहीं होगी।"

के०के० ग़ैर-संजीदगी का इतना ख़ूबसूरत नाटक करते हैं कि संजीदगी का नाटक भी फ़ीका लगने लगता है। अंत में बोले, "यार, रजिस्ट्रार होने के चांसेज़ मारे जाएँगे। कहीं इसे छाप-छूप मत देना।"

प्रेरणास्रोत

अंचल, यानी कविवर रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' भूतपूर्व उपन्यासकार हैं। अपनी तकनीकी भाषा के लिए श्रीवास्तव उनका ऋण मानते हैं। कविताओं में अंचल भले ही किसी सुंदरी बाला की रोमानी स्थितियों का चित्र खींचा करें, पर उपन्यास में वे प्रगतिशीलता उगल चुके हैं। उनकी कविताओं में चाहे जितना पिष्टपेषण हो, मगर उनके विरोधी भी यह मानते हैं कि उनके जीवन में पिष्टपेषण नहीं है। वे गालियाँ भी देंगे तो नई देते चले जाएँगे, दुहराएँगे नहीं।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने उन्हे साहित्य के अखाड़े में जिस बैसाखी के सहारे खडा कर दिया था वे वहीं ज्यों के त्यों अव भी खड़े हैं। अब लकड़ी में घुन लग गया है, मगर अंचल की मुद्रा वही है। लोग कहते है, अव वे उपन्यास की प्रेरणा नहीं जुटा पाते, शायद उसके लिए ज़्यादा स्थायी प्रेरणा चाहिए। कविता का काम क्षणिक प्रेरणाओं से चल जाता है, सो ऐसी प्रेरणाएँ उन्हें अब भी मिलती ही रहती हैं। भाई लोगों का यह भी कहना है कि जब 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' या ऐसे अन्य पत्रों में उनके रोमानी गीत दिखाई न दें तो समझना चाहिए कि उनके पास प्रेरणा नहीं आई। लेकिन जब गीतो के स्थान पर नई कविता के ख़िलाफ़ उनका कोई लेख छपे तो मानना चाहिए कि उनकी प्रेरणा को कोई नया कवि ले उड़ा।

'गाना' (मन ही मन अपने गीतों का, क्योंकि अंचल अगर ज़ोर से गा दें तो गीत की खाल तक फट जाए) और 'बजाना' (इसका स्पष्टीकरण नहीं मिला) उनके प्रिय शगल हैं। सुमन यानी शिवमंगल सिंह 'सुमन' से दैहिक और भौतिक उपलब्धियों में स्पर्द्धा करते हैं, मगर सुमन की सहज गंध न होकर उनके अंचल में बाज़ारू सेंट की ख़ुशबू बसी हुई है।

सुमन : मरती हुई पंखुरियाँ

खुशबू बिखेरने का इतना कामयाब नाटक कि हर आदमी लंबी-लंबी साँसें खींचकर कहे, 'वाह ! क्या भीनी गंध है।' सुमन की अपनी विशेषता है और उनके पौरुष में घुलकर यह गंध इतनी व्यापक हो जाती है कि चाहे कहानीकार सम्मेलन हो या सिंहस्थ मेला, कालिदास समारोह हो या खंडेलवा-सम्मेलन, वह सर्वत्र मँडराती मिलती है। यही वजह है कि आज कहानी और उससे संबंधित व्यक्तियों पर लिखते हुए भी 'सुमन' का उल्लेख छूटा नहीं।

सुमन जी के व्यक्तित्व की धुरी है उनकी वाणी, जो निरंकुश और अजस्र भाव से केवल दूसरों की ही प्रशंसा करती है। फिर चाहे इस प्रवाह में वे द्वारिकाप्रसाद मिश्र को कालिदास की पीठ पर बिठा दें या अनुरागी को मायकोवस्की की, उन्हें कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इसी कला के चलते बड़े-बड़े मंत्री या आला अफ़सर उनके प्याले में नज़र आते हैं और बड़े-बड़े दादा और पाधा उनकी हाज़िरी बजाते हैं।

अब तक उज्जैन में सुमन जी ने जो चाहा और जैसे चाहा है, वैसे और वही हुआ है। शासन ने एक बार सुमन की इच्छा के विरुद्ध उनका तबादला इंदौर कर दिया था, उसके विरोध में जो हड़ताल उज्जैन में हुई थी वह अभूतपूर्व और ऐतिहासिक की संज्ञा से याद की जाती है। कहते हैं कि एक पत्ता भी सुमन की इच्छा के विरुद्ध नहीं हिल सकता था। पर आज वक़्त ऐसा बदला कि पत्ते तो पत्ते, पेड़ तक हिल रहे हैं और सुमन जी कह रहे हैं कि भाई, हिलो मत। और सब कुछ तो ठीक हो रहा है।

सुबह का घूमना और घंटे-भर की पूजा सुमन का नियम है। उस पूजा में वे कोई भी ग्रंथ रख लेते हैं। आजकल सुना है 'कृष्णायन' पूजा में चल रहा है। आशा है किसी विश्वविद्यालय की वाइस-चांसलरी का दरवाज़ा इससे खुलेगा। सुमन के लिए कोई द्वार बंद हो यह अच्छी लगने वाली बात नहीं है। (क्योंकि खुद उनके द्वार सदैव सबके लिए खुले हैं) सुमन के प्रियदर्शी व्यक्तित्व पर कोई वेदना की छाप हो, यह भी अजीब लगता है क्योंकि शेष को मुस्कराहटों में व्यक्त करने की कला में वे सिद्धहस्त माने जाते हैं। अब शायद वह कला भी उनका साथ नहीं देती। जिस अर्जुन का उन्हें बड़ा सहारा था वह गांडीव सहित होते हुए भी बाणविहीन है। दूसरा अस्त्र उनकी कविता-कला कुंठित पड़ी है। इसे उन्होंने आत्मरक्षा का नहीं, आत्मविज्ञापन का साधन बताया था, वरना आज बहुत काम आता। उनकी अफ़सरी, जिसके सामने उनकी कविता 'सौ तेली' बेटी की तरह तिरस्कृत हो गई, अब आड़े आ रही है। यद्यपि प्रतिसंचलन के लिए उन्हें अपने व्यक्तित्व में जादू बढ़ाना पड़ा है, लेकिन वह जादू अधिक से अधिक उनकी कमज़ोर कविताओं को मजमे में खड़ा कर सकता है, खड़ा रख नहीं सकता। इसलिए महारथियों की हार्दिक इच्छा आजकल यह है कि इसी बहाने सही, सुमन फिर से साहित्य-संप्रदाय

में लौट आएँ।

उज्जैन में वास है 'सुमन' जी का और उससे लगा हुआ है मालवे का प्रसिद्ध शहर इंदौर—जहाँ डॉ० श्यामसुंदर व्यास निवास करते हैं।

मुहावरेदार भाषा और कहावतों का पुट

एक ज़माना था, इंदौर में श्यामसुंदर व्यास नामक कथाकार बजते थे। उनके 'गिलट के झुमके' मध्य भारत के छोटे-से आकाश पर झूलने के बाद जल्दी पुराने पड़ गए। श्यामसुंदर व्यास को उनकी डॉक्टरी और प्रोफ़ेसरी चाट गई। प्रेमचन्दी प्रभाव के पहले दौर में श्यामसुंदर व्यास ने जिस मुहावरेदार भाषा और यदा-कदा कहावतों के पुट की साधना की थी वह अब उनके बोलचाल में काम आती है क्योंकि वे लिखना छोड़ चुके हैं और लिखते हैं तो कहावतें और मुहावरे इतनी तादाद में सामने ला खड़े होते हैं कि कथ्य दुम दबाकर भागता नज़र आता है।

कहानी भी, अकहानी भी

अनिल कुमार और मनमोहन मदारिया एक ही विभाग में काम करते हैं। अनिल आलोचना और कविता का और मदारिया कहानी का। सुनते हैं इधर अनिल ने यह शगूफ़ा छोड़ दिया कि मदारिया को अकहानी वाले बहुत 'सीरियसली' लेते हैं और मदारिया 'सीरियसली' आजकल अकहानी के भाषण और व्यवस्थाएँ बाँट रहे हैं।

मदारिया को 'सदा सौभाग्यवती रहो' की तर्ज़ पर 'सदा पुरस्कृत रहो' का आशीर्वाद दिया जाता है। और यह इतना फलता है कि भारत सरकार या मध्य प्रदेश के किसी न किसी विभाग का कोई न कोई पुरस्कार प्रतिवर्ष उन्हें मिल ही जाता है। यह बात और है कि पुरस्कार कहानी पर मिले या बाल अथवा प्रौढ़ साहित्य की किसी पुस्तक पर।

लोग प्रायः किसी नवागंतुक को मदारिया से मिलने की सलाह नहीं देते क्योंकि मिलकर हो सकता है कि आपकी कोई बात वे न सुनें या कि सुनें तो गुमसुम बैठे रहें। उनसे न मिलकर कोई नुकसान नहीं होगा, पर मिलकर हो सकता है कि वे किसी चीज़ से भड़क जाएँ। जैसे एक उदाहरण लीजिए, आजकल वे अ-कहानी के पीछे पड़े हैं और आप ख़ुदा न ख़ास्ता उनके विरोधी हैं तो आपको अपना विरोध व्यक्त करने का हक़ नहीं है। यह हक़ कुछ ख़ास लोगों को हासिल है जिसमें हमारे अजीज़ दोस्त दामोदर सदन का नाम पहला है।

सड़क बंद : वास्ते मरम्मत

श्री दामोदर सदन—जिनका उल्लेख शरद जोशी के प्रसंग में पहले भी हो चुका है,

कई कलाओं के मालिक हैं। उनके चेहरे से लगता है कि वे ख़ून करने की कला के उस्ताद हैं, और अभी-अभी किसी लंबी सज़ा को काटकर सीधे जेलख़ाने से तशरीफ़ ला रहे हैं। उनकी फुसफुसाकर बोलने की आदत से लगता है कि वे कहीं सेंध मारने जा रहे हैं और उजलत में हैं। उनकी हस्तलिपि से लगता है कि वे कोई पेंटर-आर्टिस्ट हैं और उनकी भाषा से उनके अकवितावादी होने का गुमान होता है। पर सदन न पेंटर हैं, न कवि; न ख़ूनी हैं, न सेंधमार, वह एक कहानीकार हैं और वह भी होने का वे दंभ नहीं रखते। उनकी महत्त्वाकांक्षा अफ़सर होना या कहलाना है, फिर चाहे आप उसे कुछ भी कह लें।

दोस्तों पर मर-मिटने और फ़िदा रहने का अंदाज़ उनका ऐसा है कि रामपूजन और मदारिया के अलावा उनकी चर्चा से कुछ और सारांश निकलता ही नहीं। इसलिए कन्हैयालाल नन्दन से कहा था, "यह एक साथ दामोदर होने के नाते आदमी है और सदन होने के नाते घर।" अब यह 'घर' अपना संग्रह प्रकाशित करने को उत्सुक है। कृपया प्रकाशित इस नाचीज़ की मार्फ़त संपर्क करें। यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि आजकल अफ़सरी की सड़क बनाने के लिए उन्होंने लिखने-पढ़ने को तिलांजलि दे रखी है। उनका कहना है, "ज़रा ये जम जाए तो फिर साहित्य की सड़क पर दौड़ लगाऊँगा।" दूसरे शब्दों में, आजकल साहित्य की सड़क मरम्मत के वास्ते बंद है। इसलिए सदन धीरे चलें और बचकर चलें' का साइनबोर्ड लटकाए घूमते हैं।

शती का अतीत

इंदौर के कथाकार जयसिंह की तूती उन दिनों ख़ूब बोलती थी जब उनके भूतपूर्व गुरु श्यामू संन्यासी इलाहाबाद की कहानी में डटे थे। अब भी जयसिंह लिखते हैं, बशर्ते पारिश्रमिक की गारंटी हो और वह भी ज़्यादा यानी तीस रुपए तक। जयसिंह का 'कला ने' उपन्यास फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' के सात साल पूर्व लिखा गया और छह साल बाद प्रकाशित हुआ, अतः प्रथम आंचलिक होने के श्रेय से वे वंचित रह गए, इसका ग़म उनको आज भी खाता है। ठाकुर परिवार के होने के कारण जयसिंह सामंती और ग्रामीण ज़िंदगी से परिचित हैं। उधर पंद्रह वर्ष से अख़बार में ख़बरें अनुवाद करते हुए भी वे शहर इंदौर से परे रहते हैं। वे अपनी कथा-प्रतिभा को अंडा देने वाली मुर्गी मानते हैं और पॉल्ट्री खोलना उनका सपना है। कथा-साहित्य के प्रति सांख्यिकीय एप्रोच उनकी विशेषता है। कथा-चर्चा में वे अकसर बता देंगे कि हिंदी में कुल कितनी पत्रिकाएँ और साप्ताहिक हैं, प्रतिमाह देश को कितनी कहानियों की आवश्यकता है, इसके लिए कितने लेखक होने चाहिए, प्रतिमाह कितना पारिश्रमिक बँटता है और प्रतिदिन एक कहानी लिखकर हम किस तरह तीन सौ प्रतिमाह से अधिक कमा सकते

हैं। वे एक कहानी का रेडियो रूपांतर कर, नाटक ब्रॉडकास्ट करवाकर और उसका मंच रूपांतर कर फिर छपवाने यानी इस तरह गुणा-भाग की योजनाएँ बनाया करते हैं। यद्यपि वे ऐसा कम ही कर पाते हैं। उनका एक सपना है कि एक दिन वे अख़बार छोड़ मुर्गीख़ाना खोल लेंगे और मुर्गियों के अंडे बेचेंगे। दोपहर को मुर्गियों की रखवाली करते हुए कहानियाँ लिखेंगे और उन्हें भी बेचेंगे। कई बार लगता है कि जयसिंह ऐसा घर लेंगे, पर वे उस मुर्गी को कैसे छोड़ पाएँगे जिसे नई दुनिया अख़बार कहते हैं और जहाँ वे नौकरी करते हैं।

आशीर्वाद की दरकार

कृष्ण शंकर चर्राटे या कृष्ण चर्राटे अपने 'मध्य प्रदेश कॉम्प्लेक्स' से ग्रस्त होने के कारण प्रतिभा के बावजूद कथानगर की बायलेंस में भटक रहे हैं और कभी धक्के-मुक्के वाले राजपथ पर नहीं आए। गीतकारों के शहर ग्वालियर में लंबे समय तक कहानी का झंडा उठाने के बाद शायद उन्होंने कहानी को गीत से हलकी विधा मान लिया। निहायत सरल व्यवहार, ईमानदारी और मेहनत के साथ ही कंठ से स्वर महिलाओं की तरह बारीक़ निकलने के कारण आशीर्वाद के पात्र लगते हैं। कई बार लगता है महत्त्वाकांक्षाहीन हैं, पर कहानी की अच्छी पकड़ और चुस्त शैली के कारण किसी दिन भीड़ में घुस जाएँगे तो जगह बना ही लेंगे।

चार की यारी

लेकिन आधे साहित्य में ओर आधे प्रोफ़ेशन मे घुसे हुए वर्मा जी नई कहानी की समीक्षा के 'इंस्पेक्टर ऑफ़ स्कूल्स' कहलाते हैं। हाईस्कूल से एम०ए० तक फ़र्स्ट डिवीज़न और प्रायः फ़र्स्ट पोज़ीशन पाने वाले वर्मा जी ने स्वास्थ्य को तो तभी सलाम कर लिया था जब वे विद्यार्थी थे, समय को अब प्रोफ़ेसर होने के बाद किया है। मुलाहिज़ा फ़रमाइए कि साहित्य में घुसने के बाद भी आप फ़रमाते है, मैं साहित्य से 'कमिटेड' नहीं हूँ। इसीलिए भाई लोगों ने इसकी व्यवस्था यों की है कि वे सिर्फ़ शानी से कमिटेड हैं। आज शानी नई कहानी के साथ हैं तो वर्मा जी नई कहानी के प्रवक्ता हैं। कल शानी अकहानी लिखने लगेंगे तो वर्मा जी अकहानी के अलमबरदार बन जाएँगे। बहरहाल वर्मा जी (ये वर्मा जी का सही उदाहरण है) व्यक्तित्व और साहित्य दोनों दृष्टियों से यारबाश आदमी हैं। उन्हें यार की यारी से काम है।

वर्मा जी की आलोचना और आलोचना की भाषा सागर स्कूल की विशिष्ट उपलब्धि है। इधर उन्होंने इसे नकारा है किंतु जब वे इसे सकारते थे तब उनके लेखों में सैकड़ों निकसित-प्रनिकसित भावों, कल्पनाओं और विचारों की प्रतिभाएँ छटपटाती

मिल जाएँगी। एक बार 'कल्पना' में किसी समीक्षक ने लिख दिया था, 'रंगीन, पांडित्यपूर्ण, भारी-भरकम, अर्थहीन भाषा लिखने में डॉ० नगेन्द्र का हिंदी साहित्य में कोई जोड़ नहीं है।' इस पर वर्मा जी के शिष्य और हमारे छोटे भाई प्रो० प्रेम नारायण त्यागी ने उस समीक्षक को ललकारा था और अपने गुरु वर्मा जी को यह शीर्षस्थ स्थान देने की माँग की थी।

नई कहानी में हर समीक्षा का सूत्रपात धनंजय वर्मा से होता है। रमेश बक्षी और श्रीकान्त वर्मा के संदर्भ में लिखी उनकी समीक्षात्मक टिप्पणियाँ इस दिशा में मील का पत्थर हैं। वैसे हर समीक्षा को मील का पत्थर बनाने के लिए वे उसमें दो-एक अंग्रेज़ी या हिंदी के ऐसे शब्द ज़रूर डाल देते हैं जिनका अर्थ सोचने के लिए आप मोनियर विलियम्स तक जाएँ। ऐसी समीक्षाएँ, जब वे भोपाल में थे तो हुक्का गुड़गुड़ाते हुए लिखा करते थे, खंडवा जाकर वे सिगरेट पीकर लिखने लगे और अब नरसिंहपुर में वे भी कम हो गई हैं, लिहाज़ा क्वालिटी गिरती ही गई।

वर्मा जी को कुछ लोग डॉक्टर समझने की हिमाक़त बहुत दिनों से करते आ रहे है। मगर भगवतशरण उपाध्याय की तरह उन्होंने भी इस तथ्य का उद्‌घाटन कभी नहीं किया कि वे किस यूनिवर्सिटी के डॉक्टर हैं ? "लोग मुझे महान् मानें, इज़्ज़त दें, डॉक्टर या सिविल सर्जन बनाएँ तो मैं क्या करूँ ? मैं किस-किसका (और क्यों) मोहभंग करता फिरूँ"—वमाजी का कथन है।

आनंद : मगर कहाँ ? पद में या आत्मा में

गुरुजनो से मज़ाक़ करना या उन पर कमेंट करना शास्त्रों में भी बुरा बताया गया है। इसलिए मध्य प्रदेश के गुरुओं के गुरु, शिक्षा संचालक डॉ० आत्मानन्द मिश्र के संबंध में कोई भी हलकी-फुलकी मज़ाक़ करते हुए पारंपरिक संकोच की अनुभूति स्वाभाविक है। लेकिन उनकी विनोदप्रियता का पुण्य स्मरण कर थोड़ा साहस बँध रहा है। एक घटना, जिसमें उन्होंने व्यंग्यकारों पर भी हाथ साफ़ कर दिया था, याद आ रही है। परसाई ने शरद जोशी से कहा, "यार, हम दोनों व्यंग्यकार हैं, और इधर डॉ० आत्मानन्द मिश्र के भी 'अणिमा' और 'रंग' में कई व्यंग्य प्रकाशित हुए हैं, उनसे क्यों न मिल लिया जाए। सुना है वे किसी से शिकायत भी कर रहे थे कि परसाई यहाँ आते हैं और मिलते तक नहीं।" शरद ने कहा, "हाँ यार, मिलना ज़रूर चाहिए। मुझे एक छोटा-सा काम भी है।" और इस चर्चा के बाद तैयार होकर जब ये दोनों धुरंधर लेखक आत्मानन्द जी के बँगले पर पहुँचे तो पहले घंटे-भर बाद आने का अनुदेश मिला। मगर जब न्यू मार्किट में जलेबी खाकर ये लोग दुबारा फिर उनसे मिलने जा पहुँचे तो कुल बातें एक मिनट एक सेकंड चलीं, जो इस प्रकार हैं—

डॉ० साहब : कहिए !

परसाई : (घबराकर) ये शरद जोशी हैं।

डॉ० साहब : (शरद से) आप कहिए !

शरद : (मजबूरी में) मेरा एक छोटा-सा काम था।

डॉ० साहब : दफ़्तर में आइएगा। मैं अभी व्यस्त हूँ।

नोट : इसके बाद बँगले के बाहर निकलकर ये दोनों अपनी टैक्सी के पास दस मिनट तक खड़े रहे क्योंकि ड्राइवर कहीं चला गया था और डॉक्टर साहब दस मिनट तक बरामदे में अकेले बैठे हुए आकाश की ओर ताकते रहे क्योंकि वे व्यस्त थे।

इन पंक्तियों का नाचीज़ लेखक भी शानी के साथ जब पहली बार डॉ० आत्मानन्द मिश्र से मिला था तो उसे उतने ही सेकंड और वही संवाद सुनने को मिले थे। हाँ, हमारे सौभाग्य से वहाँ उपस्थित प० नन्ददुलारे वाजपेयी को स्थिति सँभालने के लिए जब यह कहना पड़ा, "आपने पहचाना नहीं, ये बड़े अच्छे कवि हैं।" तो चलते-चलते एक वाक्य सुनने का सौभाग्य हमें और मिला था, "हाँ, मैं जानता हूँ।" और इससे हमारी आत्मा तुष्ट हो गई थी। पर दरअसल वे जानते किसी को नहीं हैं।

ख़ैर, ये तो डॉ० साहब की एकदम ऑफिशियल तस्वीर है। मगर डॉ० साहब, चाहे वे शरद जोशी या किसी और शानी को जानते हों अथवा नहीं, अफसर होने के साथ लेखक भी हैं। और वह भी हास्य-व्यंग्य की ऐसी विधा के जिसकी हिंदी में सबसे ज्यादा खपत है।

अपने साहित्यिक श्रीगणेश के बारे में उनका स्वयं का कहना है कि हास्य-व्यंग्य के क्षेत्र में मुझे मुख्यमंत्री प० द्वारकाप्रसाद मिश्र लाए। डायरेक्टर ऑफ़ एजूकेशन के पद के बारे में दीगर लोगों का कहना है कि इस पोस्ट पर उन्हें पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र लाए। इसलिए भाई लोग बिना मुख्यमंत्री के उनका नाम ही न लें तो इसमें उन्हें कोई ख़ास एतराज़ नहीं है। बल्कि भोपाल में अफ़सरनुमा लेखकों का एक वर्ग ही ऐसा है जो अपने आपको मुख्यमंत्री के निकट घोषित करने में गौरव का अनुभव करता है। एक अन्य अफ़सर और भूतपूर्व कवि तो कमरे में मुख्यमंत्री की फ़ोटो लगाकर लोगों को अपने और उनके संबंधों का इतिहास बताया करते थे। डॉ० साहब इस मामले में गनीमत हैं।

मैंने डॉक्टर साहब को भीतर तक देख पाने के लिए काफ़ी जिल्लत और जहमत उठाई और पूरा पहाड़ खोदने के बाद जो चूहा निकला उसका सारांश यह है कि डॉक्टर साहब साहित्य को 'कैजुअली' लेते हैं। न नए लेखकों को जानते हैं, न नई प्रवृत्तियों को। बस, सरसरी नज़र द्वारा कामचलाऊ ज्ञान हर चीज़ का रखते हैं। इतनी किताबें, व्यंग्य, निबंध, लेखादि लिखने के बाद भी साहित्य से उन्हें धेले की आय नहीं हुई और

जब मैंने उन्हें बताया कि आजकल सौ-डेढ़ सौ रुपया पारिश्रमिक एक ही रचना पर मिल जाता है तो उन्हें काफ़ी आश्चर्य हुआ।

व्यंग्य में सीमाओं, वर्जनाओं और शासकीय मर्यादाओं से ऊपर उठना पड़ता है तब आनंद की अनुभूति होती है। मगर डॉ० साहब थोड़े ऊपर उठकर आत्मानन्द के पद से परमानन्द (शिक्षामंत्री जी का भी इत्तिफ़ाक़ से यही नाम है) का पद प्राप्त कर सकते हे, इसलिए वे इधर यानी साहित्य से उठने के बजाय उधर यानी पद से उठना ज़्यादा पसंद करते हैं, फिर वह चाहे वाइस-चांसलरी ही क्यों न हो ? फिर भी जब मैंने उन्हें, साहित्य को गंभीरतापूर्वक लेने की सलाह दी तो वे एक क्षण के लिए सीरियस ज़रूर हो गए थे। मगर मुझे संदेह है कि शिक्षा के सरकारी मसले, रुक-रुककर बजते रहने वाले टेलीफ़ोनों, इंटरव्यूज़, स्थानांतरणों और नियुक्तियों की फ़ाइलों से होकर खुद तक पहुँच सकेंगे। इसलिए साहित्य के हित में दीर्घायु के साथ उनके शीघ्र रिटायर होने की कामना करता हुआ मैं लौट आया।

छाछ की तासीर गर्म

कथाकारों पर सामान्यतः अकृपा करने वाले आलोचक आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने जिन कथाकारों पर कृपा की उनकी बधिया बैठ गई और जिन पर नहीं की वे प्रथम श्रेणी के कथाकार बन बेठे। इसलिए कविता के बारे में नब्बे प्रतिशत सही भविष्यवाणियां करने वाले आचार्य इधर कहानी के मामले में सोच-समझकर मौन साधे हुए हैं।

मेंने बहुत कुरेदा तो बोले, 'नए कहानीकारों में प्रतिभा है और भाषा तथा विचार के स्तरों पर वे अपने नए विशेषण को सार्थक कहते हैं, लेकिन बिना पूरी तरह पढ़े राय देने का अपराध आप क्यों मेरे गले मढ़ना चाहते है।" और मैं चुप हो रहा। दरअसल जब से वाजपेयी जी वाइस-चांसलर हुए हैं तब से सँभलकर बोलते और सँभलकर लिखते हैं। हो सकता है इसमें थोड़ा हाथ उनके विश्वस्त डिप्टी रजिस्ट्रार डॉ० देवीशंकर द्विवेदी का भी हो, जो सोचने के मामले में चाहे कितने ही अपव्ययी क्यों न हों, बोलने के मामले में कृपणता की हद तक मितव्ययी हैं।

उधर कुलपति-पद के नाकामयाब उम्मीदवारों ने कुछ ऐसे पत्रकार पुछल्ले उनके पीछे लगा दिए हैं जो उनकी बातों के अर्थ का अनर्थ निकालने और उछालने में लगे रहते हैं, इसलिए राजनीति के दूध से जले हुए आचार्य साहित्य की छाछ भी फूँक मारकर पीते हैं। पहले वाली सारी बातें और परंपराएँ बदल रहे हैं। सुनते हैं, पहले वे नौकरी से लेकर बंदूक का लाइसेंस तक दिलाने के लिए भक्तों की सिफ़ारिश किया करते थे। यह भी सुनते हैं कि सागर में पंडित जी का दरबार लगा करता था जहाँ उपयोग के लिए

भोपाल तक से मक्खन पहुँचता था। पर अब न दरबार है, न मक्खन। बस, एक मिशन है, बिखरे हुए विश्वविद्यालय को संगठित कर चमका देने का।

इसलिए दृष्टिकोण से लेकर स्वास्थ्य तक सब कुछ बदल जाने के बाद भी दो चीज़ें उनकी ज्यों की त्यों हैं—एक, लिखने की ललक और दूसरी, बच्चों की तरह किलकारी मारकर हँसने की आदत।

एक लतीफ़ा उनके बारे में बहुत प्रचलित हुआ था कि देवलोक में कोई विद्वान् सरस्वती के पास पहुँचा और बोला, "माँ, मैंने बड़ी कठिन श्रम-साधना करके ज्ञान अर्जित किया है। तू मेरी परीक्षा ले और मुझे डॉक्टर की डिग्री देकर कृतार्थ कर।" सरस्वती बोलीं, "वत्स, मैं एक समय में एक ही शिष्य को 'गाइड' कर सकती हूँ। यदि तुझे जल्दी है तो तू जंबूद्वीप में जा ! वहाँ सागर विश्वविद्यालय में नन्ददुलारे वाजपेयी नाम के विद्वान् ने डॉक्टर बनाने की फ़ैक्टरी खोली हुई है। वे तेरी मनोकामना अवश्य पूर्ण करेंगे।" इतना कहकर देवी अंतर्धान हो गई और वह ज्ञानार्थी डॉ० प्रेमशंकर के रूप में सागर में अवतरित हुआ।

हृदय से उदार और स्वभाव से कोमल वाजपेयी जी नई पीढ़ी को रास्ता और प्यार देने वालों में से हैं। वे अभिनंदनों और षष्ठिपूर्तियों के दौर से गुज़र रहे हैं, फिर भी लिखना बंद नहीं किया। गुजराती के कवि जोशी जी और हिंदी के आलोचक वाजपेयी जी पद को पाँव की जूती मानते हैं क्योंकि उनका साहित्यकार का व्यक्तित्व उन पर भारी पड़ता है। वाजपेयी जी से मिलकर आप साहित्य की बातें कीजिए या राजनीति की, शिक्षा की कीजिए या संस्कृति की, यदि आप बातचीत का एक स्तर बनाए रख सकें तो आपको यही अहसास होगा कि आप किसी सुधी तरुण से बातें कर रहे हैं, वृद्ध उपकुलपति से नहीं।

नोट : इस लेख में श्री चगटे और श्री जयसिंह संबंधी टिप्पणियाँ शरद जोशी की डायरी से ली गई हैं और लेखक के ऊपर टिप्पणी संपादक की देन है।)

(संभावित रचनाकाल · 1967)

हिंदी कविता में प्रयोग

साहित्य में प्रयोग कोई नई बात नहीं है। जाने-अनजाने हर युग में कृती साहित्यकार ने ऐसे प्रयोग किए हैं जिनसे साहित्य की परंपरागत धारा का स्वरूप बदला है अथवा एक मोड़ लेकर आगे बढ़ा है।

काव्य के क्षेत्र में देखें तो प्रायः हर महत्त्वपूर्ण कवि ने विषय या शिल्प के क्षेत्र में ऐसे प्रयोग अवश्य किए हैं। हिंदी कविताओं में इसके अनेक उदाहरण हैं। स्वयं हिंदी साहित्य के आदिकाल की काव्यभूमि और वर्ण्य-विषय परवर्ती भक्तिकालीन कवियों के हाथों एक सर्वथा नए धरातल पर प्रतिष्ठित होते हुए जिन्होंने समूची प्राचीन काव्य-संबंधी मान्यताओं को बदल दिया। परिणामस्वरूप सौंदर्य और सुंदरी से हटकर काव्य में भक्ति और भगवान् का समावेश हुआ, और युद्ध में वीरों की सिंह-गर्जना तथा नगाड़ों के निनाद के स्थान पर प्रार्थना के समवेत स्वर और करतालों की मधुर ध्वनियाँ मुखरित हो उठीं। इसी प्रकार भाषा का स्वरूप भी परुष से कोमल हो गया और देखते-देखते एक काव्य-काल अगले काव्य-चरण की भूमिका बनता चला गया। निश्चय ही काव्य के क्षेत्र में यह मोड़ किन्हीं बड़े सधे हाथों का परिणाम था।

इसी प्रकार आधुनिक युग में आते हैं तो छायावाद अपने आपमें एक बहुत बड़ा प्रयोग लगता है। एक ऐसा प्रयोग, जिसने शिल्प और अभिव्यक्ति के स्तर पर संभावनाओं के नए क्षितिज खोले थे और इति-वृत्तात्मकता तथा स्थूल विषयों के स्थान पर कविता को अधिक कोमल भावधाराओं में प्रवाहित होने के लिए भूमि दी थी। तुकबंदियों के चौखटे में जकड़ी हुई पहले की कविता जितनी ही उपदेशात्मक, स्थूल, संकेतहीन एवं शिल्प-रहित थी, छायावादी कवियों की नव्यतम पीढ़ी के हाथों पड़कर वह उतनी ही सूक्ष्म, सांकेतिक और तादात्मक हो उठी। शिल्पगत सज्जा ने उसके सौंदर्य को बढ़ाया। एक अस्पष्ट-सा कलात्मक संकेत, एक संगीत की गूँजती हुई-सी लय तथा सौंदर्य की एक नितांत निजी-सी अनुभूति, छायावादी कविता की वायवी रूमानियत में घुलमिल गई और प्रकृति वहाँ मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों में समझौता करके काव्य-रूपाकार-सी हो गई।

छायावाद कवियों के प्रयोगों द्वारा काव्य में यह एक बहुत बड़ा और मौलिक परिवर्तन था। परंतु इसके बावजूद मुश्किल से दो दशक की यात्रा तय करने के बाद छायावादी कविता के चरण लड़खड़ाने लगे। उसके वाद-विवादस्वरूप अनेक स्तरों पर

काव्य-भूमियों में प्रतिक्रिया होने लगी और उसके ऊपर क्रमशः प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद की काव्यधाराएँ विकसित हुई।

यह युग अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्रों में सर्वहारा क्रांति का युग था और मार्क्सवाद के झंडे तले रूस एवं चीन की जनक्रांतियों को सफलता मिल रही थी। प्रगतिवाद इसी राजनीतिक विचारधारा की काव्यगत अभिव्यक्ति थी जो इन्हीं राजनीतिक सीमाओं के कारण साहित्य में पल्लवित और पुष्पित नहीं हो पाई, यद्यपि उसकी जीवनी-शक्ति ग्रहण करके परवर्ती काव्य ने सामाजिक यथार्थ से अपना संबंध और घनिष्ठ किया।

छायावाद की प्रतिक्रियास्वरूप उगे हुए प्रगतिवाद की अकाल मृत्यु हो गई। किंतु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिंदी-कविता में जिन आवश्यक कारणों का परिणाम छायावादी काव्य का आविर्भाव था, लगभग उन्हीं कारणों की ऐतिहासिक अनिवार्यता ने प्रगतिवाद को जन्म दिया।

अव प्रश्न उठता है कि क्या काव्यधाराओं में परिवर्तन होने के ये कारण किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक परिस्थिति से संबंधित होते हैं या जब एक काव्य-शैली शिथिल हो जाती है, उसके शव्द किसी व्यापक अर्थ में खुलना वंद कर देते हैं, उसके प्रतीक बिंब और संकेत रूढ़ हो जाते हैं और उसकी भावभूमि नई और ताज़ी संवेदनाओं की फसल उगाने में अक्षम हो जाती है, तव अनिवार्यतः उसके विरुद्ध विद्रोह होता ही है। मैं समझता हूँ अंशतः दोनों ही उत्तर सही हैं। यह भी सही है कि नई काव्यधारा पुरानी के रूढ़ होने पर ही प्रवाहित होती है और वह भी नई संवेदनाएँ जो मूलतः नई काव्यधारा के जन्म की आवश्यकताओं को रेखांकित करती हैं—किन्हीं सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों की उपज होती हैं।

प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी जैसे समर्थ कवियों द्वारा किया गया प्रवेश—छायावाद, स्थूल के प्रति सूक्ष्म, जड़ के प्रति चेतन और कठोर के प्रति कोमल की जिस विद्रोह-भावना को लेकर चला था, वही भावना कालांतर में एक-दूसरे में बँधकर अधिक अंतर्मुखी, अल्प सूक्ष्म और प्रकारांतर से निर्जीव-सी होती गई। उसमें शिल्प के स्तर पर कुछ इने-गिने शव्दों और छंदों का पिष्टपेषण विरसता उत्पन्न करने लगा। उसी समय राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में तेज़ी से परिवर्तन होने के कारण जन-मानस के विचारों और भावनाओं में तीव्र उथल-पुथल मची और साथ ही एक गहरे आक्रोश का जन्म हुआ। कथ्य के स्तर पर छायावाद इस वढ़ती हुई तनाव-सी कशमकश और तज्जन्य संवेदनाओं का आवेश नहीं सँभाल सका। फलतः कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से एक नई काव्यधारा के आविर्भाव की अनिवार्यता का अनुभव किया जाने लगा।

यह सन् 1940 और '45 के बीच की परिस्थिति है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयत्न में एक छोर पर क्रांतिकारी थे, दूसरे पर अहिंसावादी। जनता में एक ओर नवयुवकों का

आक्रोश था, दूसरी ओर धीर-गंभीर नेतृत्व का संयम, और बीच में मुनाफ़ाख़ोरों का एक ऐसा वर्ग था जो अपनी स्वार्थसिद्धि हेतु किसी भी मूल्य को समर्पित करने के लिए उद्यत था। यह वर्ग भूखी और विदेशी शासन के चक्र में पिसती हुई जनता का शोषण कर धन संचित कर रहा था और जनता थी कि इस सबसे खिन्न किंतु उदासीन आँखों में नए भविष्य के सपने सँजोए, सब कुछ न्योछावर कर देने की मुद्रा में हर रास्ते से स्वतंत्रता-प्राप्ति के संकल्प की ओर बढ़ रही थी। बंगाल के अकाल की चिंगारियाँ शेष थीं और द्वितीय महायुद्ध के कारण चीज़ों की कीमतें आसमान चूमने लगी थीं। देश का भविष्य अनिर्णीत, अस्तित्व संकटमय और जीवन दूभर हो रहा था। ऐसी स्थिति में स्वभावतः प्रबुद्ध साहित्यकार विशेषतः कवि, एक साथ संवेदना के कई स्तरों पर जी रहा था, जैसे भारत के नए निर्माण का स्वप्न। अकाल और महायुद्ध की विभीषिका से मानवता को बचाने की गहरी पीड़ा, जीवन को दोनों हाथों मज़बूती से थामकर जीने की प्रेरणा देना तथा बरबस ऐसी क्रांति का शंख फूँक देने की विवशता, जिससे विश्व-शांति का स्वप्न साकार हो सके।

इतने सारे कर्तव्यबोध, इतनी परिस्थितियाँ और इन सबके बीच माध्यम की खोज में छटपटाता हुआ अकेला कवि-मन अनेक प्रयत्न करने पर अपनी मनःस्थिति का छायावादी सौंदर्यबोध से कोई तालमेल नहीं बिठा पाया। और शायद यह संभव भी नहीं था, क्योंकि उसकी संवेदना के इतने परस्पर-विरोधी और अंतर्ग्रथित सूत्रों को अभिव्यक्त करने वाली शब्दावली छायावाद के पास नहीं थी। हारकर उसे एक नई ज़मीन तोड़नी पड़ी और नए प्रयोग करने पड़े। शमशेर के शब्दों में :

कठिन प्रस्तर में अगिन सूराख
मौन पतों में हिला मैं कीट
(ढीठ कितनी रीढ़ है तन की तनी है।)

आत्मा है भाव
भाव दीठ
झुक रही है
अगम अंतर में
अनगिनत सूराख-सी करती।

(कुछ कविताएँ, पृष्ठ 31)

वस्तुतः इन सूराख़ों से ही नई रोशनी अथवा नई चेतना छनकर आई। यह एक नई काव्यधारा का प्रारंभ था जिसे किसी उपयुक्त संज्ञा के अभाव में प्रयोगवाद के नाम से पुकारा जाने लगा। इस धारा में कठिन प्रस्तरों सरीखी अनुभूतियों को तोड़ने के

प्रयोग स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

वस्तुतः इस प्रश्न पर सैद्धांतिक मतभेद की गुंजाइश कम है कि प्रयोग काव्य की अनिवार्य शर्त है और कवियों के लिए यह एक ऐतिहासिक अनिवार्यता रही है। जिस प्रकार नए परिणामों और नई उपलब्धियों के लिए कृषि, टेक्नोलॉजी और साइंस आदि के क्षेत्रों में प्रयोग किए जाते हैं, कुछ-कुछ उसी प्रकार साहित्य में भी प्रयोग होते हैं। अंतर केवल यह है कि वहाँ प्रयोग उपलब्धि की लालसा से किए जाते हैं और काव्य या साहित्य में आत्माभिव्यक्ति की आंतरिक विवशता से। दरअसल साहित्य में प्रयोग, रचना की ही एक प्रक्रिया है और साथ ही अपने आपको अधिक सही और बेहतर संदर्भो में खोज पाने का एक माध्यम भी है। एक ऐसा माध्यम जिसकी खोज में हर युग की संवेदना कला के विभिन्न स्तरों पर भटकती रहती है। अतः आवश्यक नहीं है कि साहित्य में प्रयोग हमेशा सार्थक एवं सफल ही हो। वे अकसर असफल भी हो जाते हैं। उनकी सफलता या असफलता इस बात पर अधिक निर्भर करती है कि प्रयोगकर्ताओं की संवेदना किसी व्यापक थी। इस पर कि उसके प्रयोगों में आंतरिक स्फूर्ति के साथ चमत्कार-प्रदर्शन और यश-लिप्सा का अनुपात क्या था।

सप्तक के कवियों को अज्ञेय ने राहों के अन्वेषी कहा है—यानी वे कवि, जिन्हें प्रयोगवादी कहा जाता है, किसी वाद के नहीं बल्कि सत्य के अन्वेषण में विश्वास करते हैं, और यह विश्वास कोई ऐसी बात नहीं है जिस पर नाक-भौं सिकोड़ी जाए। लेकिन फिर भी लोग इन कवियों की कविताओं से केवल इसलिए चौंक उठे कि इनमें प्रयोग की प्रवृत्ति थी और ये परंपरागत कविताओं से भिन्न थीं। वस्तुतः सप्तक ही नहीं बल्कि हर युग के प्रयोगशील कवियों को उस काल के समाज द्वारा अधिकांशतः ठीक-ठीक समझने के तात्कालिक प्रयत्न नहीं हुए। ऐसी स्थिति में हमेशा कवि को ही दोष दिया गया है और यह समझने की चेष्टा नहीं की गई कि कवि उन्हीं के युग की ओर प्रकारांत से उन्हीं की संवेदनाओं को भोग रहा है और यह कि भावक वर्ग यानी स्वय पाठक ही, अभी उतना ग्रहणशील नहीं हुआ है कि कवि की संवेद्य प्रकृति को समझ सके। दूसरे शब्दों में, सामाजिक स्तरों पर होने वाले सूक्ष्म परिवर्तन, जो कवि की चेतना को तुरंत झकझोर जाते हैं, साधारण व्यक्ति की अनुभूति तक पहुँचने में समय लेते हैं। इसी कारण सामयिक कविता अकसर भावक वर्ग की अनुभूति को उद्‌बुद्ध किए बिना गुज़र जाती है और पाठक उसमें कोई रस नहीं पाता। इसी कारण कभी-कभी कविता के साथ आलोचना के स्तर पर उस समय अनर्थ भी हो जाता है जब आलोचक प्रयोगों को निरर्थक कौतुक कहकर समझने की चेष्टा नहीं करता। तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जाए कि कवि अपनी प्रक्रिया में एक ओर भावों के साधारणीकरण से और दूसरी ओर चेतना के सरलीकरण की समस्या से जूझता रहे ताकि पाठक बिना प्रयास

के पुरानी बोतल में नई शराब पा सके। मैं समझता हूँ कवि से यह अपेक्षा बहुत अधिक है और ऐसा करना उसके लिए नितांत असंभव-सा है। भले ही उसके जीवन में उसका उचित मूल्यांकन न हो अथवा उसे उचित प्रशंसा का अपना दाय न मिले। वस्तुतः स्वयं पाठक को भी उसके स्तर तक जाने का प्रयत्न करना चाहिए। कुँवरनारायण ने शायद इसी संदर्भ में 'एक स्थापना' शीर्षक कविता की रचना की होगी जिसमें उन्होंने कहा है :

आज नहीं
अपने वर्षों बाद शायद पा सकूँ
वह विशेष संवेदना जिसमें उचित हूँ
......
......
जब मैं नहीं,
यह सब जो लिख रहा हूँ,
होगा साक्षी
कि मैंने जीने का प्रयत्न किया
अजीब लोगों के बीच
जो मुझे अजीब समझते रहे
लांछित और अपमानित लोग
जो मुझे गरीब समझते रहे।
मेंने अनष्ट रखा
अपने को पाया, सिद्ध किया और दे गया।
जब मैं नहीं
मेरी ओर से कोई स्थापित करेगा
मेरे वर्षों बाद
कि आज भी कहीं जीवन था
क्योंकि केवल पहियों और पंखों वाली इस
बेसिर-पैर की सभ्यता में
दफ़्तरों, दुकानों, कारख़ानों से
अस्वीकृत होगा भी
मैंने जीना पसंद किया।

('परिवेश : हम तुम', पृष्ठ 94)

वास्तव में यह सारे प्रश्न नई कविता से भी उतने ही जुड़े हुए हैं, उस नई कविता

से जो प्रयोगवाद के भी बाद की धारा है और जिसे भ्रमवश लोग प्रयोगवाद का ही परिवर्तित रूप समझते हैं। हमने पहले कहा है कि हर नई धारा कतिपय सृजनशील, सधे हाथों द्वारा किए गए प्रयोगों का परिणाम होती है। इस दृष्टि से नई कविता प्रयोगवाद पर भी एक प्रयोग है। वह कई बातों में प्रयोगवाद से भिन्न है। यद्यपि प्रयोग अपने आप में वह भी है, किंतु उसके प्रयोग में राहों के अन्वेषण से अधिक चिंता व्यक्ति के अन्वेषण की है। उस व्यक्ति के अन्वेपण की जो आज अपने अस्तित्व को, अपने जीवन-मूल्यों को और जीवनी-शक्ति के अपने घट को बूँद-बूँद कर रिसते हुए देख रहा है। अभिव्यक्ति का प्रश्न या संकट यहाँ भी है, पर उससे भी बड़ा संकट यह है कि आज इस भीड़ में व्यक्ति कहाँ है ? इन मशीनों की घड़घड़ाहट और यानों, टैंकों की सार्थकता में उसकी आवाज़ का मूल्य क्या है ? और उसका अस्तित्व कहाँ तक और कितना सार्थक है ?

नए कवि की अपनी ही चेतना का बढ़ता हुआ दबाव, विश्व-परिस्थितियों के जटिलतर होते जाते उलझावों तथा मानव-सभ्यता की दिनोदिन बढ़कर होती हुई स्थिति के संदर्भ में कवि समूची मानवता के सामने जो एक प्रश्नचिह्न लगा देता है, उसका कोई हल वह खुली आँखों नहीं खोज पाता। चाहे वह कितने ही विश्वासपूर्ण स्वर में चुनौतियाँ दे, चाहे वह कितनी ही निर्भीक्ता से सारे वैषम्य का यथावत् उद्घाटन करके अपार घृणा का उद्रेक करे अथवा चाहे वह बरसात-भर रोए, किंतु फ़िलहाल वह प्रश्न ज्यों का त्यों है। और दुर्भाग्य से नया कवि, छायावादी कवियों की भाँति, यथार्थ से पलायन कर कल्पना-लोक में समस्याओं से निपटने की प्रवृत्ति नहीं रखता। यद्यपि उस प्रवृत्ति के कवि आज भी हिंदी में बहुत-से हैं बल्कि अधिक हैं, जिनके चाँद-चाँदनी, प्यार और मरघट आदि विषयों से संबंधित गीत आपको किसी पिछड़े साप्ताहिक या मासिक पत्र में पढ़ने को मिल सकते हैं। किंतु वे स्वयं जानते हैं कि वे जीवन से जूझ नहीं रहे हैं। यों इससे पहले चुके हुए कवियों की भी एक पीढ़ी है और इनके बाद दिग्भ्रमित कवियों का भी एक समाज है। इस प्रकार चार पीढ़ियाँ एक साथ चल रही हैं, जिनमें एक समस्या से पीछे है, दूसरी विमुख है, तीसरी अनभिज्ञ और चौथी, उसके आमने-सामने मुँह दर मुँह खड़ी है। यह पीढ़ी नई कविता की है, जिसमें एक अजीब-सी घुटन, एक अजीब-सी विवशता ओर एक गहरी व अनथाती बेचैनी है जिसकी छटपटाहट से सारा काव्य एक विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में ढुल गया है। इसीलिए नया कवि अकसर शिल्प के प्रति आग्रहशील नहीं है क्योंकि उसके सामने तात्कालिक प्रश्न नए मूल्यों की खोज का है—टेकनीक का नहीं। उसका विवेक 'टेंशन' या 'संघर्ष' की भयंकर स्थिति से गुज़र रहा है जिसमें शिल्प के छोटे-मोटे प्रश्न स्वभावतः गौण हो जाते हैं और एक बड़ा प्रश्न उभरता है।

(1965-70 के बीच)

नई कविता की उपलब्धियाँ

उपलब्धियों के नाम पर नई कविता की उपलब्धि तात्त्विक कम, मनोवृत्यात्मक अधिक है। जब मैं इसे मनोवृत्यात्मक कहता हूँ तो मेरा तात्पर्य सिर्फ़ इतना होता है कि नई कविता के भी पीछे विराट् वैचारिक संपदा, एक वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि तथा वैयक्तिक चेतना है। और साथ ही एक ऐसा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी है जिसमें संचित अनुभवों का विविधतापूर्ण विशाल भंडार है। हिंदी की किसी भी काव्यधारा को शायद ही कभी इतनी समृद्ध विरासत मिली हो जितनी नई कविता को मिली है। शायद यही कारण है कि नई कविता अपनी अभिवृत्ति में पिछली किसी भी काव्यधारा से ज़्यादा व्यापक, ज़्यादा विस्तीर्ण और ज़्यादा उदात्त है।

यहाँ मैं आपका ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि मैंने अभिवृत्ति शब्द का जानबूझकर प्रयोग किया है और उसका एक सीमित अर्थ ही मेरा अभिप्रेत है। एक पूँजीवादी भी अपनी अभिवृत्ति में मानववादी और जनवादी हो सकता है। वह वर्गविहीन समाज का हिमायती हो सकता है और इसके साथ-साथ पूँजी संचित करता रह सकता है। ज़ाहिर है कि चिंतन और कर्म की इन दोनों प्रक्रियाओं में भारी विरोधाभास है, पर इस विरोधाभास के अनेक उदाहरण आपको समाज में मिल सकते हैं। इसलिए जब नई कविता की अभिवृत्ति में विस्तीर्णता और व्यापकता देखता हूँ तो मेरा आशय ये हरगिज़ नहीं होता कि उसने कोई अनछुई ऊँचाइयाँ और बुलंदियाँ हासिल कर ली हैं, बल्कि मेरा आशय केवल इतना होता है कि वह उन संभावनाओं से वंचित नहीं है क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में अपेक्षाकृत व्यापक स्थितियों एवं अधिक जागरूक चेतनाओं का हाथ है।

जब तक विज्ञान ने इतनी प्रगति नहीं की थी कि सौरमंडल की यात्रा भी कुछ घंटों में संभव हो सके, तब तक एक देश से दूसरे देश, एक समाज से दूसरे समाज और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की दूरी भी हमारे लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण थी। जब तक हमारे पैर दायरे में थे—हमारे सामने दूरियाँ थीं, राष्ट्रीयताएँ थीं, विभिन्न मानव-समूह और समाज थे, और इन सबके आचार-विचार, परंपराएँ एवं कला-शैलियाँ थीं; पर आज के इस वेगवान युग से इन सबका लय एक विशाल मानवीय संवेदन में हो रहा है जिसमें सुबह यदि नॉर्थ वियतनाम के किसी गाँव में बम गिरा है तो दो-चार घंटे बाद उसकी प्रतिक्रिया दुनिया के कई देशों में होती है। रात में यदि किसी देश के नेता की हत्या कर दी जाती है तो सुबह हम अपने देश का झंडा झुका हुआ पाते हैं। तो यह स्थिति, जिसमें

अनुभव का क्षेत्र इतना व्यापक और दृश्य इतना विशाल हो गया है, स्वभावतः किसी भी जागरूक व्यक्ति को उठाकर और झकझोरकर संकीर्ण से वृहद् और वृहत्तर क्षेत्रों मे प्रस्थापित होने का अवसर देते हैं।

नई कविता की एकमात्र उपलब्धि यही है कि उसने इस परिस्थिति को देख लिया है, यानी देखा है और किसी हद तक समझा भी है। इसीलिए मैंने उसकी उपलब्धि को मनोवृत्यात्मक कहा है। हो सकता है इस मनोवृत्ति का आधार पाकर आने वाली कविता सचमुच महान् काव्य को जन्म दे सके। और हो सकता है कि खुद नई कविता ही जो इस पृष्ठभूमि के वैराट्य को पचाने के फेर में साँप-छछूँदर की स्थिति में पड़ गई है, कल इससे मुक्त होकर स्वस्थ काव्यधारा के रूप में विकसित हो सके।

मुझे भविष्य से ख़तरा नहीं, वर्तमान से आशंका है, क्योंकि नई कविता अपनी उठान की सहजता से दूर निकल आई है और आज अपनी अभिव्यक्तियों में पैरानोइया की-सी स्थिति में है। चौतरफ़ा पूर्वाग्रहों से ग्रस्त और प्रयोगवाद की उसी आत्मघाती मनोवृत्ति का शिकार, जिससे कन्नी काटकर वह कभी आगे निकली थी। यह कितनी बड़ी विडंबना है कि कोई व्यक्ति जहाँ से शुरू करे, वहीं लौट आए। यात्रा का इससे दुःखद अंत और क्या हो सकता है। मैंने पैरानोइया शब्द का जानबूझकर इसलिए प्रयोग किया है कि वह एक मनोवैज्ञानिक मनोवृत्ति की स्थिति होती है। जैसा कि आप जानते हैं, पैरानोइया का रोगी अपनी ही महानता, महत्ता, परेशानी और भ्रम के स्थिर स्थायी बंधनो मे जकड़ा होता है। अपनी धारणाओं से उसे कोई हिला-डुला या हटा नही सकता। वह पूरे जोश-ख़रोश बल्कि और समझदारी से उनकी हिमायत करता है। समाज पर अविश्वास ओर अपने आपको महान् या असाधारण समझने का भ्रम इस रोगी का प्रमुख लक्षण होता है। मगर आश्चर्य इस बात का है कि इन बातों के अतिरिक्त और सब विषयों पर वह बड़े विवेक और व्यापक दृष्टिकोण से सोचता है। नई कविता के संदर्भ में मुझे पैरानोइया की यह स्थिति शत-प्रतिशत लागू जान पड़ती है। अपनी ही महत्ता, महानता, विश्वजनीन संवेदनशीलता एवं आधुनिकता से ग्रस्त आज की नई कविता की स्थिति पैरानोएटिक स्थिति है जिसमें उसे समाज पर अविश्वास और अपनी बौद्धिक महानता का भ्रम एक साथ है। मैं एक नहीं, एक हज़ार ऐसी कविताएँ विभिन कवियों द्वारा रचित पेश कर सकता हूँ जिनमें समाज पर यह अविश्वास चित्रित हुआ है—या जिसमें :

एक घुमुआता धुआँ है हम सबके ऊपर
हम सबके ऊपर अंतरिक्ष के रंगों का अँधेरा
हम सबके ऊपर है मृत्यु अनिर्वचनीय
एक दृश्य खुलता है

खुलता ही जाता है
एक अंधकार जो हम सबके ऊपर है
अब तक शताब्दी की
समय मोह और काल प्रहार.
अब तक ख़ाली हाथ थे और दिमाग़ भरे हुए
अब तक सिर्फ़ चित्र थे, अर्थ थे, सब कुछ
और अब एक आकारहीन धुआँ है। धुँधलका
लयहीन स्वर यात्राएँ—आधारहीन पड़ाव
एक बड़े चक्र में प्रतीक्षा प्रतीक्षा
एक मुँह खुलने की प्रतीक्षा प्रतीक्षा
एक अंधकार गिरने की प्रतीक्षा प्रतीक्षा
इतिहास के घोल में घुलने की प्रतीक्षा प्रतीक्षा

अब आप इस प्रतीक्षा पर ग़ौर कीजिए। कवि के दिमाग़ में यह कहाँ की धुंध है ? वह किस समाज का ज़िक्र कर रहा है ? क्या सचमुच अब से 10-20 या 50 साल पहले हम आज से ज़्यादा अच्छी स्थिति में थे। क्या पहले हमारे पास चित्र और अर्थ थे और अब आकारहीन धुआँ है। प्रायः इस संबंध में कवि से बातें कीजिए। कवि यहीं बैठा हुआ है—आप उसे बताइए कि समाज इतना गिर नहीं गया है, कहीं बुलंदियाँ भी हैं; उससे कहिए कि चारों ओर भभुआता धुआँ ही नहीं है, कहीं किरणें भी हैं। मनुष्य स्पंदनहीन नहीं है, कहीं-कहीं दिलों में धड़कन भी है तो वह तत्काल अफ़लातूनी मुद्रा धारण कर लेगा और यंत्र-युगीन सभ्यता में पिसते हुए मानव और उसकी एकरसता, निस्सहायता, बेबसी और अकेलेपन के ऊँचे-ऊँचे तर्क पेश करने लगेगा।

यह अविश्वास की स्थिति इस पीढ़ी के अनिर्णय, पलायन और कायरता से पैदा हुई है। नया कवि इतने बड़े परिप्रेक्ष्य और इतनी नंगी सामाजिक सच्चाइयों को झेलने की बजाय उसको गले में पोस्टर की तरह टाँगकर निकलने लगा। कटघरे में खड़े हुए सत्य को मुक्त कराने की बजाय वह उस पर हँसने लगा या मगर के आँसू बहाने लगा या उससे बचने और किनारा करने लगा। उसने प्रश्नों को समझने की चेष्टा तो की, पर उनसे जूझने की कोशिश में घबराने लगा।

कुछ पंक्तियाँ सुनिए—"बंद करो !" घर से निकलकर कोई सड़क पर आकर चिल्लाता है—"बंद करो कपड़ा बुनने वाली मिल। टाँग दो शो-विंडो में दाग़ों से भरा पेटीकोट।"

कवि की इच्छा इतनी ही नहीं है। अनिर्णय की हद वह है जब कवि कहता है :

मैं किसी पार्टी को नहीं
इस नंगे पुतले को दूँगा अपना वोट

नगरपालिका के चौराहे पर
जो हौज में मज़े से पेशाब कर रहा है।

इस कविता का कवि नई कविता को छोड़कर और सब विषयों पर बड़े सुलझे हुए ढंग से बोलता और बतियाता है—अच्छी राजनीतिक टिप्पणियाँ और कहानियाँ लिखता है। पर कवि के बारे में उसकी एक ख़ास अदा है। फ़रमाता है :

राष्ट्रभाषा हिंदी की जय/कचरा महादेव के
शिवालय के पास एक नंदी
डकारता है : राजभाषा हिंदी की जय।
मैं एक पब्लिक लेबोरेटरी में
बैठा हुआ सोच रहा हूँ
मेरी कविता में लय
क्यों नहीं है ?
गुमनाम दुनिया में किसी के पुकारे जाने पर
कोई और वहाँ
हाज़िर होता है तपाक् से।
मैं एक पेशाबघर की दीवार पर
जाकर लिख आता हूँ
चॉक से : ख़बरदार ! हैज़ा फैलाती है।

अब आप बताइए कि ये पैरानोइया की स्थिति है या नही ? डॉ० धर्मवीर भारती ने इन और ऐसी कविताओ के लिए एक बहुत अच्छा शब्द 'जर्नलीज़' दिया है। मेरा नई कविता पर इस दृष्टि से सोचना कुछ लोगों को नकारात्मक लग सकता है—हो सकता है आपमें से कई बंधु यह भी सोचते हों कि क्या नई कविता की कोई उपलब्धि है ही नहीं ? न सही, विषय-वस्तु, भाषा-शैली और छंद आदि की दृष्टि से ही सही, आख़िर कुछ तो उपलब्धि होगी उसकी। तो इस संबध में मेरा निवेदन है कि यहाँ उपस्थित आलोचक बंधु जो साथ-साथ प्रोफ़ेसर भी हैं, नई कविता की उपलब्धियों की चर्चा करते हुए आपसे नई कविता की भाषा और छंद-सौंदर्य की चर्चा भी अवश्य करेंगे। मुझे लगता है कि इस स्थिति में उनके अलंकरण पर प्रकाश डालना वैसा ही है जैसे किसी स्त्री या पुरुष की चरित्रहीनता के विस्तृत विवेचन के बाद उसके कपड़ों की तारीफ़ करना।

नई कविता की उपलब्धि फ़िलहाल केवल इतनी ही है कि उसकी अभिवृत्ति का दायरा विस्तीर्ण हुआ है और उसने नई संभावनाओं के क्षितिजों पर नज़र जमा रखी है। यद्यपि आज उसमें धुँधलकावादी कवियों का बहुमत है, साथ ही उसमें सर्वेश्वर, कुँवर

नारायण, रघुवीर, भारती जैसे दस-पाँच ऐसे कवि भी हैं जो सन् '50 के आसपास की सहज मार्मिकता बनाए रख सके हैं।

हाँ, नई कविता में एक और संप्रदाय भी उठ आया जिसकी उपेक्षा करना शायद एक ग़लत मनोवृत्ति को बढ़ावा देना होगा।

ये लोग गीत लिखते हैं। कुछ लोग नवगीत लिखते हैं और कुल मिलाकर अपने आपको नई कविता का ही अंग बताते हैं। एक गीत की प्रथम पंक्तियाँ सुनिए :

सूरज दिन झुक आए, बाम हो गईं रातें
बिन बरसे बादल ये, टँगे रहे आसों के।

धरती को काँटों से
सूखे क्षण आँसे
काँधे हल धरे रहे
बैल दो पिआसे

मरुथल से पड़े खेत मालवी कपासों के।
बिन बरसे बादल ये टँगे रहे आसों के।

स्पष्ट है कि कविता कानों को बड़ी मीठी लगती है। सहज साधारण आकांक्षाएँ, सहज प्रकृति का संस्पर्श और सहज भाषा यानी लोकभाषा का प्रयोग। ज़ाहिर है कि कविता की सहजता इससे बढ़ेगी ही, थोड़ी मिठास भी कानों में घुल जाएगी। मगर यदि मिठास और सहजता ही नई कविता होती तो नई कविता के संदर्भ में दुनिया-भर के प्रश्नों—समस्याओं को उठाने की ज़रूरत न पड़ती, व्यापक अनुभव और विराट् दृश्य का ज़िक्र न किया जाता। तब उसके श्रेष्ठ कवियों में मुक्तिबोध नहीं, नीरज का नाम लिया जाता। अस्तु, इस दृष्टि से ये गीत या नवनीत परंपरावादी गीतों पर लोकगीतों की पालिश मात्र है और नई कविता को मानस और उसकी विचारधारा में योग देना तो दूर, प्रवेश तक नहीं करते। अगर आप साहबान मानते हैं कि 'बिन बरसे बादल ये टँगे रहे आसों के' या ऐसे और सैकड़ों गीत जिन्हें 'धर्मयुग' की व्यावसायिक मनोवृत्ति ने बढ़ावा दिया है, भी नई कविता हैं तो मैं अपने प्रारंभिक वाक्य में, जिसमें मैंने कहा था कि नई कविता की उपलब्धि अभिवृत्यात्मक अधिक है, तात्त्विक कम। इस प्रकार संशोधन करना चाहूँगा कि जहाँ नई कविता की उपलब्धि का एक क्षेत्र प्रामाणिक अनुभवों की विशालता और व्यापकता का है, वहीं दूसरा क्षेत्र कुछ पारंपरिक शब्दों और अनुभूतियों के पोखर से आगे नहीं बढ़ना।

(संभावित रचनाकाल : 1970)

(यह आलेख किसी एक साहित्यिक गोष्ठी में पढ़ा गया था जिसमें नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी, धनंजय वर्मा आदि आलोचकगण थे। तब नवगीत आंदोलन भी शुरू हो चुका था यानी सातवें दशक के अंतिम दिनों में।)

हिंदी में शोध-कार्य : लेखक की प्रतिक्रिया

हिंदी में सोचने का काम देर से शुरू हुआ है। शोध का काम चूँकि सीधे सोचने से जुड़ता है इसलिए मुझे इस बात की तकलीफ़ नहीं कि हिंदी का शोध-कार्य पिछड़ा हुआ है। तकलीफ़ इस बात की है कि वह अभी भी चिंतन की परिधि में नहीं आया।

आप किसी भी शोध-ग्रंथ को उठाइए। उसमें उदाहरणों की भरमार होगी और ये उद्धरण अपने मत की पुष्टि से अधिक, किताब की मोटाई बढ़ाने के काम आते हैं। दुर्भाग्य ये है कि अकसर शोधकर्ता का अपना कोई मत होता ही नहीं। वह बहुमत को अपना मत मानकर चलता है और जिस बात के पक्ष में ज़्यादा उद्धरण मिल जाते हैं, वही उसका मत हो जाता है।

उदाहरण के लिए, अज्ञेय अस्तित्ववादी हैं। यह वाक्य किसी पुस्तक के संदर्भ में यदि शोधार्थी पढ़ता है तो वह इसे फ़ौरन अज्ञेय का जीवन-दर्शन मान बैठता है। फिर लेखक चाहे लाख विरोध करे, मगर वह अस्तित्ववादी होने के लिए अभिशप्त हो जाता है।

कारणों की खोज की जाए तो साफ़ होगा कि लेखक या कवि के विषय में शोधकर्ता की अपनी कोई राय नहीं होती। कभी-कभी तो उसने अपने आलोच्य को पढ़ा तक नहीं होता। अकसर उसके अध्यापक उसे कोई विषय सौंप देते हैं और वह एक क्लर्क की-सी तल्लीनता से उस विषय में डूब जाता है। सोचने का काम वह गुरुजी पर छोड़ देता है। उसे किसी विषय पर शोध करनी है और पेट भरने के लिए एक नौकरी की ज़रूरत होती है, इसलिए पी-एच०डी० की डिग्री लेनी है ताकि नौकरी मिलने में सहूलियत हो।

अभी मोहन राकेश की मृत्यु के बाद उन पर बहुत-से शोध-ग्रंथों की रूपरेखाएँ तैयार की गई हैं। चूँकि राकेश मेरे मित्र थे, अतः कई शोधार्थी भी उनके संबंध में मुझसे मिले। सबसे दिलचस्प सवाल मुझसे एक शोधकर्ता ने पूछा, "सर, आप कैसे कह सकते हैं कि मोहन राकेश प्रगतिवादी नहीं थे ? वे निश्चित रूप से प्रगतिवादी थे।" मैंने कहा, "मान लो थे, तो इससे क्या होता है ?" "इससे बहुत कुछ होता है, सर ! मेरे शोध की रूपरेखा में एक चैप्टर ही है—राकेश का जीवन-दर्शन और उसकी प्रगतिशीलता।"

यानी जब अध्याय खुला है तो उसका पेट किसी न किसी तरह भरना पड़ेगा। ऐसे शोधकर्ताओं से हर लेखक त्रस्त है। आए दिन किसी न किसी शोधार्थी का पत्र, प्रश्नावली या अपनी पुस्तकों की सूची भेज देने की माँग लेखकों के पास आती रहती

है। जो ज़्यादा शोध-साहसी हैं वे सूची के साथ पुस्तकें भी माँग बैठते हैं। मैं सोचता हूँ अगर शोधार्थी के क्षेत्र में पर्याप्त पढ़-लिखकर उस धारा के प्रतिनिधि लेखकों एवं उनकी कृतियों से परिचय नहीं प्राप्त किया है तो वह क्या शोध करेगा ?

लेकिन हिंदी का दुर्भाग्य ही यह है कि यहाँ परिचय ही शोध का पर्याय बन गया है। जब से मेरा काव्य-नाटक ग्वालियर विश्वविद्यालय और पंजाब विद्यालय के बी०ए० और एम०ए० के पाठ्यक्रमों में लगा है, मेरी दृष्टि को शोधार्थियों ने पौराणिक घोषित कर दिया है, और अब मैं लाख सर पटकूँ या क़समें खाऊँ तब भी उस लेबल को उतार पाना मेरे वश की बात नहीं है।

ये दृष्टांत मैंने सिर्फ़ हिंदी साहित्य में चल रही शोध की प्रवृत्तियों और चिंतन की परंपराओं को उजागर करने के लिए दिए हैं। बातें बहुत-सी हैं। मसलन यही पूछा जा सकता है कि शोध-ग्रंथ इतने मोटे क्यों होते हैं ? क्या कोई ऐसा शोध नहीं हो सकता जो छोटी-सी पुस्तक में आ जाए। शोध-ग्रंथों की भाषा दूसरा ऐसा मुद्दा है जिस पर देर तक बात की जा सकती है। मुझे बहुत कम शोध-ग्रंथ ऐसे देखने को मिले जिनकी भाषा कोई जीवंत भाषा हो। अकसर भारी-भरकम शब्दावली से वे भाषा को इतना जड़ और बीहड़ बना देते हैं कि साधारण पाठक के पाँव उखड़ जाएँ।

हाँ, एक बार मुझे एक शोधकर्ता के प्रबंध की भूमिका में अत्यंत जीवित भाषा पढ़कर सुखद आश्चर्य हुआ था और मैंने उससे कहा था कि आपका यह शोध-प्रबंध पढ़कर उसके गुणावगुणों पर अपना मत चाहे में न दे सकूँ पर इस बात के लिए बधाई ज़रूर दूँगा कि आपने शोध की भाषा की रूढ़ियो को तोड़ा है। और वो शोधार्थी थे— इस गोष्ठी के आयोजक डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय।

यहाँ मैं यह स्पष्ट रूप से कहूँगा कि मैं शोध-ग्रंथ पढ़ता नहीं हूँ। हाँ, बहुत-से शोध-ग्रंथ उलट-पलटकर देखने का शौक़ मुझे ज़रूर है, इसलिए अपवाद हो सकते हैं। हो सकता है कि मैं जिसे रेगिस्तान या सहारा समझे बैठा हूँ वहाँ कुछ क़दमों के ताज़ा निशान हो जो मेरी जानकारी में नहीं हैं। लेकिन एक बात मैं फिर भी सोचता हूँ कि ऐसी भी क्या खोज दोस्तो कि भाषा विषय को खा जाए, शब्द अनुभूतियों को निगल लें और शोधकर्ता शब्दों के जंगल की परिक्रमा करता रहे।

अध्यक्ष महोदय अनुमति दें तो इस विषय पर लिखते हुए जो चंद अशआर बन गए थे, वे पेश करना चाहता हूँ, क्योंकि उसमें भी एक प्रासंगिकता है जो विषय को छूती हुई ज़रा आगे निकल जाती है।

(सम्भावित रचनाकाल : 1970-71)

(बरकतुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल की शोध-गोष्ठी में पठित टिप्पणी)

साहित्य सत्ता की ओर क्यों देखता है ?

यह एक अजीब बात है कि इधर साहित्यकार में शिकवों और शिकायतों का शौक़ बढ़ता जा रहा है। उसे शिकायत है कि गवर्नर और मुख्यमंत्री उसे पहचानते नहीं, शासन उस मान्यता नहीं देता, या देता है तो तब, जब वह क़ब्र में पाँव लटकाकर बैठ जाता है। लेकिन समझ में नहीं आता कि लेखक के लिए यह ज़रूरी क्यों है कि वह इन बातों को महत्त्व दे। आख़िर शासन ने तो उससे नहीं कहा था कि वह लेखक बने। वह अपनी अदम्य संवेदनशीलता के कारण लेखक बनता है, अभिव्यक्ति की दुर्निवार पीड़ा उसे क़लम उठाने के लिए विवश करती है। इस प्रक्रिया में शासन या समाज कहाँ बीच में आता है ?

फिर शासन से मान्यता का अर्थ है—शासन से समझौता। और समझौता हमेशा आदमी को कहीं न कहीं कमज़ोर करता है। फिर यह एक विरोधाभास ही तो है कि आप जिस शासन की आलोचना करें उसी की स्वीकृति और मान्यता के लिए तरसें। शब्द-छल से या आत्मसम्मान की दुहाई देकर इसका औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता। बात असल यही है कि साहित्यकार शासन की उपेक्षा करके नहीं चल पाते, जबकि शासन साहित्य की उपेक्षा करके धड़ल्ले से चलता है।

जो लोग यह समझते हैं कि अमुक साहित्यकार का सम्मान करके शासन गद्गद हो गया है—वे बड़े मासूम हैं। उन्हें यह बताने से कोई फ़ायदा नहीं कि शासन किसी लेखक या साहित्यकार को नहीं जानता। वह तो इस बहाने अपने आपको सम्मान देता है, अपनी यशोभूमि का विस्तार करता है और अपने मुकुट में एक और रत्न जड़ लेता है।

व्यक्तिगत रूप से मैं इन अभिनंदनों के ख़िलाफ़ हूँ। एक तो इसलिए कि लेखक को अपनी पीठ पर भरसक कोई ऐसा अहसान नहीं लादना चाहिए जो उसकी स्वतंत्रता में बाधक बने, और दूसरे इसलिए कि इससे लेखक को एक वर्ग के रूप में दूसरे वर्गों पर तरजीह मिलती है जो कि एक ग़लत बात है। आख़िर क्यों शासन उस क्लर्क का अभिनंदन न करे जिसने अपने जीवन के तीस अमूल्य वर्ष बड़ी निष्ठापूर्वक उन फ़ाइलों में झोंक दिए जिनसे उसका कोई पारिवारिक रिश्ता नहीं था। इसी प्रकार सुनार, बढ़ई, मोची, मज़दूर और मेहतर, हरेक की अपनी एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक भूमिका है।

आख़िर उनका अभिनंदन क्यों नहीं होता ?

फिर लेखक में ऐसे कौन-से सुर्ख़ाब के पर लगे हैं कि वह आम आदमी से अलग है ? क्यों वह शासकीय और सार्वजनिक सम्मान की कल्पना करता है ? क्यों वह राज्यपालों या मंत्रियों की परिचय परिधि में आना चाहता है ? (मैंने तो किसी राज्यपाल को किसी लेखक के सान्निध्य की इच्छा करते हुए नहीं देखा) क्यों वह चाहता है कि सत्ताधारी उसकी लेखनी से परिचित हों और उससे सामान्य लोगों की अपेक्षा भिन्न प्रकार का व्यवहार करें ? आख़िर लेखक भी तो प्रोफ़ेसर, वकील, चित्रकार और मूर्तिकार आदि की तरह ही एक वर्ग है और इस व्यावसायिक युग में उन्हीं की तरह अपने ढंग से अपना पेट पालता है। अलबत्ता उसे यह अतिरिक्त सुविधा ज़रूर प्राप्त है कि वह अपने थोथे से थोथे और घटिया से घटिया अहम् को भी शानदार अभिव्यक्ति दे सकता है। पिटकर आने के बाद वह जोशीली कविताएँ लिख सकता है या अपने पौरुष और बल का बखान कर सकता है। सर्वत्र उपेक्षा सहकर भी वह 'शिमला समझौते में मेरा विनम्र योगदान' जैसा निबंध लिख सकता है या डाकुओं के समर्पण का श्रेय अपनी कल्पना में लूट सकता है। वह एक लेख में दस बार अपना नाम ठूँस सकता है और उस बनिए की ख़बर भी ले सकता है जो उसके घर रोज़ पैसों का तक़ाज़ा करने आता है। वह उस अफ़सर को धपिया सकता है, जिसने उसे कमरे में घुसने की इजाज़त नहीं दी थी और उस मिनिस्टर को क़लम के छींटे मार सकता है जिसने उसका नाम सुनकर चेहरे पर परिचय का भाव नहीं आने दिया था। परंतु अन्य वर्गों के व्यक्ति ऐसी स्थितियों को भी ज़्यादा से ज़्यादा चार दोस्तों में कह-सुन लेते हैं अथवा ख़ून का-सा घूँट पीकर रह जाते हैं।

आप लेखक के नाते अपने 'मैं' को झुनझुने की तरह बजाते हैं, मित्रों की प्रशंसा और शत्रुओं की निंदा करते हैं, साहित्य के नाम पर दिल की भड़ास निकालते हैं और यह भी आशा करते हैं कि दुनिया आपको पूजे, लोग आपको चाहें, शासन आपको मान्यता दे।

मैं इसीलिए इसका विरोध करता हूँ कि मेरी कल्पना के वर्गविहीन समाज में यह लेखक कहीं फिट नहीं बैठता। नई दुनिया के 15 अक्तूबर के लेख में राजभवन की जिस गोष्ठी का ज़िक्र किया गया है उसमें इत्तिफ़ाक़ से मैं भी था। इत्तिफ़ाक़ से इसलिए कि मुझे पता नहीं था कि ऐसा निर्णय किसी गोष्ठी में लिया गया है। दरअसल, सिद्धांत नहीं बल्कि अपनी सुविधा के तहत मैं किसी गोष्ठी में आता-जाता नहीं। पर अपने राज्यपाल श्री सत्यनारायण सिंह की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सूझ और सुरुचि की मुझे चूँकि पूरी-पूरी जानकारी है इसलिए मैं लेखकों की (हालाँकि लेखक वहाँ कम थे) उस भीड़ में उपस्थित था जो उस दिन राजभवन में एकत्र हुई। मैंने वह दृश्य देखा है

जब लेखक एक-दूसरे को धकेलते और धकियाते हुए हॉल में खड़े राज्यपाल महोदय के निकट पहुँचने के लिए एड़ियाँ रगड़ रहे थे। लेकिन इसमें राज्यपाल महोदय की कोई प्रेरणा नहीं थी।

उसी दिन, उसी हॉल में, मैंने कुछ ऐसे लेखकों को भी देखा जो इस सब को दर्शक के तटस्थ भाव से देख रहे थे बल्कि इस ओर सबसे पहले मेरा ध्यान डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने ही आकर्षित किया। कुछ और भी लेखक थे जो एक साहित्यिक कार्यक्रम के भ्रम में उस भीड़ में घिर जाने पर दुखी थे और शिष्टाचार निभाते हुए पहला मौक़ा मिलते ही वहाँ से चले आए।

इस अत्यंत सामान्य-से कार्यक्रम पर भी लेखकों की प्रतिक्रियाएँ भिन्न थीं। एक लेखक ने निमंत्रण-पत्र पाकर अपने धर्म संकट पर लेख लिख दिया, मगर एक दूसरे लेखक कह रहे थे कि उन्हें निमंत्रण-पत्र नहीं मिला और वे इस पर ज़रूर लिखेंगे। एक तीसरे लेखक उन चमचों पर लिखने की घोषणा कर रहे थे जो ऐसे कार्यक्रमों में सबसे आगे पहुँच जाते हैं और एक अन्य लेखक इस बात से दुखी थे कि साहित्यकारों को दलालों की मार्फ़त राज्यपाल से मिलना पड़ता है।

मेरी समझ में नहीं आता कि यदि राज्यपाल ने लेखकों से मिलने की इच्छा व्यक्त की तो कौन-सा कहर टूट पड़ा और क्यों इस एक ज़रा-से प्रसंग पर लेखकों की पीड़ा का कोई अंत नहीं, यानी कि लेखक यह मानता है और मानकर चलता है कि सत्ता के इर्द-गिर्द ही उसकी सत्ता है या यह कि उससे जुड़कर वह कहीं का नहीं रह जाएगा। यों उसमें सत्ता से कटे रहने और जुड़े रहने का अजीब दुविधायुक्त भ्रम है। इसके एक छोर पर हैं मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर और बच्चन और दूसरे पर निराला, रेणु और मोहन राकेश। दोनों ही लेखक हैं।

पर इस भीड़ में लेखक की पहचान का ही क्या मापदंड हो सकता है ? मैं जानता हूँ, भोपाल में एक मध्य प्रदेश लेखक संघ है। भोपाल के अनेक प्रतिष्ठित और परिचित लेखक उसके सदस्य नहीं हैं और अनेक ऐसे लोग उसके सदस्य हैं जिन्हें लेखक के रूप में हिंदी-संसार क़तई नहीं जानता। यही हाल हिंदी साहित्य सम्मेलन का है, पर इसमें दोष इन संस्थाओं का नहीं बल्कि उन लेखकों का है जो इनकी आलोचना करते-करते इनमें पदाधिकारी बनकर घुसपैठ करने की इच्छा रखते हैं।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। मध्य प्रदेश की शासन साहित्य परिषद में दसियों वर्षों तक कोई चिराग़ बालने वाला भी नहीं था। एक बड़ा-सा अफ़सर उसका सचिव होता था और वह अफ़सर ज़रूरी कामों में फँसा रहता था। परंतु जब एक दूसरी श्रेणी का अधिकारी, जो संयोग से लेखक भी है, उसका सचिव बन गया और परिषद के कार्यकलापों को साहित्यिक दिशा देने की कोशिश करने लगा तो भोपाल के साहित्य-

जगत् में हलचल मच गई। कई लेखकों की सदियों पुरानी नींद अचानक टूट गई और कई लेखकों को परिषद की महत्त्वपूर्ण भूमिका और कर्तव्य याद आने लगे।

दरअसल बात यह है कि लेखक किसी दूसरे लेखक को भौतिक दृष्टि से ज़रा-सी भी संपन्न स्थिति में नहीं देख सकता। अभी एक अफ़वाह न जाने कैसे मेरे बारे में फैल गई कि शासन ने दुष्यन्त कुमार को हिंदी की देखभाल के लिए नियुक्त किया है। चुनाँचे लेखक मित्रों में यहाँ से वहाँ तक मातम छा गया। किसी ने मुझे हिंदी का दरोगा कहना शुरू किया, तो किसी ने इंस्पेक्टर। और सच मानिए, मैं इस झूठ का खंडन न करता यदि मेरे मित्रों की यह तकलीफ़ मेरे लिए नाक़ाबिले बर्दाश्त न हो गई होती। अगर यों होता कि कनछेदीलाल श्रीवास्तव इस काम के लिए नियुक्त किए गए हैं, तब उन्हें राहत मिलती, क्योंकि न वे कनछेदीलाल के हिंदी ज्ञान से परिचित हैं और न कनछेदीलाल लेखक के रूप में जाना-माना जाता है।

ख़ैर, बात हिंदी की नहीं, हिंदी लेखकों के दोमुँहेपन की हो रही थी। वह (यानी हिंदी का लेखक) एक साँस में विरोध करता है और दूसरी में समर्पण। एक तरफ़ वह शासन (और उसके छोटे-छोटे पुर्ज़ों तक) को कोसता है और उनकी उपेक्षा करने का दिखावा करता है और दूसरी तरफ़ दूसरे प्रदेशों का हवाला देकर यह सिद्ध करना चाहता है कि वहाँ नेता साहित्यकारों का आदर करते हैं। क्या इससे यह ध्वनित होता है कि वहाँ लेखकों और नेताओं में ऐसा कॉन्ट्रेक्ट है कि हम आपको गाली दें और आप हमारा आदर करें ? जाने क्यों लेखक के रूप में हम नेताओं द्वारा आदर और सम्मान के बहुत भूखे हैं ? क्या दूसरे प्रदेशों का लेखक भी ऐसे तेवर अपनाता है ?

हिंदी लेखकों के इस दोमुँहेपन और विरोधाभास के मेरे पास हज़ारों उदाहरण हैं। किसी ज़माने में भोपाल की म्युनिसिपैलिटी चुनिंदा लेखकों को 500 रुपए का पुरस्कार दिया करती थी, बल्कि शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि दो लेखकों के बहाने वह अपने चार लगुओं-भगुओं को पुरस्कार दिया करती थी। इस स्थिति से सभी वास्तविक लेखक बहुत असंतुष्ट थे। मगर एक, जो पुरस्कारों की घोषणा के दो दिन पहले सब लेखकों द्वारा इनके बायकाट की ब-आवाज़ बुलंद घोषणा कर चुके थे, सहसा पुरस्कार की सूचना मिलते ही नमस्कार की मुद्रा में खड़े हो गए। अगले वर्ष जब वही पुरस्कार मुझे मिला तो मैंने उसे बड़े संकोच के साथ यह कहते हुए अस्वीकार किया कि "यदि मुझे विश्वास होता कि आपके निर्णायकों ने मेरी पुस्तकें पढ़ी हैं और मुझे यह पुरस्कार मेरी साहित्यिक सेवाओं के उपलक्ष्य में दिया जा रहा है तो शायद मैं एक बार इसे स्वीकार करने की सोचता, परंतु चूँकि मैं आपके निर्णायकों में से कुछ से परिचित हूँ और आपके इरादे समझता हूँ⋯इसलिए मुझे माफ़ करें।"

मैं काफ़ी ख़तरे उठाकर आत्म-प्रचार का यह सुख पहली बार इसलिए दे रहा हूँ

कि कुछ लेखकों ने साहित्यिक जनता में यह भ्रम फैला रखा है कि शासकीय तंत्र में फँसा हुआ लेखक बहुत निरीह होता है और हम उसकी आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं। पर मुझे ऐसी परतंत्रता का कभी अहसास नहीं हुआ। मैंने लेखक और सरकारी नौकर दोनों को अलग-अलग करके देखा है और जैसा कि हरिशंकर परसाई ने 'शंकर्स वीकली' में लिखा भी था, जब कवि जाग्रत होता है तो अफ़सर ड्यूटी पर चला जाता है। दफ़्तर के बाहर शासकीय तंत्र में फँसे अन्य अनेक लोगों की तरह मैं भी बराबर, बड़ी एहतियात से अपने कवि की भावनाओं की रक्षा करता आया हूँ—फिर वे चाहे शासन को रुचें या नहीं रुचें।

एक बार जब लौहपुरुष पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री थे तो मैंने 'बस्तर गोलीकांड पर एक प्रतिक्रिया' शीर्षक कविता लिखी थी जो 'कल्पना' के संपादकों ने एक टिप्पणी के साथ प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित की थी। लोगों ने बहुत डराया—पर बक़ौल परसाई, तब तक मेरा कवि ड्यूटी पर जा चुका था। सुना है, पं० मिश्र के पास जब उसकी कटिंग पहुँची तो उन्होंने कहा, "विधानसभा में इतनी गालियाँ मिली हैं तो क्या एक कवि अपना विरोध भी व्यक्त नहीं कर सकता ?"

मगर हिंदी के लेखक की दिक्क़त यह है कि वह सिद्धांत और नीतियों से ज़्यादा व्यक्ति का विरोध करता है। मेरा सुझाव यह है कि हम विरोध के सहारे पहचाने जाने की नीति त्यागकर एकात्मकता के सहारे आगे बढ़ें। राजनीति और राजनीतिज्ञों से, सत्ता और शासकों से डरने या चौंकने की ज़रूरत नहीं और न उन्हें चौंकाने की ही ज़रूरत है। ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि हम लघुता के 'कॉम्पलेक्स' से निकलें और राजनीतिज्ञों को साहित्य में आने दें और ख़ुद राजनीति में जाएँ। हम अपनी सामाजिक चेतना पर ख़ुश हो सकते हैं पर इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सकते कि राजनीतिज्ञ की जड़ें समाज में दूर-दूर तक होती है। जिस दिन साहित्यकार की जड़ें जनता में उतनी गहरी होंगी, सत्ता ख़ुद नमन करने उसके पास आएगी।

('नई दुनिया', इदोर के 19 नवबर, 1972 अक मे प्रकाशित)

कला परिषद के संदर्भ में प्रेक्षक

कुछ दिनों पहले जब 'प्रेक्षक' नामक नाट्य संस्था के अस्तित्व में आने की सूचना मिली तो मुझे लगा कि शासकीय और अशासकीय स्तरों पर इतनी नाट्य संस्थाओं के बाद यह लोग एक और संस्था को जन्म देकर कौन-सी क्रांति करना चाहते हैं ? उससे भी ज़्यादा आश्चर्य मुझे तब हुआ जब मैंने सुना कि यह संस्था सबसे पहले शरद जोशी का नाटक 'अंधों का हाथी' प्रस्तुत करेगी।

शरद जोशी मूलतः व्यंग्यकार हैं और हिंदी के सर्वश्रेष्ठ व्यंग्यकार होने का गौरव प्राप्त होने के बावजूद मुझे लगता रहा है कि अनेक अच्छी कृतियों के साथ हिंदी साहित्य को जितना कचरा उन्होंने दिया है उतना शायद ही अकेले किसी लेखक ने दिया हो। इसलिए मैंने इस संस्था को इस रूप में देखा कि यह कुछ ख़ास लेखकों का कचरा प्रकाशित और प्रसारित करने का एक मंच है। लेकिन मुझे यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि मेरी यह धारणा ग़लत साबित हुई।

दरअसल मन में यह दुर्भावना पैदा करने का श्रेय कला परिषद के साहित्यिक आयोजनों को जाता है। अब यह कोई छिपी हुई बात नहीं कि परिषद का कौन-सा आयोज़न किस साहित्यिक मन्तव्य या तिकड़म से प्रेरित रहा है। जहाँ अशोक वाजपेयी को भोपाल में साहित्यिक गतिविधियों को पुनर्जीवित करने का श्रेय दिया जाता है वहाँ आयोजनों में विलासिता और दुराशयों के साथ उन्हें जनजीवन से काटकर फेंक देने का सेहरा भी उन्हीं के सिर बँधता है। कुछ लोग हैरत करते हैं कि साहित्य में भ्रष्टाचार किस प्रकार किया जा सकता है। मेरा निवेदन है कि वे अशोक वाजपेयी से मिलें। कुछ लोग सोचते हैं कि आयोजनों को भाई-भतीजावाद से कैसे जोड़ा जा सकता है ? मेरी सलाह है कि वे अशोक वाजपेयी से दीक्षा लें।

मैं इतने लंबे अरसे तक, अपनी आदत के ख़िलाफ़ इसलिए चुप रहा कि मुझे लगा सदाशय के साथ न सही, कला परिषद कुछ कर तो रही है। उसकी आयोजनधर्मिता को आप आभिजात्य वर्ग का शग़ल कह सकते हैं, पर वह शग़ल एक बँधे हुए और ठहरे हुए वातावरण में एक हलचल पैदा कर सका ? क्या एक भूख से तड़पते हुए राज्य के सरकारी ख़ज़ानों से कला के नाम पर हज़ारों-लाख़ों रुपए निकलवाकर फूँक देना अपने आप में एक कला नहीं है ? पाठको ! मैं उस कलाकार के आगे नतमस्तक हूँ जिसने

इस कला को सिद्ध कर लिया है।

यह कोई मामूली कमाल नहीं है कि कला परिषद साहित्य की पत्रिका निकाले, उसमें अपने 20-25 मित्रों को, जिनका साहित्य में कोई 'नाम लेवा और पानी देवा' नहीं, धड़ाके के साथ प्रकाशित करे, एक-एक लेखक की 3-3 रचनाएँ एक अंक में छापे, प्रदेश से बाहर के मित्र, लेखकों और साहित्यकारों को साहित्य में प्रतिष्ठित और पुनर्स्थापित कर दे और नए उभरते हुए संभावना वाले प्रतिभाशील कवियों को रद्द करके मध्य प्रदेश को चरागाह बना दे।

इससे भी बड़ा कमाल ये है कि अख़बार चिल्लाते रहें, बड़े-बड़े साहित्यकार सिर धुनते रहें, विधानसभा विचार करती रहे, विधायक विरोध करते रहें, साहित्य झुलसता रहे और आप बाँसुरी बजाते रहें। लोग आश्चर्य करते हैं कि इस सबके बावजूद कला परिषद और उसके सचिव के रवैये में कोई फ़र्क़ नहीं आया। इतना विरोध और अकेला व्यक्ति ! अब तो वे चमचे भी फूट लिए जो जाने क्या-क्या अपेक्षाएँ लेकर परिषद से जुड़े थे। अब सिर्फ़ दो-चार सरकारी लेखक ही परिषद से जुड़े हुए हैं; चाटुकारिता जिनकी नियति है।

परिषद और अशोक वाजपेयी के कार्यकलापों को लेकर आश्चर्य व्यक्त किया जाता है परंतु मुझे आश्चर्य नहीं होता। यदि अशोक यह सब न करते तो मुझे ज़रूर आश्चर्य होता। दरअसल साहित्य में अशोक वाजपेयी की ज़मीन यही आयोजन है, लेखन नहीं। 'दिनमान' ने कभी बहुत सही लिखा था कि अशोक वाजपेयी नकली मुद्दे खड़े करके उन पर बहसें आयोजित करने में निपुण हैं।

लेकिन जब अज्ञेय जैसा साहित्यकार भी अशोक वाजपेयी की आलोचना करता है तो मुझे आश्चर्य होता है। मैंने अभी 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के एक इंटरव्यू में कहा था कि अशोक वाजपेयी मूलतः आयोजक हैं। जलसे और गोष्ठियाँ करना उनका काम है। उनमें जाना-न जाना मेरा काम है। इस दृष्टि से हम लोग एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए मध्य प्रदेश के वित्तमंत्री पं० मथुरा प्रसाद दुबे ने जब उत्सव 73 के बाद अशोक वाजपेयी की कविता सुनकर मुझसे पूछा था—"यह कविता है ?"

मैंने कहा था—"जी हाँ !"

वे बोले—"मैं उसकी योनि को अपनी कुत्ता जीभ से चाटता हूँ। इसमें क्या है?"

मैंने कहा था—"प्रयोग की साहसिकता ?"

तब उन्होंने झल्लाकर कहा था, "तुम्हारा दिमाग़ ख़राब हो गया है।" दरअसल दुबे जी कोई साहित्य के विद्यार्थी नहीं हैं और उन्हें समझाना व्यर्थ था कि अशोक के भीतर कथ्य की कुलबुलाहट नहीं, लोगों को चमत्कृत करने, हैरत में डालने और विवादास्पद स्थितियाँ निर्मित करने की प्रवृत्ति है। इसलिए वर्षों के मौन और उससे पहले काफ़ी

घटिया लिखे जाने के बावजूद वे चर्चाओं में ज़िंदा हैं और अभी वे कुछ दिन और ज़िंदा रहेंगे क्योंकि समझदार लोग, यहाँ तक कि अज्ञेय जैसे लोग चौंककर उनकी आलोचना करते हैं।

संदर्भ प्रेक्षक का

मैं यह ख़तरा उठाते हुए भी कि अशोक वाजपेयी के प्रिय श्वसुर नेमिचन्द्र जैन (जो सहसा ही धूमकेतु की तरह मध्य प्रदेश के साहित्याकाश में छा गए हैं) मेरी किसी भी आगामी पुस्तक को वेणु गोपाल की पुस्तक की तरह रद्द कर देंगे, यह पंक्तियाँ लिख रहा हूँ और इसलिए लिख रहा हूँ कि प्रेक्षक के प्रदर्शन से कला परिषद की उपयोगिता सार्थक हो गई है।

दरअसल किसी भी शासकीय स्तर की साहित्यिक संस्था का उद्देश्य अपने क्षेत्र की साहित्यिक चेतना को जाग्रत और उद्बुद्ध करना होता है। मैं समझता हूँ परिषद ने यह काम बहुत ख़ूबी से किया है। अगर उसने हज़ारों रुपए ख़र्च करके साहित्य-चेतना का ग़लत प्रतिनिधित्व न किया होता तो प्रेक्षक को थोड़े-से पैसे ख़र्च करके आज की समस्याओं पर जन-चेतना से सीधे जुड़ने वाला नाटक—अंधों का हाथी—प्रस्तुत करने की प्रेरणा कहाँ से मिलती ?

इस एक नाटक ने शरद का व्यक्तित्व केवल उभारा नहीं बल्कि नए सिरे से गढ़ा है। छोटे-छोटे व्यंग्य लेखों के माध्यम से उनके लेखक ने लोकप्रियता अर्जित की थी। 'अंधों का हाथी' लिखकर उन्होंने साहित्य में अपना पक्का इंतज़ाम कर लिया है। एक बहुत पुरानी कहानी को—जिसमें कई अंधे एक हाथी को टटोलते हुए हाथी के विषय मे अपनी राय क़ायम करते हैं—शरद ने नए सिरे से परिभाषित किया है। जनता की तक़लीफ़ें, सरकार की उदासीनता, लोगों की अकर्मण्यता, अफ़सरों की मक्कारी, भारतीय चरित्र का पलायन, परमुखापेक्षिता, कायरता, समस्याओं से सीधे न जूझने की आदत, नेताओं का भ्रष्टाचार, ढकोसला ओर लेखकों एवं बुद्धिजीवियों का पाखंड—सब पर दूर-दूर तक व्यंग्य के छींटे गए हैं। और बावजूद इसके कि हाथी का प्रतीक बदलता चलता है, समझदार लोग उसे समझते हैं, उसका मज़ा लेत हैं और तिलमिलाते हैं।

महादेवी वर्मा का निजी संदर्भ का एक वाक्य उद्धृत करूँ तो 'अंधों का हाथी' ऐसा नाटक है जिसे देखिए तो हँसिए, सोचिए तो रोइए।

दरअसल लेखक के समतुल्य बल्कि कुछ उससे भी अधिक श्रेय के भागी हैं इस नाटक के युवा निर्देशक राजेन्द्र गुप्त। यह उन्हीं का चमत्कार था कि पात्रो को आँखें खुलवाकर भी अंधों के रूप में स्थापित कर दिया और सज्जाविहीन उस विराट मंच को बिना किसी विशिष्ट प्रकाश-व्यवस्था के गति से भर दिया। मंच पर इतने सारे पात्रों में

एक-एक पात्र को इस तरह अलग कर देना, संवादों को टुकड़ों-टुकड़ों में पात्रों को बाँटकर प्रभाव पैदा करना निर्देशक की गहरी सूझबूझ का प्रमाण है।

लगता है कि मंच के पात्रों पर इतना अधिक ध्यान देने के कारण ही सूत्रधार जैसा विशिष्ट पात्र उनकी नज़र से बच गया। उसकी वाणी में न गरिमा थी, न 'मूवमेंट' में सूत्रधार जैसी हरक़तें। लेकिन उषा चौधरी अंधी के रूप में चौंकाने वाला अभिनय कर गईं। भोपाल में इतनी समर्थ अभिनेत्री की खोज के लिए प्रेक्षक की जितनी तारीफ़ की जाए कम है।

कला परिषद ने यदि उषा जैसी एक अभिनेत्री भी दी होती तो शायद उसकी आभिजात्य प्रवृत्तियों पर पर्दा पड़ा रहता। लेकिन उसने एक वेणु गोपाल तक नहीं दिया, जिनका अभिनय अंधों के बीच अत्यंत प्रभावशाली रहा। यों अंधों के अभिनय मे निराश किसी ने नहीं किया।

मैंने जानबूझकर मोहन राकेश के 'सबसे बड़ा सवाल' का उल्लेख इसलिए नही किया कि एक तो वह राकेश का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता, दूसरे वह किसी बहुत बड़ी समस्या के बजाय बात से बात निकालते हुए लोगों के चारित्रिक खोखलेपन को व्यंग्य-विनोदपूर्ण ढंग से उजागर करता है। यह अदा राकेश के व्यक्तित्व की एक अदा ज़रूर थी, लेखन की नहीं। परंतु इस नाटक ने शरद के नाटक की एक ज़बरदस्त भूमिका तैयार की और दर्शकों को 'अंधों का हाथी' जैसी गंभीर नाट्यकृति देखने के लिए तैयार किया।

निर्देशक राजेन्द्र गुप्त ने 'बहुत बड़ा सवाल' जैसे नाटक के निर्देशन में भी लाजवाब सूझबूझ का परिचय दिया। मच का एक-एक इंच स्थान ज़िंदगी से भर दिया। हालाँकि चपरासी ज़्यादा 'लाउड' लगे, लेकिन उनकी अवस्थिति और सेट की परिकल्पना इतनी शानदार थी कि तबीयत खुश हो गई। काश ! प्रकाश-व्यवस्था पर वे और ध्यान दें।

राजेश, देवकांत और मनोहर आशी का अभिनय सुखद था। राजेश की सहजता और देवकांत का आत्मविश्वास उनके अभिनय की संभावनाएँ उजागर करते हैं। आशी में कौशल भी है और संतुलन भी। एकदम नई उम्र के इन कलाकारों से राजेन्द्र गुप्त ने निश्चय ही बहुत अच्छा काम लिया है।

कला परिषद और प्रेक्षक

यों तो नक्कारखाने में तूती की आवाज़ कौन सुनता है, लेकिन अगर कोई सुनता हो तो ग़ौर देकर यह कहना चाहता हूँ कि 'प्रेक्षक' के आयोजक को कला परिषद में नियमित रूप से सलाह-मशवरे के लिए बुलाया जाना चाहिए ताकि इस ग़रीब राज्य में

कम लागत पर अच्छे नाटक करने की जानकारी से परिषद वंचित न हो। जहाँ कुछ करने की बेचैनी और छटपटाहट हो, वहाँ कुछ कहना भी सार्थक होता है। कला परिषद मे यह बेचैनी तो है। भगवान् करे इस बेचैनी को गुटनिरपेक्षता का वातावरण मिल सके और सरकारी फ़ाइलों में अमरत्व प्राप्त करने की बजाय अशोक वाजपेयी नाट्य-प्रेमी जनता के हृदयों में ज़िंदा रहें।

(सभावित रचनाकाल . 1973-74)

रिव्यू : 'प्रारंभ' की भूमिका पर

'प्रारंभ' में चौदह कवियों–जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश वाजपेयी, नरेन्द्र धीर, राजकमल चौधरी, केशु, श्याममोहन श्रीवास्तव, राजीव सक्सेना, ममता अग्रवाल, मनमोहिनी, स्नेहमयी चौधरी, रमेश गौड़, विष्णुचन्द्र शर्मा, श्याम परमार और नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी–की कविताएँ संकलित हैं और शुरू में संपादक (जगदीश चतुर्वेदी) द्वारा नौ पृष्ठों की एक भूमिका भी है जिसमें इन कवियों की प्रवृत्तियों एवं काव्य-रुचियों की व्याख्या, आधुनिक काव्यधारा के संदर्भ में की गई है।

मैं समझता हूँ, भूमिका 'प्रारंभ' का सबसे कमज़ोर पक्ष है। स्थापनाओं के चक्कर में संपादक ने यथार्थ को नज़रअंदाज़ कर कुछ ऐसी बातें कही हैं जिनका संकलित रचनाओं से कोई तालमेल नहीं बैठता। इसके बरअक्स अधिकांश कवियों की कविताएँ न केवल संपादकीय घोषणाओं के विपरीत पड़ती हैं बल्कि उनका मज़ाक़ उड़ाती-सी जान पड़ती हैं। कुछ उदाहरणों से अपनी बात स्पष्ट कर देना उचित होगा। संपादक का कहना है–"आधुनिक जीवन के विभिन्न स्तरों को छूने वाली कवि-दृष्टि इधर पाँच-सात वर्षों से ही दिखाई दे रही है। अतः इसमें वही कवि सम्मिलित किए गए हैं जिनमें आधुनिकता के प्रति सहज आग्रह है।...नवीनता के जितने रूप, जितने आयाम इन कविताओं में दिखाई देंगे उतने हिंदी कविता के किसी संकलन में नहीं पाए जा सकते। ...इस संकलन के कवि भाषा-रूपों के नूतन प्रयोग करने में सफल रहे हैं।"

यह संपादकीय आत्मोल्लास है या वास्तविकता इसका निर्णय होना आवश्यक है। अतः पाठकों के विचारार्थ मैं एक ही कवि की दो कविताओं के कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ–

यह बदला-बदला मौसम
सतरंगी धरती,
गुस्ताख़ हवाएँ,
ये रंग-बिरंगी तितली
कलियों का घूँघट खोल-खोल मुस्काना
मर्यादाओं की सख़्त बँधी डोरी से
दिल का फिसल-फिसल जाना

......
कुछ नहीं... यह उम्र गुनाहों की
जो आज तुम्हारे अधरों के मंदिर पर
चुंबन के दो फूल रख दिए मैंने

(पृ० 233)

अथवा

यह धुली-धुली-सी धरती
बिखरे-बिखरे बादल
कुछ कुहरे से ढँकी हुई रंगीन घाटियाँ
जार्जेट के नीले दुपट्टे-सी।

(पृ० 235)

इन दोनों उद्धरणों के संदर्भ में संपादक से यह प्रश्न पूछने का मन होता है कि इनमें नवीनता का कौन-सा रूप है ? कौन-सा शब्द, कौन-सा बिंब और कौन-सा भाव नया है ? इनमें कौन-सी आधुनिकता है ? और क्या ये धर्मवीर भारती की प्रारंभिक रूमानी कविताओं के ही भ्रष्ट रूपांतरण नहीं हैं ?

आगे संपादक महोदय कहते हैं—"इस अभिनव काव्य के संकलन में कदाचित् प्रथम बार हिंदी की क्षुब्ध पीढ़ी के कवि एक स्थान पर संगृहीत हैं।" मैं समझता हूँ, यहाँ संपादक को ये पंक्तियाँ लिखने से पहले विष्णुचन्द्र शर्मा, स्नेहमयी चौधरी, श्याम परमार, मनमोहिनी, केशु, श्याममोहन श्रीवास्तव, नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी और ममता अग्रवाल आदि की कविताएँ पढ़ लेनी चाहिए थीं। अगर नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी, जिनकी दो कविताओं के अंश मैंने ऊपर उद्धृत किए हैं या श्याम परमार तथा मनमोहिनी, जिनकी कविताएँ नीचे दे रहा हूँ, क्षुब्ध कवि हैं तो फिर किशोर-कवि कैसे होंगे ?

हम दोनों दर्पण हैं
देखें-भालें अपने को
पहचानें अपनी सूरत
किंतु
छूना नहीं तनिक
तड़क जाएँगे अभी कच्चे हैं।

(पृ० 137)

यह श्याम परमार का क्षोभ है। अब आप मनमोहिनी का विक्षोभ भी देखिए—

कितने असीम
अपरिमित सुख से भर गया मन
सब कुछ लगा कितना भला।
हवा के पंखों पर उड़ता हुआ
बीत गया समय
कुछ पता ही नहीं चला !

(पृ० 180)

तो जिन्हें कुछ पता ही नहीं चलता वे समाज में क्षुब्ध नहीं कहलाते। जो क्षुब्ध होते हैं उन्हें हर क्षण का पता चलता है या उन्हें हर क्षण पता चलता है, इसी कारण वे क्षुब्ध होते हैं। मगर संपादकीय के लिए नारा यह बुरा नहीं है।

वैसे संपादक ने भूमिका में पूरे ज़ोर से यही सिद्ध करना चाहा है कि ये सारे कवि आधुनिक हैं, नवीन हैं, परंपरा के विरोधी हैं। हालाँकि दुर्भाग्य से ऐसा बिलकुल नहीं है। मगर संपादक का मन रखने के लिए यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लें तब भी यह कहाँ सिद्ध होता है कि ये सभी अच्छे कवि भी हैं।

संपादक ने 'इन कवियों में विश्वजनीन दृष्टि पनप रही है' ऐसा कहा है। मुझे वह दृष्टि किसी में नहीं दिखी और न वह आक्रोश ही सबमें दिखा जिसकी भूमिका में बारहा चर्चा की गई है। हाँ, चौदह कवियों में से तीन—जगदीश चतुर्वेदी, राजकमल चौधरी और कैलाश वाजपेयी में यह आक्रोश है। राजकमल का आक्रोश अधिक वैयक्तिक, विकृत किंतु कलात्मक है। उसमें समाज एवं संसार को देखने वाली दृष्टि पर सेक्स का चश्मा चढ़ाए एक निराश, खोखला और स्खलित व्यक्तित्व दिखाई देता है जो कुछ न कर सकने की असमर्थता में रिस रहा है। हाँ, यह आक्रोश स्वस्थ रूप में कैलाश वाजपेयी में अवश्य उभरा है। उनकी अधिकांश कविताएँ यंत्रयुग की पीड़ा और अभिशाप भोगते ऐसे युवक की कविताएँ हैं जिसमें परिस्थितियों से समझौता नहीं, उन पर व्यंग्य करने की सामर्थ्य है। किंतु यहीं कवि के बारे में यह कह देना भी आवश्यक है कि उसका 'मैनरिज़्म' उसे एक बहुत छोटे-से दायरे में सीमित किए है और अगर वह इसे तोड़ नहीं सका तो उसकी संभावनाएँ ख़त्म हो जाएँगी। तीसरे कवि जगदीश चतुर्वेदी का आक्रोश मौखिक अधिक है, अनुभूत कम। इसीलिए उसकी आधुनिकता भी सायास और वक्तव्य-प्रधान लगती है। चतुर्वेदी की कोई कविता उठा लीजिए, उसमें निष्कर्ष रूप में चंद ऐसी पंक्तियाँ ज़रूर मिलेंगी जैसे 'हम सब नपुंसक हैं', 'बीसवीं सदी की कमज़ोर नामर्द औलादें', 'जिनके चेहरे हैं पर ज़बान नहीं' (पृ० 36); 'शायद मैं भी नस्लहीनों का एक प्रेत हूँ—शापग्रस्त प्रेत' (पृ० 20); 'हम सब हैं तलैया के जल में रहने

वाले भुनगे और मच्छर' (पृ० 23), फिर भी उनमें मध्यमवर्गीय संस्कारों से जूझने की तड़प शायद है और आशा की जा सकती है कि आज नहीं तो कल वे रास्ता खोज लेंगे। यों उपर्युक्त तीन कवियों के अलावा नरेन्द्र धीर में भी यह आक्रोश मिलता है, पर उनमें आक्रोश ही मिलता है, कविता नहीं मिलती। धीर जी बेचारे चतुर्वेदी जी के साथ गिलौटिन पर चढ़ाए जा रहे हैं। यों इनके लिए कविता ही कौन 'गिलौटिन' से कम थी। अन्य कवियों में मनमोहिनी, ममता अग्रवाल तथा नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी तीनों की भावभूमि कमोबेश उस किशोर की-सी है जो प्रेमिका या प्रेमी को सर्वस्व मानकर कविता करते हैं। मनमोहिनी में प्राप्य का सुख और संतोष है तो ममता अग्रवाल में उसे प्राप्त करने का किशोर-सुलभ औत्सुक्य और त्रिपाठी में उसे पाने और भोगने की उतावली ! यानी वही 'पुराने रोमानी मूल्य' जो संपादक के शब्दों में 'आज हमें सारहीन लगते हैं'। फिर भी यदि चमत्कारिकता एवं उक्ति-वाचन के मोह से बच सकीं तो ममता अग्रवाल की संभावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक काव्योचित हैं।

'प्रारंभ' के दूसरे कवियों में 'कवि' के संपादक विष्णुचन्द्र शर्मा की कविताएँ पढ़कर काव्याभास होता है और राजीव सक्सेना की कविताएँ निबंध का मज़ा देती हैं। छोटे-छोटे प्रकृति-चित्रों द्वारा विष्णु चन्द्र शर्मा की कविताएँ एक तस्वीर बनाते-बनाते उसी प्रकार टूट जाती हैं जिस प्रकार स्नेहमयी चौधरी की कविताएँ—जिनमें काव्यानुभूति की पकड़ तो है, किंतु बहुधा वे उसे संपूर्णतः आत्मसात् न कर पाने के कारण खंड रूप में चित्रित कर पाती हैं और पाठक को एक अधूरेपन का एहसास रह जाता है। अधूरेपन का यही एहसास श्याम परमार की कविताएँ पढ़कर भी होता है जिसमें कई नए और अछूते बिंब उभरते-उभरते अपना प्रभाव खो बैठते हैं। पता नहीं, इसे काव्य-साधना का अभाव कहा जाएगा या कुछ और, किंतु यह दोष अधिकांश कवियों मे है। इसी साधना के अभाव में या शिल्प के अज्ञान में कुछ कवियों का अच्छा कथ्य भी काव्य का कच्चा माल बनकर रह गया है। एक उदाहरण इसका रमेश गौड़ भी हैं।

हाँ, श्याममोहन श्रीवास्तव और केशु में हमें यह असावधानी नहीं मिलती। केशु का काव्य-सौंदर्य उनकी शिल्प-सज्जा में है। वे प्रत्येक पंक्ति द्वारा एक 'इमेज' खड़ी करते हुए धीरे-धीरे संवेदनाओं के स्तरों पर आते हैं जबकि श्याममोहन अपनी रागात्मक तल्लीनता और अनुभूति की निर्व्याज अभिव्यक्ति के कारण हमें छूते हैं। उनकी 'गोधूलि' तथा 'संकल्प' शीर्षक कविताएँ इस दृष्टि से पठनीय हैं या रात के कुछ स्केच! पर यह स्वीकार करना होगा कि इस संकलन में उनकी ऐसी कविताएँ तीन-चार ही हैं। हो सकता है 'आधुनिक विक्षुब्ध' कहलाने के लिए उन्होंने स्वयं ऐसा चुनाव किया हो जबकि केशु की लगभग सभी कविताएँ एक स्तर का निर्वाह करती हैं। शायद संकलन की सबसे अच्छी कविताएँ भी केशु और कैलाश वाजपेयी की ही हैं।

मुझे 'प्रारंभ' में संकलित सारी कविताएँ पढ़कर कोई विश्वजनीन दृष्टि, सप्तक से आगे की कोई कलात्मक उपलब्धि, आधुनिकता, नवीनता या परंपरा से कोई विद्रोह जैसी विशिष्ट आंदोलनकारी बात नहीं लगी। लगा, तीन-चार अच्छे कवि, जिनसे हम पहले से ही परिचित हैं, तेज़ी से आगे आ रहे हैं और कुछ घटिया कवि अपना नाम उनके साथ जोड़कर आगे आने की कोशिश कर रहे हैं। इन कवियों में कोई 'क्षुब्ध' नहीं है और जो 'क्षुब्ध' हैं वे इस अर्थ में हैं कि उनकी कविताओं को कोई पूछता नहीं। संक्षेप मे, 'प्रारंभ' के चौदह कवियों मे से आठ भरती के हैं और इसमें अशोक वाजपेयी, आग्नेय आदि अन्य सचमुच के कवियों का न होना अखरता है।

फिर भी हम पाठकों से 'प्रारंभ' ख़रीदकर पढ़ने की सिफ़ारिश करते हैं क्योंकि किताब अच्छी छपी है।

(सभावित रचनाकाल 1963)

रिव्यू : हम तिनके

रमेश बक्षी के नए उपन्यास 'हम तिनके' की 'पुनश्चः' शीर्षक भूमिका का पहला वाक्य, 'ओर रानी, न पेन की स्याही चुकी, न किसी ने पुकार लिया' पढ़कर ही मुझे लगा कि इस उपन्यास में फिर मुझे उसी किशोर-प्रेम-लोक में जाना पड़ेगा जो बक्षी का भाव-जगत् है और जिसे अपने व्यक्तिगत जीवन में आज पीछे मुड़कर देखते हुए भी प्रायः संकोच होता है। विश्वास कीजिए कि उपन्यास पढ़ना शुरू किया तो मेरा अनुमान गलत नहीं निकला। वही मध्यवर्गीय प्रेम के पुराने तरीक़े : मुहल्ले की लडकी से प्रेम करना, घर से भागना, फिर कॉलेज की रूमानी ज़िंदगी, थोड़ा-सा आर्थिक संघर्ष, नायक या नायिका की कला के प्रति थोड़ी-सी अभिरुचि, हलकी-सी राजनीति, पत्रकारिता और क्लाइमेक्स के रूप में निराशा या एक और लडकी से विवाह। सच कहूँ तो उपन्यास ख़त्म करके मुझे घोर आश्चर्य हुआ कि बक्षी ने अपने किसी पात्र को बंबई के फ़िल्म स्टूडियो की तरफ क्यों नहीं भेजा ?

मगर लेखक के आग्रह की रक्षा करने के लिए मेने उपन्यास की भूमिका को एक बार और पढा तो मुझे लगा कि लेखक अपने पात्रों की अस्थिर चित्तवृत्ति, तिनकों जैसी नियति का निर्माता ही नहीं, उनसे परिचित भी है अन्यथा उपन्यास का नाम 'हम तिनके' न होकर 'दास्ताने ग़मे दिल' भी हो सकता था। अतः मैंने इसके कथानक को खींच-खींचकर कई कोणों से देखने की कोशिश की ताकि कहीं से भी एक ऐसा अर्थ निकल आए जिससे लेखक की निर्माण की इच्छा पहचान सकूँ, पर असफल रहा। बक्षी ने भूमिका में कहा है, "मैंने यह जरूरत महसूस की है कि एक-एक जीवन-रूप को लेकर उपन्यास लिखे जाएँ।" मुझे इस ज़रूरत के पीछे कोई बुनियादी अकुलाहट खोजने की ज़हमत नहीं उठानी पड़ी, क्योंकि आगे एक ऐसा वाक्य मिल गया जिसमे लेखक ने ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है कि 'यह आगे वढ़ते हुए एक अतीत से पीछा छुड़ाने की कोशिश है।'

साधारणतः 'हम तिनके' प्रेम-प्यार की मामूली मगर दिलचस्प कहानी है किंतु उपन्यास के रूप में इसका महत्त्व इसलिए है कि यह बक्षी जैसे समर्थ लेखक को उसकी कैशोर्य सीमाओं से काटने का प्रयत्न करता है। दरअसल किशोर-अतीत से मुक्त होने का प्रयत्न बक्षी के लिए अत्यंत आवश्यक था—इसीलिए यह उपन्यास कोई ठोस और

तात्त्विक बात और कोई गहरी जीवन-दृष्टि न लिए होने के बावजूद मुझे स्वागत-योग्य लगा। जानबूझकर भाषा ग़लत लिखने की चेष्टा बक्षी की पुरानी आदत है, मगर नए शिल्प और कथ्य की अभिव्यक्ति की आंतरिक विकलता से जुड़ी होने के कारण वह भी अखरती नहीं है। चरित्र-चित्रण में कमाल न होते हुए भी यह गुण है कि कॉलेज की भीड़ में भी हर पात्र को अलग से पहचाना जा सकता है, यहाँ तक कि कटू से आपकी दोस्ती भी हो सकती है। दूसरे शब्दों में, इतनी साधारण और बचकानी कहानी को इतने अच्छे ढंग से कहा गया है कि इसकी प्रशंसा न करते हुए भी मैं यह बात ज़ोर देकर कहूँगा कि आप इसे जरूर पढ़िए।

(सभावित रचनाकाल 1961)

नए स्वर

'नए स्वर' में छत्तीसगढ़ के छह तरुण कवियों की कविताएँ संगृहीत हैं। साहित्यिक हलचलों का केंद्र न होते हुए भी छत्तीसगढ़ प्रदेश और उसके ये कवि इतने सजग और जागरूक हैं कि आश्चर्य होता है।

हरि ठाकुर, गुरुदेव चौवे काश्यप, सतीशचंद्र चौबे, नारायणलाल परमार, ललितमोहन श्रीवास्तव और बच्चू जांजगीरी—छहों कवि, स्वस्थ सामाजिक चेतना, आस्थावान दृष्टि और लोकमंगल की भावना से संपन्न हैं। सवके स्वरों में एक विश्वास है, जो अंततः मानव-हित की भावना से उद्‌भूत है। इस दृष्टि से छहों कवियों की विचारधारा में बड़ा साम्य है, किंतु काव्यत्व के धरातल पर ये सब अलग-अलग हैं।

प्रस्तुत संकलन के सबसे सशक्त और ओजस्वी कवि हरि ठाकुर और गुरुदेव चौबे काश्यप हैं। हरि ठाकुर की ओज-भरी वाणी आज के युग में व्याप्त वैपम्य ओर शोषण को ललकारती है, शांति का आह्वान करती हे ओर जीवन के नए-पुराने मूल्यों की प्रतिष्ठापना पर ज़ोर देती हं। परंतु अनुभूति की प्रखरता और अभिव्यक्ति की सफ़ाई होतं हुए भी कुछ नियत शव्दों का प्रयोग देखकर यह अहसास होता है कि कवि की शव्द-शक्ति सीमित है। उनके दूसरे, तीसरे और चोथे गीत पर कवि-सम्मेलनी कवियों की शव्दावली बुरी तरह हावी है। हॉ, अपनी मुक्त-छंद की कविताओं मे कवि ने सफलता प्राप्त की है। 'नए शिखर' शीर्षक कविता की प्रारंभिक पंक्तियॉ हैं—

हम बना रहे हैं नए शिखर
इस धरती पर
जिनके कंधों पर सूरज आकर ठहरेगा
किरणों का स्वर
अँगड़ाई लेकर लहरेगा।

सच ही, इस संग्रह के सभी कवियों में यह नए शिखर बनाने की·उत्कंठा विद्यमान है।

गुरुदेव चौबे काश्यप की कविताओं की अनुभूतियों की सघनता, विविधता और मौलिकता उन्हें सच्चे अर्थो में प्रयोगशील सिद्ध करती है। अपने विचारों से लेकर वर्णन

तक में यह कवि अनूठा है। क्या वातावरण और क्या कल्पना-शक्ति, हर दृष्टि से उसमें बड़ी संभावनाओं के दर्शन होते हैं। अपनी 'साँझ अयानी, रात गुज़रने को है' शीर्षक कविता में उसने स्थानीय शब्दों का जैसा सहज और मार्मिक प्रयोग किया है, वह स्पृहणीय है।

सतीशचंद्र चौबे नवीनता को आग्रह-रूप में स्वीकार किए हुए हैं, इसलिए विषय-वस्तु में नई होते हुए भी उनकी अधिकांश कविताएँ सप्रयास लिखी जान पड़ती हैं। सहज आवेग उनमें नहीं है। वे मानते हैं कि 'कविता खरी तो धरातल भावों का खरा ही चाहिए', पर उन्हें मालूम होना चाहिए कि उनकी 'डाइजेशन चक्र' जैसी कविताओं का धरातल खरा नहीं है। यद्यपि टेकनीक की दृष्टि से इस संग्रह में उनकी कविताएँ महत्त्वपूर्ण हैं, विशेषतया 'हत्या की-सी सिहरन', 'इंटरनेशनल डेथ', 'ताजमहल', 'रोशन हाथों की दस्तकें', 'बिंदु और धरातल'।

नारायणलाल परमार की कविताओं में सफ़ाई तो बहुत है, पर उनका कथ्य बहुत घिसा-पिटा है। ललितमोहन श्रीवास्तव के कुछ गीतों में बड़ी पकड़ है। एक कविता 'मकरोनिया की आधुनिक छायाकारी' की दो पंक्तियाँ देखिए—

नीली हरी पहाड़ियाँ
बड़ी मशक्कत करके चढ़ती यहाँ उमर की गाड़ियाँ।

गीतों के क्षेत्र में यह कवि सचमुच कुछ आशा बँधाता है, यद्यपि गीत के विशिष्ट गुण 'आंतरिक एकसूत्रता' में वह भी चूका है।

यों तो प्रकृति-चित्रण अपने-अपने ढग से इन सभी कवियो की विशेषता है, पर बच्चू जाँजगीरी इस ओर विशेष उन्मुख हैं। इनकी कविताओं में (चाहे वे नितांत वैयक्तिक भी क्यों न हों) प्रकृतिमूलक उपमानों का ही प्रयोग हुआ है। छत्तीसगढ़ के गाँवों ने इन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया है।

'नए स्वर' इसलिए स्वागत-योग्य नहीं है कि उसमें प्रौढ़, परिष्कृत या महान् रचनाएँ संकलित हैं, बल्कि इसलिए है कि उसके कवियों में ऐसी रचनाएँ देने की क्षमता, प्रतिभा और विकलता है।

('कल्पना', हैदराबाद, जुलाई, 1957)

असाधारण मनोवैज्ञानिक सजगता

'ब्रह्म और माया' की कहानियों ने मुझे कमल जोशी की कहानियों पर नए सिरे से सोचने के लिए मजबूर किया। 'पत्थर की आँख' की चातुर्यपूर्ण कहानियाँ पढ़कर ऐसा लगता था कि लेखक कहानी के शिल्प और बाह्य प्रभावों के प्रति इतना लालायित हो उठा है कि उसने सामाजिक जीवन की व्यावहारिक और ठोस समस्याओं को देखने का नज़रिया बदल लिया है, और एक हद तक उनकी ओर से उदासीन भी हो गया है। व्यक्तिगत रूप से मैं कहानियों में चातुर्य या 'सस्पेंस' को बहुत बड़ा दरजा नहीं देता—और 'पत्थर की आँख' पढ़कर मुझे यही बात लगी थी। समस्याएँ तो 'पत्थर की आँख' की कहानियों में भी हैं और उन्हें सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से भी देखा गया है, किंतु वह दृष्टिकोण चतुर कहानीकार का है, साधारण आदमी का नहीं, इसलिए साधारण आदमी उन्हे पढ़कर मज़ा ले सकता है और उन्हें किसी हद तक सत्य भी मान सकता है, पर उनसे द्रवित नहीं हो सकता।

मुझे लगता है कि चातुर्य या ट्रिक का उपयोग लेखक वही करता है, जहाँ अपने वर्णित विषय मे उसकी आस्था नहीं होती, परतु 'ब्रह्म और माया' की कहानियो में मुझे न केवल यह आस्था ही सर्वत्र दिखी, बल्कि यह भी लगा कि लेखक ने इस बात को भी महत्त्व दिया है कि उसे क्या कहना है ? अस्तु...

'ब्रह्म और माया' की कहानियाँ आज के युग की मानसिक स्थिति का वही धरातल छूती हैं, जो हमारी सामाजिक संवेदनाओ का केंद्र बना हुआ है। इसीलिए उनमें वही तड़प, वही व्यंग्य, वही हिक़ारत और वही दबा-घुटा आक्रोश है, जो ले-देकर आज हम सबकी पूँजी है। इन अर्थो में ये कहानियाँ यथार्थवादी हैं। पर इनकी यथार्थवादिता प्रेमचंदकालीन लेखकों की उस यथार्थवादिता से सर्वथा भिन्न है, जिसने कहानी की भावधारा को भावुकता का पुट देकर आदर्श की ओर मोड़ देना चाहा। उदाहरण के लिए 'ब्रह्म और माया' की पहली कहानी 'कस्तूरी मृग' की विधवा नायिका निर्मला हंदी कहानियों की उन सैकड़ों विधवाओं जैसी नहीं है, जो या तो पति की पवित्र स्मृति में सारा जीवन बिता देती हैं अथवा किसी ऐरे-गैरे के साथ 'घरवालों के मुँह पर कालिख पोतकर' भाग जाती हैं। निर्मला के सामने प्रकाश को प्यार करने के बावजूद समाज का एक ऐसा व्यावहारिक आदर्श भी है, जो उसे विवश होकर निभाना पड़ता है...इसलिए वह कोयले

के टुकड़े से फ़र्श पर लिखकर अपनी दमित वासनाओं को अभिव्यक्ति और तृप्ति देती है। निष्फल ही सही, किंतु मूक निर्वाह की यही स्थिति संवेदना के एक नए धरातल की ओर संकेत करती है, जो कि वस्तुतः लेखक के दृष्टिकोण का ही नयापन है।

जिन्हें 'नई कहानी' शब्द से चिढ़ है, उनके लिए ये कहानियाँ एक चैलेंज हैं। कमल जोशी की और भी ऐसी ही कहानियाँ हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में नई और पुरानी कहानी की दिशा, धारा एवं नए और पुराने कहानीकार की कला-संबंधी आधारभूत मान्यताएँ परखी जा सकती हैं। पुराने कहानीकार के कटु से कटु यथार्थ में भी कहीं न कहीं आदर्श का एक ऐसा पुट ज़रूर है, जो उसे घुमा-फिराकर नई लकीरें नहीं खीचने देता, परंतु कमल जोशी में और प्रकारांतर से नए कहानीकारों में सर्वत्र इन परंपराओ को तोड़ने और नई मर्यादाएँ क़ायम करने की प्यास हे। इसलिए वह कठोर से कटोर सत्यों को भी उसी अहसास से चित्रित करता हे, जिससे उन्हें देखता है। कठोर को कोमल या कटु को मधुर करने के लिए वह मनोविज्ञान को कथागत परिस्थितियो एवं संवेदनाओ के अनुरूप नही ढाल लेता, बल्कि मनोविज्ञान के वास्तविक परिपार्श्व मे ही वह उनका यथार्थवादी रूपो मे चित्रण एव आकलन करता है।

इस दृष्टि से 'नर्स' शीर्षक कहानी कमल जोशी की दूसरी बड़ी उपलब्धि है, जिसमें विमाता वीणा के माध्यम से उन्होने आज के सामाजिक परिवेश मे लिपटी उस परिवर्तित और प्रबुद्ध नारी को चित्रित किया है, जो अपने विचारो मे बहुत बदल चुकी, पर सस्कारों मे अभी वही है, उन्ही मानवीय दुर्बलताओ से युक्त।

मेने अभी नए कहानीकार की नई रूढ़ियो के निर्माण करने वाली बात कही थी कि वह इसके लिए कितना आतुर हे। फलत· त्वरा मे वह कहीं-कही सयम भी खो बेठता है। मगर कमल जोशी की सधी हुई कलम से कहीं भी यह शिकायत नही की जा सकती। उनकी कहानियो के पात्र इसके जीते-जागते प्रमाण हें। वे हमारी-आपकी तरह मामूली लोग हें, बेबसी मे जीते-घुटते ओर हँसते-रोते है। वे समाज से विद्रोह कर हमें मुक्ति का मार्ग नही दिखलाते, बल्कि हमे हमारी विकृतियों ओर कमज़ोरियों का अहसास कराते हैं और इसके पीछे, यदि देखा जाए तो, एक बड़ी सांकेतिक और सच्ची प्रेरणा छिपी है।

इसी सबध मे एक ओर ध्यान देने योग्य बात यह है कि कमल जोशी ने अर्थव्यवस्था के आधार पर बनते-बिगड़ते या बदलते समाज को चित्रित नहीं किया, बल्कि उससे प्रभावित मानव-वृत्तियो का चित्रण किया है। एक वाक्य में 'ब्रह्म ओर माया' की कहानियाँ समाज-विश्लेषण से अधिक व्यक्ति-मनों का विश्लेषण करती हैं। ये व्यक्ति पूँजीपति भी हैं, भिखारी भी, क्लर्क भी हैं और बुद्धिजीवी वर्ग के लोग भी।

सामान्य दृष्टि से देखने पर लगता है कि लेखक आज के युग की अर्थव्यवस्था के

घातक परिणामों से अप्रभावित है, पर वास्तव में ऐसा है नहीं। यदि होता तो वह 'नायक-नायिका' शीर्षक कहानी में निहित व्यंग्य इतनी समर्थता से न कर पाता। यद्यपि प्रत्यक्षतः यह कहानी चड्ढा-दंपती का मनोविश्लेषण है (और है), किंतु उनकी वे मानसिक ग्रंथियाँ भी तो अंततोगत्वा अर्थ-संबंधों के आधार पर ही हैं। प्रस्तुत कहानी में लेखक एक ओर जहाँ यह संकेत करता है कि आधुनिकता ने हमारे सांस्कृतिक जीवन के सूत्रों को विच्छिन्न कर दिया है, वहीं दूसरी ओर वह यह भी ध्वनित करता है कि धन का नशा किस प्रकार हमारी वृत्तियों को असामान्य एवं कठोर बना देता है।

व्यंग्य का यही उत्कर्ष 'वैनिटी' शीर्षक कहानी में है। अपने प्रतिपाद्य को अधिक तीव्र और प्रेषणीय बनाने के लिए कमल जोशी व्यंग्य का प्रयोग करते हैं—सिर्फ़ कौतुक या चमत्कार के लिए नहीं। असंगति, चाहे वह पूँजीपति वर्ग में हो चाहे निम्न-मध्यम वर्ग मे, कमल जोशी के कलाकार को सह्य नहीं। 'वैनिटी' आर्थिक शिकंजे में कसे हुए निम्न-मध्यवर्गीय परिवार के मिथ्या दंभ और खोखली मनोवृत्तियों की कहानी है, जिसके पीछे लेखक की स्पष्ट सामाजिक चेतना मुखरित है। ये तथा कमल जोशी की अन्य सभी कहानियॉ पढ़कर पहला प्रभाव (जिसे मैं काफ़ी बाद में वता रहा हूँ) यह पड़ता है कि उसका क्षेत्र वास्तव में मनोविज्ञान है।

'चार के चार' के वाद 'ब्रह्म और माया' की कहानियों ने मेरे इस विश्वास को और दृढ़ किया कि कमल जोशी का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रेमचन्द से लेकर अब तक के कहानीकारो में विशिष्ट है। मानव-मन का जैसे राई-रत्ती ज्ञान उन्हे हे। प्रस्तुत संग्रह की 'शीराज़ी' कहानी को मैं उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करता हूँ। इतनी उलझी हुई मानसिक स्थिति को इतनी सफ़ाई से चित्रित कर पाना किसी साधारण कलाकार का काम नहीं हो सकता। शीराजी नहीं जानती कि जिस नाटककार की कृतियों से वह चिढ़ती है, उसी से किस क़दर आक्रांत है।

इस असाधारण मनोवैज्ञानिक सजगता का ही परिणाम है कि जोशी के पात्र या कथानक कहीं भी बहके नहीं हैं। उन्होंने कहीं वास्तविकता का साथ नहीं छोड़ा है, वरना मनुष्य की आधारभूत प्रवृत्तियों को लेकर लिखी गई कहानियों में भटकने की बहुत गुंजाइश थी। 'बेटे का बाप', 'ममता का बंधन', 'ब्रह्म और माया' तथा 'कल्याणी' शीर्षक कहानियों को आप इसी संदर्भ में पढ़िए—कटु यथार्थो के बीच भी इन सबमें लेखकोचित ईमानदारी झलकती दिखाई देगी।

'बेटे का बाप' में यदि नारी की सेक्स और सुरक्षा की भावना उसके मातृत्व से भी बढ़ी-चढ़ी है, तो इसलिए नहीं कि लेखक की यही मान्यता है, बल्कि इसलिए कि वह नारी का एक 'टाइप' है। 'ममता का बंधन' में नारी का सेक्स पक्ष उसके मातृत्व भाव के सम्मुख गौण चित्रित किया गया है। राधा का नंदू के प्रति आकर्षण दैहिक

कारणों से नहीं, बल्कि इसलिए है कि वह कभी उसके बच्चे के सामने यह प्रकट नहीं होने देना चाहती कि वह उसकी वास्तविक माँ नहीं है।

'ब्रह्म और माया' में पुरुष के अत्याचारों से संत्रस्त मूक असहाय नारी का चित्र यदि हृदय को द्रवित कर करुणा जगाता है, तो 'कल्याणी' में घृणा पी-पीकर पागल हो जाने वाले आदमी के प्रसंग में नारी की चिरममत्वशील, समझौतावादी और सेवामयी प्रवृत्तियाँ हमारी श्रद्धा को झकझोरती हैं। कमल जोशी ने नारी को अनेक रूपों में चित्रित किया है। वह पुरुष की प्रेरणा भी है, बल भी और शिकार भी।

'ब्रह्म और माया' में दस कहानियाँ हैं, जिनमें से अंतिम 'चुटकुला' को छोड़कर शेष सभी में एक-एक नारी-पात्र प्रमुख रूप से है। शरत् के नारी-पात्रों की तरह कमल जोशी के नारी-पात्रों का भी उनकी कहानियों में विशिष्ट स्थान है। 'कस्तूरी मृग' की निर्मला, 'ममता का बंधन' की राधा, 'नर्स' की वीणा और 'ब्रह्म और माया' की गोमती का चरित्र अविस्मरणीय ढंग से चित्रित हुआ है।

मुझे तो लगता है कि प्लाट या कथानक पर कमल जोशी की दृष्टि रहती ही नहीं। वह तो उनके लिए अपने चरित्रों को उभारने और उन्हें विभिन्न मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से देखने का एक साधन-मात्र है। ऐसा लगता है कि उनके पात्र उनके कथानक को आकार देने के लिए नहीं, बल्कि उनका कथानक ही उनके पात्रों को अधिक मूर्त रूप देने के लिए प्रयुक्त होता है। अपने पात्रों को पहले दिमाग़ में रखकर वे कथानक की सृष्टि करते हैं, फलतः उनकी कलात्मक सूझ-बूझ तथा शिल्पगत सावधानी के बावजूद उनके कथानक अपेक्षाकृत कमज़ोर है। इसीलिए उनकी कहानियों के घटना-साम्य पर लोगों ने तरह-तरह के आक्षेप भी किए हैं। क्योंकि किसी पात्र को दिमाग़ में रखकर कथानक खोजने में प्रायः किसी जानी-अनजानी अथवा पढ़ी हुई घटना की छाया पड़ जाया करती है।

भाषा के विषय में केवल इतना कहना है कि कमल जोशी का नाम हिंदी के चुनिंदा कहानीकारों में आता है। फ़तवे देने के लिए मैं यों भी बदनाम हूँ, पर यह सही है कि नए लेखकों में कमल जोशी जैसी भाषा लिखने वाले दो-एक ही है। छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा कठिन से कठिन भावों की व्यंजना कराने में कमल जोशी सिद्धहस्त हैं। 'वैनिटी' शीर्षक कहानी का एक अंश देखिए—नई बहू घर में आई है : "गत उत्सव की धूमधाम दो-तीन दिन और रही। फिर धीरे-धीरे मकान ख़ाली होने लगा। ज्वार का जल उतर जाने पर पुष्पा को यह देखने का संयोग मिला कि नदी की वास्तविक सीमा कितनी है।" इस वाक्य से कमल जोशी ने वह सब कह दिया, जो उन्हें कहना था। और कुछ दिनों बाद जब पुष्पा उस घर की स्थिति से और भी परिचित हो जाती है, तो उसे व्यक्त करने के लिए कमल जोशी ने डेढ़ पंक्तियों का एक पैराग्राफ़ और बनाया—"पुरानी दीवार की सस्ती सफ़ेदी फ़ीकी पड़ते ही यहाँ-वहाँ दरारें नज़र आने लगीं।" इस एक

वाक्य द्वारा लेखक उस घर की आर्थिक स्थिति का सारा ढाँचा जैसे खोलकर रख देता है।

मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि प्रस्तुत संग्रह कमल जोशी के समस्त कहानी-संग्रहों में ही श्रेष्ठ नहीं है, बल्कि हिंदी के कहानी-संग्रहों में भी विशिष्ट स्थान बनाकर रहेगा।

('कल्पना', हैदराबाद के अक्तूबर, 1957 के अंक में प्रकाशित समालोचना)

रिव्यू : रक्तराग

'रक्तराग' संभवतः हिंदी का पहला उपन्यास है, जिसमें सामरिक एवं सैनिक जीवन की सच्चाइयाँ साहित्यिक दृष्टि से चित्रित करने की चेष्टा की गई है। ऐसी ही पृष्ठभूमि पर आधारित एक अन्य उपन्यास 'रंगरूट' (बरेन बसु) मैंने पहले भी पढ़ा था। 'रंगरूट' और 'रक्तराग' की घटनाएँ एवं परिस्थितियाँ ही भिन्न नहीं हैं, बल्कि दोनों लेखकों के दृष्टिकोण में भी बहुत अंतर है। 'रंगरूट' के लेखक ने लगता है कि रंगरूट बनकर उन समस्त परिस्थितियों को जिया है, तभी तो उसके मन में इतनी गहरी संवेदना, करुणा और कचोट है। 'रक्तराग' का लेखक रक्त और राग का द्रष्टा मात्र है, भोक्ता नहीं। यही कारण है कि प्रस्तुत उपन्यास पढ़कर पाठक आश्वस्त होता है, परंतु अभिभूत या उत्तेजित नहीं। हाँ, उपन्यास में कहीं कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं, जहाँ पाठक का मन आंदोलित हो उठे।

'रक्तराग' की कहानी संक्षेप में देवल नामक एक लेफ़्टिनेंट की कहानी है, जो जापानियों द्वारा युद्ध में बंदी बना लिए जाने पर आज़ाद हिंद फ़ौज में कर्नल हो जाता है और अपने देश की मुक्ति के लिए प्रयत्न करता हुआ एक बार शत्रु के ऐसे अड्डे में जा पहुँचता है, जहाँ उसे उसकी प्रेमिका मिता के दर्शन होते हैं, जो नाकाई में जूनियर कमांडर होकर वहाँ नियुक्त है। प्रेमिका द्वारा निराश किए जाने पर देवल वहाँ से लौटता है, पर संयोगवश रास्ते में उत्तमा नामक एक अन्य लड़की से उसकी भेंट होती है, जो एक सिपाही के कारण संकट में पड़ने पर देवल द्वारा मुक्ति पाती है। उसी की सहायता से देवल कपड़े बदलकर छिपकर भागने का प्रयत्न करता है, परंतु एक गाँव में पकड़ा जाता है। कोर्ट मार्शल के सामने उसके अपराध पर विचार किया जाता है, परंतु पिता और उत्तमा के बयानों, जज-एडवोकेट कर्नल राय के सद्-प्रयत्नों और उचित प्रमाण के अभाव में उसका मुक़दमा स्थगित कर उसे दिल्ली भेज दिया जाता है, जहाँ बाद में और भी आज़ाद हिंद सैनिकों के भाग्य का निर्णय होता है और अंततोगत्वा वे निरपराध मान लिए जाते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास की कथा यहीं समाप्त हो जाती है। देवल को सीखचों से बाहर नहीं निकाला जाता और न ही उत्तमा (जो उसकी ओर आकर्षित है) और मिता (जिसकी ओर वह आकर्षित है) के बारे में कुछ स्पष्ट ध्वनित होता है कि उनमें से

रक्तराग : लेखक देवेश दास, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

किसको देवल ने और किसने देवल को प्राप्त किया।

'रक्तराग' पढ़ते समय किसी दिलचस्प ऐतिहासिक विवरण को पढ़ने की-सी अनुभूति होती है। घटना के किसी उतार-चढ़ाव से हम विशेष उद्वेलित नहीं होते। इसका एक प्रमुख कारण लेखक का शिल्पगत अज्ञान है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। यह उदाहरण आज़ाद हिंद फ़ौज के अधिकारियों की गिरफ़्तारी के बाद उन पर मुक़दमा चलाने के समय का है।

"इसी बीच समस्त देशों में विराट् आंदोलन शुरू हो गया। नेता जी भारत के स्वाधीनता युद्ध के सेनापति थे। आई०एन०ए० की सेना मणिपुर नागा पहाड़ पर देश को स्वाधीन कराने के लिए आ गई है। इस समाचार ने पराधीन देश में सभी को उत्साह और आनंद से भर दिया। उसके ज़ोरदार धक्के से अंग्रेज़ी सिंहासन डाँवाडोल हो उठा।" निश्चय ही उपर्युक्त उदाहरण में इतिहास की झलक है, उपन्यास की नहीं। उपन्यास के अंत में लेखक को यह लिखने की आवश्यकता क्यों अनुभव होती कि 'नेता जी भारत के स्वाधीनता युद्ध के सेनापति थे।' जबकि सारे उपन्यास में 'नेता जी की जय' भरी पड़ी है। दूसरी बात यह कि 'नेता जी की जय' के नारों के अतिरिक्त नेता जी के व्यक्तित्व की एक भी रेखा उभारने मे लेखक चेष्टारत नहीं हुआ। सारे उपन्यास में एक पात्र ऐसा नहीं, जिसके चरित्र-चित्रण में कोई असाधारण विशेषता हो। देवल और उमराव सिंह का चरित्र कुछ उभर सका है, किंतु मिता, जिस पर लेखक ने काफ़ी परिश्रम किया है, रहस्यमयी ही वनी रहती है। उत्तमा कुछ ही शब्दों में सुस्पष्ट हो उठती है। वस्तुतः उसी के चरित्र में थोड़ी-बहुत सफलता लेखक को मिली है।

यह उपन्यास हिंदी के एक प्रतिष्टि-त पत्र में धारावाहिक रूप से छपा है। उसके अलावा बाद में एक प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्था ने इसका प्रकाशन किया है। अतः इससे बड़ी आशाएँ रखना उचित ही था। कितु यह देखकर क्षोभ हुआ कि इसमें हिंदी का इतना अशुद्ध और दोषपूर्ण प्रयोग हुआ है। अंग्रेज़ी का वाक्य-गठन लेखक पर हावी है। इसी समीक्षा में उद्धृत उद्धरण को पढ़ने से यह बात और स्पष्ट हो सकेगी कि लेखक को इसका अनुवाद स्वयं न कर किसी हिंदी का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति से कराना चाहिए था। मगर क्योंकि देनेश दास बंगला के साथ-साथ शायद हिंदी लेखकों में अपना नाम गिनवाने की इच्छा रखते थे, इस कारण धैर्य न रख पाए। फलस्वरूप उपन्यास में ऐसी हिंदी लिखी गई कि कहीं-कहीं तो अर्थ निकालने में भी कठिनाई होती है।

वैसे उपन्यास दिलचस्प है और सैनिक एवं सामरिक जीवन की अनेक ज्ञातव्य बातों की जानकारी कराता है। यदि लेखक इतिहास और उपन्यास के बीच दूरी रख पाता तो निश्चय ही उपन्यास का साहित्यिक मूल्य बढ़ जाता। वर्तमान दशा में भी उपन्यास अपने ऐतिहासिक तथ्यों के कारण पठनीय है।

('कल्पना', अक्तूबर, 1957, पृष्ठ 70-71 पर प्रकाशित)

नई कविता

कविता की आलोचना इतनी घटिया हो सकती है, यह मैंने इस पुस्तक को पढ़कर जाना। आलोचनात्मक दृष्टि का जितना अभाव मुझे 'मानव जी' के पास दिखा, उतने की कल्पना मैंने नहीं की थी। मुझे प्रस्तुत पुस्तक के संबंध में 'युगचेतना' के समीक्षक का यह वाक्य बहुत उचित लगा कि "फ़ीचर लिखने वाली शैली में आलोचना की गई है, केवल 'सुनिए' के स्थान पर 'देखिए' कर दिया गया है।"

हो सकता है, 'मानव जी' के कुछ प्रशंसक मेरे इस कथन से सहमत न हों, इसलिए मैं 'नई कविता' के प्रतिनिधि चालीस विवेच्य कवियों में से पाँच-छह के नाम यहाँ दे रहा हूँ। पाठक स्वयं निर्णय करें कि क्या ये 'नई कविता' की किसी भी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं ?

1. आलूरी बैरागी चौधरी, 2. सच्चिदानंदन तिवारी, 3. शकुंतला सिरौठिया, 4. देवनाथ पांडेय 'रसाल', 5. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, 6. शिवचंद्र नागर और 7. गुलाब ख़ंडेलवाल।

पुस्तक में संगृहीत कवियों को लेखक ने 'बिना पक्षपात के' चुना है। मतलब यह कि नागार्जुन, केदार, सुमन, त्रिलोचन आदि सुप्रसिद्ध नामों के अतिरिक्त दोनों सप्तको के कवि तो लेने ही पड़ते, शेष 22 कवियों का चुनाव स्वयं 'मानव जी' ने किया है और नई-नई प्रतिभाएँ खोजकर लाए हैं, जिनके कुछ उदाहरण ऊपर दिए गए हैं। शेष उल्लेखनीय कवियो में क्षेम, महेंद्र भटनागर, नामवर सिंह, तारा पांडेय, गोपेश, चंद्रमुखी ओझा 'सुधा' तथा नर्मदेश्वर उपाध्याय प्रमुख हैं। इन सबका नामोल्लेख करते समय उसे इनके उज्ज्वल भविष्य के ही दर्शन होते हैं, जबकि इनमें से लगभग आधे कवि कविता लिखना छोड़ चुके हैं।

मैं समझता हूँ कि इन सारी ग़लतियों का एक कारण है—लेखक का आधुनिक साहित्य से संपर्क न होना। इसीलिए वह उन कवियों को, जो किसी ज़माने में कविता लिखा करते थे, आज भी प्रतिनिधि कवि मानता है। इसीलिए वह आज भी जगदीश गुप्त को गीतकार और राजनारायण बिसारिया को प्रयोगवादी कवियों में रखता है। वादों के हिसाब से कवियों का विभाजन इतना ग़लत है कि उसे मूर्खतापूर्ण कहने की इच्छा होती है।

आज यह पुस्तक मैंने तीसरी बार पढ़ी और कोशिश की कि मैं इसके प्रति कुछ सहिष्णु हो सकूँ, किंतु साहित्यिक ईमानदारी ने मुझे ऐसा करने से रोक दिया। पुस्तक में 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' शीर्षकों में इतने ग़लत ढंग से विचार व्यक्त किए गए हैं कि उन पर अलग से एक लेख लिखा जा सकता है।

प्रेम का आलोचक को ख़ास मर्ज़ है। इसलिए उसने हर कवि की प्रेम संबंधी मान्यताओं की खोज बड़े इत्मीनान से की है। हर कवि की आलोचना प्रायः उसके प्रेम या प्यार को लेकर शुरू होती है। यहाँ तक कि धर्मवीर भारती की आलोचना करते हुए आप फ़रमाते हैं, "भारती का प्रेम का जीवन कुछ भिन्न प्रकार का रहा है···प्रथम भेंट से ही दोनों एक-दूसरे की ओर आकर्षित हैं···कवि शिक्षित व्यक्ति है, नायिका गाँव की अल्हड़ बालिका।"

प्रस्तुत पुस्तक के सैद्धांतिक पक्ष पर मैंने ज़्यादा ज़ोर इसलिए नही दिया कि उसमें लेखक के अध्ययन की ख़ता है, दृष्टिकोण की नहीं। मे खुद कवि हूँ, मेरी आलोचना को ओर मायनों मे न लिया जाए, इसलिए में इसे यहीं समाप्त करते हुए पाठकों से अनुरोध करूँगा कि 'नई कविता की आलोचना' पुस्तक के धोखे में वे इसे न ख़रीद बेठे।

('कल्पना', हैदराबाद, अक्तूबर, 1957)

अँधेरे बंद कमरे

'अँधेरे बंद कमरे' मोहन राकेश का उपन्यास है और मैं समझता हूँ, इस पर विस्तार से चर्चा होनी चाहिए थी। इसलिए नहीं कि यह कोई महान् उपन्यास है, बल्कि इसलिए कि यह एक महत्त्वपूर्ण समकालीन कथाकार की कृति है। ऐसी कृति जो आधुनिक कथाकारों की आधुनिकता, नवीनता और निर्वैयक्तिकता पर सोचने के लिए पर्याप्त आधार प्रस्तुत करती है।

पिछली बार 'कल्पना' में रामस्वरूप चतुर्वेदी की एक टिप्पणी छपी थी, जिसमें कहानीकारों में आधुनिकता-बोध के अभाव की ओर संकेत था और उसे पढ़कर मैं काफ़ी झुँझलाया था। मगर ज्यों-ज्यों सोचा, उनकी बात की सच्चाई उभरती चली गई। अब राकेश के उपन्यास के संदर्भ में जब इस बात पर विचार करता हूँ तो नए कथाकारों की प्रगतिशीलता और आधुनिकता के दंभ का खोखलापन खुद-ब-खुद उभरने लगता है।

सुनते थे, राकेश दिल्ली की ज़मीन पर कोई वृहद् उपन्यास लिख रहे हैं। नए साहित्य में दिलचस्पी रखने वाले पाठकों को बड़ी बेसब्री से उपन्यास का इंतज़ार था, मगर उपन्यास आया तो लगा, इसमें मोहन राकेश कहाँ है ? यह उपन्यास तो भगवतीप्रसाद वाजपेयी भी लिख सकते थे। कहाँ है वो दिल्ली, जिसे हमने देखा और भुगता है ? कहाँ हैं दिल्ली के वे लोग, वे औरतें, वे नौजवान, जो ज़िंदगी से मुँह चुराते, उसके साथ मज़ाक करते या छल करते हुए घूमते हैं ? वह अभिशाप, जो सारी दिल्ली पर मँडलाता है, जो वहाँ का सबसे बड़ा आकर्षण और विकर्षण है ? जिसके कारण लोग दिल्ली से भाग-भागकर फिर दिल्ली में ही आते हैं, फिसलते हैं और फिर वहीं चिपक जाते हैं ?

मगर चलिए, न सही दिल्ली, कहीं दिल्ली का दर्द भी दिखाई देता, तो भी बात थी। एक मित्र ने कहा, "साहब, उपन्यास की दिल्ली अब की दिल्ली थोड़े ही है, वह तो कई बर्ष पहले की दिल्ली है।" मुझे इस बात पर हँसी आ गई। अव्वल तो वह दिल्ली, पुरानी दिल्ली नहीं है और हो भी तो लेखकों ने महाभारत तक की कथाओं को आधुनिक जीवन की पीठिका में उभारा है, फिर क्यों वो दिल्ली आधुनिक जीवन से कहीं भी नहीं जुड़ी है ?

श्री दीपक ने 'अँधेरे बंद कमरे' की अपनी समीक्षा में इस प्रसंग को सिर्फ़ स्त्रियों

के प्रसंग में छूकर छोड़ दिया है। मगर नए लेखकों की संस्कारग्रस्त रूढ़िवादी दृष्टि के लिए वह भी एक बड़ा भारी विस्मयबोधक चिह्न है। और कम से कम राकेश जैसे लेखक को यह सोचना चाहिए कि किसी नए लेखक से इतने दकियानूसी और रूढ़िग्रस्त नारी-चरित्रों को पाकर प्रबुद्ध पाठक को क्या निराशा नहीं होगी ? राकेश के संबंध में यह बात इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि वे हिर-फिरकर लगभग एक ही तरह के कथानकों और चरित्रों की सृष्टि करने में जुटे हैं और यह लेखक के ठहराव का पहला लक्षण है।

क्या मधुसूदन पत्रकार के रूप में दिल्ली के किसी पत्रकार का प्रतिनिधित्व करता है ? उक्त पत्रकार के रूप में चित्रित जीवन में ज़्यादा से ज़्यादा एक लेखक का जीवन है, जो इतना संवेदनशील और आतुर है जितना स्वयं उपन्यासकार। पूरा उपन्यास पढ़कर मुझे भी अफ़सोस हुआ कि इसमें न तो कहीं दिल्ली की ज़िंदगी बलबलाती है और न दिल्ली का कोरा टिपिकल चरित्र ही। दरअसल इस उपन्यास को पढ़कर इस नतीजे पर पहुँचा जा सकता है कि किसी शहर की ज़िंदगी पर लिखने के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वहाँ दो-चार साल रहा जाए, बल्कि ज़रूरी यह है कि उसे एक ख़ास नज़रिए से देखा और एक ख़ास ढंग से जिया और भुगता जाए। इसीलिए तो राकेश दिल्ली में काफ़ी दिनों रहकर भी अपने संस्कारों से मात खा गए और उपन्यास में दिल्ली को वास्तविक परिवेश देने की कोशिश में बुरी तरह फेल हुए।

संस्कारों से मात खा जाना लेखक की एक बड़ी कमज़ोरी है, जिस पर राकेश क़ाबू नहीं पा सके। यही कारण है कि उनके उपन्यास की सारी नारियाँ बक़ौल दीपक जी के, या तो क्षुद्र हैं या हीन या मूर्ख। और अंततः उन्हें एक निम्न-मध्यमवर्गीय जाहिल लड़की में ही पूर्णत्व की झलक मिलती है। मैं इसे बुरी बात नहीं कहता, मगर लेखक इस कमज़ोरी से स्वयं ग्रसित है, इसीलिए इन संस्कारों को दबाने के लिए राकेश ने दूतावासों और विदेशी शहरों के फ़ालतू और सतही वर्णन भरे हैं। इससे उपन्यास की न सिर्फ़ सहजता घटी है, बल्कि ये भरती के अंश पाठक के साथ घनघोर ज़्यादती है। हिंदुस्तान से स्वयं बाहर गए बिना वह पाठक को विदेश की सैर कराए, ये कितनी बड़ी मज़ाक़ है। पाठक इन्हें इसलिए पढ़ता है कि उसने पुस्तक पर दस-ग्यारह रुपए ख़र्च किए हैं। मगर क्या पाठक यह पकड़ने में चूक सकता है कि लेखक की दृष्टि कुल मिलाकर पुरानी ही है और वह अपने नारी-चरित्रों को पुरुष में भक्ति के जिस ढकोसले की तरफ़ खींच रहा है, वह दरअसल फिर उसके संस्कारों की खींच है।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि इस उपन्यास ने साबित कर दिया है कि राकेश किसी भी पुराने उपन्यासकार का आधुनिक संस्करण है, जिसके पास ज़्यादा अच्छी भाषा,

मनःस्थिति के विश्लेषण की बेहतर क्षमता और स्थितियों के चित्रण की बेहतर पकड़ है। एक और बात लीजिए। इसी उपन्यास में लेखक ने जहाँ मध्य या निम्न-मध्यवर्ग के पात्र लिए हैं, चाहे वे कितने ही थोड़े पृष्ठों में क्यों न आए हों, पूरी तरह उभरे हैं। उदाहरण के लिए, ठकुराइन भाभी या वह सितार बजाने वाला मुसलमान। बाक़ी और चरित्र लंबे-चौड़े भाषणों और विस्तार के बावजूद गढ़े हुए और थोपे हुए लगते हैं।

इसलिए केवल यह कह देना काफ़ी नहीं होगा कि उपन्यास मुझे मामूली लगा, बल्कि मुझे यह कहना पड़ेगा कि अच्छी रीडिंग के बावजूद मुझे उपन्यास से निराशा हुई। मैं नए कथाकार से जिस नए दृष्टिकोण और जिस भूमि को उभारने की उम्मीद करता था (वह जो राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' में या कमलेश्वर के छोटे-से उपन्यास 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' में है), मुझे इसमें कहीं नहीं लगी। यही नहीं, बल्कि मेरी तो समझ में यह भी नहीं आ सका कि लेखक ने आख़िर इस उपन्यास में क्या कहना या क्या देना चाहा है ?

क्या सिर्फ़ हरबंस और नीलिमा के वैवाहिक संबंधों की घुटन को ज़ाहिर करने के लिए ही इतनी वड़ी पीठिका की ज़रूरत थी ? यह तो राकेश का यों ही प्रिय विपय है और वे इस उपन्यास से पहले और इसके बाद भी (नीली रोशनी की बाँहें) इस पर काफ़ी लिख चुके हैं। फिर क्या उपन्यास मोटा बनाना ही मात्र अभीप्ट था।

मगर एक तो यही ख़याल राकेश को ले डूबा। सीधी-सी बात है कि 'अँधेरे बंद कमरे' दो उपन्यासों का मसाला है। एक मधुसूदन वाली कहानी और दूसरी हरबंस और नीलिमा की। दोनों के एक जगह जोड़ने से सिवाय उपन्यास का कलेवर बढ़ने के और कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

राकेश के उपन्यासकार की सफलता का सुबूत कहीं-कहीं मनःस्थितियों के विश्लेपण या कुछ स्थितियों के चित्रण में मिलता है। मगर इसमें नयापन क्या है ? यों तो यशपाल और अमृतलाल नागर भी कहीं-कहीं कमाल करते हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी भी कर सकते हैं।

बहरहाल, मैं रिव्यू लिखने नहीं बैठा, वह तो यों ही दीपक जी की राय पर कुछ आगे लिखने की बात सोची और यह लिख गया। मगर इतना ज़रूर कहूँगा कि राकेश अब इस विपय पर ज़रूरत से ज़्यादा लिख चुके हैं और अपने लेखक के हित में उन्हें वैवाहिक जीवन की घुटन से ऊपर उठकर समाज के दूसरे स्तर पर व्याप्त घुटन को भी छूना चाहिए। जीवन के किसी एक पक्ष से किसी लेखक का इस तरह चिपक जाना डॉक्टरों की तरह उसके एक्सपर्ट होने का प्रमाण नहीं, बल्कि उसकी एकांगिकता और कूपमंडूकता का द्योतक है।

(संभावित रचनाकाल : 1961-62)

आधुनिक हिंदी कवयित्रियों के प्रेमगीत

श्री क्षेमचंद्र 'सुमन' द्वारा संपादित 'आधुनिक हिंदी कवयित्रियों के प्रेमगीत' नामक पुस्तक मेरे सामने है और मैं इसकी समीक्षा लिखने का 'मूड' बनाकर बैठा हूँ। बार-बार पहलू बदलता हूँ, तकियों को दाएँ से बाएँ और बाएँ से दाएँ करता हूँ, सिगरेट छोड़कर बीड़ी और सिगार तक सुलगा लेता हूँ, मगर बात बनती नज़र नहीं आती। तभी फ़्लैप की प्रकाशकीय विज्ञप्ति पर नज़र जाती है, 'यह प्रतिनिधि संकलन प्रत्येक हिंदी-प्रेमी के लिए उपादेय एवं संग्रहणीय है।' और एक मित्र का वाक्य याद आता है—'संग्रहणीय इसलिए है कि इसमें 175 स्त्रियों के चित्र और परिचय छपे हैं।' मैं सोचने लगता हूँ कि समीक्षा को यूँ शुरू किया जाए कि संपादक श्री सुमन का प्रयत्न और परिश्रम की दुहाई देता एक व्यक्तिगत पत्र मेरी स्मृति में उलझ जाता है। मध्य प्रदेश की कवयित्रियों के नाम पूछने के लिए उन्होंने मुझे भी एक पत्र लिखा था। मगर इस संकलन पर सुमन जी के परिश्रम की चर्चा से मैं इतना प्रभावित हो चुका था कि दो-तीन जानी-मानी कवयित्रियों को छोड़कर और अधिक नाम उन्हें न सुझा पाया। मगर अब संग्रह को देखता हूँ तो लगता है कि अधिक नहीं तो पंद्रह-बीस नाम आसानी के साथ सुझाए जा सकते थे। सोचता हूँ कि यह किताब है या एलबम। दरअसल, कुछ ऐसी कवयित्रियों को छोड़कर, जिनसे हिंदी-पाठक पहले से ही परिचित हैं, इस संकलन में अस्सी प्रतिशत अन्य नाम सूची को लंबा करते हैं और संपादक की उदार व्यापकता एवं खोजी दृष्टि का ही परिचय देते हैं।

संपादक ने भूमिका में बड़े दर्द से कहा है, "मेरे निरंतर अनुरोध एवं आग्रह करने पर भी कुछ बहनें इस संकलन में समाविष्ट होने से रह गईं, जिन्होंने किन्हीं कारणों से अपने चित्र भेजने में असमर्थता प्रकट की।" और सारी किताब उलटने-पलटने के बाद भी यही लगता है कि संपादक ने कवयित्रियों के चित्र और परिचय प्राप्त करने में खूब श्रम किया है। सारी भूमिका उसकी इसी पीड़ा की साक्षी है कि भारतीय समाज में नारी पर बहुत बंधन हैं। अनेक प्रत्यक्ष और परोक्ष वर्जनाएँ हैं और उसे स्वतः आगे आने के अवसर बहुत कम हैं। वस्तुतः भूमिका का यही मूल स्वर है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यानी नारियों को प्रोत्साहन देने के लिए तुकबंदी करने वाली जितनी भी नारियाँ मिलीं, उन सबको संपादक कवयित्री कहकर प्रकाशन के (साहित्य के ?) मैदान में ले

आया और हाथ जोड़कर पाठकों से बोला, "हिंदी जगत् ने मेरे इस प्रयास का तनिक-सा भी स्वागत किया तो मैं अपने को धन्य समझूँगा।"

मैं सोचता हूँ कि उन पंद्रह-बीस कवयित्रियों को छोड़कर, जिनसे हिंदी संसार यों भी परिचित है, इस संकलन का साहित्य जगत् से कोई संबंध नहीं रह जाता और शेष नामों से सूची बढ़ने के अलावा और कोई व्यक्तित्व इस संकलन को नहीं मिलता। इस तरह संपादक को अपने आपको धन्य समझने का कोई मौक़ा नहीं है।

अब आप कुछ कविताओं की बानगी लीजिए—

जीवन का संचित प्यार लुटा बैठी हूँ
जीवन का सब व्यापार लुटा बैठी हूँ
मेरा हँसना और रोना ही क्या
जीवन का अपने सार लुटा बैठी हूँ

बन विश्व लांछना आज जिया करती हूँ
बन भ्रांत पथिक-सी आज चला करती हूँ
आशा जिसकी करने पर भी मुश्किल है
वह जीवन का उपहार लुटा बैठी हूँ।

(पृष्ठ 366)

इसी माप का दूसरा नमूना प्रस्तुत है—

ऐसा अंधड़ आया मैं सब होश गँवा बैठी हूँ
किस पथ जाना था मुझको मैं किस पथ आ बैठी हूँ

मैं अभिशापित हूँ मुझसे वरदान नहीं माँगो तुम
मसली हुई कली से नव-मुस्कान नहीं माँगो तुम
मैं अपने तन में दीपक-राग जगा बैठी हूँ।

(पृष्ठ 380)

और अंतिम नमूना

जीवन-भर उसको ढूँढ़ थकी
एक टीस मिली पर वह न मिला
आँसू बरसाए इधर-उधर
कुछ शांति मिली पर वह न मिला।

(पृष्ठ 244)

(बतर्ज़ इक दिल के टुकड़े हज़ार हुए)

और मुझे यानी पाठक को वह न मिला, जिसे काव्यानंद कहते हैं।

संपादक ने परिश्रम किया है, यह इसी बात से प्रमाणित है कि उसने एक सौ पचहत्तर कवयित्रियों और उनकी रचनाएँ चित्र-परिचय सहित जुटा लीं। पर प्रेमगीत वे भी कवयित्रियों के, इस दृष्टि से यह संकलन कोई अर्थ नहीं रखता। देखकर आश्चर्य होता है कि नारी की कोमल, पवित्र भावनाओं के सहज स्तर पर उद्भूत एक भी रचना इस संकलन में नहीं है। ले-देकर ऐसी कविताएँ मुश्किल से सात-आठ होंगी, जिन्हें पढ़कर पाठक प्रेम की अनुभूति से अनुप्राणित हो। ज़्यादातर कविताएँ पढ़कर फ़िल्मी गीत याद आते हैं जो तोरे नयनों से शुरू होकर इक दिल के टुकड़े हज़ार हुए की लय या तर्ज़ पर लिखे गए हैं। अगर संपादक सिर्फ़ बीस कवयित्रियों की चुनी हुई रचनाएँ देता तो उनके परिचय और चित्र में भी उनके साहित्य के पाठकों को ज़रूर दिलचस्पी होती, मगर इस चार सौ सोलह पृष्ठों के संकलन में वे अच्छी कविताएँ भी रेगिस्तान में चार लोटे पानी की तरह खो गई हैं।

वैसे पुस्तक में विरह गीतों की प्रधानता है, इसलिए संग्रह का नाम विरह-गीत या ऐसा ही कुछ रखा जाता तो भी कुछ ख़ास फ़र्क़ न पड़ता। संपादक का कुछ कवयित्रियों की अच्छी रचनाओं को भी उनके चित्र न मिलने के कारण और एकरूपता बनाए रखने के घनघोर निश्चय के कारण न लेना इस संकलन की कमज़ोरी की दूसरी सीमा है। संग्रह में यह श्रम व्यर्थ गया, इसका खेद है, किंतु फ़ोटोग्राफी में रुचि रखने वाले एवं पत्र-चित्र बनाने वाले किशोर-किशोरियों के लिए यह संकलन उपयोगी सिद्ध होगा।

(1962, 'धर्मयुग' में प्रकाशित)

रिव्यू

मेरे हाथों में 'खोई हुई दिशाएँ' तथा गोद में 'किनारे से किनारे तक' की एक-एक प्रति थी कि तभी "और मेरे बारे में क्या ख़याल है ?" कहकर मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ आगे खिसक आईं।

"तुम्हारे नयनों में उतावली बहुत है।" मैंने उससे कहा, "कल तुम्हारा जन्म हुआ है। शायद अभी प्रेस का हिसाब भी चुकता न किया गया हो। मगर तुमसे शांत नहीं बैठा जाता।"

वह कुहनियों के बल बैठी मुग्धा की तरह मेरा मुखर चिंतन सुनने लगी, "तुम ऐसी लड़की की तरह हो जिसकी आत्मा मध्यवर्ग की है, संस्कार कस्बों के, किंतु महानगर का निवास होने के कारण तुम छटपटा रही हो।" मैं खोई-सी बात करने लगा था, "तुम कभी परंपरा से संपृक्ति में अपना निदान खोजती हो, कभी मुक्ति में। कभी तुम भावुक होकर प्रलाप करती हो और कभी निर्मल निस्संग अर्थवत्तापूर्ण ख़ामोशी से टुकर-टुकर ताकने लगती हो। लोग तुम्हारी तरफ़ सहानुभूति से देखते हैं, क्योंकि तुम्हारे स्रष्टा ने तुम्हें बड़ा ही उदास सौंदर्य दिया है। लोग तुमसे प्रेरित होते हैं, क्योंकि तुम्हारी जिजीविषा जाग्रत और क्रियाशील लगती है। वस्तुस्थिति यह है कि तुम्हारा सौंदर्य Passive नहीं है और तुम्हारी उदासी खिन्नता-भरी नहीं है। तुम्हारी स्फूर्ति तुम्हारा सबसे बड़ा गुण है।"

"और मेरा गुण ?" मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ फिर आगे खिसकीं।

"देखो डार्लिंग, तुम्हारे अंदर मैनरिज़्म बहुत है। तुम्हारा हर वाक्य और से शुरू होता है और तुम्हारा ध्यान ज़्यादातर दूसरों को चौंकाने और आकृष्ट करने की ओर रहता है।" मैंने कहा, "मैं खोई हुई दिशाओं से बात कर रहा हूँ। तुम महसूस नहीं करती। हालाँकि जिस तेज़ी से तुममें कुछ प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं, उनसे लगता है कि जल्द ही तुम महसूस भी करने लगोगी। क्या कि हमारी दिशाएँ खो गई हैं और आज क़दम उठाते हुए सबसे पहला सवाल हमारे सामने ये आता है कि 'जाएँ तो जाएँ कहाँ ?' तुम देख रही हो कि युग की यांत्रिकता और तेज़ रफ़्तार ने हमें कैसा बना दिया है। कल तक जो मूल्य थे, आज बेमानी लगते हैं। कल तक जो परंपराएँ थीं, आज रूढ़ियाँ और राख का ढेर हो गई हैं। अब बताओ, सदी के एक-चौथाई समय में सामने पड़े मलबों

की इतनी अधिक ढेरियों से आदमी क्योंकर परेशान न हो ? ठोस उदाहरण लेना चाहती हो तो खोई हुई दिशाओं को देखो। बेचारी के पूर्वज मैनपुरी नामक एक छोटे-से कस्बे से आए थे। मध्यवर्ग के थे। मुंशीगीरी, बाबूगीरी और छोटी-मोटी किराने वगैरह की दुकान करते थे। आँखों के सामने कोई धुँधलका न था। सोचते थे, संतान को पढ़ा-लिखा देंगे तो दरोगा, तहसीलदार या अधिक से अधिक डिप्टी बनकर नाम रोशन करेगी। प्रेम और सेक्स के बारे में दकियानूस होने के बावजूद प्रगतिशील बनने की कोशिश करते थे। औलाद के बारे में उदार दृष्टिकोण रखते थे। नतीजा यह हुआ कि औलाद का दृष्टिकोण उदार से उदारतम होता चला गया। उसने सारे चश्मे उतार दिए और समाज व दुनिया को देखने की गरज़ से राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक यात्राएँ कीं। खुली आँखों अनुभव भोगे, जुटाए और आज उन्हीं में बिंधकर छटपटा रही है। ये केस-हिस्ट्री है 'खोई हुई दिशाएँ' की।"

"यही हिस्ट्री मेरी भी है। फ़र्क़ इतना है कि मेरा दर्द निस्वतन ज़्यादा गहरा है।" मेज़ पर टिकी कुहनियों ने एक लंबी साँस छोड़कर कहा।

"तेरा दर्द और है मेरी जान ! वह शरीर की नस-नस का दर्द नहीं, सिर्फ़ दिल का दर्द है। उसकी बात भी करेंगे, पर पहले तो मैं तुझे ये बता दूँ कि खोई हुई दिशाओं की छटपटाहट दुहरी है। और सिर्फ़ अपनी ही पीड़ा का सवाल होता तो वह अब तक स्वस्थ हो गई होती। मगर वह तो अपनी मुक्ति पूरे समाज के संदर्भ मे चाहती है। यही उसका जीवन-दर्शन हे। इसलिए समाज के मलबों में वह व्यक्ति को खोज रही है और व्यक्तियों की खोज में समाज को। और दोनों की खोज में तालमेल बिठाने के लिए वह उस चातुर्य का सहारा लिए है, जिसे समीक्षा की भाषा में शिल्प कहते हैं, यानी टेकनीक।"

"में इतनी देर से ख़ामोश हूँ, परंतु टेकनीक की बात करते हुए भी क्या आपका ध्यान मेरी ओर नहीं आया ?" किनारे से किनारे तक की उठी हुई आवेश-भरी लहरों ने सिर उठाकर कहा।

मुझे चिंतन में यह व्याघात पसंद नही आया। मेंने कहा, "मुझे तुम्हारी तरह एक टॉपिक से दूसरे टॉपिक ओर दूसरे से तीसरे टॉपिक पर उछलते जाना नहीं आता। मैं एक बात को ख़त्म करके ही दूसरी बात उठाना चाहता हूँ।"

"तब आप मेरे बारे में ख़ामोश रहें तो ही ज़्यादा बेहतर होगा।" किताब ने कहा, "मैं तो एक बात की तह दर तह उतारे जाने के लिए बदनाम हूँ।"

कभी-कभी कोई काम करने की इच्छा नहीं होती। अपने कमरे में ख़ाली पड़ा रहता हूँ। बारिश होती रहती है तो जी और उचाट होने लगता है। जैसे किसी दोस्त के आने की असफल प्रतीक्षा विफल होने पर होती है। ऐसी मनःस्थिति में दृष्टि अकसर किताबों पर चली जाती है। किताबें हर लेखक की प्रिय होती हैं। मुझे भी हैं। अकेलेपन

में मेरे काम आती हैं।

ये किताबें मैंने बड़े जतन से जुटाई हैं। कुछ दोस्तों ने भेंट में दी हैं और कुछ मैंने खुद ख़रीदी हैं। मुझे इनसे गहरा लगाव है। शायद नहीं, निश्चय ही इन्हें भी मुझसे ऐसा ही लगाव होगा। इसीलिए जब उदासी मुझे घेर लेती है तो ये मेरी मदद को आती हैं। रंग-बिरंगे आवरणों में आत्मीय प्रेमिकाओं की तरह ये मेरे भीतर उतर जाती हैं और मुझसे बात करने लगती हैं। उस दिन मैं ऐसी ही मनःस्थिति में था। तभी 'ज्ञानोदय' संपादक का पत्र आया। आप फ़रमाते हैं कि "ये भी आलोचक हैं न !" मेज़ पर टिकी कुहनियों ने उसे सपोर्ट करते हुए मान प्रदर्शित किया। मुझे तुरंत प्रतिवाद करना पड़ा, "मैं तुम्हें उठाकर कूड़े में फेंक दूँगा, अगर तुमने आलोचना की तोहमत मेरे ऊपर लगाई। नई कहानी के मामले में मैं सिर्फ़ पाठक हूँ और उससे मेरा संबंध इसलिए ज़रा घनिष्ठ है कि सन् '54 से मैं उसकी गतिविधियों के घनिष्ठ संपर्क में हूँ। लेकिन मेरी प्रसन्नता आलोचक की नहीं, नई कहानी के विकास के सहज अध्येता की है, जो क़दम-ब-क़दम उसके साथ रहा है।

तब 'खोई हुई दिशाएँ' के जन्म की भी संभावना नहीं थी, क्योंकि उसके वातावरण और संस्कार दूसरे थे। इसके पूर्वज अलंकारों में बोलते थे और उपमाओं में सोचते थे। लोग कहते थे, वाह, क्या भाषा है ! मगर उसका अंतर्मन जानता था कि यह उससे निकली हुई भाषा नहीं, निकाली हुई भाषा है। उसके पात्रों की ओर कथावस्तु की भी लोग चर्चा करते थे और उसे वे प्रिय भी थे, क्योंकि उसके अपने थे, परिचित, जाने-पहचाने, मगर...।

(अधूरी)

(1664-65)

आज के साहित्य में सामयिक अभिव्यक्ति

साहित्य हमेशा अपने समय का साक्ष्य देता है, हालाँकि सामयिक अभिव्यक्ति साहित्य का स्वभाव है, गुण नहीं। फिर भी समय की परिधि में घटित होने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाएँ लेखक के अंतर्जगत् को प्रभावित करती हैं और देर-सबेर उसके साहित्य में उनकी अनुगूँज सुनाई पड़ती है।

भारत-चीन युद्ध इसकी सबसे जीवंत मिसाल है। जब भारत को आज़ादी के बाद पहली बार एक करारी हार का मुँह देखना पड़ा तो भारतीय मानस भी प्रतिक्रिया से तिलमिला उठा। सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर उसकी अभिव्यक्ति चाहे जितनी तर्कसंगत रही हो, परंतु साहित्यिक स्तर पर वह शुद्ध प्रतिक्रिया थी। गद्य हो या पद्य, रिपोर्ताज़ हो या निबंध, अधिकांश साहित्यकार पानी पी-पीकर चीन को कोसते रहे और अपने अतीत के वैभव और वीरता के किस्से दुहराते रहे। एक कवि की अभिव्यक्ति का स्तर था—

मारो साले चीन को
अपनी धरती छीन को
पाँवों के नीचे दफ़ना दो
उठते हुए कमीन को।

ऐसा नहीं कि उस आवेश में लिखी गई सारी कविताओं की भाषा का स्तर यही था, परंतु भाषा के स्तर बदल जाने के बावजूद अभिव्यक्ति के स्वर में कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं था—

सीमा में घुस
रण का
तुमने यह तो सोचा

कलात्मक दृष्टि में थोड़ी चुस्त-दुरुस्त होने के बावजूद ये कविताएँ भी आत्मश्लाघा और आत्मगौरव की भावना से पीड़ित हैं और कुल मिलाकर गहरी मानवीय भावना से संयुक्त नहीं हैं। दरअसल युद्ध एक इतना कड़वा और व्यापक अनुभव है कि अपनी समग्रता और विविधता के साथ अनुभूति के स्तर तक आने में उसे बहुत समय लग

सकता है और यह भी हो सकता है कि कोई लेखक जीवन-भर उन अनुभवों को सहेजता रहे और कोई रचना न दे पाए।

कारण स्पष्ट है कि हर अनुभव अनुभूति के स्तर तक नहीं आता। ठीक उसी तरह जैसे हर दृश्य चित्रकार की तूलिका को प्रेरणा नहीं देता। फिर भी साहित्य में सामयिक अभिव्यक्ति होती है। बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि साहित्य हमेशा इसी समय का साक्ष्य देता है। सामयिकता भले ही अपने आपमें कोई मूल्य न हो...और लेखक सामयिक विषयों पर लिखने से चाहे कितना ही बचता-कतराता रहे, लेकिन वह समय के फ़ोकस से बच नहीं पाता और यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जब वह समय के फ़ोकस के भीतर सामयिकता को प्रतिबिंबित कर रहा है। लेकिन जब इस प्रकार का प्रयास अनायास होता है तो रचना सामयिकता की सरहदों में होते हुए भी साहित्यिक रहती है और वह सस्ते नारों और पत्रकारों वाले लहजे से भिन्न रहती है।

ज़रूरी नहीं कि एक बड़ी घटना का प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया प्रत्येक लेखक पर एक जैसी हो ही। बाँग्लादेश की इतनी बड़ी घटना, जिस पर भारत और बाँग्लादेश में हज़ारों कविताएँ और कहानियाँ लिखी गईं, मुझे लिखने के लिए प्रेरित नहीं कर सकी। लेकिन बस्तर गोलीकांड की छोटी-सी घटना से मैं लहूलुहान हो गया।

मेरे लिए बाँग्लादेश की घटना एक ऐसी गंभीर मानवीय ट्रेजेडी है, एक ऐसा तीखा अहसास है कि उसे रचनाकार के स्तर तक लाने के लिए कितना भी समय लग सकता है। लेकिन अपनी प्रेमिका से बिछुड़ने की तकलीफ़ या उससे मिलने का सुख एक ऐसा विषय है कि उस पर मैं अभी क़लम उठाकर दसियों काग़ज़ रँग सकता हूँ। बात एकदम साफ़ है कि एक विषय मेरी कला-संचेतना की पकड़ में आ चुका है और दूसरा अभी भी मेरी पकड़ के बाहर है।

ऐसा नहीं कि साहित्यकार आदमी नहीं होता और अपने मन की परिधि में घटित होने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाएँ उसकी चेतना को नहीं झकझोरतीं। यह कहना भी ग़लत है कि वह हालात की रौ में नहीं बहता और उसके भीतर संवेदना का ज्वार नहीं आता। लेकिन जैसे हर ज्वार तट पर शंख-सीपियाँ नहीं छोड़ जाता, वैसे ही हर घटना साहित्य नहीं बन पाती। हाँ, उस घटना की झलक या उसका परोक्ष प्रभाव लेखक की रचना पर ज़रूर पड़ता है।

समसामयिक कवि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के बारे में कहा जाता है कि उनका समसामयिक जीवन से एक बिलकुल निजी और सच्चा रिश्ता है और वह समसामयिक जीवन के राजनीतिक, सामाजिक और सबसे बढ़कर नैतिक दारिद्रय से इतने द्रवित हैं कि उन्हें अपने दान से आप्लावित कर देना चाहते हैं।

लेकिन मैं इसे लेखक का एक सामान्य गुण समझता हूँ। कोई भी संवेदनशील

लेखक अपने समय की, अपनी परिस्थितियों की और अपने हालात की उपेक्षा करके नहीं जी सकता। वह चाहे कवि हो या गद्यकार, अपने समय का साक्ष्य देने के लिए अविकल है। यहाँ तक कि ऐतिहासिक उपन्यासकार भी इतिहास-सम्मत घटनाएँ लिखते-लिखते वर्तमान को टटोलते हैं।

आधुनिक काव्य-ग्रंथों में 'अंधा युग' और 'एक कंठ विषपायी' मूलतः ऐतिहासिक या पौराणिक काव्य-कृतियाँ है। जैसे 'अंधा युग' यदि महाभारत के संदर्भ में युद्ध की विडंबना का साक्ष्य देता है तो 'एक कंठ विषपायी' पौराणिक आख्यान के माध्यम से परंपराभंजक और परंपराग्रस्त व्यक्तियों की चंचलता का चित्र उपस्थित करता है। अजीब बात है कि न 'अंधा युग' पढ़ते हुए महाभारत की स्थितियाँ याद आती हैं और न 'एक कंठ विषपायी' पढ़ते हुए पोराणिक संदर्भ उभरते हैं। केवल वर्तमान और उसकी समस्याएँ ही पाठक के सामने रह जाती है।

वर्तमान की इन समस्याओं को भी मै सामयिकता की अपनी अभिव्यक्ति मानता हूँ। वरना सामयिकता की शाब्दिक अभिव्यक्ति तो समाचार-पत्रों में होती है।

बॉग्लादेश की समस्या पर और शेख मुजीबुर्रहमान पर भारत ओर बाँग्लादेश में इतना लिखा गया है कि कई मोटे-मोटे ग्रंथ तैयार हो सकते हैं। पर मुझे संदेह है कि उसका एक शतांश भी काल के प्रवाह को झेल पाएगा। मैं यह नही कहूँगा कि बॉग्लादेश की समस्या पर लिखने वाले सारे कवियों और लेखकों की अनुभूतियाँ माँगी हुई या नकली थी। ऐसा कहना उस वर्ग-विशेष के साथ ज़बरदस्त अन्याय होगा, जो उस ज़ुल्म का प्रत्यक्ष दृष्टा ओर भोक्ता रहा हे, पर उन भारतीय लेखको के संदर्भ मे यह बात ज्ञात है, जो अख़बारो के माध्यम से अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध डटे हैं। दरअसल सच वात तो यह है कि सामयिकता एक ओर जहाँ आलोचना के मानदंडों को प्रभावित करती हे, वही लेखन के स्तर पर भी बहुत-से पूर्वाग्रह और अतिरंजनाएँ छोड़ जाती है। इसलिए सामयिकता की सापेक्ष अभिव्यक्ति लेखक के लिए ख़तरा भी है और चुनौती भी। जहॉ तक मैं मानता हूँ, हिंदी का कोई लेखक इस कसौटी पर पूरी तरह खरा नहीं उतरता। सामयिकता पर लिखते समय उसे जो विषय-सापेक्ष किंतु पूर्वाग्रहरहित दृष्टि होनी चाहिए, वह सामयिक नारों और अख़बारों के रहते बहुत मुश्किल चीज़ है।

यों भूख, उत्पीड़न, शोषण, महँगाई, बेरोज़गारी हमारे समाज के ऐसे विषय हैं, जिनका उल्लेख या संकेत ही लेखक में मिलता है। लेकिन इसलिए नहीं कि भारतीय लेखक सामयिकता की अभिव्यक्ति में बड़े पटु हैं, बल्कि इसलिए यह चीज़ हमारे जीवन का हिस्सा बन चुकी है और लेखक एक बार चाहे तो बड़ी से बड़ी घटना से कटकर रह सकता है, लेकिन वह जीवन से कटकर नहीं रह सकता।

बाँग्लादेश की घटनाओं पर बहुत-से लोग मौन रहे और बहुत ने लिखा। लेकिन

कुछ अखबारी कतरनों के अलावा एक भी ऐसी रचना मुझे नहीं दिखी, जिसे साहित्य की संज्ञा दी जा सके। वे या तो पाकिस्तान के आकाओं के नाम लिखी हुई गालियाँ हैं या वहाँ के फौजी तंत्र की आलोचनाएँ। उनमें उस मानवीय ट्रेजेडी को व्यक्त करने वाला कोई स्वर नहीं है, जो इस शताब्दी का सबसे दुःखद प्रसंग है।

टैगोर-नज़रुल इस्लाम-निराला तीनों महाकवियों और प्रेमचंद, तारा बाबू या महंती किसी भी कवि या उपन्यासकार ने सामयिकता को उसके शाब्दिक अर्थ में अभिव्यक्ति नहीं दी। लेकिन बारीकी से देखा जाए तो इनमें से ही एक लेखक का साहित्य अपने समय का सच्चा और प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

हिंदी की आधुनिक रचनाओं में सामयिकता का यह स्वर सबसे मद्धम है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आधुनिक साहित्यकार पर समसामयिक घटनाओं की प्रतिक्रिया नहीं होती। शायद उस पर यह प्रतिक्रिया कहीं अधिक तीखी होती है। लेकिन वह जानता है कि प्रतिक्रियाजन्य साहित्य शाश्वत नहीं होता। उसमें न स्थायित्व है, न गहराई। समसामयिकता की तत्कालिक प्रतिक्रिया का परिणाम हमेशा यह होता है कि सस्ते राजनीतिक नारे स्थायी मानवीय मूल्यों को ढक लेते हैं और प्रचारात्मक लहजा कलात्मकता को खा जाता है।

(1971-72)